ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार प्रवचन

भाग-३

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
संकलित प्रवचन
(गाथा क्रमांक ३४ से ६८ तक)

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ
ललितपुर (उत्तरप्रदेश)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रकाशकीय

आज ग्रन्थाधिराज श्री समयसार-प्रवचन के तृतीय भाग को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्व लाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओं को मोक्षमार्ग में लगाने के मूल कारणभूत इस ग्रन्थराज की विस्तृत व्याख्या का प्रकाशन करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है, यह मेरे बड़े सौभाग्य की बात है।

इस ग्रन्थराज के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। इस समयसार के स्मरण मात्र से ही मुमुक्षु जीवों के हृदयरूपी वीणा के तार आनन्द से झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रथम भाग की प्रस्तावना में दिया हुआ है, इसलिए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांग का निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसार में कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि से सीधा सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त प्रामाणिक है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का हमारे ऊपर महान उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमन्धर भगवान के पादमूल में आठ दिन तक रहकर भगवान की दिव्यध्वनिरूप अमृत का पेट भरकर साक्षात् पान किया; और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवों के लिए उस अमृत को श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों के रूप से परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्ग में लग रहे हैं एवं भविष्य में भी लगेंगे।

इसी प्रकार समयसार के अत्यन्त गम्भीर एवं गूढ़ रहस्यों का प्रकाशन करनेवाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी भगवान के गणधर (जो ॐकाररूप ध्वनि को द्वादशांगरूप में विस्तृत कर देते हैं) के समान इस ग्रन्थ के गम्भीर रहस्यों को खोलने का कार्य किया है, इसलिए उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवं रुचि की मन्दता के कारण हम लोग उस टीका को भी यथार्थरूप नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवं रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्त्व की जगह अतत्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्व को और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसार के अभ्यास का ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समय में हमारे सद्भाग्य से समयसार के मर्मज्ञ एवं अनुभवी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के सत् समागम का महान लाभ हम मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुननेवाला धुनिया रुई के बँधे पिण्ड को धुन-धुनाकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है। उसी प्रकार आपने भी समयसार के एवं उसकी

टीका के गम्भीर से गम्भीर एवं गूढ़ रहस्यों को इतनी सरल एवं सादी भाषा में खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धिवाला भी, इसको यथार्थ रुचि के साथ ग्रहण कर लेने से, अनन्त काल में नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्ग को सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए हम मन्द बुद्धिवाले जीवों पर तो श्री कानजीस्वामी का महान-महान उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराज को नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होती ? इसलिए हमारे पास आपके उपकार का वर्णन करने के लिए कोई शब्द ही नहीं है। मात्र श्रद्धा के साथ आपको प्रणाम करते हैं।

भगवान महावीरस्वामी के समय में दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेप में ही मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता था और उसी से पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे-धीरे जीवों की रुचि, आयु, बल और क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवान का निर्वाण होने के करीब पाँच सौ वर्ष बाद ही मोक्षमार्ग के मूल प्रयोजनभूत तत्त्व का श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा ग्रन्थरूप में संकलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा उनकी और भी विस्तृत एवं सरल व्याख्या हो गयी और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवं सरल व्याख्या श्री कानजीस्वामी द्वारा हो रही है। यह सब इस बात के द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवान का मार्ग काल के अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसके पालन करनेवाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजीस्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी संकलना किस प्रकार, किसके द्वारा और क्यों की गयी, यह सब प्रथम भाग की प्रस्तावना में खुलासा किया गया है। यह प्रवचन गुजराती भाषा में गाथा १४४ तक के प्रकाशित हो चुके हैं और आगे का प्रकाशन चालू है। उन प्रवचनों का हिन्दी भाषा-भाषी भी पूरा लाभ लेवें, इस भावना को लेकर इनका हिन्दी में प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जिसमें से समयसार की १ से १२ गाथा तक के प्रवचन प्रथम भाग में प्रकाशित हुए हैं तथा द्वितीय भाग में गाथा १३ से ३३ तक के प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं; अब इस तृतीय भाग में गाथा ३४ से गाथा ६८ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं; इस प्रकार प्रथम गाथा से ६८ गाथा तक जो गम्भीर रहस्यों को खोलनेवाले अध्यात्ममूर्ति पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन हुए वे प्रकाशन में आ गये हैं। आशा है मुमुक्षुगुण इन प्रवचनों द्वारा अपने आत्मतत्त्व को पहिचानकर सत्समागम द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त करेंगे।

अन्त में पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजीस्वामी को मेरा अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसार को नष्ट कर देनेवाले सत्धर्म की प्राप्ति हुई।

कार्तिक शुक्ला १ — भवदीय—

वीर नि० सं० २४७८ — **नेमीचन्द पाटनी, आगरा**

तृतीयावृत्ति का निवेदन

श्री समयसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा दिये गये प्रवचनों से अनेक मुमुक्षुओं को इस अध्यात्मशास्त्र का सूक्ष्म रहस्य सरलतापूर्वक समझने में तथा आत्महित की साधना में बहुत सहायता मिली है; इन प्रवचनों को पहले तथा दूसरे भाग की तीन-तीन आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, और जिज्ञासुओं की माँग होने के कारण तीसरे भाग की यह तृतीयावृत्ति प्रकाशित करते हुए हर्ष होता है। आशा है जिज्ञासुजन इसका पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे।

वीर नि०सं० २५०४
भाद्रपद शुक्ला पंचमी

-साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विषयानुक्रमणिका

गाथा	पृष्ठ	विषय
३४	१	त्याग और प्रत्याख्यान का स्वरूप
३५	१३	विकार मैं नहीं हूँ—ऐसा जाना हुआ ज्ञान स्थिर हुआ, वही प्रत्याख्यान है; तो उसका दृष्टान्त क्या है ?
३६	२३	मोहकर्म से पृथक् करना कि—यह जो मोह है, सो मैं नहीं हूँ—ऐसा भेदज्ञान।
३७	४०	ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का स्वरूप।
३८	५३	जो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध-अज्ञान था, उसने सच्चा भेदज्ञान करके जाना कि एक रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं है,ऐसा वह अपने को ज्ञान-दर्शनमय अनुभव करके प्रसिद्ध करता है।
३९ से ४३	८४	अज्ञानी जीव-अजीव को किस प्रकार एक मानते हैं, वह कहते हैं।
४४	११२	वे लोग सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं ?
४५	१३९	शिष्य का प्रश्न है कि रागादि परिणामों को और उन्हें अपना माननेवालों को आपने जड़ कहा, लेकिन वे सब विकारी भाव मुझमें प्रतीत होते हैं, तो यथार्थ क्या है ?—उसका समाधान श्रीमद अमृतचन्द्राचार्य ने संस्कृत टीका में विस्तार से किया है।
४६	१४९	व्यवहारनय से अध्यवसानादिक भावों को जीव कहा है।
४७ से ४८	१८१	व्यवहार से अध्यवसानादि भावों को जीव कैसे कहा, उसका दृष्टान्त से विवेचन।
४९	१८८	जीव के वास्तविक स्वरूप का वर्णन।
५० से ५५	२५९	चैतन्यस्वरूप से अन्य भावों का वर्णन और भेदज्ञान।
५६	३४७	वर्णादि से लेकर १४ गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे गये हैं, वे व्यवहार से जीव के हैं, निश्चय से नहीं हैं—उसका अर्थ।

गाथा	पृष्ठ	विषय
५७	३५४	जो भेद कहे हैं, वे निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं ?
५८ से ६०	३५८	जो निश्चय के ज्ञाता हैं, वे कहते हैं कि वर्णादि हैं, वे तो व्यवहार से जीव के कहे हैं।
६१	३७२	वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यलक्षणसंबंध क्यों नहीं है, इसका उत्तर देते हैं।
६२	३७७	वर्णादिक सर्व भाव जीव ही हैं, तो जीव और अजीव का कोई भेद ही नहीं रहता, अत: मिथ्या-अभिप्राय को दूषित बताते हैं।
६३ से ६४	३८२	संसार-अवस्था में भी वर्णादि जीवों के नहीं हैं, ये समझाते हैं।
६५ से ६६	३८६	वर्णादि जीव का स्वरूप नहीं है और पुद्गल है-इस बात में युक्तिपूर्वक समाधान।
६७	३९४	सूत्र में व्यवहार से कही हुईं बातों का अर्थ और अज्ञानी का व्यवहार।
६८	४०३	वर्णादि भाव जीव के नहीं हैं, और गुणस्थानों का स्वरूप।

ॐ

!! नमः समयसाराय !!

समयसार प्रवचन

(भाग-३)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के संकलित प्रवचन

गाथा ३४ से प्रारम्भ

शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवान! इस आत्माराम का अन्य द्रव्य का त्याग—वह किसे कहा जाता है? इस आत्माराम का पर को छोड़ना—वह क्या है? शिष्य त्याग की बात समझता है, तथापि गुरु के निकट विनयपूर्वक त्याग की बात पूछता है; ऐसे आकांक्षी जीव को गुरु उत्तर देते हैं।

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।३४।।

अर्थः—जिससे 'अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं'—ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है—त्याग करता है, इससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा नियम से जानना। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, अन्य कुछ नहीं।

ज्ञान प्रत्याख्यान है, वह बात लोगों को कैसे जमे? जिस बालक ने बकरी का दूध पिया हो उसे भरपूर मक्खन बड़े और गुलाबजामुन कैसे पच सकते हैं? उसी प्रकार जिसे अनन्त काल से विपरीत पोषण मिला हो उसे यह बात सुनकर आघात लगता है, किन्तु पात्र जीवों को यह सुनते ही उल्लास आ जाता है कि—अहो! यह बात हमने कभी नहीं

सुनी;—ऐसा उल्लास आने से वे पात्र हो जाते हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है कि 'भाविनिर्वाणभाजनम्'—इस प्रकार वे पात्र जीव आत्मा का भान करके, चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

जगत में जब सत् प्रगट होता है, उस समय जो पात्रजीव होते हैं, वे यथार्थरूप से समझकर स्वीकार करते हैं और जो अपात्र हैं, वे विपरीत धारणा बनाते हैं।

जैसे—श्री ऋषभदेव भगवान प्रथम तीर्थंकर होने से पूर्व इस भरतक्षेत्र में अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम का धर्म का अन्तर था; उतने समय तक कोई तीर्थंकर नहीं हुए थे, पाँचवाँ गुणस्थान भी उतने काल में किसी को नहीं होता था। अकेले जुगलिया थे, वे जुगलिया मरकर देव होते थे, मनुष्य भी नहीं होते थे, तिर्यंच भी नहीं होते थे, एकेन्द्रिय भी नहीं होते थे, और न नरक में भी जाते थे;—मात्र देवभव में ही सब जाते थे। लेकिन जब श्री ऋषभदेवभगवान को केवलज्ञान हुआ और दिव्यध्वनि खिरी तथा वह ध्वनि समस्त जीवों ने सुनी कि वहाँ विभाग हो गये; मनुष्य, तिर्यंच, नरक और सिद्ध; चारों गतियाँ चालू हो गयीं—देव गति तो थी ही। कल्पवृक्ष में फलों की कमी होने लगी इसलिए सबको पहले जैसा समभाव था वह न रहकर किसी को क्रोध की तीव्रता और किसी को मन्दता—ऐसा होने लगा। कल्पवृक्ष के फल जब कम पड़ने लगे उस समय लोग आपस में झगड़ने लगे। कोई बाद में आये और कहे कि—मुझे पहले खाने दो, मुझे बहुत भूख लगी है; तब दूसरा बोले कि—तुझे कैसे खानू दूँ? पहले हम आये हैं! और तीसरा कहे कि—भाई, इसी को पहले खा लेने दो, इसे जोरों से भूख लगी है इसलिए यह भले पहले खा ले, हम बाद में खा लेंगे—इस प्रकार कितने ही क्रोध की मन्दता, कितने ही तीव्रता और अनेक बिल्कुल छोड़ने लगे—इस प्रकार अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम में जो भंग नहीं पड़ा था, वह पड़ने लगा और विरोध-अविरोध के भाव होने लगे। जिन्होंने मन्द कषाय करके शान्त परिणाम रखे थे, वे जीव योग्य पात्र थे; भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर उन्हें ऐसा लगा कि—अहो! यह स्वरूप! पुण्य-पाप के पृथक्, अकेला निराला और निर्मल—ऐसा हमारे आत्मा का स्वरूप! ऐसा समझकर अनेक तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए, अनेकों ने मुनिव्रत ले लिया, अनेक केवलज्ञान को प्राप्त हुए और अनेक ध्वनि सुनकर ऐसे विरोध में पड़े कि नरक-निगोद में जाने के परिणाम प्रारम्भ हो गये और चौबीस दण्डक में जाने की तैयारी कर ली।

प्रश्नः—भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर पात्र जीवों ने सत्य को समझा, उन्हें सब बात यथार्थ—योग्य मालूम हुई और अपात्र जीवों ने विपरीत मान्यता बना ली; सब मिथ्या मालूम हुआ—वह किसके कारण ?

उत्तरः—अपने कारण; भगवान की दिव्यध्वनि में तो क्रोध और क्षमा के स्वरूप का पूरा उपदेश आता है; उसमें जिन्होंने फल खाते समय क्रोध किया था उन्हें ऐसा लगा कि—देखो तो, मेरी ही बात लगा रखी है कि—क्रोध का फल ऐसा, क्रोध का फल वैसा। हमने क्रोध किया था इसलिए हमें सुना रहे हैं—इस प्रकार कषाय की तीव्रता करने लगे; उन्होंने दुर्गति की तैयारी की। जहाँ भगवान की दिव्यध्वनि खिरी वहाँ सीधे और उलटे—दो पक्ष तुरन्त हो गये। सत्य बात प्रगट होने पर सच्चे को सच्चा बल और झूठे को मिथ्या बल आये बिना नहीं रहता।—यह वस्तुस्वभाव है; जिस प्रकार समझ में आये समझो!

आचार्यदेव कहते हैं कि तत्त्वज्ञान की गुप्त बात प्रगट होने पर जो पात्र जीव थे, वे सम्यग्दर्शन प्राप्त करके क्रमशः चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं। हमें यह शास्त्र रचने का विकल्प उठा है इसलिए प्राणी तैयार होनेवाले हैं—यह निश्चय है।

अब आचार्यदेव प्रत्याख्यान का उत्तर देते हैं। यह भगवान ज्ञाता द्रव्य है, वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को, वे अपने स्वभावभाव द्वारा व्याप्त न होने से, पररूप जानकर त्याग करता है, वही प्रत्याख्यान है।

अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं, शुभाशुभपरिणाम भी पर हैं; दया की वृत्ति होना शुभ है और हिंसा की वृत्ति होना अशुभ है, और मैं पर से निराला, निर्दोष, ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा जानकर ज्ञान में एकाग्र होता है, वह प्रत्याख्यान है।

मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ—ऐसा भान होने पर उसी समय वीतराग नहीं हो जाता। अल्प राग-द्वेष होते हैं, उन्हें दूर करके स्थिर होना सो प्रत्याख्यान है।

ज्ञान प्रत्याख्यान अर्थात् आत्मा पर से निराला है;—उस ज्ञाता में ज्ञातारूप से स्थिर हुआ और जो-जो वृत्तियाँ उठें उनमें नहीं रुका वह प्रत्याख्यान है; इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

कोई कहे कि ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, इसलिए आनन्द करो! लेकिन भाई! ज्ञान अर्थात् अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना सो प्रत्याख्यान है, उसमें अनन्त पुरुषार्थ

है। ऐसा नियम से जानना कि जो पर है सो मैं नहीं हूँ, व्रत और अव्रत के परिणामों को छोड़कर जो ज्ञान की एकाग्रतारूप परिणाम है, वही प्रत्याख्यान है।

हे शिष्य! अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं। शरीरादि और पुण्य-पाप के परिणाम वह सब पर हैं। यह सब जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, वे परभाव हैं—ऐसा जानकर उनका त्याग करता है, वह प्रत्याख्यान है। इस प्रकार जो ज्ञान में एकाग्र होता है, वह प्रत्याख्यान है, इससे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। आत्मा को पर का त्याग नहीं है, किन्तु ज्ञान से वह सब पर है—ऐसा जानना ही परवस्तु का त्याग है। ज्ञान में पर के त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है।

मैं निर्दोष हूँ, ज्ञाता हूँ और विकार होता है वह मेरी अवस्था में होता है, लेकिन वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा जानकर ज्ञान में रहना सो प्रत्याख्यान है।

ज्ञानमूर्ति चैतन्यस्वभाव में रागरूप विकार का त्याग और ज्ञान की एकाग्रता को ही श्री तीर्थंकरेदव सच्चे प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं, उसके अतिरिक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप कहीं बाह्य में नहीं होता।

सम्यग्दर्शन हुआ तब से भगवान कहा है, भान से भगवान कहा है, एक-दो भव में मोक्ष जाता है। इसलिए भगवान कहा है; भविष्य का भगवान है, इसलिए भगवान कहा है।

किसी रंक-भिखारी से कहा जाये कि—तू भगवान है, तो वह कहेगा कि—भाई साहब! मुझसे भगवान मत कहो! उसके हृदय में धनवान-पैसेवाले सेठ हैं, उनका माहात्म्य है। जब कोई सेठ घर आये तो कहता है कि—आओ सेठ साहब, पधारो! किन्तु सर्वश्रेष्ठ जो भगवान है, उसकी जिसे श्रद्धा हुई वही सच्चा श्रेष्ठ (सेठ) है; उसे आचार्यदेव ने भगवान कहा है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ वहाँ अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों का ज्ञाता-दृष्टा रहता है। अन्य समस्त राग-द्वेष, पुण्य हो अथवा पाप हो, व्रत के परिणाम हों या अव्रत के, बन्ध का विकल्प हो या मोक्ष का,—वह सब परभाव है, वह सब अन्य वस्तु में डाल दिया है। एक ओर अकेला भगवान आत्मा और दूसरी ओर यह समस्त जड़ का दल कहा है। पुरुषार्थ की निर्बलता को भी गौण करके जड़ का दल कहा है।

विकारी अवस्था को छोड़ता है, और अंशतः छूट चुकी है वह सब परभाव है। प्रत्याख्यानी जीव ऐसा जानता है कि—पुण्य-पाप के परिणामरूप विकारी अवस्था मेरे स्वभाव द्वारा व्याप्त नहीं है, वह मेरे स्वभाव में प्रसरित नहीं होती। मेरे स्वभाव की वृद्धि शरीर, मन, वाणी की क्रिया से या शुभाशुभ परिणामों से नहीं हो सकती; मेरा जो पर से निराला वीतरागस्वभाव है, उसी से मेरे स्वभाव की वृद्धि होती है। मेरे स्वभाव की वृद्धि हो तो वह निर्मल अवस्थारूप होती है, किन्तु रागरूप से वृद्धि हो वह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे स्वभाव में से राग की वृद्धि नहीं हो सकती।

कर्म के निमित्त से यह जो किंचित् भी उपाधि दिखायी देती है, वह मेरे निर्मल स्वभाव द्वारा व्याप्त न होने से, पर द्वारा व्याप्त होने से, पर के द्वारा प्रसरित होने से वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा पररूप से जानकर उसका त्याग करते हैं।

हाथ जोड़कर खड़ा हो जाना प्रत्याख्यान नहीं है, वह तो व्यवहार कहलाता है। हाथ जोड़कर खड़े होने का व्यवहार ज्ञानी के भी होता है। देखो, यहाँ विनयपूर्वक गुरु से पूछते हैं न! जहाँ आत्मा का भान हो वहाँ विनय और व्रतादि का व्यवहार होता है। गुरु के निकट विनय करके व्यवहार की—शुभभाव की विधि करते हैं, किन्तु जानते हैं कि यह व्रतादि का शुभभाव भी मेरे स्वभाव में से उत्पन्न नहीं होता। शुभभाव होता है, तथापि उसका स्वीकार नहीं है, स्वीकार तो एक अखण्ड ज्ञायक का है। व्रत लूँ और चारित्र ग्रहण करूँ—वह विकल्प भी मेरे द्वारा व्याप्त नहीं है, वे सब अन्य द्रव्य से होनेवाले विकार हैं। मेरे चैतन्यस्वभाव का वह विस्तार नहीं है; कर्मभाव से होनेवाला पर का विस्तार है। ज्ञानी को व्रत लेने की शुभवृत्ति उठती है, परन्तु वे जानते हैं कि—यह वृत्ति मेरे स्वभाव में प्रसरित नहीं है, मेरे स्वभाव का यह विस्तार नहीं है, इसका विस्तार और प्रसारित होना पर में है। मेरे स्वभाव के विस्तार में तो अन्तर ज्ञान और शान्ति होती है। चारित्र लेने का विकल्प उठे वह भी अन्यभाव है। चारित्र लेने का जो विकल्प उठा उसका त्याग करना चाहते हैं, जो वर्तमान विकल्प है उसका त्याग करने—नाश करने की इच्छा रखते हैं। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् श्रावक के बारह व्रत और मुनि के पंच महाव्रत—वे सब पुण्य-परिणाम हैं, उनके पीछे अकषायभाव की स्थिरता है, वह निश्चयचारित्र है।

ज्ञानी समझते हैं कि मेरे पुरुषार्थ की मन्दता से पुण्य-पाप की वृत्तियाँ मुझमें होती

हैं, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, तब फिर शरीरादि तो कहाँ से मुझमें होंगे ?

जिसने ऐसा जान लिया कि यह मैं नहीं हूँ, वही जानकर स्थिर होता है। दूसरा कोई त्याग करनेवाला नहीं है—ऐसा जहाँ भान हो, पश्चात् जो व्रत का शुभ विकल्प उठा, वह व्यवहार प्रत्याख्यान है और स्वभाव में स्थिर होना वह परमार्थ व्रत है।

ज्ञान ने यह जाना कि—शुभाशुभ की वृत्ति भी विकार है, वह मलिन है, वह मैं नहीं हूँ;—इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके प्रथम सम्यग्दर्शन हुआ, दर्शन होने के पश्चात् प्रत्याख्यान के समय जीव में ज्ञान क्या कार्य करता है, उसकी सन्धि ली है कि—स्वरूप की जो अविकारी निर्विकल्प स्थिरता है, सो मैं हूँ—ऐसा जानकर शुभवृत्ति उठी वह मैं नहीं हूँ—ऐसी बीच में ज्ञान की सन्धि की है।

अकेले चैतन्यस्वभाव में सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि है कि जो भाव ज्ञात होता है, उसका मैं ज्ञाता हूँ। राग-द्वेष का त्याग करूँ, विकार को छोड़ूँ—ऐसे जो भाव हैं, वे भी उपाधि मात्र हैं;—ऐसा ज्ञानी समझते हैं।

मैं पर का ज्ञाता हूँ, किन्तु उसमें एकाकार होनेवाला नहीं हूँ—ऐसा निश्चय करके प्रत्याख्यान के समय राग-द्वेष को छोड़ूँ—ऐसा भाव भी शुभविकल्प है, उपाधिमात्र है। राग पर्याय को छोड़ दूँ—ऐसा उपाधिभाव स्वभाव में नहीं है। मैं निर्विकारी शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ, ऐसा भान करके उसमें स्थिर होने से वह राग पर्याय सहज ही छूट जाती है। उसे छोड़ने की ओर लक्ष्य रखने से नहीं छूटती; किन्तु आनन्दमूर्ति आत्मा में स्थिर होने से वह सहज ही छूट जाती है। आत्मा स्वभाव से राग-द्वेष रहित है, उसमें परवृत्ति को छोड़ूँ वह नाममात्र है, उपाधि है। 'अकेले आत्मा में' इतना भी नहीं चल सकता।

प्रत्याख्यान के समय रागादिक के त्याग का कर्तृत्व नाममात्र है, राग छूटता है, सो असद्भूत व्यवहारनय से है। और स्वभाव में स्थिर होना सो सद्भूत व्यवहार है। यहाँ अकेली स्वभावदृष्टि रखी है; बहुत ही अच्छी टीका की है; इसमें कितना समावेश कर दिया है! मुनि और श्रावक के व्रत की यह बात की है, यह बात अत्यन्त सूक्ष्म है।

यहाँ द्रव्यदृष्टि से बात है। पर का त्याग करूँ—ऐसा विकल्प भी पर के ऊपर लक्ष्य जाने से होता है, वह त्याग के कर्तृत्व का नाममात्र है, उपाधिस्वरूप है; शरीर, मन, वाणी का संयोग तो नहीं, किन्तु त्याग की वृत्ति में भी एकमेक न होनेवाला—ऐसा मैं आत्मा हूँ;

मैं पर को छोड़ूँ—ऐसा विकल्प भी मुझे अच्छा नहीं लगता।

परमार्थ से पर के त्याग का नाम भी अपने को नहीं है। यदि स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो राग-द्वेष को छोड़ूँ—ऐसा कर्तापने का नाम भी आत्मा को नहीं है। प्रत्याख्यान करनेवाला सम्यक्त्वी विचार करता है कि—यह जो शुभभाव वर्त रहा है, उसे मैंने जान लिया; लेकिन 'विकार को छोड़ूँ'—ऐसा विकल्प भी जिसमें उपाधिमात्र भाव है—ऐसा मेरा चैतन्य स्वभाव अखण्डानन्द है। मेरा स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इसलिए मैंने यह तो जान लिया कि—'यह मैं हूँ और यह पर है', लेकिन पर का जो स्वरूप है, वह मेरा नहीं है। राग को छोड़ूँ और अराग पर्याय को ग्रहण करूँ—वह भी व्यवहार है, राग को छोड़ूँ और वीतरागभाव ग्रहण करूँ—वह भी व्यवहार है, राग-द्वेष का व्यय और वीतरागी पर्याय की उत्पत्ति सो व्यवहार है, राग को छोड़कर स्वरूप में स्थिर होना भी व्यवहार है। सहज स्वभाव में स्थिर होकर राग-द्वेष को छोड़ूँ और निर्मल पर्याय को अंगीकार करूँ—वह भी व्यवहार है। अस्थिर पर्याय दूर होकर स्थिर पर्याय प्रगट हुई—उन दो भेदों का लक्ष्य नहीं है, किन्तु ध्रुव पर ही लक्ष्य है। स्वसन्मुख होकर जिस समय पर्याय प्रगट होती है, उसी समय अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि है, वह ध्रुवदृष्टि है। सम्यग्दृष्टि पर्याय को ग्रहण न करके ध्रुव को ग्रहण करता है। चारित्र की शक्ति, व्यक्ति की पर्याय पर लक्ष्य देने से राग की कीली बीच में आती है, इससे चारित्र-पर्याय विकसित नहीं होती। इसलिए मोक्षपर्याय, चारित्रपर्याय ग्रहण न करके, उस पर लक्ष्य न देकर, अकेले द्रव्यस्वभाव के प्रति लक्ष्य देने से चारित्रपर्याय, मोक्षपर्याय प्रगट होती है,—उस ध्रुवदृष्टि की यहाँ बात है। स्वभाव की दृष्टि के बल में अवस्था को गौण कर देते हैं; उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। यह यथार्थ बात है, तीन काल में नहीं बदल सकती। ऐसी बात भी न सुनी हो वहाँ प्रत्याख्यान तो हो ही कैसे सकता है ? शरीर सो मैं हूँ—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि की तो बात ही कहाँ रही ? आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु ! तू अपनी प्रभुता के बिना कहाँ स्थिर रहेगा ? अर्थात् भान बिना प्रत्याख्यान कहाँ से होगा ?

यह बात बहुत उत्तम है। भाई ! संसार की बातें तो अनन्त बार सुनी हैं, किन्तु यदि जन्म-मरण को दूर करना हो तो एक बार यह बात अवश्य सुनना पड़ेगी।

परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के कर्तृत्व का नाम भी आत्मा के नहीं है। यह छोड़

दूँ, वह छोड़ दूँ—इस उपाधि से आत्मा रहित है; क्योंकि स्वयं तो अपने ज्ञानस्वभाव से अर्थात् द्रव्यस्वभाव से छूटा नहीं है। यहाँ ज्ञान को द्रव्य कहा है। स्वयं अखण्डस्वभावी है, ध्रुव है—उससे कभी भी पृथक् नहीं हुआ है; इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। इसके अतिरिक्त जगत में प्रत्याख्यान का दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। मलिन अवस्था दूर होकर निर्मल अवस्था की वृद्धि होती है, उस पर सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य नहीं है, किन्तु द्रव्य पर लक्ष्य है। इसमें अनन्त पुरुषार्थ है। पर की ओर लक्ष्य जाता है कि—राग-द्वेष को छोड़ दूँ; वह भी अपना स्वरूप नहीं है, वह उपाधिमात्र है, नाममात्र है। वास्तव में अपने स्वभाव में स्थिर होने से वह सहज ही छूट जाता है, यही चारित्र है—ऐसा भगवान ने कहा है। इसी का अनुभव करना सो प्रत्याख्यान है, दूसरा कोई प्रत्याख्यान का स्वरूप नहीं है।

यह प्रत्याख्यान की व्याख्या चल रही है। लोग कहते हैं कि त्याग करो, त्याग करो, तो त्याग का क्या स्वरूप होगा? त्याग क्या वस्तु है? कोई गुण है या किसी पदार्थ की अवस्था है? क्योंकि जो भी शब्द बोला जाता है वह किसी द्रव्य का-गुण का अथवा तो पर्याय का अवलम्बन लेकर कहा जाता है। त्याग किसी परवस्तु का होता है? कि किसी राग-द्वेष का त्याग है। या स्वरूप में एकाग्र रहना सो त्याग है।

आत्मा के मूल स्वभाव में ग्रहण-त्याग है ही नहीं। आत्मा ने पर को ग्रहण किया हो तभी उसका त्याग करे न? इससे स्वरूप को पहिचानकर उसमें स्थिर रहना ही त्याग है और वह आत्मा की निर्मल पर्याय है। मकान, कुटुम्ब, लक्ष्मी आदि कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं, फिर उनका त्याग कैसे कहा जा सकता है? वे मकानादि आत्मा में नहीं किन्तु मान्यता में प्रविष्ट हो गये हैं। जीव ने मान लिया है कि—शरीर, मन, वाणी, मकान, स्त्री, लक्ष्मी आदि सब मेरे हैं—वही उसका अत्याग भाव है।

जो विपरीत माना था उसका भान हुआ कि—यह मैं नहीं हूँ, मेरे स्वभाव का विस्तार विकाररूप नहीं है, मैं एक आत्मा हूँ और जानने-देखने का मेरा स्वभाव है; उसमें परनिमित्त से क्रोध, मान, माया और लोभ का जो विस्तार दिखायी देता है वह मेरे आत्मा के स्वभाव का विस्तार नहीं है। राग-द्वेष को छोड़ देना भी व्यवहार है। आत्मा के अखण्ड शुद्ध निर्मल स्वभाव में जितने अंश से स्थिर हुआ उतने अंश में राग-द्वेष सहज ही छूट जाते हैं, उसे त्याग कहते हैं।

भारतवर्ष के लोग त्याग के नाम पर ठगे जा रहे हैं। अनेक साधु-संन्यासी त्याग लेकर निकल पड़े हैं। उनका बाह्य त्याग देखकर भारतवर्ष ठगा जाता है; क्योंकि इतनी यहाँ आर्यता है, त्याग का प्रेम है, इससे यहाँ के लोग त्याग के बहाने ठगे जाते हैं, किन्तु सच्ची पहिचान नहीं करते।

संसार लोलुपी जीवों ने किन्हीं सेठ साहूकारों को या अमलदार-पदवीधारियों को बड़े मान रखा है, किन्तु क्या वे वास्तव में बड़े हो गये ? इसी प्रकार कल के भिखारी ने आज वेश बदल दिया, स्त्री, कुटुम्ब को छोड़ दिया, तो इससे क्या वह त्यागी हो गया ? सबने मिलकर त्यागी मान लिया, तो क्या बाह्य संयोग-वियोग से त्याग है ? अन्तरंग में कुछ परिवर्तन हुआ है या नहीं वह तो देख ! बाहर से दिखाई देता है कि अहो, कैसा त्यागी है ! स्त्री नहीं, बच्चे नहीं, जंगल में रहता है—ऐसा बाह्य त्याग देखकर बड़ा मानते हैं, लेकिन त्याग का क्या स्वरूप है उसे नहीं समझते। बाह्य पदार्थों को छोड़ना अपने हाथ की बात नहीं है; तब फिर अपने हाथ में ऐसा क्या है जिसे स्वयं छोड़ सकता है ? मैं शुद्ध चिदानन्द मूर्ति हूँ—ऐसे स्वभाव का भान करके विकार में—पुण्य-पाप में युक्त न होना और स्वभाव में रहना अपने हाथ की बात है; उसी का नाम त्याग है। ऐसा त्याग आने पर मकान, स्त्री, कुटुम्ब का त्याग सहज ही हो जाता है।

ज्ञानी विचार करते हैं कि अहो ! मैं स्वयं ही महिमावन्त हूँ, एक पृथक् ज्ञानपिण्ड हूँ; उसमें विकार हो ही नहीं सकता। क्रोधादि का कर्तृत्व भी मुझमें नहीं है, मैं तो एक ज्ञाता पदार्थ हूँ; जिसमें न तो विकल्प है और न राग-द्वेष। जिसकी महिमा पुण्य-पाप से अर्थात् बाह्य ऋद्धि से नहीं आँकी जा सकती ऐसा आत्मा भगवान अर्थात् महिमावन्त है। ज्ञानी विचार करते हैं कि—मेरी वस्तु ही महिमावन्त है। मेरे स्वभाव के सन्मुख इन्द्रासन भी सड़े हुए तिनकों के समान है।

त्याग करनेवाला प्रथम दशा में क्या विचार करता है ? कि कर्म और उसके संयोग से होनेवाले व्रत और अव्रत के परिणाम आदि समस्त परभाव हैं, विकार हैं; श्रावक के बारह व्रत और मुनियों के पंच महाव्रत भी विकार हैं, क्योंकि उन विकारों का अपने अर्थात् मेरे स्वभाव द्वारा विस्तार नहीं है। मैं अकेला वीतराग ज्ञानस्वरूप हूँ, इसलिए उन सबका मुझमें विस्तार नहीं है; मेरा विस्तार मुझमें है; मेरे ज्ञान-स्वरूप के अतिरिक्त जो बदलते हैं,

खण्डस्वरूप हैं—ऐसे जो व्रतादि के परिणाम होते हैं, उनमें एकरूप नहीं होता, किन्तु मैं ज्ञाता तो पृथक् का पृथक् ही रहता हूँ—इससे वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो निर्दोष सत्त्व-तत्त्व हूँ—इस प्रकार प्रत्याख्यान लेनेवाला प्रथम विचार करता है; इसलिए जो पहले जानता है वही बाद में छोड़ता है। प्रत्याख्यान करनेवाले की प्रथम भूमिका कैसी होती है, त्याग की दशा कैसी होती है—वह यहाँ कहा जा रहा है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान कैसा होता है—उसकी यह बात है।

मैं अकेला निर्दोष ज्ञाता हूँ—ऐसा जो जानता है, वह पुण्य-पाप की विकारी वासना का ज्ञाता है। वह ज्ञाता ज्ञायकभाव में स्थिर रहकर छोड़ता है। विकल्प उठे कि—इसे छोड़ दूँ, वह भी शुभभाव है, उसे भी ज्ञाता, ज्ञाता में रहकर छोड़ता है। साक्षी ही उसे छोड़नेवाला है दूसरा कोई छोड़नेवाला नहीं है; इससे जिसने जाना वही त्याग करता है। जिसने परभावों को विकारी जाना, वे स्वभाव के नहीं हैं—ऐसी प्रतीति की वही फिर उनमें युक्त नहीं होता।

प्रत्याख्यान लेनेवाला समझता है कि पर को जानते समय मैं अपने स्वभाव को ही निश्चय से जानता हूँ। मेरा स्व-पर प्रकाश स्वभाव है उसी को मैं जानता हूँ। यह विकार भाव मेरे नहीं हैं, मेरे स्वभाव में से वे प्रगट नहीं होते—ऐसा जाननेवाला ही उनमें युक्त नहीं होता। पर पदार्थों के प्रति जो प्रीति—आसक्ति है, वह मुझ ज्ञाता के स्वभाव में नहीं है; मेरे स्वभाव में से वह प्रगट नहीं होते—ऐसा जाननेवाला त्याग करता है, छोड़ता है। इस प्रकार जो जानता है, वही बाद में त्याग करता है।

आजकल जगत में त्याग के नाम पर अन्धाधून्धी चल रही है। कुंजड़े-काछी जैसों ने भटे-भाजी की तरह व्रतों का मूल्य कर दिया है। प्रत्याख्यान का स्वरूप क्या है, उसे नहीं समझते। यथार्थ स्वरूप समझे बिना व्रतादि के शुभभाव करे तो पुण्यबन्ध हो; किन्तु जो अपनी भूमिका नहीं है, उसे माने और मनाये तो वह कषाय की तीव्रता है; मिथ्यादर्शन की तीव्रता है; ऐसा भान किये बिना अनन्त व्रतों को अज्ञानरूपी भैंसा खा गया। यह शुभ छोड़कर अशुभ परिणाम करने की यह बात नहीं है, किन्तु यथार्थ पहिचान करने की बात है।

जो पहले पर को अपना मानता था, वह अब अपने स्वरूप को समझकर ज्ञानी होता हुआ त्याग का निश्चय करता है कि—मैं अपने स्वरूप में स्थिर हो जाऊँ तो विकल्प सहज ही छूट जाते हैं! ऐसा निश्चय करने के पश्चात् त्याग करता है।

इसमें कहीं पुनुरुक्ति दोष नहीं लगता, किन्तु पुष्टि होती है। जिस प्रकार प्रतिदिन रोटी खाते रहने पर भी उसके प्रति अरुचि नहीं आती। जहाँ रुचि है वहाँ पुनुरुक्ति दोष नहीं मानता, तो फिर इस बात में भी पुनुरुक्ति दोष नहीं लगता, किन्तु न्याय की दृढ़ता होती है। जिसे रुचि होती है, उसे बारम्बार सुनने से अरुचि नहीं आती, किन्तु अपूर्वता मालूम होती है।

प्रत्याख्यान के समय जो विकल्प आते हैं कि—व्रत ग्रहण करूँ, नियम ले लूँ, स्वच्छन्द को छोड़ दूँ, अव्रत छोड़ दूँ—वे सब उपाधिमात्र हैं। 'छोड़ दूँ'—ऐसी कर्तृत्वबुद्धि भी आत्मा में नहीं है। परमार्थ से मैं ज्ञायक ही हूँ—इस दृष्टि से देखा जाये तो परभाव के कर्तृत्व का नाममात्र भी अपने को नहीं है। मैं जहाँ अपने ज्ञायकस्वभाव में स्थिर होऊँ वहाँ विकल्प अपने आप छूट जाते हैं, प्रत्याख्यान हो जाता है।

मैं आत्मा चिदानन्द, निर्दोष वीतराग मूर्ति हूँ; उसमें राग-द्वेष को छोड़ूँ—ऐसा अवकाश स्वभाव में नहीं है। वे अपने में प्रविष्ट हो गये हों तभी तो उन्हें छोड़ा जा सकता है! ग्रहण किया हो तभी त्याग हो न! कुटुम्ब, मकान, लक्ष्मी आदि परवस्तु का संयोग छोड़ूँ तो गुण हो—ऐसा नहीं है, और राग-द्वेष को छोड़ूँ तो गुण हो—ऐसा भी नहीं है; किन्तु भीतर आत्मा में गुण भरे हैं, उसमें से प्रगट होते हैं। जिसमें गुण न हों उसमें से प्रगट नहीं होते। आत्मा में निर्विकल्प, वीतरागस्वभाव भरा है, उसमें एकाग्र होऊँ तो गुण प्रगट होते हैं।

भीतर गुण भरे हैं उनमें से प्रगट होते हैं, वे बाहर से नहीं आते; गुण स्वयं प्रगट नहीं होता किन्तु गुण की अवस्था प्रगट होती है। गुण की अवस्था में त्याग-अत्याग के दो भेद हैं; गुण में वे भेद नहीं हैं। (गुण में अवस्था का आरोप करके गुण प्रगट हुआ—ऐसा कहा जाता है।) मैं गुणमूर्ति आत्मा अखण्ड हूँ; भीतर गुण भरे हुए हैं उनमें से गुणों की अवस्था आती है—ऐसा भान करके उसमें स्थिर हुआ वहाँ राग-द्वेष की अवस्था सहज ही दूर हो जाती है और प्रत्याख्यान की अवस्था प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् अणुव्रत और महाव्रत के शुभपरिणाम आते हैं, उन्हें वह जानता है कि यह मेरे चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है, किन्तु आस्रव का स्वरूप है, मैं तो चैतन्यमूर्ति ज्ञानज्योत हूँ—इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल में शुभाशुभभाव की अवस्था का अभाव करने से ज्ञान की जो अवस्था स्थिर होती है उसका नाम प्रत्याख्यान है, त्याग है। द्रव्य और गुण त्रिकाल शुद्ध हैं, किन्तु

वर्तमान अवस्था में जो वासना होती है वह मैं नहीं हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। ज्ञानी विचार करता है कि मैं ध्रुवस्वरूप हूँ, ऐसी स्वभावदृष्टि के बल में अवस्था निर्मल हुई; उस निर्मल अवस्था का उत्पाद हुआ और अव्रत अवस्था का व्यय हुआ वह प्रत्याख्यान है।

ज्ञानी को भी पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण अल्प आसक्ति अर्थात् अल्प राग-द्वेष होते हैं, लेकिन उसे तीव्र पुरुषार्थ से दूर करना चाहते हैं। ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य पर जमी है, उस दृष्टि द्वारा वह आसक्ति को अपना स्वरूप नहीं मानता। मैं छोड़ दूँ—यह भी नाममात्र है उपाधिमात्र है, क्योंकि स्वभाव में स्थिर होने से वह सहज ही छूट जाता है। ज्ञानस्वभाव से पृथक् नहीं है इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान की निर्मल अवस्था ही प्रत्याख्यान है। 'ज्ञान' शब्द से यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों समझना चाहिए।

वस्तुस्वभाव जैसा है वैसा है। जनता प्रत्याख्यान का कोई अन्य स्वरूप माने तो उससे कहीं स्वरूप नहीं बदल सकता। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जगत के समक्ष प्रत्याख्यान का स्पष्ट स्वरूप रखा है। ज्ञान में वृद्धि हुई अर्थात् वह अपने स्वभाव में स्थिर-एकाग्र हुआ, वही सच्चा प्रत्याख्यान है, वही सच्चा त्याग, वही सच्चा वैराग्य, वही सच्चा नियम; शेष सब एक रहित शून्य के समान हैं। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् आगे बढ़ने पर अणुव्रत और महाव्रत के शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहते; किन्तु वह चारित्र का स्वरूप नहीं है। स्वभावदृष्टि में उस शुभभाव की स्वीकृति नहीं है। आत्मा में शुभाशुभभाव से रहित अमुक अंश में स्वरूप-स्थिरता हुई और अव्रत-परिणाम का त्याग हुआ वह पाँचवीं भूमिका है और स्वरूप में विशेष रमणता होना सो मुनिपना है। इसी का नाम सच्चा त्याग और सच्चा चारित्र है।

जीवों को वैराग्य नहीं आता! जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। पाँच हजार रुपये वेतन मिलता हो, स्त्री-बच्चे मौजूद हों, उनमें से चले जाते हैं। कुत्ते-बिल्ली जैसे मरण करके चले जाते हैं; उनमें मानव-जीवन का क्या फल? सच्चा फल नहीं है; किन्तु परिभ्रमण का फल तो है ही।

ऐसा प्रत्याख्यान का स्वरूप लोगों ने कहीं नहीं सुना होगा। बिल्कुल अपरिचित-अज्ञात बात है, उपदेश से भी अन्यरूप से मानते हैं और मनवाते हैं! किन्तु—

भाई! वीतराग भगवान द्वारा कथित वस्तु स्वरूप तो अपूर्व है। अपूर्व क्यों न हो!

बिल्कुल अन्तर का मार्ग है। लोग सस्ते में धर्म मान बैठे हैं।

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं ग्रह्युं व्रत अभिमान;
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान॥

(श्रीमद् राजचन्द्र)

वृत्तियाँ क्या कार्य करती हैं और स्वरूप क्या है—उसे नहीं जाना, और हम व्रतधारी हैं, त्यागी हैं—ऐसा अभिमान किया, किन्तु भाई! अज्ञानरूपी भैंसा ऐसा तेरे अनेक व्रत-चारित्ररूप फूलों को खा गया। स्वभाव को जाने बिना निर्मल त्याग की अवस्था प्रगट नहीं होती। अज्ञानभाव से व्रतादि करके कषाय को मन्द करे तो पुण्यबन्ध हो, किन्तु उसमें बाह्य बड़प्पन और आदर-मान की इच्छा हो तो पापबन्ध होता है, पुण्यबन्ध भी नहीं होता।

यदि पाँच हजार कंकड़ लेकर जाये तो हीरा नहीं मिल सकता; उसी प्रकार विपरीत मान्यता का विष इकट्ठा करके अपूर्व आत्मा का अमृत लेने जाये तो नहीं मिलेगा। लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी यह अपूर्व बात सुनने को नहीं मिल सकती।

मैं आत्मा शांत पवित्र हूँ, उसमें नवीन वासना उत्पन्न न होने देना और अपने में स्थिर होना ही त्याग है। पर के अवलम्बन से या आश्रय से त्याग हुआ—ऐसा नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें स्थिर हुआ वही सच्चा व्रत है, और व्रत का शुभभावरूप विकल्प उठे वह व्यवहार-व्रत है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तत्पश्चात् पाँचवाँ गुणस्थान आता है और फिर छठवाँ। चैतन्य आत्मा संयोगी-विकारी भावों से पृथक् है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान बिना स्वरूपोन्मुख होने का प्रयास कहाँ से हो? और प्रयास हुए बिना अनित्य-क्षणिक विकारी भावों का त्याग कहाँ से हो? और विकारी भाव दूर हुए बिना केवलज्ञान अर्थात् चैतन्य की पूर्ण निर्मल स्वभाव दशा कैसे प्रगट हो? इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे व्रत नहीं होते। संसार संसार के भावों से बना हुआ है। स्वभाव स्वभाव में है; उसे लूटने के लिये कोई समर्थ नहीं है॥३४॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि—प्रभो! विकार मैं नहीं हूँ—ऐसा जाना हुआ ज्ञान स्थिर हुआ वही प्रत्याख्यान है; तो प्रभो! उसका दृष्टान्त क्या है? उसके उत्तर गाथा कहते हैं:—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी।।३५।।

अर्थः—जिस प्रकार लोक में कोई पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है'—ऐसा जान ले, तब जानकर परवस्तु का त्याग करता है; उसी प्रकार ज्ञानी सर्व परद्रव्यों के भावों को 'यह परभाव हैं'—ऐसा जानकर उन्हें छोड़ता है।

जैसे:—किसी पुरुष ने धोबी के यहाँ कपड़े धोने को दिये; और वहाँ से अपने कपड़े लाने के बदले भ्रम से किसी दूसरे के वस्त्र ले आया। चादर, धोती आदि वस्त्र दूसरे के थे और उसे लगा कि यह वस्त्र मेरे हैं;—ऐसे भ्रम में पड़कर दूसरे के कपड़े ले आया और ओढ़कर सो गया। यह चादर किसी दूसरे की है, इस बात की खबर न होने से अपने आप अज्ञानी बन रहा है। दूसरा आदमी आकर उस चादर को पकड़कर खींचकर नग्न करता है, खुल्ला करता है कि—भाई! शीघ्र जाग, सावधान हो, मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, वह मुझे दे! उस समय बारम्बार कहा हुआ वाक्य सुनकर, देखो एक बार सुन—ऐसा नहीं किन्तु 'बारम्बार सुनकर' ऐसा कहा है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि पंचम काल के प्राणी एक बार कहने से जागृत नहीं होंगे, किन्तु बारम्बार उपदेश देने से समझेंगे। दूसरी बात यह भी है कि—शिष्य सुनने का कामी है, रुचि है, अनादर नहीं करता। यहाँ लौकिक नीतिवाला शिष्य लिया है; बारम्बार कहा फिर भी अरुचि नहीं आती। तू ऐसा क्यों कह रहा है, बिना पूछे चादर क्यों खींच रहा है—ऐसी आकुलता नहीं करता, किन्तु बारम्बार सुनता है; इसी प्रकार दृष्टान्त में भी लौकिक नीतिवाला लिया है। विचार करता है कि यह बारम्बार कह रहा है और जोर से कहता है कि—मेरा वस्त्र दे! इसलिए यह वस्त्र उसी का मालूम होता है;—ऐसा निश्चय किया और जागृत होकर देखा, सर्व चिह्नों से परीक्षा की और परीक्षा करके जान लिया कि अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है।—ऐसा जानकर वस्त्र का ज्ञानी अर्थात् जानकार होकर वस्त्र को जल्दी छोड़ देता है। नीतिवाला मनुष्य है, इसलिए जब उसने देखा कि ऐसे चिह्नोंवाला मेरा वस्त्र नहीं है वहाँ तुरन्त उसे वापिस देता है। इतना भी नहीं कहता कि मैं धोबी के यहाँ से अपने कपड़े ले आऊँगा, तब तेरे कपड़े दूँगा, किन्तु जल्दी छोड़ देता है। देखो, दृष्टान्त में भी कैसी नीति रखी है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता है, किन्तु मिथ्यादृष्टिपने के कारण भ्रम से पर निमित्त से होनेवाले विकारी भावों को ग्रहण करके—अपना मानकर अपने में एकरूप किया कि—यह ज्ञाता चैतन्यज्योति और राग-द्वेष यह सब मैं ही हूँ, वे मेरे हैं;—इसप्रकार

सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। 'अपने आप' अर्थात् किसी ने बनाया नहीं है। अनादि का अज्ञानी है, उसकी जागृति के समय गुरु की उपस्थिति होती ही है। गुरु के निमित्त बिना जागृति नहीं होती और स्वयं जागृत हो उस समय गुरु उपस्थित होते ही हैं—ऐसा यहाँ बतलाया है। अनादि का अज्ञानी होकर भ्रम से सो रहा है, उससे श्रीगुरु कहते हैं कि—देख भाई! यह पर द्रव्य, शुभाशुभभाव तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मात्र ज्ञातास्वरूप है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से पृथक् बताकर कहते हैं कि तू शीघ्र जागृत हो, सावधान हो। यहाँ तो एक ही बात है कि जाग और सावधान हो! यह तेरा आत्मा जानता है—देखता है, वह वास्तव में ज्ञानमात्र है, उसका स्वभाव उपाधिमात्र नहीं है। जो उपाधिभाव ज्ञान में भासित हों वे सब परभाव हैं, दूर करने योग्य हैं, नाशवान हैं, वह तेरा स्वभाव नहीं है! शिष्य पात्र है, इससे बारम्बार सुनकर भी अनादर नहीं करता किन्तु प्रसन्न होता है। श्रीगुरु उसे भेदज्ञान कराते हैं—असंयोगी और संयोगीभाव—दानों का भेद करके विवेक कराते हैं कि जितना ज्ञाता उतना तू और जो यह विकारी खलबलाहट हो रही है, उतना तू नहीं है।

गुरु कहते हैं कि तू देख! विकारी और अविकारी का मेल नहीं बैठ सकता। यह जो संयोगजनित विकार के भेद होते हैं, वे परजन्य हैं, उपाधि हैं। जितने संयोगजनित विकार के भेद पड़ें, वह तेरा स्वरूप नहीं है; तू शीघ्र जाग, और सावधान हो। यहाँ तो शास्त्रकार ने शीघ्र जागने की ही बात की है कि—तू एकदम जाग और तैयार हो। चैतन्यज्योति आत्मा पर संयोगों से भिन्न है, उसे तू भलीभाँति देख। अन्तर में जानता है-देखता है, वह ज्ञानमात्र आत्मा है। 'ज्ञानमात्र' कहने से अनन्त गुण साथ ही आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त जो भासित हो वह संयोगजनित उपाधि है, वह दूर करने योग्य भाव है, रखने योग्य तो एक अपना स्वभाव ही है। देखो, शिष्य को ऐसा नहीं होता कि—एक ही बात को बारम्बार सुनाते हैं, उसमें शिष्य की पात्रता है। गुरु बारम्बार कहते हैं उसमें दो प्रकार हुए। उसमें सुननेवाले जीव की ओर से लिया जाये तो—आत्मा का जो स्वरूप ऐसा गुरु ने कहा उसे सुनने को तत्पर रहता है और प्रेम से सुनता है; वहाँ गुरु को ऐसा लगा कि इसे यह बात रुचिकर लगती है, इसलिए बारम्बार सुनाते हैं।

बारम्बार कहना पड़ता है; इसमें दूसरी बात यह है कि पंचम काल के प्राणी हैं,

इसलिए बारम्बार कहना पड़ता है; किन्तु बारम्बार सुनने पर भी शिष्य को अरुचि नहीं होती, अनादर नहीं करता, किन्तु जिज्ञासा बतलाता है; यह शिष्य की पात्रता है। सीधी-सच्ची बात सुनने के लिये बारम्बार रुचिपूर्वक श्रवण करता है।

'आगम का वाक्य बारम्बार सुनता है'—ऐसा कहा है, अर्थात् आचार्यदेव छद्मस्थ हैं, इसलिए सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए परमागम के वाक्य सुनते हैं, इस प्रकार आगम का आधार लेकर आचार्यदेव ने कहा है कि शिष्य ने बारम्बार आगम के वाक्य सुने तब समस्त अपने और पर के लक्षण से स्वयं परीक्षा करने लगा कि यह क्या है ? सुनते समय जिज्ञासा का भाव है और फिर उसका निर्णय करता है। विकारी और अविकारी दोनों के लक्षणों की भलीभाँति परीक्षा करता है। भलीभाँति अर्थात् जो कभी बदल न सके इस प्रकार। परीक्षा किए बिना मान लेना वह ठीक नहीं है। जड़ और चेतन दोनों के चिह्नों को भलीभाँति पहिचानकर निर्णय करता है। 'भलीभाँति' पर भार दिया है। शिष्य ने परीक्षा करके निर्णय किया है कि—यह जो आसक्ति और विकारीभाव दिखायी देते हैं, वह अवश्य विकार ही है। पाप तो विकार है, किन्तु पुण्य के परिणाम भी विकार ही हैं। पाप तो मेरे नहीं हैं, किन्तु पुण्य भी मेरे होंगे या नहीं ?—ऐसी शंका भी नहीं पड़ती;—निःशंक है। यह अवश्य परभाव हैं और मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ—इस प्रकार ज्ञानमात्र आत्मा को जानकार ज्ञानी होता हुआ सर्व परभावों को तत्काल छोड़ता है। जिस प्रकार दूसरे की वस्तु को अपना माना था, उसे पररूप जाना तब तत्काल छोड़ देता है; उसी प्रकार यथार्थ भान होने से परभावों को तत्काल छोड़ देता है; फिर परभावों को अपना नहीं मानता, यह प्रत्याख्यान का स्वरूप है। प्रत्याख्यान अरूपी आत्मा में होता है। स्वभाव के बल से स्थिरता की अवस्था प्रगट हुई वह अरूपी होती है। यह त्याग का स्वरूप बाह्य में नहीं होता। ज्ञानी परभावों को पर समझकर छोड़ता है, उसका नाम सच्चा प्रत्याख्यान और सच्चा त्याग है।

पैंतीसवीं गाथा में ऐसा कहा कि आत्मा ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है। विकार और मलिनता ज्ञाता का स्वभाव नहीं है।—ऐसा जो ज्ञायक आत्मा है, उसमें प्रत्याख्यान क्या वस्तु है, त्याग क्या वस्तु है, यह धोबी के दृष्टान्त द्वारा कहा। जैसे:—अज्ञान से धोबी के यहाँ से अपने कपड़ों के बदले दूसरे के कपड़े लाया हो, फिर जब कोई ऐसा बतलाये कि वे दूसरे के हैं, तब उन्हें पर का समझकर छोड़ देता है।

इस प्रकार ज्ञानी गुरु द्वारा शास्त्र के वचन बारम्बार सुनकर, स्व-पर के लक्षण को जानकर, भलीभाँति परीक्षा करके जाना कि शुभाशुभ भाव आकुलतास्वरूप हैं, यह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा ज्ञाता का स्वरूप तो निराकुल है, उसमें लीनता करना सो प्रत्याख्यान का स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना सच्चे व्रत-प्रत्याख्यान हो ही नहीं सकते। आत्मा पर से निराला है—ऐसे भान बिना स्वरूप में स्थिरता नहीं हो सकती है। तत्त्व को जाने बिना कहाँ स्थिर हो? अशुभ भावों को दूर करके शुभभाव करे वह सच्चे व्रत-प्रत्याख्यान का स्वरूप नहीं है। ऐसे शुभभावों से अधिकांश पाप और किंचित् पुण्य का बन्ध होता है; क्योंकि उसे ऐसी श्रद्धा नहीं है कि मेरा आत्मा पुण्य-पाप के विकार से पृथक् है। पुण्य-पाप का विकार मेरा है—ऐसा मानकर वह शुभभाव करता है। श्रद्धा विपरीत है इससे अधिकांश पाप और कुछ पुण्य का बन्ध होता है। शुभभाव है सो विकारी है; उस विकारी भाव से मुझे—अविकारी आत्मा को गुण-लाभ होगा—ऐसा जिसने माना वह अपने आत्मा की हत्या करता है। इस देह में विद्यमान आत्मा तो अनन्त गुणों की मूर्ति है; ज्ञान-शान्ति आदि गुणों का पिण्ड है, वह शुभाशुभ भावों से रहित है। ऐसा आत्मा का माहात्म्य भूल गया, अर्थात् अपने में तो गुणों को देखा नहीं, किन्तु अन्यत्र कहीं अपने अस्तित्व को मानकर ऐसा मानता है कि पर में से गुण आते हैं। किन्तु भाई! गुण तो गुणी में होते हैं—बाहर नहीं होते। गुड़ और मिठास एक हैं; पृथक् नहीं हैं; उसी प्रकार आत्मा के गुण आत्मा में हैं—बाहर नहीं हैं। आत्मा और आत्मा के गुण दोनों एक हैं किन्तु पृथक् नहीं। आत्मा भी एक नित्य वस्तु है, फिर उसमें गुण न हों—ऐसा कैसे हो सकता है? आत्मा में तो अनन्त गुण अनादिकालीन हैं, किन्तु स्वयं नहीं माना है। गुण तो भरे ही पड़े हैं किन्तु वर्तमान अवस्था में भूल हुई है—राग-द्वेष है सो मैं हूँ और पर में से मेरे गुण आते हैं—यही अनादिकालीन भूल है। मैं निर्विकल्प ब्रह्मानन्द हूँ—ऐसा नहीं माना, इसलिए मानता है कि कहीं अन्यत्र से गुण प्रगट होंगे; किन्तु पर से गुण प्रगट नहीं होते। आत्म-पदार्थ देह से पृथक् सत्त्व क्या है, उसके माहात्म्य के बिना वह प्रगट नहीं होता। पर का माहात्म्य करने से अपना स्वभाव प्रगट नहीं होता। पुण्यपरिणाम विकार है; विकार का माहात्म्य करने से निर्विकार स्वभाव प्रगट नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि शुभ को छोड़कर अशुभ करना; दया, व्रत, पूजा, भक्ति आदि के शुभ परिणाम छोड़कर विषय,

कषाय, काम, क्रोध आदि के शुभ परिणाम करना; किन्तु शुभ करते-करते आत्मधर्म प्रगट होगा, उसमें से मुक्ति का मार्ग मिलेगा, वह बात तीन काल-तीन लोक में नहीं हो सकती।

प्रश्नः—शुभ करते-करते मार्ग सरल तो बनेगा न ?

उत्तरः—शुभ से सरल नहीं होता। विष खाने से अमृत की डकार नहीं आती। सत्-समागम द्वारा यथार्थ पहिचान करे तो मार्ग सरल होता है; बीच में शुभपरिणाम आते अवश्य हैं, किन्तु वे मार्ग को सरल नहीं बना देते।

आजकल लोग जो शुभ परिणाम कर रहे हैं, वे तो बहुत ही स्थूल शुभपरिणाम हैं; किन्तु गत काल के प्रवाह में अपने स्वभाव की अज्ञानता में ऐसे शुभ परिणाम किये कि वैसे उच्च शुभपरिणाम करने की इस समय इस भरतक्षेत्र में किसी की शक्ति नहीं है। उस प्रकार के सूक्ष्म शुभ परिणाम पहले जीव ने अनन्त बार किए हैं। नग्न-दिगम्बर मुनि हुआ, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को व्यवहार से जाना, छह काय की ऐसी दया पालन की कि एक हरियाली का पत्ता अथवा एक जुआर के दाने की भी विराधना नहीं की; चमड़ी उतारकर नमक छिड़कर दे, काँटे लगाकर जला दे तथापि क्रोध न करे—ऐसी क्षमा धारण की, स्वर्ग से इन्द्राणी डिगाने आयें तो भी न डिगे, ब्रह्मचर्य में ऐसा अडिग हो कि मन से विकल्प तक न आये—ऐसे उच्च शुभ परिणाम किये कि जिनसे नववें ग्रैवेयक में गया; किन्तु जन्म-मरण का अन्त नहीं आया; क्योंकि यह जो शुभ परिणाम कर रहा हूँ इनसे आत्मा में गुण प्रगट होंगे, लाभ होगा—ऐसा माना, किन्तु आत्मा में गुण भरे हैं, उनकी श्रद्धा करूँ और उसमें एकाग्र होऊँ तो गुण प्रगट होंगे—ऐसा नहीं माना। शुभभाव का कर्ता होकर स्वभावपर्याय विकसित होगी—ऐसा मानता है, किन्तु उस भाव से मैं पृथक् हूँ, शुभ के कर्तृत्व का नाश करने से मेरा निर्मल ज्ञान प्रगट होगा—ऐसा नहीं मानता। विपरीत भाव आत्मा को सहायक होगा—इसी भाव से आत्मा अनादि से फँसा है, विपरीत भाव सच्चे भाव को (-स्वभाव को) सहायक होगा—ऐसे मिथ्याभाव से संसार बना है। शुभभाव करके राजा हो, देव हो, किन्तु संसार का भ्रमण दूर नहीं होता। यहाँ तो जन्म-मरण को दूर करने की बात है। विपरीत श्रद्धा अनन्त संसार का बीज है। शुभ परिणाम करके नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु अंतर में ऐसा बना रहा कि—यह शरीर, मन, वाणी आदि का संयोग मुझे सहायक होगा, शरीर, मन, वाणी आदि की क्रिया मुझे सहायक होगी, और संयोग के ओर की

उन्मुखता का शुभभाव मेरे आत्मा को सहायक होगा—ऐसी शल्य बनी रही इससे कोई लाभ नहीं हुआ, भवभ्रमण दूर नहीं हुआ। चैतन्यतत्त्व-सत्त्व पर से पृथक् है, ऐसी स्वावलंबी श्रद्धा के बिना मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। यहाँ श्रद्धा करने की बात है। पुण्यभाव हो उसका अस्वीकार नहीं है; किन्तु मेरा स्वभाव स्वतन्त्र है—ऐसा माने बिना मोक्षमार्ग नहीं खुलता। पुण्य और पाप दोनों बन्धनभाव हैं। विषपान करने से अमृत की डकार नहीं आती।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के समवसरण में अनेक बार गया, किन्तु अन्तर में ऐसा बना रहा कि कुछ शुभ करूँ तो आत्मा को लाभ हो; किन्तु ऐसा नहीं माना कि मैं शुभ से पृथक् निर्मल ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे गुण की पर्याय मुझमें से आती है; इससे भवभ्रमण दूर नहीं हुआ। यहाँ तो मात्र जन्म-मरण को दूर करने की ही बात है। जिस भाव से बन्धन न टूटे उसकी यहाँ बात नहीं है।

मैं आत्मा श्रद्धा-ज्ञानादि अनंत गुणों का सागर हूँ, अनन्त पुरुषार्थ की मूर्ति हूँ, मैं अपने आत्मा की प्रतीति से-विश्वास के बल से प्रगट हो सकता हूँ। अपने आत्मा की प्रतीति के साथ देव, गुरु, शास्त्र की प्रतीति आ जाती है, किन्तु मैं देव, गुरु, शास्त्र की प्रतीति से प्रगट होऊँ ऐसा नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति होते ही अनन्त संसार नाश हो गया; फिर भले ही पुण्य के कारण चक्रवर्ती का राज्य हो, छियानवे हजार रानियाँ हों, किन्तु राग मेरा स्वरूप नहीं है, राग का या बाह्य संयोगों का मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, ऐसा भान होने से एक-दो भव में अथवा उसी भव में मोक्ष जाता है और ऐसी प्रतीति बिना भले ही त्यागी होकर बैठा हो, तथापि भव कम नहीं होते; क्योंकि उसकी दृष्टि राग पर पड़ी है—वही संसार है और वही भव का कारण है; भव कम करनेवाले भाव की खबर न होने से भव कम नहीं होते। बंधनभाव से अबंधनभाव प्रगट नहीं होता। आत्मा तो राग-द्वेषरहित मोक्षस्वरूप है।

आत्मा ज्ञाता चैतन्यज्योति है, वह भ्रान्ति द्वारा पुण्य-पाप की ओढ़नी ओढ़कर सो रहा है। आत्मा का भान न होने से पुण्य-पाप के भावरूप ही मैं हूँ—ऐसी भ्राँति है, इससे विकारी ओढ़नी से सम्पूर्ण आत्मा को ढँककर सो रहा है। उससे श्रीगुरु कहते हैं कि—शरीर, मन, वाणी तो तेरे नहीं हैं, किन्तु उसके ओर की जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे भी तेरी नहीं हैं। महिमावन्त चैतन्यतत्त्व की यह ओढ़नी नहीं है; अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मा को

पुण्य-पाप के आवरण से ढँक दिया है। गुरु ने कौना पकड़कर खींचा कि—भाई! जागृत हो! इसलिए प्रेम से उनकी बात सुनता है। अनेक जीव तो एकबार सुनकर ही भड़क उठते हैं, लेकिन यह तो पात्र जीव है, इससे बारम्बार श्रवण करता है। गुरु ने कहा कि छोड़ दे अपनी ओढ़नी, त्याग दे अपनी मान्यता! पर को अपना मानकर सो रहा है, वह तेरा तत्त्व नहीं है।—इसप्रकार श्रीगुरु के कहे हुए वचन बारम्बार सुनता है। जिसे संसार की रुचि हो उसे यह सुनने की रुचि ही कहाँ से आ सकती है? स्त्री-बच्चे गुणगान करते हों, मोटर में बैठकर फिरता हों, तो फिर देख लो संसार का पागल! नशे में मस्त हो जाता है; मानों इसी में सब कुछ आ गया! लेकिन ज्ञानी गुरु कहते हैं कि यह वस्तु त्रिकाल में तेरी नहीं है, पुण्य का एक कण भी तेरे आत्मा को शान्ति देने में समर्थ नहीं है; पर पदार्थ आत्मा को शान्ति नहीं दे सकते; तेरी शान्ति तुझमें ही भरी है, तू वीतराग चिदानन्द है, दूसरों की ओढ़नी को छोड़ दे!—इस प्रकार श्रीगुरु ने बारम्बार समझाया। बारम्बार सुनने-समझने से अन्तर से जान लिया कि—यह जो पुण्य-पापभाव होते हैं, वे मेरे नहीं हैं; मैं तो उन भावों से रहित ब्रह्मानन्द आत्मा हूँ। अहा! गुरु कहते हैं वह बात बिल्कुल सत्य है—ऐसी ही है। ऐसा जानकर स्थिर हुआ वही प्रत्याख्यान है।

जब तक परवस्तु को भूल से अपना मानता है वहाँ तक ममत्व रहता है; लेकिन यह परवस्तु है;—ऐसा जान ले तब तत्काल उसे छोड़ देता है। जैसे—विवाह के समय दूसरे के गहने माँगकर लाये और उन्हें अपना समझे यह महामूर्ख कहलाता है उसी प्रकार आत्मा ज्ञानमूर्ति निर्मलस्वरूप है, उसमें जो पर शुभाशुभ भाव हैं, उनको अपनी सम्पत्ति में खतौनी करे वह मूर्ख है। आत्मा अनन्त गुणों की खान है, उसमें जितने विकारी भाव हों, उन्हें अपने गुणों की सम्पत्ति में मिलाये तो वह मूर्ख है, फिर चाहे वह भले ही लोक में बुद्धिमान कहलाता हो। जब तक स्थिर न हुआ हो तब तक पुण्यभाव होते अवश्य हैं लेकिन उन्हें अपना माने तो वह अज्ञानी है। शरीर, वणी, मन और शुभाशुभ वृत्तियाँ तो क्षणिक हैं—नाशवान हैं; आत्मा ज्ञानमूर्ति अविनाशी है, वह अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह उसकी सम्पत्ति है; उसमें शुभाशुभ भावों की खतौनी करे और माने कि यह भाव मेरा आत्मस्वभाव प्रगट होने में सहायक होगा, तो उसे अपने स्वभाव की खबर नहीं है। अपनी सम्पत्ति की खबर न हो तब तक दूसरे की सम्पत्ति को अपना मानता है, वह महान अज्ञानी है। जब

आत्मा को भान हुआ कि यह शुभाशुभ वृत्तियाँ पर की हैं, तब पर का ममत्व नहीं रहता और ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथक् अपने में स्थिर हो जाता है, वह प्रत्याख्यान है।

साक्षात् तीर्थंकर भगवान के निकट गया; वे तीर्थंकर अपने में अनंत आनंद का उपभोग कर रहे हैं—उनके पास गया, लेकिन सच्चे तत्त्व को नहीं समझा। स्वयं जागृत न हो तो निमित्त क्या कर सकता है ? यहाँ तो चौरासी का अन्त लाने की बात है, मोक्ष प्राप्त करने की बात है।

अब कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(मालिनी)

अवतरति न यावद् वृत्ति-मत्यन्त-वेगा-
दनव-मपर-भाव-त्याग-दृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकल-भावै-रन्यदीयैर्विमुक्ता,
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ।।२९।।

अर्थः—यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि, पुरानी न हो इस प्रकार अत्यन्त वेग से जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो उसके पूर्व ही तत्काल सकल अन्य भावों से रहित स्वयं ही यह अनुभूति तो प्रगट हो गई।

यह परभाव के त्याग के दृष्टांत की दृष्टि पुरानी न हो अर्थात् आसक्ति, क्रोध, मान विकार हैं, वे पर के ही हैं ऐसा जाना और वह दृष्टि पुरानी नहीं हुई अर्थात् नवीन की नवीन रही; पर की प्रवृत्ति को प्राप्त न हो अर्थात् पर आचरण को प्राप्त न हो, राग-द्वेष में युक्त न हो, उसके पूर्व स्व में स्थिर हुआ और परभाव को छोड़ दिया वही प्रत्याख्यान है।

इस ज्ञानस्वभाव में कुछ पर का करना है ही नहीं, किन्तु वर्तमान समय जितनी क्षणिक अवस्था में करने-छोड़ने की वृत्ति हो तब ज्ञान चलित-अस्थिर होता है, इसलिए उसमें युक्त न होने से ज्ञान का भाव पुराना नहीं हुआ, ज्ञान नये का नया रहा, इतने में आत्मा का अनुभव हो गया। जान लिया था कि यह राग-द्वेष, शुभाशुभ आकुलता के भाव होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं हैं। जो जाना था उसे नया बनाये रखा और स्थिर हुआ वह प्रत्याख्यान है।

त्याग के दृष्टांत की दृष्टि पुरानी नहीं हुई और प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं हुई अर्थात् विकार में युक्त नहीं हुआ वहाँ तो स्वभाव में स्थिर हो गया। विकार मेरा स्वरूप नहीं है—इस प्रकार ज्ञान नये का नया रहा वहाँ स्वरूप में स्थिर हो गया।

परभाव विकारी वासना है वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसी दृष्टि पुरानी नहीं हुई नयी की नयी रही और विकार में युक्त नहीं हुआ उसके पहले तो अत्यंत वेग से स्वभाव में स्थिर हो गया—इसका नाम प्रत्याख्यान है। विकारी वासना में युक्त न होना और आत्मस्वभाव का प्रगट होना वे दोनों कार्य एक ही समय में होते हैं, किन्तु यहाँ 'पहले-पश्चात्' बात की है वह जोर देने के लिये कही है। दुनिया कहेगी कि यह प्रत्याख्यान कहाँ से निकाला? आत्मा के स्वभाव में से निकाला है। भाई! इस आत्मा का स्वरूप तो वीतरागता है और उस अरागदशा में स्थिर होने का नाम ही त्याग है; किन्तु पर का लेना-देना, ग्रहण-त्याग आत्मा के हाथ की बात नहीं है।

कोई कहे कि हम व्यापार-धन्धा करते हों, तथापि हमारे अंतर में वीतरागता रहती है, तो वह बात बिल्कुल मिथ्या है, ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। जितने प्रमाण में राग-द्वेष दूर हो उतने प्रमाण में बाह्य संयोग भी छूट जाता है। संयोग छूटे वह अपने स्वतन्त्र कारण से छूटता है; तथापि राग-द्वेष छूटे और उसके प्रमाण में बाहर का संयोग न छूटे ऐसा नहीं हो सकता। दोनो स्वतन्त्र होने पर भी भाव और संयोग का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। संयोग के ग्रहण का और त्याग का कर्ता आत्मा नहीं है, किन्तु राग-द्वेष छूटे उतने प्रमाण में संयोग छूट ही जाता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे—कोई कहे कि हमें ब्रह्मचर्य भाव प्रगट हुआ है, फिर भी विषय-कषाय का सेवन कर रहे हैं; क्योंकि हमें अन्तर में भाव प्रगट हुआ है, फिर बाह्य संयोग क्या हानि कर सकते हैं? लेकिन ऐसा कभी नहीं हो सकता। जितने अंश में ब्रह्मचर्य का निर्मल भाव प्रगट हुआ उतने अंश में संयोग छूट ही जाते हैं—ऐसा नियम है; किन्तु अन्तर में ब्रह्मचर्य का निर्मल भाव प्रगट हुआ हो और बाह्य में विषयसेवन करता हो—ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। हाँ, ऐसा हो सकता है कि कोई चतुर्थ गुणस्थानवाला धर्मात्मा हो और स्त्री सम्बन्धी राग भी हो। प्रथम भान किया कि विषय-कषाय मेरा स्वरूप नहीं है, मैं निर्मल चैतन्यमूर्ति हूँ—ऐसा यथार्थ भान होने पर भी छियानवें हजार रानियों में विद्यमान हो, तथापि

दृष्टि तो अखण्ड आत्मा पर पड़ी है। राग के कारण स्त्री वृन्द में विद्यमान है, उस राग को विष के समान समझता है। उस चतुर्थ भूमिका में अनन्तानुबन्धी राग दूर हो गया है, इससे अनन्त संसार तो दूर हो गया है, किन्तु अभी चारित्र मोह का राग शेष है इससे अस्थिरता बनी है, इस कारण राज्य में और स्त्रियों में विद्यमान है। यह चतुर्थ भूमिका की बात है; किन्तु ब्रह्मचर्य की बात तो पाँचवीं भूमिका की है। अंतर-आत्मश्रद्धा होने के पश्चात् जितना ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट हो अर्थात् जितनी स्वरूपस्थिरतारूप पर्याय प्रगट हो उतना राग नहीं होता, और जितना राग न हो उतना क्रिया का संयोग नहीं होता; निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण वह छूट ही जाता है। निमित्त उसके अपने कारण छूटता है, तथापि वह छूटता तो अवश्य ही है;—ऐसा सम्बन्ध है।

यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा है। उस पर दृष्टि पड़े उसके पूर्व समस्त अन्य भावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभवन तो तत्काल हो गया; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को पर का जान लेने के बाद उसके प्रति ममत्व नहीं रहता। जैसे—कोई सुन्दर फूलों की माला हो, उसे हाथ में लेकर सूंघ रहा हो, फिर उसे दोनों हाथों से मसल डाले, तब उसे माला की तुच्छता भासित होती है और उसके प्रति ममत्व नहीं रहता। उसी प्रकार अज्ञान अवस्था में अरे मेरा पुण्य! अरे मेरे पुण्य का फल!—इस प्रकार पुण्य की महिमा करके उसे सूँघता था; उस महिमा को आत्मस्वभाव की महिमा द्वारा मसल डाला, उसकी तुच्छता भासित हुई, फिर उसके प्रति ममत्व नहीं रहता॥३५॥

इस अनुभूति से परभाव पृथक् किस प्रकार हुआ उसकी आशंका करके पूछता है। आशंका अर्थात् शंका नहीं, किन्तु विशेष जानने की उत्कण्ठा से पूछता है।

मोहकर्म से पृथक् करना कि—यह जो मोह है सो मैं नहीं हूँ—ऐसा जो भेदज्ञान, उसे अबकी गाथा में कहते हैं:—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोह-णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३६।।

अर्थः—ऐसा जाने कि 'मोह से मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, एक उपयोग है वही मैं हूँ'—ऐसा जो जानना है उसे सिद्धान्त के अथवा स्व-पर के स्वरूप के ज्ञाता मोह से निर्ममत्व जानते हैं, कहते हैं।

आचार्यदेव यहाँ मोह से पृथक्त्व बतलाकर एक परमाणु मात्र भी तेरा नहीं है, वहाँ तक ले जायेंगे।

धर्मात्मा आत्मा के स्वभाव को जानने के कारण ऐसा जानता है कि मोह में मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, एक उपयोग है वही मैं हूँ। मोह अर्थात् पर जो पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव हैं, उनसे मुझे लाभ होगा—ऐसा मानना वह भाव मोह है और वह मानने में निमित्त सो द्रव्य-मोहकर्म है। वह मोह मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है; जिसके निमित्त से स्वयं अपनी सावधानी से च्युत होऊँ ऐसे मोह का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। उपयोग का अर्थ है जानने की दशा, निर्मल जानने-देखने की अवस्था। उसमें जो विकारी भाव हैं वह मैं नहीं हूँ, मात्र जानने-देखने के स्वभाव जितना ही मैं हूँ। यहाँ निर्मल उपयोग अर्थात् निर्मल प्रगट अवस्था की बात है। द्रव्य, गुण, और कारणपर्याय त्रिकाल निर्मल अन्तर में है, उन पर दृष्टि डालने से निर्मल पर्याय प्रगट करता जाता है, उसकी यहाँ बात है। अन्तर में जानने-देखने का जो उपयोग है वही मैं हूँ—ऐसा जिसने जाना उसे सिद्धान्त के अथवा स्व-पर स्वरूप के जाननेवाले मोह से निर्ममत्व कहते हैं। यहाँ तो आगे बढ़ता जाता है—स्थिर होता जाता है। इन ३६-३७-३८ तीनों गाथाओं में विशेष विषय निर्मल पर्याय की बात है।

ममता और काम-क्रोध के अंश हों, उनमें से जो युक्त नहीं होता उसे भगवान निर्मोही कहते हैं; वह आगे बढ़ते-बढ़ते स्थिर होगा और केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

निश्चय से फल देने के सामर्थ्य से प्रगट होकर भावरूप होनेवाला जो पुद्गल द्रव्य उसके द्वारा रचा हुआ जो मोह उससे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यहाँ कहते हैं कि वास्तव में कर्म के निमित्त से जो वृत्तियाँ हो आती हैं, उस मोह का मेरे द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मेरा मोह से कोई सम्बन्ध है। मोह पुद्गल द्रव्य द्वारा रचा हुआ अर्थात् उत्पन्न हुआ भाव है। यहाँ द्रव्यदृष्टि का विषय है और स्वभाव का बल है। आत्मा की अवस्था में जहाँ कर्म का फल देखा वहाँ स्वभावदृष्टि के बल से अस्वीकार करते हैं कि यह मेरा स्वभाव नहीं है; यह जो विकारी भाव दिखाई देते हैं उनकी उत्पत्ति मेरे स्वभाव में से नहीं होती; वे मुझमें से नहीं आते मेरा निर्मल ज्ञानस्वभाव उस विकार को उत्पन्न नहीं करता और विकार मेरे निर्मल उपयोग को उत्पन्न नहीं करता। मोह पुद्गल द्रव्य द्वारा रचित है, मेरे चैतन्यस्वभाव द्वारा रचित नहीं है, उसकी रचना चैतन्यस्वभाव में से नहीं होती।

कोई कहेगा कि यह हमारी समझ में नहीं आता; लेकिन कमाने में पचास वर्ष बिता दिये और यहाँ कुछ भी विचार, श्रवण, मनन न करे तो समझ में कैसे आये ? कोई कहे कि हमारा ध्यान आगे नहीं बढ़ता लेकिन सच्ची समझ के बिना ध्यान कहाँ से हो ? ध्यान के फलरूप सच्ची समझ नहीं है किन्तु सच्ची समझ के फलरूप ध्यान है। प्रथम सच्ची समझ करे कि मेरा स्वभाव विकार और पुण्यादि को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, किन्तु मैं तो निर्मल और निर्दोष स्वभाव को उत्पन्न करनेवाला हूँ—ऐसी यथार्थ समझ के पश्चात् ही यथार्थ ध्यान होता है।

मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसे विकारभाव द्वारा भावना करना अर्थात् विकार द्वारा आत्मस्वभाव होना—बनाना वह हो ही नहीं सकता। आत्मा का स्वभाव पर को (विकार को) नाश करनेवाला है। एक स्वभाव ध्रुवस्वभाव द्वारा विकार का होना अवश्य है। मैं एक स्वभावी हूँ इसलिए मेरे द्वारा पर का होना अवश्य है; मैं तो विकार का नाशक हूँ किन्तु उनका उत्पादक नहीं हूँ। धर्मात्मा ज्ञानी विचार करता है कि मोहकर्म के फलरूप से भाव्यरूप होनेवाले जो शुभाशुभ विकार हैं वे बदलते रहते हैं उनमें क्रम पड़ता रहता है, संक्रमण होता रहता है उनमें मेरा ज्ञान स्थिर नहीं रहता इसलिए वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं आत्मा तो आनन्द का कन्द हूँ, ज्ञान का पिण्ड हूँ, उन भावों से पृथक् हूँ—ऐसा जानने से अंतरस्वरूप में स्थिर होता है।

आत्मा का स्वभाव और कर्म के निमित्त में होनेवाला भाव—वे दोनों पृथक् हैं; उस स्वभाव को पृथक् मानना; जानना और उसमें एकाग्र होना सो मोक्ष का पंथ है। आत्मा वस्तु है तो उसमें शान्ति, आनन्द आदि गुण भी हैं; और कर्म के निमित्त से होनेवाला जो विकारी भाव है, उसे पृथक् करने का प्रयास करना सो मोक्ष का मार्ग है।

धर्मी जीव ऐसी भावना भाता है कि जो शुभाशुभ विकारी भाव दिखायी देते हैं, वह मेरी उपज नहीं है, वह तो पुद्गल की उपज है; इसलिए वह मेरा स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव अवगुणों को दूर करता है या उत्पन्न ? यदि अवगुण उत्पन्न करे तो अवगुणों को कभी दूर ही नहीं किया जा सकता। विकार आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है, किन्तु यदि आत्मा में विकार होता ही न हो तो निर्मल स्वभाव प्रगट होना चाहिए। आत्मा का स्वभाव अरागी-वीतरागी है, किन्तु वर्तमान अवस्था में जो गुणों की विपरीतता हो रही वह मेरा

स्वरूप नहीं है; वह मेरे स्वभाव को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि उसमें पर का निमित्त है, इससे मेरा स्वभाव नहीं हो सकता, और न मेरे स्वभाव को वह उत्पन्न कर सकती है।

हित आत्मा के आधीन होता है या पर के ? आत्मा को लक्ष में लिये बिना हित नहीं होता। अनन्तानन्त काल से मानता आ रहा है कि संयोगीभावों से लाभ होता है, लेकिन अपना हित स्वयं होता है पर के आधीन अपना हित नहीं है। धर्मी जीव भावना भाता है कि जानना-देखना मेरा स्वभाव है; उसमें प्रतीति और स्थिरता करने से मेरा चैतन्यस्वभाव उत्पन्न हो सकता है। बाह्य संयोग-लक्ष्मी, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा आदि और अन्तर संयोग-शुभाशुभ परिणाम, उनसे मेरा स्वभाव उत्पन्न नहीं हो सकता।

मैं चैतन्य जागृत स्वभाव हूँ, अनन्त गुण सामर्थ्य से परिपूर्ण हूँ। अवगुण का उत्पाद करे ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है। दया, हिंसा, काम, क्रोधादि, शुभाशुभभाव—ऐसे अपवित्र भावों को नाश करे और पवित्र निर्मल भावों को उत्पन्न करे—ऐसा मेरा स्वभाव है।

मैं जागृत ज्योति हूँ। यह जो मलिन भाव होते हैं, उनसे मैं पृथक् हूँ, उनका मैं स्वामी नहीं हूँ। मैं पर का स्वामी नहीं हूँ तो फिर पुण्य-पाप अर्थात् विकार को रचने की शक्ति मुझमें कहाँ से हो सकती है ? मेरा स्वभाव तो निर्मल ज्ञायकस्वभाव को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है।

मेरे स्वभाव का सामर्थ्य पर की भावना करे ऐसा नहीं हो सकता। मेरा सामर्थ्य तो मेरे स्वभाव को प्रगट करे ऐसा होता है, पर को प्रगट करे ऐसा नहीं हो सकता। मेरा स्वतन्त्रस्वभाव स्वतन्त्ररूप से मेरे आधीन प्रगट होता है, पर के आधीन होकर प्रगट हो ही नहीं सकता—ऐसी वस्तुस्थिति है।

स्वयमेव विश्व को प्रकाशित करने में चतुर है। धर्मी विचार करता है कि मैं तो स्व-पर सबके स्वभाव को जानने में चतुर हूँ। यह जो राग-द्वेषादि होते हैं, वह मैं नहीं हूँ, लेकिन उन्हें जाननेवाला मैं हूँ, इसलिए मैं जानने का कार्य कर सकता हूँ, लेकिन पर का लेने-देने आदि की क्रियाएँ और उस ओर की होनेवाली वृत्तियों का मैं कर्ता नहीं हूँ। जो नहीं हो सकता उसका अभिमान छोड़कर मैं अपने में ज्ञातारूप से रहूँ—वह मेरा स्वभाव है। मैं विकार का कर्ता नहीं हूँ; यदि आत्मा विकार का कर्ता हो तो विकार उसका कार्य हो जाये, और यदि विकार कार्य हो तो उसका नाश करने का कार्य नहीं कर सकता। मैं तो अविकारी

कार्य प्रगट कर सकता हूँ, अविकारी कार्य हो सकता हूँ। मैं पर को जानने में चतुर-बुद्धिमान हूँ, लेकिन पर का कर्ता होने का मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी इस पर्याय में जो-जो दोष होते हैं, वे मेरे ज्ञान से बाहर नहीं जाते, जो-जो वृत्तियाँ हो उन्हें मैं ज्ञाता रहकर जानता हूँ, लेकिन अपने ज्ञान के बाहर नहीं जाने देता—ऐसा जानने में मैं चतुर-बुद्धिमान हूँ।

जो नवीन-नवीन विकार होता है, उसे जानने में मैं चतुर-प्रताप-सम्पदा स्वरूप हूँ। पुण्य-पापादि विकारी भाव हों, तथापि वे मेरा चैतन्य जगमगाती ज्योति को नहीं बुझा सकते—ऐसा मैं प्रतापस्वरूप हूँ अर्थात् प्रतापी हूँ। मैं तो विकासरूप निरन्तर शाश्वत् प्रताप सम्पदा स्वरूप हूँ। मेरा चैतन्यस्वभाव सदैव-निरन्तर प्रकाशमान है; उसे कोई भी विकारी वृत्ति ढँक नहीं सकती ऐसा मैं निरन्तर विकासरूप हूँ।

पुनश्च, नित्यस्थायी अर्थात् मैं शाश्वत् प्रताप सम्पदास्वरूप हूँ। शरीर-मन-वाणी को तो कहीं अलग रख दिया, वे तो अनित्य हैं ही; किन्तु परोन्मुखता वाली जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे भी अनित्य हैं प्रतिक्षण बदलती हैं, उनके समक्ष में ज्ञाता शाश्वत् हूँ। क्रोध, मान, दया, आदि के जो भाव होते हैं, उन्हें जानने में चतुर—ऐसी नित्यस्थायी मेरी शाश्वत प्रताप सम्पदा है।

यह पैसादि की जो सम्पदा है, सो सब आपदा है। वह सम्पदा स्वयं आपदा नहीं है, किन्तु आपदा का निमित्त है। लक्ष्मी वास्तव में आपदा का कारण नहीं है, किन्तु उसके प्रति जो मोह है वह आपदा का कारण है। मोह कर-करके पैसे का रखवाला बनता है। तू पैसे का दास है या वह तेरा दास है ? तू उसका रखवाला है इसलिए तू ही उसका दास हुआ। बाहर की सम्पदा तो क्षणिक-नाशवान है, पैसे में सुख नहीं है—सुख तेरे आत्मा में है।

धर्मी विचार करता है कि—मेरी सम्पदा और सुख मुझमें है। सच्ची सम्पदा तो चैतन्य की है कि जो सदैव शाश्वत् रहती है। मैं ज्ञाता ही हूँ। यह जो विकारी सम्पदा है सो मेरी नहीं है। मैं तो ज्ञान, शान्ति, आनन्द आदि अनन्त गुणों की खान हूँ, वह मेरी शाश्वत सम्पदा है। यह जो शुभाशुभ विकारी भाव हैं उनमें मैं स्वामित्व न होने दूँ और मात्र ज्ञाता रहूँ—ऐसी मेरी सम्पदा है। ऐसी धर्मी की प्रतीति और उसके द्वारा होनेवाली एकाग्रता सो धर्म है, वह मुक्ति का पंथ है। सभी आत्मा भगवान हैं, गुणों से परिपूर्ण हैं, किन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है, इसलिए ऐसा मानता है कि—विकारभावों का सेवन करके

उनके द्वारा उन्नति करूँगा। ऐसी मान्यता महान मूढ़ता है। विकारी भावना करके आगे बढ़ूँगा—ऐसा माननेवाला अज्ञानी है; किन्तु मैं आत्मा भगवान हूँ; अपनी चैतन्य सम्पदा की भावना करके आगे बढ़ूँ—ऐसी ज्ञानी भावना करता है।

परमार्थ से मैं एक हूँ; अनेक प्रकार के जो भाव हैं, उनमें मैं एकमेक नहीं हो गया। शरीरादि जड़ में और अनेक प्रकार के विकारी भावों में एकमेक नहीं हो गया हूँ, इसलिए मैं एक हूँ।

धर्मी विचार करता है कि जहाँ मैं हूँ वहाँ (उस क्षेत्र में) यह जो अन्तर में होनेवाली परोन्मुखता वाली राग-द्वेष और हर्ष-शोक की वृत्तियाँ दिखलाई देती हैं, और इस चौदह ब्रह्माण्ड की थैली में जहाँ मैं हूँ उस स्थान पर अन्य पर पदार्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल आदि भी हैं। उन राग-द्वेषादि सबको अपने भाव में से मैं पृथक् कर सकता हूँ, किन्तु क्षेत्र से पृथक् करना अशक्य है। दूसरे पदार्थ एक क्षेत्र में भले हों, किन्तु उन्हें मैं अपने स्वभाव-लक्षण द्वारा भाव से भिन्न कर सकता हूँ। शाश्वत् प्रताप सम्पदावाला आदि कहकर अस्ति की बात कही है और यहाँ पर से भिन्न बतलाकर नास्ति की बात कही है।

आत्मा और जड़ श्रीखण्ड की भाँति एकमेक हो रहे हैं। श्रीखण्ड में दही और शक्कर के स्वाद को एक स्थान से पृथक्-पृथक् करना अशक्य है। जिस प्रकार श्रीखण्ड के खट्टे-मीठे स्वाद को एक क्षेत्र से पृथक् नहीं किया जा सकता किन्तु स्वाद के भेद से पृथक् किया जा सकता है; उसी प्रकार आत्मा और जड़ क्षेत्र की अपेक्षा से एकमेक हो रहे हैं, तथापि स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वादभेद के कारण पृथक् किया जा सकता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता के संयोग में होनेवाली जो सुख-दुःख की वृत्ति है, वह आकुलित भाव है। उस आकुलता का स्वाद पृथक् और मेरा स्वाद पृथक् है—ऐसा स्पष्ट अनुभव में आता है। क्षेत्र से पृथक् नहीं कर सकता किन्तु पृथक्-पृथक् लक्षणों के ज्ञान के द्वारा पृथक् कर सकता हूँ। मोह के निमित्त से अनेक प्रकार के भाव होते हैं; वह हर्ष-शोक का स्वाद मलिन और कलुषित है, मेरे चैतन्य का स्वाद शान्त और पवित्र है—इस प्रकार धर्मात्मा भावना भाते हैं कि—अन्तर में यह जो आकुलता की खलबलाहट हो रही है उससे मेरा स्वरूप पृथक् है। खलबलाहट का स्वाद पृथक् है और मेरा—ज्ञाता का स्वाद

पृथक् है। मेरा स्वाद निरुपाधिक और निराकुलतामय है, और राग का स्वाद उपाधिमय एवं कलुषित है। मेरे स्वाद में निर्मलता और आनन्द के स्रोत बहते हैं और हर्ष-शोक के स्वाद में दु:ख एवं मलिनता है।—इस प्रकार स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वाद के भेद के कारण मैं मोह के प्रति निर्ममत्व ही हूँ।

राजपाट और इन्द्रादि की सम्पदा का स्वाद भी आकुलतारूप, कलुषित और उपाधिजन्य है। जगत के जीवों ने धर्म का परिचय नहीं किया है, इसलिए उन्हें पता नहीं है कि धर्म इस प्रकार होता है, इससे महँगा मालूम होता है। मार्ग पर चलते समय सच्चा मार्ग तो पहले समझ लेना चाहिए न! धर्म प्रगट होने से पूर्व उसकी रीति तो स्वीकार करना होगी न! जिस रीति से आत्मा में धर्म होता है, उसे पकड़कर उस मार्ग पर चले तो धर्म होगा, किन्तु यदि मार्ग को न जाने तो धर्म कहाँ से होगा?

धर्मात्मा भावना भाता है कि राग मेरे आत्मस्वभाव को रोधक है, किन्तु मैं आत्मा सन्तोष, शान्ति, समाधान स्वरूप हूँ, राग को तोड़नेवाला हूँ। राग का भाव आये वह मेरा स्वभाव नहीं है, वह मुझमें व्याप्त नहीं है, प्राप्त नहीं है, क्योंकि आत्मा सदैव अपने एकत्व में प्राप्त है, इसलिए क्षणिक अवस्था का आदर छोड़ूँ तो सदैव निर्मल एकत्व से प्राप्त एकरूप स्थित रहता है। मेरा स्वभाव त्रिकाल ध्रुव है और वर्तमान एक समयपर्यन्त होनेवाली विकारी अवस्था सो क्षणिक है। मन-वाणी में मैं प्राप्त नहीं हूँ इतना ही नहीं, किन्तु परोन्मुखता में भी मैं प्राप्त नहीं हूँ; मेरा तत्त्व चैतन्य अविनाशी एकत्व से प्राप्त है, मेरी प्राप्ति स्वभाव के एकत्व से है। अनेक प्रकार की वृत्तियाँ उठ आयें उसमें मेरे स्वभाव धर्म की प्राप्ति नहीं है। आत्मा वस्तु त्रिकाल है या क्षणिक? जो हो उसका कभी नाश नहीं होता और न हो उसकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिए आत्मा त्रिकाल है किन्तु क्षणिक नहीं है। अनेक प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं वे क्षणिक हैं; मैं अपने एकस्वभाव में रहूँ उसमें मेरी प्राप्ति है। लोगों को बाह्य से धर्म लेना है; किन्तु भाई! धर्म तो अन्तर आत्मा में है। अपूर्व बात कही है।

वस्तु में तो विकार हो ही नहीं सकता। विकार का अर्थ है विकृति, विकृति अर्थात् कर्माधीन उपाधि, और जो उपाधि है सो वास्तविक स्वरूप नहीं है। किसी भी पदार्थ के ओर की वृत्ति उठे वह सब विकार है, वह मैं नहीं हूँ। पराश्रय करनेरूप विकार अनेक है,

उसमें ज्ञातातत्त्व है नहीं इसलिए मैं एक हूँ; मैं अपने स्वभाव में एकाग्र रहूँ और ज्ञान-दर्शन की निर्मलता में भंग न पड़ने दूँ—वही मेरे स्वभाव की प्राप्ति है, वही आत्मा के स्वभाव की वृद्धि का कारण है। शरीरादि से तो आत्मा पृथक् है, किन्तु मोहकर्म के निमित्त से जो अनेक प्रकार के भाव होते हैं, उनसे भी आत्मा पृथक् है। ज्ञाता का स्वभाव कहीं भी अटकनेवाला नहीं है; विकार का नाश करनेवाला आत्मा निर्दोष स्वभाव की ओर उन्मुख रहे वही मोक्ष की नसैनी-मोक्ष का मार्ग है।

अपनी ज्ञान सत्ता में पदार्थ दिखाई देते हैं। ज्ञानमूर्ति में यह सब जो विकार दिखाई देता है वह मैं नहीं हूँ, मैं तो विकार रहित एक हूँ। अवस्थादृष्टि से जो क्षणिक भंग-भेदजनित भाव होते हैं, वह मैं हूँ—ऐसी कल्पना अज्ञानभाव से होती थी, किन्तु वह मैं नहीं हूँ; मैं तो नित्य एकरूप ही हूँ।

दही और शक्कर को मिलाने से श्रीखण्ड बनता है, उसमें दही और शक्कर एकमेक मालूम होते हैं, तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं; उसी प्रकार द्रव्यों के लक्षण भेद से जड़-चेतन का पृथक्-पृथक् स्वाद ज्ञात होता है कि मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक है, वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से पृथक् ही है।

ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वाद तो निराकुल, अद्‌भुत रसस्वरूप है, राग-द्वेष का स्वाद विकारी है, पर का स्वाद मुझमें आ नहीं जाता। अज्ञानी समझता है कि पर का स्वाद मुझमें आ जाता है। जैसे—चावलों का स्पर्श जीभ के साथ होने से अज्ञानी मान लेता है कि चावलों का स्वाद मुझमें आ गया है। लेकिन भाई! विचार तो कर कि पर का स्वाद तुझमें कैसे आ सकता है?

चावल एक स्वतन्त्र वस्तु है। विचार कर कि चावल कैसे पके? पानी से या अपने से? यदि पानी से पके हों तो पानी में कंकर डालने से कंकर भी पक जाना चाहिए; लेकिन चावल तो अपने कारण से ही पकते हैं—पानी से नहीं। चावलों का स्वाद चावलों में ही है। चावलों का स्वाद आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाता। अज्ञानी चावल की ओर का जो राग है उसके स्वाद का वेदन करता है और मानता है कि मुझे चावलों में से स्वाद आता है। जिस प्रकार चावलों का भात पूर्व अवस्था बदलकर होता है, उसी प्रकार जब कर्म पकता

है उस समय आत्मा में हर्ष-शोक, करना, छोड़ना, लेना-देना आदि के भाव दिखाई देते हैं, उस समय ज्ञानी समझते हैं कि यह सब कर्म का पाक है, मैं तो उसका ज्ञाता ही हूँ, वह मेरा स्वाद नहीं है।

अज्ञानी मिष्टान्न खाने का गृद्धि-लोलुपी है; वह जहाँ घृतपूर्ण मिठाई को देखता है कि मुँह में पानी आ जाता है, लेकिन आत्मा अरूपी ज्ञानवान है, उस अरूपी की अवस्था में रूपी प्रविष्ट हो सकता है ? ज्ञानी समझते हैं कि—मुझमें जो ज्ञान है उसे भी जानता हूँ, और इस स्वाद को भी जानता हूँ; किन्तु वह स्वाद के साथ एकता का अनुभव नहीं करता। अनेक खाने के लोलुपियों को मिठाई की बात सुनकर मुँह में पानी भर आता है, वे आत्मा को कैसे समझ सकते हैं ? भाई ! विचार कर तो ज्ञात हो कि मोहजन्य राग के कारण उसमें रुका है, इसलिए उसमें आनन्द मालूम होता है; किन्तु स्वाद के कारण आनन्द नहीं आता। स्वाद अर्थात् रस; उस रस की खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कषायला आदि सब जड़ की अवस्थाएँ हैं, किन्तु अज्ञानी को जड़ के रस की और आत्मा के ज्ञानानन्दरस की खबर नहीं है इसलिए मिष्टान्न खाते समय उसी में एकमेक हो जाता है, परंतु यदि आत्मा में स्वाद की अवस्था प्रविष्ट हो गयी हो तो जब वह मिष्टान्न विष्टारूप में बाहर निकलता है उस समय उसके साथ आत्मा भी निकल जाना चाहिए। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, अरूपी है; वह मिष्टान्न का स्वाद लेते समय यदि मिष्टान्नरूप ही हो जाता हो तो फिर पूड़ी-साग, दाल-भात इत्यादि दूसरी वस्तुओं के स्वाद को लेनेवाला कहाँ से रहे ? क्योंकि स्वाद लेनेवाला तो मिष्टान्नरूप ही हो गया है; इसलिए ऐसा नहीं होता। वह स्वादरूप नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञाता ही रहता है। ज्ञाता रहता है इसलिए क्रमशः पूड़ी-साग, दाल-भात आदि वस्तुओं के स्वाद का ज्ञाता रहता है।

मैं तीन लोक का ज्ञाता मिष्टान्नरूप नहीं हो जाता, और न उस मिष्टान्न का स्वाद मुझे ज्ञातारूप होता है। उसी प्रकार मोहकर्म के उदय का स्वाद—राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि होता है, वह मुझमें नहीं आ जाता; मैं तो उसका ज्ञाता हूँ। जिस समय जो ज्ञेय आता है उसे मैं जानता हूँ, किन्तु उसीरूप हो जानेवाला नहीं हूँ।

साठ वर्ष की उम्र में लड़का पैदा हुआ इससे अत्यन्त हर्ष हुआ; फिर तीसरे ही दिन वह मर गया इससे महान शोक हुआ। हर्ष-शोक तो कर्मजन्य विकारी स्वाद है। जिस

प्रकार मिष्टान्न का स्वाद जड़ का है, उसी प्रकार हर्ष-शोक का स्वाद विकारी है, कर्मजन्य है, वह आत्मा का स्वाद नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! यदि राग-द्वेष और हर्ष-शोक आत्मा की खान में से होते हों तो आत्मा कभी भी उनका नाश नहीं कर सकता; इसलिए वे कर्म की खान में से होते हैं—ऐसा कह दिया है। चैतन्य अकेला समाधानस्वरूप है, मेरे चैतन्य की खान में से चैतन्य का ज्ञान, शान्ति और समाधानस्वरूप प्रगट होता है। कर्म के पाक के समय आत्मा में कलुषितता का भास हो उसे ज्ञानी समझते हैं कि यह सब कर्मजन्य भाव है; इस विकारी स्वाद में मैं कहाँ रुका हूँ? यह मेरा स्वाद नहीं है। चैतन्य के नित्य स्वभाव में अटकना वह मेरा स्वाद है। देखो, स्वाद भेद कहा है परंतु क्षेत्रभेद नहीं कहा। आकुलता और निराकुलता को स्वाद भेद से भिन्न कर दिया। भावकभाव अर्थात् कर्म के निमित्त से होनेवाला भाव—उससे मेरा स्वरूप पृथक् है; इस प्रकार दोनों का भेद कर देने का नाम मोक्ष का पंथ मोक्ष की नसैनी है; वही आत्मधर्म है।

मिष्टान्न के रजकण अपने में हैं। उसी समय ज्ञाता की अवस्था में मैं, और मिष्टान्न की अवस्था में पुद्गल है। उसी प्रकार विकारी पर्याय को जानने की अवस्था में मैं, राग की अवस्था में कर्म है। आत्मा तो निरन्तर शाश्वत् प्रताप-सम्पदावाला है, जब उसकी सम्भाल करे तब उसे प्रगट कर सकता है। किसी को ऐसा लगे कि इस जीवन में अनेक प्रकार के माया और लोभ किये हैं, तो अब कैसे समझ में आ सकता है? किन्तु भाई! यदि पलटना चाहे तो एक क्षण में पलट सकता है, समझना चाहे तो तेरे घर की बात है। स्वयमेव अर्थात् अपने ही द्वारा जाना जा सकता है कि मैं ज्ञाता अन्तर की मिठास और मधुरता से परिपूर्ण हूँ। मेरा स्वाद पर से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है, कलुषितता तो जड़ का भाव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राग और आकुलता के भाव जड़ रजकणों में होते हैं। वे होते तो अपने चैतन्य की अवस्था में ही हैं लेकिन वे विकारी हैं, क्षणिक हैं, एकसमय पर्यन्त की विकारी अवस्था में होते हैं, आत्मा के स्वभाव में हैं ही नहीं। स्वभाव के भान द्वारा उन्हें दूर किया जा सकता है, इसलिए उन्हें जड़ का कहा है। आत्मा के पर से भिन्नत्व को समझना, श्रद्धा करना और उसमें स्थिर होना ही मोक्ष का पंथ है।

जो आत्मा अपने को परतन्त्र मानता है, उसमें एक मोहकर्म का निमित्त है। मोहकर्म

है सो जड़ है, उसका उदय कलुषिततारूप है। आत्मा जिस स्थान पर है उसी स्थान में मोहकर्म है, उस कर्म का विपाक हो उस समय रुचि-अरुचि हर्ष-शोक के जो भाव होते हैं, वे अपने स्वभाव को भूलकर होते हैं। वे चैतन्य के घर के नहीं हैं, किन्तु मोहकर्म की रचना का वह विपाक है। अनुकूलता-प्रतिकूलता में हर्ष-शोक रूप जो भाव होते हैं, वह अपना स्वभाव नहीं है। स्वसन्मुखता से च्युत होने वाले ने अपना नित्य एकरूप द्रव्य स्वभाव को नहीं देखा है इसलिए वह अज्ञानी हर्ष-शोकादि अज्ञानरूप भावों में रुक जाता है। जैसा अतीन्द्रियरस सिद्ध भगवान का है वैसा ही इस आत्मा का है। स्त्री, कुटुम्ब या आत्मा के विकारी भाव में सुख नहीं है किंतु कल्पना से मान लिया है। विकारी-मलिन भाव आत्मा का नहीं है। वह चैतन्य की अवस्था में होता है, वह दूर किया जा सकता है इसलिए अपना स्वभाव नहीं है। जिसे शान्ति और सुख का मार्ग चाहिए हो—उसे यह मानना ही पड़ेगा।

पानी में अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुई उष्णता को दूर किया जा सकता है इसलिए वह उष्णता अग्नि की है, किन्तु पानी की नहीं है। उसी प्रकार धर्मात्मा समझता है कि जो शुभ-अशुभ विकारी भाव होते हैं, वे अपने में होते हैं, जड़ में नहीं; किन्तु मैं उनसे पृथक् हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अविकारी स्वरूप हूँ। स्वभाव के भान में वह भाव निकाला जा सकता है इसलिए मेरा स्वभाव नहीं है। मैं उसका एक अंश दूर कर सका तो वह सब दूर हो सकता है, इसलिए मेरा स्वभाव नहीं किन्तु जड़ का है। मेरा स्वभाव, मेरा गुण, मेरी शान्ति मेरे घर की स्वतन्त्र वस्तु है यह जो राग-द्वेष होते हैं, वह वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं उसका ज्ञाता हूँ, उनको दूर करनेवाला हूँ, उनसे भिन्न हूँ—ऐसी दृष्टि के बल में वे जड़ के कहे हैं।

थोड़ी-सी अनुकूलता में राग हो जाता है, थोड़ी-सी प्रतिकूलता में द्वेष हो जाता है—इस प्रकार थोड़ी थोड़ी-सी बात में राग-द्वेष हो जाये और माने कि हम तो ज्ञाता हैं, पर भाव के कर्ता नहीं हैं, राग-द्वेष होते हैं, वे जड़ के हैं तो यह बात मिथ्या है। राग-द्वेष अपनी चैतन्य की अवस्था में ही होते हैं। जड़ में नहीं होते। ज्ञानी हो जाये और राग-द्वेष जैसे के तैसे बने रहें ऐसा नहीं हो सकता, ज्ञानी हुआ इसलिए अनंत कषाय दूर हो जाती है, स्वयं सहज उदासीन स्वभावरूप रहता है इसलिए राग-द्वेष अमुक सीमा के ही रहते हैं; और पुरुषार्थ बढ़ने से समस्त राग-द्वेष दूर हो जाते हैं।

निर्मलता में जाने से अपने को रोके और शान्ति की ओर न ढलने दे वह विकार है। मलिनता से उपयोग की निर्मलता ढँक जाती है। जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से निर्मल है, किन्तु लाल-पीले फूलों के संयोग से वह निर्मलता ढँक जाती है, तथापि स्फटिक मूल स्वभाव से उस रंग-रूप नहीं हो गया है, वह स्वयं वर्तमान अवस्था में फूलों के संयोग में लाल-पीली अवस्था के रूप परिणमित हुआ है।

धर्मात्मा विचार करता है कि कर्म के निमित्त से जो मलिनता दिखाई देती है, वह मैं नहीं हूँ। जो पर का आश्रय करे वह मेरा स्वभाव नहीं हो सकता, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा निर्मल उपयोगस्वरूप हूँ। चैतन्य की सम्पूर्ण शक्ति की ओर देखूँ तो वर्तमान में पूर्ण है वह मैं हूँ, और वर्तमान व्यक्त में देखूँ तो जितना जानने-देखने का व्यापार है वह सब मैं हूँ उसके अतिरिक्त जो कलुषित परिणाम है, वह मैं नहीं हूँ—इस प्रकार ज्ञानी भेद करते हैं। मैं चैतन्य ज्ञाताशक्ति से परिपूर्ण हूँ।

जिस प्रकार नमक की डली क्षाररस से परिपूर्ण है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञानरस से परिपूर्ण पिण्ड है। जितना जानने-देखने का व्यापार है उतना मैं हूँ उसमें जो मलिनता के भाव होते हैं उतना मैं नहीं हूँ। अस्थिरता के कारण अपने स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हुआ जा सकता वह तेरे पुरुषार्थ की अशक्ति है। चैतन्य स्वयं समाधानस्वरूप है, वह समाधान करता है कि मैं पुरुषार्थ द्वारा स्थिर पर्याय प्रगट करके अस्थिर पर्याय को हटा दूँगा। जिस प्रकार लोक में कहा जाता है कि 'वाला तेने शा दुकाल' उसी प्रकार विभाव की ओर उनमुख हुआ ज्ञान भी समाधान करता है, तीव्र दु:खों को दूर करने के लिये विश्रामस्थल खोजता है। यह बालक आगे चलकर बड़ा हो जायेगा, इस प्रकार बालक शब्द से शुद्ध पर्याय का अंश प्रगट हुआ और दृष्टि पूर्णस्वभाव पर है इससे ज्ञानी पूर्णता ही देखते हैं और निर्मल पर्याय भी अल्प काल में पूर्ण हो जायेगी—ऐसा समाधान करते हैं।

लोक में भी तीव्र दु:ख को दूर करने के लिये ज्ञान समाधान करता है अधिक दु:ख न भोगना हों तो दूसरे का आश्रय लेकर दु:ख को दूर करता है। ज्ञान दु:ख को दूर करता है इसलिए ज्ञान ही समाधानस्वरूप है। विभाव की ओर उन्मुख हुआ ज्ञान भी दूसरे का आश्रय लेकर थोड़ा दु:ख दूर करता है। तब फिर ज्ञानभाव से समस्त पुण्य-पाप की वृत्ति को दूर करके ज्ञान समाधानस्वरूप रहे ऐसा चैतन्य का सामर्थ्य है।

आत्मा में जब हर्ष-शोक की वृत्तियाँ उठें उस समय भी ज्ञान समाधान करता है कि मैं तो उनसे भिन्न हूँ; यह जो वृत्तियाँ हैं सो मैं नहीं हूँ; जितनी चैतन्यशक्ति है उतना मैं हूँ ऐसा समाधान करके स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है—ऐसा चैतन्य का स्वभाव है। धर्मी जीव विचार करता है कि—ऐसा चैतन्य का स्वभाव है। धर्मी जीव विचार करता है कि—भीतर यह जो केवल ज्ञानव्यापार दिखाई देता है, उसमें यह क्या? बाह्य में अनुकूलता-प्रतिकूलता के निमित्तों के कारण हर्ष-शोक के प्रसंगों का स्मरण होने से उसमें अटक जाता हूँ और अपने स्वरूप में स्थिर नहीं हो पाता, यह क्या? मैं समाधानरूप हूँ, चाहे जैसे हर्ष-शोक के प्रसंगों में समाधानस्वरूप रहना वह मेरा स्वभाव है। अपने स्वरूप की ओर उन्मुख होने का मेरा स्वभाव है। मैं पर से उदासीनस्वरूप हूँ—ऐसा विचार करके धर्मी अपने स्वरूप में स्थिर होता है। पर के ओर की वृत्ति होती है, उसकी उत्पत्ति मेरे घर से नहीं है किन्तु पर घर से है, ऐसा विचार करके अपने शान्त-उदासीन स्वरूप में रहने का नाम आत्मा का अनुभव और उसी का नाम धर्म है।

(स्वागता)

सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं चेतये स्वय-महं स्व-मिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि।।३०।।

अर्थः—इस लोक में मैं स्वतः ही अपने एक आत्मस्वरूप का ही अनुभव करता हूँ कि जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिए यह मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं है—मैं तो शुद्ध चैतनय के समूहरूप तेजपुंज का निधि हूँ।

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हों।
अपने रससौं भर्यो आपनी टेक हौं॥
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
शुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है॥

(समयसार नाटक, जीवद्वार ३३)

यह धर्मात्मा जीव चेतना में एकाग्रतारूप भावना करता है कि अपने से ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभवन करता हूँ, जो रूप सर्वतः अर्थात् चारों ओर से असंख्य

प्रदेश में चैतन्य के निजरस से परिपूर्ण है, चैतन्य में भी चैतन्यरस है, वह शान्त आनन्दरस से परिपूर्ण है उसका धर्मी अनुभवन करता है। जड़ का रस चैतन्य में नहीं है—जड़ का खट्टा-मीठा आदि रस जड़ में ही है।

खाने का लोलुपी जड़ का रस लेने में रागभाव से एकाग्र हुआ उसे लोग रस का आस्वादन कहते हैं। क्या रस की व्याख्या इतनी ही है ? दूसरी कोई रस की व्याख्या नहीं है ? किस भूमिका में, कौन सी सत्ता में, कौन सी अवस्था में रस का आस्वादन है वह कभी देखा है ?

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं कर सका इससे स्त्री, कुटुम्ब, आदि में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में खाने-पीने में जहाँ एकाग्र होता है, जिसे लक्ष में लेता है उसी में एकाग्र होकर दूसरी चिन्ता छोड़ देने को लोग रस का आस्वादन कहते हैं।

परवस्तु आत्मा में कहीं प्रविष्ट नहीं हो गई है; किन्तु जिस ओर एकाग्र हुआ उसके अतिरिक्त दूसरा सब कुछ भूल गया इसलिए उसे ऐसा लगता है कि इस वस्तु में से मुझे अच्छा रस मिला, किन्तु जड़ का रस कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाता। स्वयं अपने राग के रस का ही वेदन करता है।

घर में लड़के का विवाह हो, भाँति-भाँति के पक्वान्न-मिष्टान्न तथा शाक, पापड़ आदि बने हों; खाने का लोलुपी उसमें एकाग्र होकर स्वाद ले रहा हो और माने कि अहो! आज कितना मजा आया! लेकिन मजा उन वस्तुओं में है या तूने राग से कल्पना कर ली है ? क्या परवस्तु आत्मा को स्पर्श कर सकती है ? भाई! विचार तो कर कि सुख काहे में है ? मरते समय कौन शरणरूप होगा ? अरण्य-रुदन कौन सुनेगा ? कहाँ जाकर विश्राम लेगा ?

जो स्वरूप अपने रस से सर्वत: परिपूर्ण है उस अपने रसरूप विषय को लक्ष्य में लेकर आकुलता के स्वाद को पृथक् करके, अन्य चिन्ताओं से च्युत होकर आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है उसके स्वभावरस में लीन होने का नाम निजरस है। पर में रस कब था ? मात्र कल्पना के घोड़े दौड़ाये हैं पर में जितना सुख का स्वाद लिया है; दूसरे क्षण उतना ही दु:ख का स्वाद आयेगा। अनुकूल संयोग के समय सुख की, और वियोग के समय दु:ख की कल्पना करता है। पर का संयोग तो क्षणिक है—नित्यस्थायी नहीं है। नित्यस्थायी वस्तु का रस आत्मस्वभावोन्मुख परिणमित होने से ढलने से, पूर्ण भाव से भरा हुआ निजतत्त्व

है, उसमें से निजरस आता है, वह रस नित्य स्थायी वस्तु में से आता है; इससे धर्मी विचार करता है कि विकार का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो चैतन्य समूहरूप तेज:पुंज का निधि हूँ, मेरी चैतन्यनिधि में से शान्ति और सुख कम नहीं हो सकते। अपने शान्तरस से भावकभावक को पृथक् करके एकाग्रता का अनुभव करे वही आत्मा की शान्ति का उपाय है, मोक्ष का पंथ है।

किसी को प्रश्न उठे कि ऐसा भेद कैसे किया जाये ? तो कहते हैं कि—जैसे किसी मनुष्य को बाहर गाँव जाना हो, किन्तु गाँव का मार्ग किसी से पूछे बिना-अनजाने ही चलने लग जाये तो निश्चित ग्राम में नहीं पहुँचा जा सकता। मार्ग तो जानना नहीं है; तब फिर बिना जाने कैसे चले और बिना चले कैसे पहुँचे ? उसी प्रकार जो आत्मा का शान्त निर्मल स्वभाव है, उसे जाने बिना आगे कदम नहीं बढ़ाया जा सकता; मार्ग जाने बिना आत्मा के अनुभव की एकाग्रता के कदम नहीं बढ़ाये जा सकते और कदम बढ़ाये बिना मोक्षनगर नहीं पहुँचा जा सकता। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि स्वरूप में असावधानी का निमित्त कारण जो मोह भाव है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप उससे भिन्न ज्ञाता-दृष्टा है—ऐसा बराबर समझकर, प्रतीति करके स्वरूप में एकाग्र हो अर्थात् जान लेने के पश्चात् एकाग्रता के कदम बढ़ाये तो मोक्षनगर पहुँचा जा सकता है।

धर्मात्मा जिस प्रकार अपने से मोह को पृथक् करता है। उसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ को भी पृथक् करता है। कोई कहे कि—अनादि के क्रोध, मान एकदम कैसे जा सकते हैं।

अरे ! लेकिन तू कौन है ? दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करे—ऐसा तेरा सामर्थ्य है। उस पर दृष्टि कर तो क्रोध, मान सहज ही दूर हो जाएँगे। महान सन्त-महात्माओं ने अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया है।

गजकुमार जैसे महान संत-मुनि के सिर पर अग्नि रख दी। आँख और कान जलते थे उस समय किंचित्मात्र क्रोध न होने दिया और स्वरूप में स्थिर होकर ४८ मिनिट में केवलज्ञान प्रगट करके मुक्त हुए। अन्य कितने ही सन्त-मुनि परमात्मदशा पूर्ण करने के लिये ध्यान में स्थिर हो गये थे उसी समय किसी पूर्व भव के बैरी देव ने पूर्व प्रकृति के योग से आकर मुनि को मेरु पर्वत पर ले जाकर वहाँ (जिस प्रकार कपड़े को पछाड़ते हैं)

पत्थर पर पछाड़ा, उस समय मुनियों ने स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त किया; देह छूट गई और मुक्त हुए।

कोई कहे कि—तेरे साथ ऐसा बदला लूँगा कि तुझे अन्तर में गुण प्रगट नहीं होने दूँगा! किन्तु मुझे भव करना नहीं हैं न! अवतार है ही नहीं! फिर तू बदला लेगा कैसे? तू मुझमें प्रविष्ट हो ही नहीं सकता; इसलिए ऐसा बैर-बदला लेने के लिये कोई समर्थ नहीं है कि अन्तर में गुण प्रगट होने में बाधक बने। स्वयं अन्तर में क्रोध दूर कर दिया, फिर सामनेवाले के बैर रखने से इसका गुण प्रगट होने में बाधा हो—ऐसा नहीं हो सकता। जगत में कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि इसका गुण प्रगट होने से रोक सके। बैर रखनेवाले का बैर उसके पास रहता है और स्वयं स्वाधीनरूप से मोक्षपर्याय प्रगट करके मुक्त होता है।

बाह्य में परीषह आयें, प्रतिकूलताएँ आयें वह सब पूर्व प्रकृति के आधीन हैं, और गुण प्रगट करना अपने पुरुषार्थ के आधीन है। अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि अन्तर में गुण प्रगट हुए हों, धर्मात्मा हो तो दूसरे पर प्रभाव पड़ना चाहिए, अन्तर में अहिंसा प्रगटी हो तो बाह्य में दूसरों पर उसका प्रभाव पड़ना चाहिए, किन्तु वह बात सर्वथा मिथ्या है। सन्त-मुनि-केवलज्ञान प्राप्ति के सन्मुख हो—ऐसी अवस्था में हों और सिंह-बाघ आदि आकर फाड़ खाते हैं। पुण्य का उदय हो तो दूसरों पर प्रभाव पड़ता है और न हो तो नहीं भी पड़ता। अन्तर में गुणों का प्रगट होना अलग वस्तु है और प्रभाव पड़ना अलग वस्तु है।

जिस प्रकार क्रोध से भेद करे उसी प्रकार मान से भी भेद कर डाले कि मान मेरा स्वरूप नहीं है। कोई कहे कि हम तो ऐसे साधन सम्पन्न हैं इससे कोई हीन कैसे कह सकता है? किन्तु भाई! कोई हीन कहे या अच्छा कहे—वह सब पूर्व प्रकृति के आधीन हैं; और गुण प्रगट करना अपने आधीन है। पहले अनन्त बार कौड़ी के मोल बिक गया और यहाँ थोड़ा सा अनादर हो जाये तो कहता है कि हमें ऐसा क्यों? मान का पार नहीं है! किन्तु धर्मात्मा ऐसा समझते हैं कि वह मान मेरा स्वरूप नहीं है, मैं शान्त-निरभिमानस्वरूप हूँ।

उसी प्रकार माया-दम्भ भी मेरा स्वरूप नहीं है। लोग माया करके अपनी चतुराई बतलाते हैं कि हमने उसे कैसा ठगा! किन्तु विचार तो कर कि माया से कौन ठगा गया? सामनेवाले के पुण्य का योग नहीं था, इससे तेरे जैसे घोखेबाज-प्रपंची से उसका पाला पड़ा; किन्तु वास्तव में तो तू ही ठगा गया है—सामनेवाला नहीं ठगा गया। तूने अपने ज्ञान

को सीधा न रखकर उल्टा किया इसलिए तू ही ठगा गया। धर्मात्मा जीव माया से भेद करते हैं कि माया मेरा स्वरूप नहीं है—मैं तो सरल स्वभावी, चिन्मूर्ति आत्मा हूँ। उसी प्रकार लोभतृष्णा से भेद करे। तृष्णा मोह भाव है, मेरे चैतन्य का स्वरूप नहीं है। तथा कर्म से भेद करे कि जो यह अपूर्ण अवस्था है, इसमें कर्म का निमित्त है इसलिए इस अवस्था को कर्म में डाल दिया है। मैं तो पूर्ण स्वभाव से शुद्ध हूँ, वह कर्म मुझमें नहीं है—इस प्रकार कर्म से भेद करना चाहिए।

नोकर्म अर्थात् जितने बाह्य निमित्त दिखायी देते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मतिज्ञान द्वारा जानने से सीधा ज्ञात न हो—बीच में दीवार आदि आवरण आये वह आवरण नोकर्म है। श्रुतज्ञान में यह पुस्तक निमित्त है इसलिए यह पुस्तक भी नोकर्म है।

भैंस का दूध और बादाम-पिस्ता खाने से मस्तिष्क ठण्डा रहता है—ऐसा अनेक लोग मानते हैं; किन्तु यह बात बिल्कुल मिथ्या है। यह सब परवस्तु हैं, नोकर्म है। उस वस्तु का संयोग होना—वह नोकर्म है। साता का उदय हो तो वैसे निमित्त मिलते हैं और यदि असाता का उदय हो तो असाता के अनुकूल निमित्त होते हैं; परवस्तु तो निमित्तमात्र है। इससे सात्विक आहार लेना और गृद्धिभाव करना—यह कहना नहीं है, किन्तु यहाँ तो परपदार्थ के ऊपर से दृष्टि उठा लेने की बात है; साता-असाता होना हो तो उस प्रकार बाह्य वैसे निमित्त उसके कारण से उपस्थित होते हैं। ज्ञानी समझता है कि निमित्त मुझे कुछ कर ही नहीं सकता।

निद्रा बराबर आये तो काम अच्छा होता है। वह सब मान्यता भ्रम है। कोई कहे कि —लड़के ने मुझे क्रोध कराया; किन्तु एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में कुछ कर ही नहीं सकता। लड़का तो नोकर्म है, उसने क्रोध नहीं कराया है; किन्तु स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करके क्रोध किया और लड़के को निमित्त बनाया। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म—इन तीनों का सम्बन्ध है। द्रव्यकर्म अर्थात् आठ कर्मों के जड़ रजकण; भावकर्म अर्थात् चैतन्य के राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम और नोकर्म अर्थात् बाह्य निमित्त। इन तीनों का स्वरूप समझाया वहाँ अज्ञानी ने समझा कि यह मेरे हैं; किन्तु ज्ञानी समझते हैं कि उन तीनों कर्मों से मेरा स्वरूप पृथक् है। मन-वचन-काया की ओर उन्मुख होना भी मेरा स्वरूप नहीं है। इन्द्रियाँ आत्मदशा को प्रगट करने में आधारभूत नहीं हैं—ऐसा इन्द्रियों से भी भेदज्ञानी समझता है ॥३६॥

अब ज्ञेय भाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं:—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्म-णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३७।।

अर्थः—ऐसा जाने कि 'इन धर्म आदि द्रव्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; एक उपयोग है वही मैं हूँ'—ऐसा जो जानना है, उसे सिद्धान्त के अथवा स्व-पर के स्वरूप समय के ज्ञाता धर्मद्रव्य के प्रति निर्ममत्व कहते हैं।

३६वीं गाथा में आत्मा को पर से निराला अर्थात् मोहकर्म के निमित्त से होनेवाले भावों से पृथक् बतलाया। ३७वीं गाथा में उससे भी आगे बढ़ते हैं। भेदज्ञान होने के पश्चात् जो ज्ञेय के विचार आते हैं उनसे भी पृथक् बतलाते हैं और अन्तर एकाग्रता में बढ़ता है। धर्मात्मा को भेदज्ञान होने के पश्चात् धर्मास्तिकाय आदि के विचार आते हैं, किन्तु वह ऐसा समझता है कि—इन धर्मास्ति आदि छह पदार्थों का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; लेन-देन नहीं है। एक उपयोग ही मैं हूँ;—उसे सिद्धान्त का ज्ञाता, त्रिकाल स्वरूप का ज्ञाता, अथवा स्व-पर पदार्थ का ज्ञाता निर्ममत्व कहते हैं।

आत्मा का ज्ञान कैसा है ? अपने निजरस से जो प्रगट हुआ है, निवारण न किया जा सके ऐसा जिसका विस्तार है। आत्मा का ज्ञान इतना विकासरूप है कि उसमें चाहे जितने पदार्थ ज्ञात किए जाएँ तथापि ज्ञान का विकास न थके। देखो भाई! तुम्हें यह ज्ञात होता है उसमें तुम्हारा ज्ञान थकता है ? नहीं थकता; क्योंकि जिसका जानने का स्वभाव है वह क्या नहीं जानेगा ? सब कुछ जान लेगा। जिस प्रकार थोड़ा जानने में ज्ञान नहीं थकता उसी प्रकार सर्व पदार्थों को जानने में भी ज्ञान नहीं थकता; किन्तु ऐसे विशाल ज्ञान का विश्वास नहीं बैठता। जीवों को ऐसी शंका हो जाती है कि इतने से शरीर में इतना बड़ा ज्ञान हो सकता है ? प्रतीति नहीं होती। दूध में से दही होने की प्रतीति, पानी से प्यास बुझने की प्रतीति, जड़ की शक्ति की स्वीकृति किन्तु आत्मा का बल-तेज उसमें सम्यक् प्रकार एकाग्र होने से एक समय में केवलज्ञान प्राप्त होता है—ऐसे आत्मा के स्वभाव का विश्वास नहीं बैठता। अपने निजरस की एकाग्रता से प्रगट—ऐसा जो ज्ञान है उसका निवारण नहीं किया जा सकता, अर्थात् चाहे जितने पदार्थों का ज्ञान किया जाये तथापि न रुके—ऐसी शक्तिवाला वह ज्ञान है; उस ज्ञान का चाहे जितना विकास हो—विस्तार हो तथापि उसकी सीमा नहीं

है—असीम है। धर्मात्मा जानता है कि मेरे ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि समस्त पदार्थों को ज्ञात करूँ तथापि उसका अन्त नहीं है। देखो भाई! इस विशाल ज्ञान में कहीं राग-द्वेष नहीं आये किन्तु अकेला सुख ही आया।

समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है अर्थात् तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को जाननेरूप ग्रास कर लेने का जिसका स्वभाव है, आत्मा की प्रचण्ड, उग्र चिन्मात्र शक्ति द्वारा ग्रासीभूत करने का सामर्थ्य है; ग्रासीभूत अर्थात् तीन काल-तीन लोक के पदार्थ मानो ज्ञान में ग्रास न हो गये हों! अन्तर्मग्न न हो रहे हों! ज्ञान में तदाकर डूब न रहे हों! विश्व के समस्त पदार्थ अंदर प्रविष्ट न हो गये हों! इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान हैं। पदार्थ आत्मा में प्रविष्ट नहीं होते, किन्तु इस प्रकार प्रकाशमान हैं मानो प्रविष्ट हो गये हों।

जिस प्रकार दर्पण में वस्तुओं का प्रतिभास होता है, तब वे समस्त वस्तुएँ ऐसी दिखायी देती हैं मानो अन्तर्मग्न हो गई हों! प्रविष्ट हो गई हों! दर्पण में एक ही साथ पाँच वस्तुएँ दिखायी दें तथापि उसमें जगह की कमी नहीं पड़ती। जब दर्पण जैसे पदार्थ में ऐसा होता फिर ज्ञान में क्या ज्ञात नहीं होगा?

शरीर को लक्ष्य में से निकाल दिया जाये तो आत्मा इस समय भी ज्ञान की अरूपी मूर्ति है। उस अकेली ज्ञानमात्र मूर्ति में क्या ज्ञात नहीं होगा? जड़-चैतन्य समस्त पदार्थ एक ही साथ प्रकाशमान हो ऐसा उसका सामर्थ्य है। जिस प्रकार अग्नि की एक चिंगारी सबको जला देती है, उसी प्रकार ज्ञान का एक अंश सबको जान लेता है।

चौदह राजु लोक में धर्मास्तिकाय नाम का एक अरूपी पदार्थ है। जो जड़-चैतन्य को गति करने में उदासीन निमित्त है। जैसे—मछली से पानी यह नहीं कहता कि तू चल! किन्तु जब मछली चलती है उस समय पानी उदासीनरूप से निमित्त होता है; उसी प्रकार धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

उसी प्रकार चौदह ब्रह्माण्ड में एक अधर्मास्तिकाय नाम का अरूपी पदार्थ है। जड़-चैतन्य गति करते हुए स्थिर होते हैं, उन्हें स्थिर होने में वह उदासीन निमित्त है। जैसे-वृक्ष पथिक से नहीं कहता कि तू इस छाया में बैठ जा। किन्तु जो स्थिर होता है उसे छाया उदासीन निमित्त है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

वैसे ही आकाशास्तिकाय नाम का लोकालोक में सर्व व्यापक एक अरूपी पदार्थ है; जो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव—इन पाँचों द्रव्यों को अवगाह (स्थान) देने में उदासीन निमित्त है। यह संग्रहात्मक लोक के बाद क्या होगा? यह सब वस्तुएँ ऐसी की ऐसी कहाँ तक होंगी? उसके बाद क्या होगा? उसके बाद क्या होगा? ऐसा विचार किया जाये तो मात्र रिक्त स्थान लक्ष्य में आयेगा वह क्षेत्र से अमर्यादित आकाश है।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु द्रव्य स्थित है, वे कालाणु द्रव्य असंख्य हैं। जिस सूर्य-चंद्र के निमित्त से दिन-रात निश्चित होते हैं, वह कालद्रव्य नहीं है, किन्तु कालद्रव्य नाम का स्वतन्त्र पदार्थ है जो सर्व द्रव्यों को परिणमन में निमित्त है।

इन पदार्थों को जिसने स्वीकार नहीं किया, उसने अपने ज्ञान के विस्तार को ही स्वीकार नहीं किया है। ज्ञानी समझता है कि यह सब पदार्थ जगत में है, सर्वज्ञ भगवान ने देखे हैं, मेरे ज्ञान में भी ज्ञात होते हैं तथापि उन पदार्थों का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह जो समस्त वस्तुएँ दिखायी देती हैं सो पुद्गल के स्कन्ध हैं। उस स्कन्ध में एक-एक परमाणु द्रव्य स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् है। ऐसे परमाणु द्रव्य अनन्त हैं। और इस जीव द्रव्य से अन्य दूसरे जीव द्रव्य भी अनन्त हैं। धर्मी जीव समझता है कि—धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ, पुद्गल और मुझसे अन्य जीव द्रव्य—वे छहों द्रव्य मुझसे भिन्न हैं, वह मेरे ज्ञान का ज्ञेय है, वह मेरे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य हैं किन्तु उसका मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

घर के दरवाजे-खिड़कियाँ कितनी हैं, घर में कितनी रजाइयाँ हैं, एक-एक खिड़की में कितने लोहे के सलिये हैं—उन सबकी खबर होती है, किन्तु आत्मा में कितना सामर्थ्य है, उसकी खबर नहीं है जगत के छह पदार्थ हैं—वह ज्ञान का विषय है, उस वस्तु की जिसे खबर नहीं है, उसे मेरा ज्ञान कितना है उसकी खबर नहीं है। थोड़ा-थोड़ा जानने में अटक जाता है, अनुकूलता-प्रतिकूलता में अच्छा-बुरा मानकर अटक जाता है, किन्तु धर्मात्मा समझता है कि थोड़ा-थोड़ा जानने में रुक जाना—ऐसी अपूर्णता तथा अनुकूलता-प्रतिकूलता में रुक जाना—ऐसी तुच्छता मेरे स्वभाव में नहीं है। वे ज्ञेय और वह मोह; उनका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल और द्रव्य की विशेष बात आगे आयेगी।

जीव द्रव्य को अन्य किसी द्रव्य के साथ कुछ लेन-देन नहीं है। उसका अधिकार इसमें दिया है।

३६वीं गाथा में आया कि—मोहकर्म के निमित्त से आत्मा में जो भाव हो वह आत्मा का भाव नहीं है, उससे आत्मा को लाभ नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, उसे समझकर उसमें एकाग्रता हो वही लाभ है।

अब यहाँ कहते हैं कि—जीव और पुद्गल मेरे ज्ञान का ज्ञेय है।

धर्मी विचार करता है कि मन, वाणी, देह, कर्म और बाह्य का संयोग—वे सब पुद्गल हैं, वे मेरे कोई सम्बन्धी नहीं हैं। वे कर्म और शरीरादि मेरे ज्ञाता के ज्ञेय हैं; वे ज्ञाता होनेयोग्य हैं और मैं ज्ञाता हूँ। लक्ष्मी, मकान आदि पुद्गल मुझे सुख या दुःख देने में समर्थ नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य के साथ मेरा किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है; उससे मुझे लाभ या धर्म हो—ऐसा भी नहीं है; मेरा ज्ञानस्वभाव है उसे पहिचानकर उसमें एकाग्र होने से धर्म होता है।

अन्य आत्माओं के साथ भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे आत्मा मुझे लाभ-हानि पहुँचा सकें—ऐसा भी सम्बन्ध नहीं है। मात्र ज्ञेय-ज्ञायकरूप से सम्बन्ध है। मेरा आत्मा तो पर से निराला है। सिद्ध हो उस समय निराला है—ऐसी बात नहीं है किन्तु त्रिकाल निराला है; वर्तमान में भी निराला है। मेरी वस्तु में दूसरे का हाथ नहीं है और न मेरा किसी दूसरी वस्तु में हाथ है। दूसरे आत्मा मुझे सहायता नहीं दे सकते। देव-गुरु-शास्त्र भी मुझे सहायता नहीं दे सकते। स्वयं समझे तब देव-गुरु-शास्त्र को निमित्त कहा जाता है।

मेरा और इन शरीर-मन-वाणी के किसी भी रजकण का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जो परोन्मुखता के क्षणिक शुभाशुभभाव होते हैं—उनका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अनय जीव जो स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र-पुत्री आदि तथा देव-गुरु-शास्त्र हैं, उनका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे अपने निराले आत्मा की श्रद्धा होने से ही देव-गुरु-शास्त्र की यथार्थ पहिचान होती है। अकेले निमित्त पर लक्ष्य रहे वह राग है; देव-गुरु-शास्त्र ही मुझे तार देंगे—ऐसी दृष्टि रहे तब तक ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

प्रश्नः—देव-गुरु-शास्त्र भी आत्मा को कुछ लाभ या सहायता नहीं करते—ऐसा एकान्त दृष्टि से कहते हो?

उत्तरः—सम्यक् एकान्त दृष्टि से ऐसा ही है। आत्मा जब स्वोन्मुख होता है तभी

स्व-पर को यथार्थ जानता है। जब स्वोन्मुख हो तभी देव-गुरु-शास्त्र से मैं भिन्न हूँ, परमार्थ से कोई मुझे सहायक नहीं है—ऐसा भान होने के पश्चात् ही स्व-पर का यथार्थ ज्ञान होता है। देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त और अपना उपादान—दोनों का अर्थ स्व-पर का स्वरूप यथार्थ जानता है; निमित्त कौन है और मैं कौन हूँ, यह जानता है; मैं पर से निराला जागृत चैतन्यज्योति हूँ; मेरे गुणों का विकास मुझसे होता है और मेरे गुणों का विकास हुआ उसमें उपस्थितिरूप निमित्त देव-गुरु और शास्त्र हैं। इस प्रकार अपना स्वरूप और देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप स्व का भान होने के पश्चात् बराबर समझ लेता है। स्वसन्मुख होने के पश्चात् स्व-पर का ज्ञान हो वह यथार्थ ज्ञान है। अकेले निमित्त पर लक्ष्य होना सो राग है; अकेले पर पदार्थ पर लक्ष्य है तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। पर से भिन्न पड़े हुए ज्ञान में जो स्व-पर पदार्थ का स्वरूप ज्ञात हो वह यथार्थ ज्ञान होता है।

धर्मी विचार करता है कि—जो राग है सो मैं नहीं हूँ; शरीरादि तथा अन्य आत्मा भी मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायक एक आत्मा हूँ; अन्य आत्मा मेरे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य ज्ञेय हैं किन्तु वह मेरे सम्बन्ध नहीं हैं।

मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावपने से परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व हूँ; अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिण्ड हूँ। टंकोत्कीर्ण अर्थात् मैं निविड हूँ; परवस्तु आकर मेरे स्वभाव में विघ्न नहीं डाल सकती; वह मुझे लाभ-हानि करने या छूने-स्पर्श करने को भी समर्थ नहीं है। चाहे जितने अनुकूल या प्रतिकूलता के संयोग आयें, तथापि वह मुझे स्पर्श करने में भी समर्थ नहीं है।

धर्म कपड़ों में नहीं है; आहार ग्रहण करने या त्याग देने में भी धर्म नहीं है; मन-वाणी-देह में भी धर्म नहीं है। 'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तु का स्वभाव ही धर्म है; धर्म आत्मा का स्वभाव ही है; स्वभाव में अन्य किसी प्रकार की औपाधिक सम्बन्ध न होने देना और स्वभावरूप से रहना सो धर्म है।

मैं ज्ञायक स्वभावपने से परमार्थतः अन्तरंग तत्त्व हूँ। स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादि और देव-गुरु-शास्त्र—वे सब मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव तो एक प्रकार का है, किन्तु प्रत्येक आत्मद्रव्य स्वतन्त्र भिन्न है। यहाँ पर देव, गुरु और सिद्ध भगवान सबको ले लिया है; उन सबका स्वभाव मुझसे भिन्न है। भिन्न स्वभाव अर्थात्

समस्त द्रव्य मुझसे स्वतन्त्र भिन्न हैं; मेरा स्वभाव मुझमें और उनका स्वभाव उनमें, किसी का स्वभाव किसी में प्रविष्ट नहीं हो गया है—इस अपेक्षा से भिन्न स्वभाव कहे हैं; किन्तु जाति की अपेक्षा से तो एक अर्थात् समान ही हैं।

स्त्री, कुटुम्ब, देव, गुरु, शास्त्र, शरीर, मन, वाणी आदि सब बाह्यतत्त्व हैं; मैं तो अन्तरंगतत्त्व हूँ। इसमें अनेक सिद्धांतों का समावेश है; अस्ति-नास्ति से बहुत दृढ़ किया है। कोई परतत्त्व आत्मतत्त्व को सहायता करने, लाभ करने या हानि करने में असमर्थ है। परद्रव्य परमार्थ से अपने बाह्य-तत्त्वपने को छोड़ने में असमर्थ है, मैं परद्रव्यों का बाह्य तत्त्वपना छुड़ाने में असमर्थ हूँ। कोई पदार्थ मुझे लाभ-हानि कब कर सकता है कि जब वह अपने स्वभाव का अभाव करके मुझमें प्रविष्ट हो जाये तब। किन्तु कोई पदार्थ किसी पदार्थ में प्रविष्ट नहीं हो सकता; इसलिए मुझे कोई पदार्थ लाभ-हानि नहीं कर सकता। एक रजकण या अन्य जीव अपने गुण या अवस्था का अभाव करके मुझमें आने को असमर्थ हैं इसलिए मुझे लाभ-हानि करने में समर्थ नहीं हैं। मैं चिदानन्द मूर्ति हूँ—ऐसा जानना और उसमें स्थिर होना ही मुझे लाभदायक है; अर्थात् मेरा आत्मा ही मुझे लाभकारी है।

लोग स्त्री आदि बाह्य संयोगों में अनुकूलता-प्रतिकूलता मानते हैं किन्तु उनमें अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं है; मात्र कल्पना कर ली है। जैसे कि—एक सुन्दर महल हो, मजबूत किबाड़-खिड़कियाँ हों; फिर अन्दर से लगी आग, स्वयं अन्दर बैठा हो; किबाड़-खिड़कियाँ मजबूत हैं इससे खुलते नहीं हैं। जिसे अनुकूलता का कारण माना था वही प्रतिकूलता का कारण हुआ। इसलिए जो मान्यता थी वह मिथ्या हुई। जो तत्त्व अपने से भिन्न है वह अपने को अनुकूलता का कारण नहीं हो सकता। वे बाह्य तत्त्व हैं। आत्मा अपने रूप से है और बाह्य तत्त्व रूप से नहीं है अर्थात् आत्मा की अपने रूप से अस्ति और बाह्य तत्त्वरूप से नास्ति है। बाह्यतत्त्व बाह्यतत्त्वरूप से है—आत्मारूप से नहीं है। जो तत्त्व (पदार्थ) आत्मा से भिन्न हैं वे आत्मा को अनुकूलता-प्रतिकूलता या लाभ-हानि करने में समर्थ हो ही नहीं सकते।

मैं स्वयमेव उपयुक्त (उपयुक्त अर्थात् जानने-देखने के व्यापारवाला) हूँ; उसमें रहना ही मेरी वीतरागता प्रगट करने की रीति-पंथ है। मैं एक स्वयमेव नित्य उपयुक्त हूँ; स्वयमेव अर्थात् अपने आप, नित्य अर्थात् त्रिकाल और उपयुक्त अर्थात् ज्ञान-दर्शन के

व्यापारवाला हूँ। अपने आप त्रिकाल उपयुक्त हूँ; यही मेरा स्वभाव, धर्म और व्यापार है, सम्यग्दृष्टि का यह व्यापार है। संकल्प-विकल्प का व्यापार तो पर का है, जड़ का है। सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मेरा व्यापार तो ज्ञान ही है; मेरा स्वभाव शुद्ध निर्मल है, उसी में धर्म है। लोगों को अन्तरंग तत्त्व का कोई विचार नहीं है और कहते हैं कि बाह्य तत्त्व का तो कुछ कहते ही नहीं; किन्तु जिसमें धर्म नहीं है उसमें ज्ञानी कभी धर्म बतलाते ही नहीं हैं। तूने अपनी विपरीत मान्यता से बाह्य में धर्म मान लिया है, उस मान्यता को छोड़ दे।

मैं एक हूँ; संकल्प-विकल्प के जो अनेक प्रकार हैं, वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं उससे बिल्कुल भिन्न हूँ; संकल्प-विकल्प की किसी भी प्रकार की उपाधि मुझमें नहीं है, उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है; परमार्थतः मैं एक, अनाकुल, पर से भिन्न चिन्मात्र मूर्ति हूँ।

मैं आत्मा अनाकुलतास्वरूप हूँ, बाह्य की दौड़-धूप और बाह्य तत्त्व का रक्षकपना, तथा मैं पर को रखता हूँ, और पर मुझे रखता है ऐसे जो भाव होते हैं, वह सब आकुलता-व्याकुलता है; ज्ञानी समझते हैं कि यह आकुलता-व्याकुलता मेरे स्वरूप नहीं हैं। पर पदार्थ है सो मैं नहीं हूँ; तब फिर उनके निमित्त से होनेवाले जो आकुलित भाव हैं वह मैं कहाँ से होऊँ? मैं तो अनाकुल स्वरूप हूँ—ऐसा भान हुआ तब आकुलता का अभाव होता है और आकुलता का अभाव हो तब अन्य कुछ 'भाव स्वरूप' प्रगट होना चाहिए; आकुलता का अभाव हुआ इससे अपने में स्थिर हुआ वहाँ निराकुल आनन्द स्वरूप का वेदन करता है।

घर का कोई आदमी बीमार हो जाये तो आकुलता हो जाती है कि एकदम जाकर डॉक्टर को बुला लाऊँ, झट रोग दूर कर दूँ। किन्तु भाई! पर का रोग दूर करना तेरे हाथ की बात नहीं है; उसके साता का उदय हो तो तेरा निमित्त बनता है। तू मात्र पर को साथ देने का भाव कर सकता है पर का रोग मिटा देना तेरे हाथ की बात नहीं है।

ज्ञानी समझता है कि मैं पर का कुछ नहीं कर सकता इस प्रकार पर के कर्तृत्व अहंकार छूट गया, इससे पर की ओर का बल छूट गया और अपने में बल आया, श्रद्धा हुई, वस्तु का स्वभाव जाना, पर का बनना-बिगड़ना मेरे हाथ की बात नहीं है—ऐसा समाधान किया, इसलिए अपने में स्थिर हुआ। मैं ऐसा करूँ तो ऐसा हो और वैसा करूँ तो वैसा हो—ऐसी दौड़-धूप छोड़कर, आकुलता के स्वाद से भिन्न अपने निराकुल-शान्त

समाधान स्वरूप का वेदन करता है। स्वयं अपने को भगवान आत्मा ही समझता है। अभी अल्पज्ञ है, केवली, भगवान नहीं हुआ है तथापि ज्ञानी अपने को भगवान ही मानता है। पर से भिन्न हुआ इससे धर्मी को अपनी महिमा आती है कि मैं एक भगवान आत्मा हूँ। वस्तु स्वभाव से तो स्वयं भगवान ही है, इससे भी अपने को भगवान मानता है। धर्मी जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक हूँ, मैं जगत के किसी भी पदार्थरूप नहीं हो जाता इसलिए मैं एक हूँ। शरीर, वाणी और मन को स्वयं अपनी खबर नहीं है और न मेरी खबर है। मुझे उनकी भी खबर है और अपनी भी खबर है—ऐसा मैं स्पष्ट प्रगट हूँ, इस प्रकार धर्मी अपनी महिमा गाता है। जब तक समझा नहीं था तब तक धनवालों को बड़प्पन देता था, चाहे भले ही उनके कर्तव्य दुष्कृत हों, माँस-मदिरा का सेवन करते हों, किन्तु अपना भान होने पर, पर की महिमा छूट गई और अपनी महिमा आयी कि मैं स्वयं प्रगट भगवान आत्मा हूँ।

धर्मात्मा जानता है कि शरीर-मन-वाणी आदि के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। वे ज्ञात होने योग्य हैं और मैं ज्ञाता हूँ—इतना ही सम्बन्ध है। ज्ञेय-ज्ञायक भाव मात्र के सम्बन्ध से परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी प्रगट स्वाद में आनेवाले स्वभाव के भेद के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ। पहले जब समझा नहीं था तब उन पर का आश्रित होकर दौड़-धूप करता था; राग-द्वेष में रुकता था और उसका स्वाद लेता था, किन्तु जब ऐसा समझा कि राग-द्वेष मैं नहीं हूँ, मेरा और उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा स्वाद भिन्न है;—ऐसा भेदज्ञान करने से अपने शान्त आनन्द स्वरूप का वेदन करने लगा।

अज्ञानी राग को अपना मानता था इसलिए आत्मा और राग को एकमेक करता था, किन्तु ज्ञानी को भेदज्ञान द्वारा अपना स्वाद भिन्न है ऐसा ज्ञात होने पर, धर्म-अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं-निर्मम हूँ, वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ, मैं अपने में हूँ और वे भी स्वतन्त्र अपने में हैं—ऐसा ज्ञानी जानता है; क्योंकि सदैव अपने एकत्व में प्राप्त होने से प्रत्येक पदार्थ ऐसे का ऐसा ही स्थित रहता है, अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ता। इस प्रकार ज्ञेयभावों से ज्ञानी को भेदज्ञान हुआ।

प्रश्न:—इसमें धर्म कहाँ आया? करना क्या आया?

उत्तर:—इसमें अनन्तधर्म आ गया। धर्म कहीं कुदाली-फावड़े से प्राप्त नहीं होता,

किन्तु जो सदैव अपने में एकत्व से प्राप्त है—ऐसे आत्मा को माना, समझा और स्थिर हुआ वहाँ अनन्त पुरुषार्थ आया और वही धर्म है।

कोई कहे कि—धर्म करने के लिये अच्छा संहनन चाहिए; अच्छा क्षेत्र चाहिए, सुकाल चाहिए, और देव-गुरु-शास्त्र चाहिए; किन्तु भाई? संहनन अर्थात् क्या? संहनन का अर्थ है हड्डियों की मजबूती। तो क्या उससे अरूपी आत्मा का धर्म होता होगा? ऐसे संहनन तो अनन्त बार प्राप्त किये तथापि आत्मा के स्वरूप को नहीं समझा इसलिए धर्म नहीं हुआ। जब आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी करे तब उस जाति के शरीर संहनन की उपस्थिति होती है। किन्तु उसके द्वारा धर्म नहीं होता। धर्म तो अकेले अपने द्वारा ही होता है धर्म होने में उसकी सहायता भी नहीं है।

अनन्त बार मनुष्य भव प्राप्त किया, एक-एक क्षण में अरबों रुपयों की आमदनीवाला राजकुमार भी अनन्त बार हुआ, जहाँ तीर्थंकर और केवली विचरण करते हों ऐसा सुक्षेत्र भी अनन्त बार प्राप्त किया, और उत्तम चतुर्थकाल भी अनन्त बार प्राप्त किया, साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवसरण में भी अनन्त बार हो आया, साक्षात् देव-गुरु-शास्त्र का योग भी अनन्त बार मिला, किन्तु अपनी तैयारी बिना आत्मा की पहिचान नहीं हुई, सत्य समझ में नहीं आया इसलिए धर्म नहीं हुआ।

सदैव अपने एकत्व में प्राप्त होने से ऐसे का ऐसा स्थित रहता है—ऐसा कहकर बिल्कुल ध्रुवत्व बतलाया है। इसमें आचार्यदेव ने अत्यन्त गम्भीर रहस्य बतलाया है। बिल्कुल अपना एक प्रकार लक्ष्य में लेना उसमें दो प्रकार कैसे? पर के सम्बन्धवाली अवस्था-बन्ध और पर के सम्बन्ध के अभावरूप अवस्था-मोक्ष पर लक्ष्य न किया जाये तो सदैव एकत्व में ही प्राप्त है और ऐसे का ऐसा स्थित है। अवस्था अर्थात् एक समय की दशा-स्थिति को लक्ष्य में से छोड़कर एकत्व से देखें तो ऐसे का ऐसा ही प्राप्त है, एकत्व छूटकर बन्ध-मोक्ष ऐसा द्वित्व त्रिकाल में हुआ ही नहीं है। इसमें अत्यन्त गूढ़ बात है। आत्मा तो नित्य ज्ञान आनन्द का रसकन्द है, इस दृष्टि से देखें तो जो अवस्था में पर निमित्त की अपेक्षा है, उसे लक्ष्य में न लिया जाये तो वस्तु तो जो है सो है। राग-द्वेष रूप संसार और उसके अभावरूप मोक्ष—वह सब अवस्था में है, उस अवस्था में निमित्त की अपेक्षा आती है; किंतु अकेले द्रव्यस्वभाव से देखा जाये तो छहों पदार्थ नित्य ऐसे के ऐसे स्थित हैं।

किसी एक वस्तु को छोटा-बड़ा कहने में पर की अपेक्षा आती है; किन्तु पर की अपेक्षा ही न हो तो किसकी अपेक्षा से उस वस्तु को छोटा-बड़ा कहा जायेगा ? किन्तु जब वस्तु को अकेला कहना तो तब पर की अपेक्षा लक्ष्य में से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार आत्मतत्त्व के साथ एक कर्म है; उसकी अपेक्षा लक्ष्य में न ली जाये तो वस्तु जैसी है वैसी की वैसी निरपेक्ष है। स्वर्ण की कला को लक्ष्य में न लिया जाये तो स्वर्ण जैसा है वैसा ही है; उसी प्रकार चैतन्य अनन्त ज्ञानादि गुणों का रसकन्द है, उसकी अवस्था में निमित्त की अपेक्षा से देखा जाये तो राग-द्वेषरूप संसार है, और राग-द्वेष-मोह का अभाव करो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्ष की कलारूप अवस्था होती है; किन्तु उस निमित्त की सद्भाव-अभावरूप अपेक्षा लक्ष्य में न ली जाये तो आत्मद्रव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय से जैसा है, वैसा ही है।

परमाणु द्रव्य में भी कर्म की और अन्य वैभाविक अनेक प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं; उन्हें लक्ष्य में न लिया जाये तो परमाणु द्रव्य भी पृथक्-पृथक् निरपेक्ष तत्त्व है।

कर्म मेरी राग-द्वेष की अवस्था होने में निमित्त है और मेरी राग-द्वेष की अवस्था परमाणु की कर्मरूप अवस्था होने में निमित्त है—ऐसी परस्पर अपेक्षा को निकाल दिया जाये तो दोनों पदार्थ जैसे हैं वैसे ही निरपेक्ष स्थित हैं।

सर्व पदार्थ अपने-अपने में एकरूप ही स्थित हैं। आत्मा स्वयं एक वस्तु है। वह किसी से दबा होगा या स्वतन्त्र ? दबा हुआ तो मान लिया है; किन्तु वस्तुतः तो वह स्वतन्त्र ही है। ऐसे सच्चे तत्त्व की श्रद्धा में पर की अपेक्षा भी छूट जाती है। बिल्कुल स्वतन्त्र पदार्थ को एकत्व की अपेक्षा से देखा जाये, अवस्था की अपेक्षा लक्ष्य में से छोड़ दी जाये तो, समस्त पदार्थ निरपेक्ष जैसे हैं वैसे हैं।—ऐसी श्रद्धा की उसमें एकाग्र रहने का नाम धर्म है। यहाँ तो पर के सम्बन्ध रहित बात लेना है। मुझे और पर को तीन काल-तीन लोक में सम्बन्ध है ही नहीं, था भी नहीं; तब फिर बन्धन और मुक्ति किसे कहे जायें ? अवस्था है अवश्य, यदि वह न हो तो यह संसार और मोक्ष किसके ? वे अवस्थादृष्टि से हैं अवश्य, किन्तु उस दृष्टि को यहाँ गौण करके द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से कहा है। यह बात अत्यन्त सूक्ष्म है। सूक्ष्म मोतियों को पकड़ने के लिये बड़ी-बड़ी सँडासी काम में नहीं आतीं, किन्तु उन्हें पकड़ने के लिये तो छोटी सी चिमटी होना चाहिए। उसी प्रकार यह सूक्ष्म बात

पकड़ने के लिये स्थूल दृष्टि काम में नहीं आयेगी—किन्तु सूक्ष्म दृष्टि होना चाहिए।

मोह अर्थात् मूर्च्छा बुद्धि। जिस प्रकार मूर्च्छित प्राणी सच्चे-झूठे का विवेक नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि मूर्च्छित है, वह आत्मा का और पर का विवेक नहीं कर सकता, और पुण्य-पाप किये उतना ही मैं हूँ ऐसा मानता है; वह मूर्च्छित मोही अज्ञानी है, उसे वस्तु क्या है उसकी कुछ भी खबर नहीं है। भले त्यागी हो या गृहस्थ हो, किन्तु पुण्यादि के परिणाम और शरीरादि की क्रिया मेरी अपनी है और मैं उसका कर्ता हूँ—ऐसा मान रहा है, और चिदानन्द मूर्ति हूँ उसका कुछ भान न होने से वे सब मूर्च्छित मोही प्राणी हैं। इतने विशेषण तो यहाँ अज्ञानी को दिये हैं। देखो, इस समयसार में कितनी गाथाओं से अप्रतिबुद्ध को समझाते आ रहे हैं। कोई कहे कि यह सातवें गुणस्थान की बात है किन्तु ऐसा नहीं है, यहाँ तो अप्रतिबुद्धपना छुड़ाकर आगे ले जाते हैं।

अत्यन्त अप्रतिबुद्ध को विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने से किसी भी प्रकार समझ जाता है। विरक्त गुरु अर्थात् अन्तर में विपरीत मान्यता और अमुक अंश में राग-द्वेष से भी निवृत्त हैं। आत्मा के स्वभाव के भान को प्राप्त, मुक्ति के सन्मुख हुए, संसार से निवृत्त हुए—ऐसे गुरु द्वारा समझाये जाने पर—ऐसा कहा है। अज्ञानी गुरु को नहीं लिया है, क्योंकि अज्ञानी गुरु द्वारा समझाया जाये तो समझा नहीं जा सकता इसलिए ज्ञानी विरक्त गुरु को लिया है। जो स्वभाव को प्राप्त हुए हों उन्हीं के द्वारा स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है।

'निरन्तर समझाये जाने पर'—ऐसा कहा है, किन्तु 'कुछ काल समझाये जाने पर'—ऐसा नहीं कहा है। इन पंचम काल के प्राणियों को निरन्तर समझाया जाये तब वे समझते हैं; शिष्य को चारों पक्षों से चारों ओर के योग से समझाया जाता है।

समय अर्थात् पदार्थ समस्त एकत्व से स्थित है। इस प्रकार ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु से मेरा और पर का सम्यग्ज्ञान द्वारा भेद हुआ, भान हुआ वही धर्म है। पर का और अपना कहीं भी किसी भी जगह मेल नहीं है। आत्मा को किसी शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेष के साथ किसी भी जगह किंचित् मेल नहीं है; किन्तु अज्ञानी बिना जाने-समझे व्यर्थ का झगड़ा करके पर को अपना-अपना करके, पर को विपरीत श्रद्धा से पकड़ रखता है। किन्तु जहाँ स्वतन्त्रता का भान हुआ कि अरे! मेरा और पर का कोई सम्बन्ध नहीं है, मैंने व्यर्थ की मिथ्या पकड़ की थी—वही धर्म है और परतन्त्रता में रुका सो अधर्म है।

आचार्यदेव ने स्वतन्त्रता की घोषणा की है। तू प्रभु है! स्वतन्त्र है! तुझे अपने माहात्म्य की खबर नहीं है इससे तूने पर को माहात्म्य दिया है, किन्तु वह पर का माहात्म्य छोड़ दे और भगवान आत्मा का माहात्म्य कर! द्रव्यदृष्टि से सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं उस दृष्टि से पराश्रय दूर होता है और स्वाश्रय होता है-वही धर्म है। द्रव्यदृष्टि से प्रत्येक रजकण पृथक् हैं प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र पृथक् है। इस प्रकार ज्ञेयभावों से और भावकभाव से भेदज्ञान हुआ, पृथक्त्व का भान हुआ, उसमें शंका है ही नहीं। जो शंका करता है, वह अपना घात करता है; शंका ही संसार है।

अब, कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके,
स्वयमय-मुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटित-परमार्थै-र्दर्शन-ज्ञानवृत्तै:,
कृत-परिणति-रात्मा-राम एव प्रवृत्त:।।३१।।

अर्थ:—इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब सर्व भावों से भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा, अपने आत्मारूपी उद्यान (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है—अन्यत्र नहीं जाता।

इस कलश में ३६वीं और ३७वीं गाथा का स्पष्टीकरण करते हैं। भावकभाव और ज्ञेयभाव से भिन्नत्व का भान होने पर वे सब अपने से पृथक्रूप प्रतिभासित होते हैं। भावकभाव का भेद अर्थात् कर्म के निमित्त से होनेवाला विकार मेरा नहीं है—ऐसा जाना और ज्ञेयभाव का भेद अर्थात् सर्व परद्रव्य से भिन्नत्व का भान हुआ—इस प्रकार दोनों से भिन्नत्व का भान हुआ तब उपयोग, अतिशय सुन्दर स्वरूप को ही धारण करता हुआ—स्वयं अपने एक स्वरूप को ही धारण करता हुआ, परमार्थ स्वभाव था सो प्रगट हुआ। ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जिसने परिणति की है अर्थात् स्वरूप की प्रतीति-स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप की स्थिरता में जिसने रमणता की है, अपने आत्मारूपी उद्यान में प्रवृत्ति की है, वह अन्यत्र नहीं जाता।

पर से भिन्न और पर के विकार से भिन्न—ऐसे आत्मा में स्थित हुआ, ऐसे अपने स्वभाव की परिणति अर्थात् अवस्था की है—ऐसा आत्मा, आत्मारूपी विश्रामबाग में क्रीड़ा करता हुआ आत्मा में विचरने लगा—कहीं बाहर नहीं जाता।

मनुष्य फिरने जाते हैं तब मोटरों और हवाई जहाजों में बैठते हैं, चार-चार मील तक फिरते हैं, और मानते हैं कि फिरने से शरीर में स्फूर्ति आती है और बाद में काम अच्छी तरह होता है।—इस प्रकार संकल्प-विकल्प के बाग में सर्वत्र फिरता हुआ अपने को पराश्रित और अपूर्ण मानता है उसे पर से निराला तत्त्व कहाँ से जमे? दृष्टा को न जानता हो तो उसमें केलि कैसे करें? स्वयं अपनी ओर ढलता जाये, रुचि करे, जाने और श्रद्धा करे तो उसमें क्रीड़ा किये बिना नहीं रहेगा। सच्चा उद्यान तो आत्मा का है और उसमें क्रीड़ा करने की यहाँ बात है।

जीव बाह्य के बाग-बगीचों में आनन्द मान रहे हैं। घर में बाग हो, बाग में ठण्डे पानी का छिड़काव हो, गुलाब के फूलों की सुगन्ध फैल रही हो, पानी के फव्वारे छूट रहे हों और भाईसाहब उसमें मित्रों सम्बन्धियों के साथ क्रीड़ा करके आनन्द मान रहे हों; किन्तु वह क्रीड़ा और बाग सब होली है।

आत्मा पर से निराले स्वभाव का भान करे तो आत्मारूपी उद्यान का आनन्द छोड़कर पर में कहीं नहीं जाता। स्वभाव की शान्ति के अतिरिक्त बाह्य में कहीं भी नहीं देखता? स्वोन्मुख रहकर आत्मा की शान्ति में क्रीड़ा करना ही धर्म है।

आत्मा जड़ से पृथक् है—ऐसा जाने, तो राग-द्वेषादि को दूर कर सकता है, किन्तु यदि आत्मा के स्वभाव को न जाने तो अवगुणों को कैसे दूर किया जा सकता है?

सर्व परद्रव्यों से, शरीरादि से तथा कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए भावों से जब आत्मा का भेद जाना तब उपयोग को क्रीड़ा करने के लिये अन्य कोई स्थूल नहीं रहा, किन्तु अपने में क्रीड़ा करने लगा। अन्य शरीरादि पदार्थों का मैं कर सकता हूँ—ऐसी भ्रान्ति दूर हुई इसलिए उपयोग ज्ञान में एकाग्रता करके स्व की ओर क्रीड़ा करने लगे; दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकमेक हुआ अपने में ही रमणता करता है। दर्शन अर्थात् मैं परिपूर्ण हूँ—ऐसी श्रद्धा, ज्ञान अर्थात् पर से निराला अपना ज्ञान और चारित्र अर्थात् राग-द्वेष रहित अपने में स्थिरता—यह तीनों एक होकर अपने स्वरूप में परिणमन करते हैं॥३७॥

अब, इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गी आत्मा को संचेतन अर्थात् आत्मा का अनुभव कैसा होता है, वह कहते हैं।

अप्रतिबुद्ध अज्ञानी ने अभी तक गाथा के निमित्त द्वारा अर्थात् शास्त्र के निमित्त द्वारा, अपने उपादान से, एक रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जाना। अब, एक रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा जाना वह ३८वीं गाथा में कहते हैं।

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।३८।।

अर्थः—दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ आत्मा ऐसा जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ; कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

अब ३८वीं गाथा में योगफल आता है। धर्मी जीव अपने आत्मा को पर से भिन्न जान लेने के पश्चात् आत्मा में किस प्रकार एकाग्रता करता है, वह कहते हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में परिणमित आत्मा में अभी मोक्ष प्राप्त नहीं किया है, किन्तु मोक्षमार्ग में प्रवृत्त है, वह क्या जानता है, सो कहते हैं।

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ—ऐसे समस्त विकल्प चौथे से छठवें गुणस्थान तक आते हैं; सातवें गुणस्थान में तथा श्रेणी चढ़ने के पश्चात् ऐसे विकल्प नहीं होते, इससे जो श्रेणी चढ़ गया है उसकी यहाँ बात है; किन्तु यहाँ तो चतुर्थ गुणस्थानवाले की बात है। धर्मात्मा ज्ञानी अपने आत्मा की भावना करता है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, सदा अरूपी हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

जो अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तपने के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अज्ञानी अनादि से मोहरूप अज्ञान से मैं शान्त निर्मल स्वभावरूप हूँ—यह भूलकर, रागादिक का कर्ता होता है और उन्मत्त होकर पागलपन के कारण, शरीरादि, स्त्री, कुटुम्ब को अपना मानता हुआ मूढ़ हो रहा था। संसार के चतुर संसार में उन्मत्त हुए तो चतुर कहते हैं; किन्तु दुनियां तो पागल है; पागल पागल को चतुर कहता है, उसकी प्रशंसा करता है, किन्तु ज्ञानी उसे अच्छा नहीं कहते।

निरन्तर समझाया जाता है—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है किन्तु शिष्य सारे दिन गुरु के पास बैठा-बैठा सुनता रहे—ऐसा तो नहीं होता; और गुरु सारे दिन सुनाते रहें—ऐसा भी नहीं होता, क्योंकि मुनि कहीं सारे दिन उपदेश नहीं देते, वे तो अपने ज्ञान-ध्यान में लीन होते हैं; निरन्तर नहीं समझाते हैं, और समझानेवाले गुरु का उपयोग भी सदैव इसे समझाता रहूँ ऐसा नहीं रहता है। समझानेवाले ज्ञानी गुरु को तो ऐसे भाव होते हैं कि दूसरे को समझना होगा और उसकी पात्रता होगी तो समझ में आयेगा। पर पदार्थ को समझाना मेरे हाथ की बात नहीं है।

गुरु का उपयोग तो निरन्तर ज्ञान-ध्यान में होता है—दूसरे को समझाने की ओर निरन्तर नहीं होता; तथापि ऐसे गुरु ने (—श्री अमृतचन्द्राचार्य ने) स्वयं ही निरन्तर समझाना कहा है; स्वयं पंच महाव्रतधारी मुनि हैं। उन्होंने स्वयं ही निरन्तर समझाना कहा है, उसका अर्थ दूसरा है।

समझनेवाले को समझने की निरन्तर आतुरता है, निरन्तर समझने का कामी रहता हुआ वर्तता है, समझनेवाले की आतुरता निरन्तर समझने की है इसलिए उसने गुरु को दूर नहीं रखा है निरन्तर गुरु के पास बैठा नहीं जा सकता किन्तु हृदय से गुरु को दूर नहीं रखा है। समझनेवाला खाता है, पीता है, व्यापार करता है, किन्तु निरन्तर आकांक्षा बनी रहती है कि कब अवकाश मिले और कब गुरु के पास जाऊँ और गुरु मुझे समझायें। इसलिए अन्य कार्य करने पर भी निरन्तर समझने में शिष्य का समय जाता है—ऐसा कहा जाता है। व्यापार के, खाने-पीने आदि के अन्य जो अल्प भाव आते हैं, उन्हें गौण कर दिया है।

समझने के कामी को विचार आता हे कि यदि इस भव में समझ में नहीं आयेगा तो कहाँ आश्रय मिलेगा? इस भव में जन्म-मरण के भाव न टले तो फिर कहाँ टालूँगा? जन्म-मरण को दूर करनेवाला सम्यग्दर्शन न हुआ तो ऐसा तारनेवाला अन्यत्र कहाँ मिलेगा? ऐसी भावना होने से समस्त गृहकार्य करने पर भी, निरन्तर श्रवण की और समझने की जिज्ञासा रहती है, इससे निरंतर सुनता है ऐसा कहा है। किन्तु शास्त्र में निमित्त की भाषा ली है, पलटकर बात ली है कि गुरु निरन्तर समझाते हैं। बात निमित्त से ली है, किन्तु यथार्थ बात तो उपादान से है। गुरु के निमित्त की ओर से बात ली है किन्तु यथार्थ बात तो शिष्य के उपादान के ओर की है। इसमें अलौकिक मंत्र भरे हैं। समयसार के

रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने और टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अलौकिक मन्त्र भरे हैं ? एक अद्‌भुत रचना हो गयी है।

समझनेवाले को निरन्तर समझने की आतुरता और जिज्ञासा रहती है। किन्तु ज्ञानी गुरु का अर्थात् समझानेवाले का उपयोग नित्य ऐसा नहीं रहता कि इसे समझाऊँ, किन्तु शिष्य की इतनी पात्रता है कि चाहे जितनी बार सुनायें तथापि प्रीतिपूर्वक उग्रता से सुनता है—प्रमाद नहीं आता। यहाँ समझने के भाव की मुख्यता है। संसार के अन्य कार्य करने पर भी समझने की जिज्ञासा रहती है, इसलिए अन्य राग-द्वेष के भाव को गौण करके कहा कि निरन्तर सुनता है। जब स्वयं समझता है तब गुरु का निमित्त होता है—ऐसा भी इसमें आ जाता है।

जिसे निरन्तर सत् को समझने की जिज्ञासा रहा करती है कि 'मुझे समझना है, समझना है'—ऐसे पात्र जीव को समझाने से वह महाभाग्य से समझा है। शिष्य पुरुषार्थ से समझा है, उस पुरुषार्थ को यहाँ महा भाग्य कहा है।

शिष्य पहले अप्रतिबुद्ध था तब गुरु से कहता था कि—शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है—ऐसा हम नहीं समझते हैं; किन्तु धर्मात्मा गुरु के समझाने से किसी प्रकार समझ में आया। किसी प्रकार यानी कोई तुरन्त समझ जाता है और कोई अधिक विचार और मन्थन करने से समझता है। अब शिष्य समझकर सावधान हुआ कि मैं कौन हूँ ? यह किसके गीत गाये जा रहे हैं ? अहो ! मैं तो शुद्ध निर्मल ज्ञानज्योति हूँ, यह शरीरादि मेरे कुछ भी नहीं हैं। मोह का अभाव करके सावधान हुआ। अहो ! पर के लिये जो दौड़-धूप कर रहा था उसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं था-उल्टा मेरा बिगड़ जाता था। सावधान हुआ कि—अरे रे ! परोन्मुखता से मेरा अहित होता था ! मेरा स्वरूप क्या है ? पर मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो मेरे आगे हैं;—ऐसा विचार करके सावधान होकर, स्वरूप में एकाग्रता-लीनता करता है। मोह था तब सावधान नहीं था—मोह का अभाव होने से सावधान हुआ; इसलिए 'सावधान' शब्द लिया है।

जैसे कोई मुट्ठी में रखे हुए स्वर्ण को भूल जाये उसी प्रकार आत्मा को भूल गया था। देखो, हाथ में सोने को बतलाते हैं, उसी प्रकार आत्मा को हाथ में बतलाते हैं। जैसे—किसी मनुष्य की मुट्ठी में सोना हो, वह किसी दूसरे मनुष्य के साथ बातों में इतना लीन हो

जाये कि मुट्ठी में पकड़े हुए सोने को भूल जाये—अरे! मेरा सोना कहाँ है? इस प्रकार ढूँढ़ने लग जाये; फिर चारों ओर देखे, कहीं भी दिखायी न दे इसलिए मेरे ही पास है—ऐसा स्मरण करके निश्चय करता है, पुनः याद करके स्वर्ण को देखता है। स्वर्ण मेरे हाथ में है ऐसी खबर तो थी, किन्तु भूल गया था, वह स्मरण होने से पुनः देखता है। दृष्टान्त में पहले खबर थी और फिर स्मरण होता है; किन्तु उस दृष्टान्त के सिद्धान्त में—अनादि का अज्ञानी था और फिर ज्ञान होता है—इतना अन्तर है। सुवर्ण के न्यायानुसार अपने परमेश्वर को भूल गया था।—अपने सर्व सामर्थ्य से परिपूर्ण, अनन्त ज्ञानशक्ति, अनन्त वीर्यशक्ति, अनन्त आनंद का कन्द आदि अनन्त गुणों का पिण्ड—ऐसे अपने परमेश्वर (आत्मा) को भूल गया था। आत्मा को रंक-भिखारी नहीं किन्तु पहले से ही सर्व सामर्थ्य से परिपूर्ण कहा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा तेरे पास है किन्तु भूल गया है—जैसे स्वर्ण अपने हाथ में ही था किन्तु तू भूल गया था उसी प्रकार आत्मा शरीर में होगा या शरीर से बाहर! पुण्य से लाभ होता होगा! पुण्य से आत्मधर्म होता होगा!—ऐसा मानता था। अनादि से आत्मा को भूल गया था, किन्तु सर्व सामर्थ्य के धारक परमेश्वर आत्मा का क्षण में भान करके क्षण में राग-द्वेष दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है। ऐसा आत्मा का अलौकिक स्वभाव है। आत्मा को परमेश्वर-तीन लोक का नाथ कहा जाता है वह तीन लोक को जानने की अपेक्षा से कहा जाता है; किन्तु जगत का संहार; उत्पत्ति या रक्षण करता है ऐसा कोई ईश्वर नहीं है। मेरा स्वभाव ऐसा है कि तीन काल तीन लोक के पदार्थ मुझे लुभाने या प्रतिकूलता करने में समर्थ नहीं हैं। अहो! मैं ऐसे अपने भगवान आत्मा को भूल गया था। जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश से दूर होता है उसी प्रकार अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हुआ। जो अन्तरतत्त्व है सो मैं हूँ—बाह्य तत्त्व में नहीं हूँ;—ऐसा ज्ञान, श्रद्धा और आचरण किया अर्थात् उसी में तन्मयता की—लीनता की। देखो, इसमें अन्तर की क्रिया आयी, अन्तर का चारित्र आया। जैसा जाना था वैसी ही मान्यता करके, उसी में आचरण करके, जैसा था वैसा एक आत्माराम हुआ। तत्पश्चात् कहता है कि यह जो मैंने जाना 'यही मैं हूँ' 'ऐसा ही मैं हूँ', ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र ज्योति हूँ—जो कि मेरे अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

आत्मा स्व-परप्रकाशक है। अग्नि को खबर नहीं है कि मैं स्व-पर प्रकाशक हूँ,

किन्तु इस जाननेवाले को खबर है कि मैं स्व-परप्रकाशक हूँ। आत्मा स्वयं अपने को जानता है और दूसरों को भी जानता है; इस प्रकार मैं अपने अन्तरज्ञान से जानता हूँ कि मैं स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान ज्योति हूँ।

चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता इसलिए मैं एक हूँ।

मैं ज्ञानमात्र विशेष आकार हूँ। क्रमरूप अर्थात् नर-नारकादि पर्याय, मनुष्य और नारकी आदि के भव-सब एक साथ नहीं होते इसलिए वे क्रमरूप हैं और लेश्या, योग आदि व्यावहारिक भाव सब एक साथ वर्तते हैं इसलिए वे अक्रमरूप हैं। बालक, युवा और वृद्ध—यह तीन अवस्थाएँ क्रमपूर्वक वर्तती हैं और अन्तर में होनेवाले तीव्र मन्द राग-द्वेष भी क्रमपूर्वक वर्तते हैं। क्रमरूप अर्थात् एक के पश्चात् एक अवस्था। जैसे कि—क्षण में क्रोध हो, क्षण में अभिमान हो, फिर लोभ हो आदि अवस्था क्रमपूर्वक होती है, और योग, कषाय, लेश्या, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि समस्त भेद आत्मा में एकसाथ अक्रमरूप वर्तते हैं—वे समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप भेद प्रवर्तमान होने पर भी, और वे अनेक भेद, ज्ञान में ज्ञात होने पर भी मैं उनसे खण्डरूप नहीं होता, इससे मेरे एकत्व का नाश नहीं होता, मैं तो अपने में एकरूप ही कार्य करता हूँ, मैं तो चिन्मात्र आकार के कारण एक हूँ।

पहले गुरु ने समझाया कि 'तू ऐसा है तू ऐसा है।' अब, शिष्य कहता है कि—'मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ, मैं शुद्ध हूँ।' नर-नारक आदि प्रकृति के जो फल हैं उनरूप मैं नहीं हूँ; राग-द्वेष शुभाशुभ आदि विकार भी मैं नहीं हूँ। धर्मी हुआ इससे कहता है कि जिस प्रकार कोई मुट्ठी में रखे हुए सुवर्ण को भूल जाये उसी प्रकार मैं अपने परमेश्वर को भूल गया था। वास्तव में मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं वणिक नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ, किन्तु उन सबसे पृथक् ज्ञायकमात्र ज्योति हूँ।

मैं जीव हूँ;—ऐसा विकल्प आये वह मैं नहीं हूँ, जीव के विकल्प का भेद पड़ता है, उससे मैं भिन्न हूँ। मैं शरीरादि जड़ पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों से भिन्न हूँ; दया, दानादि के जो शुभ परिणाम होते हैं उनसे भी मैं भिन्न हूँ; हिंसा, झूठ आदि पाप के भाव होते हैं उनसे भी भिन्न हूँ; आस्रव अर्थात् जिस अवस्था के निमित्त से कर्म के रजकण आयें उनसे भी मैं भिन्न हूँ; संवर अर्थात् कर्मों को रोकने की अवस्था का विकल्प भी मैं नहीं हूँ और संवर

की पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ—मैं तो त्रिकाली अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ; निर्जरा अर्थात् आत्मा में जो कर्मों को दूर करने की अवस्था होती है, उस निर्जरा का विकल्प भी मैं नहीं हूँ; और निर्जरा अर्थात् आत्मा की विशेष स्थिरतारूप अवस्था जितना भी मैं नहीं हूँ। मैं तो परिपूर्ण स्वभाव से नित्य परिपूर्ण हूँ। बन्ध का विकल्प भी मैं नहीं हूँ, मेरा मोक्ष होगा—ऐसा जो विकल्प है वह भी राग है; उस राग से मेरा स्वरूप भिन्न है, और जो मोक्ष है सो अवस्था है-पर्याय है; वह अवस्था प्रति समय बदलती है, इसलिए उस समय की अवस्था जितना भी मैं नहीं हूँ। मैं तो त्रिकाली शाश्वत् हूँ, मोक्ष की अवस्था तो सादि अनन्त है; क्योंकि पहले अनादि काल से संसार अवस्था थी और फिर मोक्ष अवस्था होती है, और मैं तो अनादि अनन्त शुद्ध एकरूप हूँ इसलिए उन मोक्ष-पर्याय जितना भी नहीं हूँ।

यह नव तत्त्वों के भेद हैं, इसमें राग के विकल्प आते हैं, इसलिए मैं उन्हें तोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में रहूँ—इस प्रकार शिष्य धर्मी होकर भावना करता है। सच्चा भान होने से नवों तत्त्व भेदरूप भासित होते हैं। नव तत्त्वों के जो विकल्प हैं सो अशुद्ध भाव हैं; एकरूप स्वभाव का ज्ञान हुआ वहाँ नव तत्त्व के विकल्प से पृथक् होकर अंशतः शुद्ध हुआ। मैं जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—समस्त भेदों के विकल्प की अशुद्धतास्वरूप नहीं हूँ, नव तत्त्वों के भेदों में अटकनेवाला मैं नहीं हूँ, संवर और निर्जरा की अपूर्ण अवस्था में भी मैं रुकनेवाला नहीं हूँ। तो फिर मैं कैसा हूँ? मैं तो शुद्ध हूँ, नव तत्त्व के भेदों को मात्र ज्ञाता हूँ।

प्रश्नः—यह तो सातवें गुणस्थानवाले की बात है न?

उत्तरः—नहीं, यहाँ तो चतुर्थ गुणस्थानवाले की बात है। सातवें गुणस्थान में तो अप्रमत्त ध्यान में स्थिर हो जाता है, वहाँ ऐसे विकल्प कहाँ होते हैं? इसलिए यह तो चतुर्थ गुणस्थानवाले की बात है।

नव तत्त्व के भाव भेदरूप हैं इसलिए उन्हें व्यावहारिक कहा है, उन पर लक्ष्य करने से राग आता है, इसलिए में तो शाश्वत टंकोत्कीर्ण हूँ; नव तत्त्व के राग के भेद पड़ते हैं, उनसे मैं नहीं भेदा जा सकता, मैं तो टंकोत्कीर्ण हूँ।

नर, नारक, बालक, युवा, वृद्ध, राग-द्वेषादि के भेद और लेश्या, योग आदि अनेक भेद होने पर भी मैं चिन्मात्र आकार हूँ, मेरा ज्ञान अनेकरूप नहीं हो जाता। क्रमरूप और

अक्रमरूप होनेवाले अनेक भेदों के सामने एकत्व ग्रहण किया और नव तत्त्व के भेद से अशुद्धता आती थी इससे उस अशुद्धता से रहित शुद्ध कहा।

चैतन्यमात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगपने का उल्लंघन नहीं करता; सामान्य अर्थात् भेद किये बिना जानना सो दर्शन, और विशेष अर्थात् भिन्न-भिन्न जानना सो ज्ञान;—ऐसे सामान्य-विशेषपने का मैं उल्लंघन नहीं करता इसलिए मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित हुआ होने पर भी स्पर्शादिरूप परिणमित नहीं हुआ हूँ, इसलिए परमार्थ: मैं सदा अरूपी हूँ।

स्पर्श—ठंडा, गर्म, हलका, भारी, रूखा, चिकना, कठोर, नरम—वह मेरे ज्ञान में बाह्य निमित्त है। उसी प्रकार **रस**—खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कषायला—वे सब रस मेरे ज्ञान में बाह्य निमित्त हैं। और **गंध**—सुगन्ध, दुर्गन्ध भी मेरे ज्ञान में बाह्य निमित्त हैं; **वर्ण**—काला, पीला, हरा, लाल, सफेद—यह सब वर्ण भी मेरे ज्ञान में बाह्य निमित्त हैं। मेरे ज्ञान में यह सब ज्ञात होते हैं।

यह स्पर्श है, गन्ध है, वर्ण है—ऐसा मेरे जानने में आता है; ऐसा संवेदनरूप मैं परिणमित हुआ हूँ।

जिस प्रकार दर्पण में सामनेवाले पदार्थ जैसे होते हैं वैसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं, तथापि दर्पण तो उस वस्तुस्वरूप परिणमित नहीं हुआ है। उसी प्रकार यह रूप काला है, यह सफेद है,—ऐसा जानने के संवेदनरूप मैं परिणमित हुआ होने पर भी वर्ण, गन्ध आदि रूप नहीं हुआ हूँ।

अज्ञानी को जब स्पर्श, रस, गन्ध आदि की अवस्थाओं को जानने का समय आता है, तब वह ज्ञातारूप न रहकर—मैं पर पदार्थरूप हो जाता हूँ—ऐसा मानता है। खाने का लोलुपी जब खाने के पदार्थ दूध, दही आदि को देखता है, तब तन्मय होकर कहता है कितना गाढ़ा दूध है। दही कितना अच्छा है। इस प्रकार रुचिपूर्वक कहता है मानों स्वयं परपदार्थरूप हो जाता हो! किन्तु ज्ञानी उसका ज्ञाता रहता है, मात्र सामनेवाले पदार्थ का रूप जैसा है, वैसा जानता है। सामनेवाला पदार्थ जैसा हो वैसे ही संवेदनरूप ज्ञात होता है—ऐसा कहकर आचार्यदेव को इस बात पर भार देना है कि जैसा निमित्त हो वैसा ही ज्ञान होता है—उससे भिन्न नहीं होता, इससे वैसे ही संवेदनरूप कहा है। आत्मा वैसे ही

संवेदनरूप होता है, इसलिए उसे जानता है किन्तु उसरूप नहीं होता।

स्पर्श, गन्ध आदि मेरे ज्ञान में ज्ञात हों तब सामनेवाली वस्तु खट्टी हो तो खट्टे का ही ज्ञान होता है—विपरीत ज्ञान नहीं होता, जिस समय जैसा रंग का ज्ञान हो, जैसा गन्ध का ज्ञान हो, जैसा स्पर्श का ज्ञान हो उस समय सामनेवाली वस्तु की पर्याय भी वैसी ही होती है। ज्ञान भले ही सामनेवाली वस्तु जैसी हो वैसा ही हो, किन्तु वह वस्तु तो निमित्त है, ज्ञेय है, उसे जानते हुए मैं स्पर्शादिरूप परिणमित नहीं होता, मेरा तो जानने का स्वभाव है इसलिए जानता हूँ। जब ठण्ड का बुखार आता हो तो ठण्ड का बुखार है—ऐसा ज्ञान जानता है और गर्मी का बुखार आता हो तब ज्ञान वैसा जानता है। गुलाब का फूल सामने हो तो यह गुलाब का फूल है—ऐसा ज्ञान जानता है किन्तु उसे मोगरे का फूल नहीं जानता। इसलिए सन्मुख जैसा पदार्थ हो वैसा ही ज्ञान जानता है। धर्मात्मा समझता है कि समस्त रूपी पदार्थों को जानते हुए भी मैं रूपी नहीं होता; उन पदार्थों के रूप में परिणमित नहीं होता इसलिए मैं अरूपी हूँ।

जिज्ञासु शिष्य समझ गया; नव तत्त्वों के भेद से भिन्न अपने को अभेद जानने लगा और स्पर्शादि मेरे जानने में निमित्त हैं किन्तु मैं उन स्पर्शादिरूप परिणमित नहीं हुआ हूँ, इसलिए मैं अरूपी हूँ आदि जानने लगा।

धर्मी शिष्य भावना भाता है कि—इस प्रकार सर्व से भिन्न निज स्वरूप का अनुभवन करता हुआ मैं प्रतापवन्त हूँ।

आगे बहुत बात कही जा चुकी है, उस प्रकार अर्थात् उस विधि से, सर्व से भिन्न, शरीरादिरूप मैं नहीं हूँ। इस प्रकार सर्व का भिन्न अनुभवन करता हुआ कहता है कि मैं प्रतापवन्त हूँ, किसी से दबा हुआ नहीं हूँ। मेरे प्रताप स्वरूप को कोई दबा नहीं सकता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव परम पुरुषार्थ द्वारा अपने को प्रतापवन्त मानता है।

धर्मात्मा को आत्मा की पहिचान होने के पश्चात्, शरीर में चाहे जैसे रोग आयें, अनुकूलता-प्रतिकूलता के प्रसंग आयें, किन्तु मेरे आत्मा में प्रभुत्वशक्ति है इसलिए मेरे प्रताप का कोई खण्डन नहीं कर सकता।

समयसार में ४७ शक्तियाँ आती हैं, उनमें सातवीं प्रभुत्व नाम की शक्ति आती है, वह इस प्रकार है—जिस प्रकार अखण्डित है अर्थात् किसी के द्वारा खण्डित नहीं किया

जा सकता ऐसे स्वातन्त्र्य से शोभायमानपना जिसका लक्षण है—ऐसी प्रभुत्वशक्ति। धर्मी जीव ऐसा समझता है कि मुझमें प्रभुत्वशक्ति है, मैं तीन लोक का नाथ हूँ, मेरी स्वतन्त्र शोभा मेरे अपने आधार से है; तीन काल-तीन लोक में मेरी शोभा शरीरादि और शुभाशुभ भावों के आधीन नहीं है; एक रजकण या राग मेरी स्वतन्त्र शोभा को नहीं रोक सकता—ऐसा मैं प्रतापवन्त हूँ। आत्मा ने अनन्त काल में एक क्षणमात्र भी पहिचान नहीं की कि मैं कौन हूँ। यहाँ तो प्रतापवन्त कहकर एक क्षण में पहिचान करके पीछे रहनेवाला नहीं हूँ—ऐसे अप्रतिहत भाव को स्वीकार किया है।

योगी हो और ऐसा मानता हो कि शरीरादि से तथा शुभाशुभभाव से मुझे सहायता मिलती है तो वह योगी नहीं किन्तु भोगी है; क्योंकि बाहर से योगी हुआ किन्तु अन्तर में मैं परपदार्थ का कर्ता हूँ, मैं परपदार्थ का भोक्ता हूँ—ऐसी दृष्टि है। इससे वह परपदार्थ का भोगी है किन्तु योगी नहीं है। सच्चा योग वह है जिसमें आत्मस्वभाव का व्यापार हो। मुझमें प्रभुत्वशक्ति है, शरीरादि और पुण्य-पाप के भावों का मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मेरी प्रताप संपाद को कोई दबा नहीं सकता, किन्तु मैं अशुद्धता को कुचलनेवाला हूँ। बाह्य-संयोग में चाहे जो बने, किन्तु मेरे अन्तरस्वरूप पर उसका कोई प्रभाव नहीं है; क्योंकि मुझमें प्रभुत्वशक्ति है। इस प्रकार धर्मी जीव आत्मा को प्रभु मानता है कि जिसका प्रताप अखण्डित है;—इस प्रकार अपनी स्वतन्त्र शोभा में लीन होने का नाम योग है। धर्मी जीव संसार में हो, तथापि वह योगी है, क्योंकि परभाव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भाव छूट गया है, मेरा उपभोग मुझमें ही है—ऐसा भान हुआ है; पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से अलग रहता है इसलिए दृष्टि से योगी है; किन्तु अभी अस्थिरता बनी है। जब वह मुनि होगा तब दृष्टि से और स्थिरता से—दोनों प्रकार से योगी होगा।

प्रश्नः—शास्त्र में कहा है कि—महावीरस्वामी ने छह छह महीने के उपवास किये तब कर्मों का नाश हुआ। उपवास किये बिना कहीं कर्म खिरते होंगे ?—टूटते होंगे ? इसलिए उपवास करने से ही कर्मों का नाश होता है ?

उत्तरः—महावीर भगवान ने कैसे उपवास किये थे ? तुम जिन्हें उपवास कहते हो ऐसे नहीं; किन्तु वहाँ तो आत्मा के अनुभव में-अतीन्द्रिय आनन्दरस में स्थिर होने से-लीन होने से सहज आहार की इच्छा टूट गई थी, आहार लिया है या नहीं लिया—उसका भान

भी नहीं था, उस ओर का विकल्प तक नहीं उठा, आत्मा की अमृत डकार में बाह्य आहार को भूल गये हैं। सहज ही इच्छा टूट गयी इसका नाम उपवास है। चौथे-पौचवें गुणस्थान में श्रावक को और छट्ठे-सातवें गुणस्थान में मुनि को, सिद्ध भगवान जैसी अमृत की डकारें आती हैं।

मैं शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ—ऐसे भान में क्रमशः स्थिरता की वृद्धि होने से आनन्द की धारा बढ़ने से सहज इच्छा टूट गई और सहज ही महावीरस्वामी आहार को भूल गये थे—इसका नाम सच्चा उपवास है। यदि शुभ-परिणाम हों तो पुण्यबन्ध करे और अभिमान आदि से प्रसिद्धि में आने का हेतु हो तो पापबंध होता है। ज्ञानी को भी उपवास के शुभपरिणाम आयें उनसे पुण्य का ही बंध होता है, किन्तु जितनी स्वरूप की लीनता हो उसके द्वारा कर्म का नाश होता है। महावीर भगवान को भी जो स्वरूप की लीनता हुई और सहज आहार की इच्छा टूट गयी—उस स्वरूप की लीनता द्वारा ही कर्मों का नाश हुआ है—शुभ परिणाम से कर्मों का नाश नहीं हुआ; शुभपरिणाम का कर्तृत्व भी भगवान को नहीं था। शास्त्र में किस अपेक्षा से व्रत-प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा है, उसे समझे बिना बारम्बार उपवास करे, तथापि आत्मा को उसका कोई फल नहीं है। हाँ, स्वर्ग का फल मिलेगा किन्तु भव कम नहीं होंगे। जैसे उपवास करके जीव अनन्त बार नववें ग्रैवेयक तक हो आया किन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ।

धर्मात्मा ज्ञानी कहता है कि मैं तो प्रतापवन्त हूँ, मेरा ही प्रताप चलता है। जिस प्रकार लौकिक में राणा प्रताप हो गये हैं। उन राणा प्रताप में ऐसा बल था कि—मैं हिन्दू हूँ; मुझे कोई जीत नहीं सकता। ऐसी लौकिक श्रद्धा द्वारा अपने घोड़े का पैर सरकार के हाथी के दाँत पर रखा और ऊपर बैठे हुए महावत को भाले द्वारा मार गिगराया। उसी प्रकार आत्मा भाव आर्यप्रताप है, उस प्रतापी आत्मा का भान होने पर चार गतियों को नष्ट करने का पुरुषार्थ जागृत होता है। चारगतियों का मूल मेरे हिलाने से हिलता है; टालने से टलता है, मेरा ही हुकम चलता है—सब मेरे ही हाथ की बात है—ऐसा मैं प्रतापवन्त हूँ।

प्रश्नः—जब तक यह समझ में न आये तब तक क्या करना?

उत्तरः—यह समझ में न आये तब तक सत् समागम करना चाहिए; अन्य सब स्वच्छन्द छोड़कर, मरण के अन्तिम श्वास तक भी शास्त्राभ्यास तत्त्वचिन्तन और सत्समागम

करना चाहिए। मुनियों को भी उपदेश दिया है कि हे मुनि! मरण के अन्तिम श्वास तक शास्त्र का, विचित्र प्रकार के अध्यात्मशास्त्र का, सम्यक् प्रकार से अभ्यास करना चाहिए। ज्ञान-ध्यान में लीन होने पर समाधि-मरण से देह छूटे तो एक-दो भव में मुक्ति होती है। यह बात निश्चित् है—कभी बदल नहीं सकती।

उपरोक्त कथनानुसार मुझे प्रतापवन्त वर्तनेवाले को, यद्यपि बाह्य में अपनी अनेक प्रकार की स्वरूप सम्पदा द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान है; तथापि कोई भी परद्रव्य-परमाणुमात्र भी अपनेरूप भासित नहीं होता।

धर्मात्मा विचार करता है कि मुझसे बाहर अनेकों परपदार्थ उनकी ऋद्धि द्वारा स्फुरायमान हैं। उनकी सम्पदा उनसे है, आत्मा में उनके स्वरूप की कोई सम्पदा नहीं है। शरीरादि और शुभाशुभवृत्ति दिखायी देती है वह मेरी सम्पदा नहीं है—जड़ की सम्पदा है। जड़ में उसकी अपनी अनेक प्रकार की शक्ति तथा ऋद्धि स्फुरायमान होती है—ऐसा जहाँ भान हुआ वहाँ कोई भी परद्रव्य अपने रूप से मुझमें भासित नहीं होता। परद्रव्यों की सम्पदा परद्रव्यों में स्फुरायमान होती है और मेरी सम्पदा मुझमें स्फुरायमान होती है; इससे कोई परमाणु मात्र भी मुझे अपनेरूप भासित नहीं होता। दोनों वस्तुओं को स्वतन्त्र रखता हुआ स्वयं प्रतापवन्त वर्तता है; इसलिए कहीं बाह्य से परद्रव्यों का नाश नहीं हो गया है—परद्रव्य कहीं उड़ नहीं गये हैं; किन्तु मैं अपने में और वे (परद्रव्य) अपने में;—इस प्रकार अस्ति-नास्ति बतलाते हैं।

धर्मी की पहिचान क्या है? कि एक रजकण भी मेरे आधीन नहीं है, मैं किसी रजकण के आधीन नहीं हूँ। मैं एक भी रजकण का कर्ता नहीं हूँ, और वह मेरा कर्म है; मेरे शुद्ध स्वभाव का मैं कर्ता हूँ और मेरी शुद्ध अवस्था मेरा कर्म है—ऐसा भान वह सम्यग्दृष्टि की पहिचान है।

अनन्त रजकणों में से एक रजकण-परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है;—ऐसा भारपूर्वक कहा है; तब फिर किसी स्थूल पदार्थ की तो बात ही कहाँ रही?

कोई कहे कि—इसमें पुरुषार्थ क्या आया? समाधान:—एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है—ऐसी यथार्थ प्रतीति करना वह कर्मों को नाश करने का अनन्त पुरुषार्थ है। जिसके ज्ञान में—एक रजकण भी मेरा नहीं है, मैं शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ—ऐसा अपूर्व भान होता

है, वह स्वप्न में भी उत्तर देता है कि—मैं शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ, एक रजण भी मेरा नहीं है; मेरे आधीन नहीं है।

अेनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे,
अेनुं मन न चढ़े बीजे भामे रे;
मुक्तानंदनौ नाथ बिहारी रे,
शुद्ध जीवनदोरी हमारी रे॥

त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को जैसा देखा और कहा है वैसे भगवान आत्मा का जिसे अल्पकाल भी दर्शन हो जाये उसका मन अन्य विषय-कषायों की ओर नहीं जाता; पर से मुक्त-निराला चैतन्य पिण्ड का जो आनन्द है, उस मुक्तानन्द का मैं बिहारी हूँ अर्थात् उसमें रमण करनेवाला हूँ; स्वरूप में स्थिर होने की डोर मेरे हाथ में है, और वही मेरे जीवन की डोरी है।

एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, एक परमाणु को हिलाने या गति कराने में मैं समर्थ नहीं हूँ;—ऐसा मुझे भान हुआ है। अब भावकरूप से और ज्ञेयरूप से वह मेरे साथ होकर मोह उत्पन्न नहीं कर सकता अब किसी कर्म में ऐसी शक्ति नहीं रही है कि मुझे पुनः मोह उत्पन्न कर सके; अब मुझे ऐसा स्वप्न भी नहीं आयेगा कि—राग-द्वेषादि भावक और स्त्री, कुटुम्ब आदि ज्ञेय मेरे हैं। इस समयसार शास्त्र में अलौकिक बात कही है।

महा विदेह क्षेत्र में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव श्री सीमन्धर भगवान परमात्मदशा में वर्तमान में विराज रहे हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव वहाँ गये थे और भगवान के श्रीमुख में खिरी हुई दिव्यध्वनि को उन्होंने हृदय में धारण किया, वह उनके हृदय में प्रविष्ट हो गयी; और पश्चात् वहाँ से आकर उन्होंने इस शास्त्र में जो स्वरूप कहा गया है—ऐसी आत्मश्रेणी जिसके आत्मा में स्फुरायमान हुई उसे अप्रतिहतभाव हुए बिना नहीं रहेगा।

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ उखड़ जाने के पश्चात् उसकी नवीन उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार मिथ्याभ्रान्ति को आत्मा के निजरस द्वारा मूल से उखेड़ कर जिसने ज्ञानप्रकाश प्रगट किया उसके पुनः उसका अंकुर उत्पन्न नहीं होगा।—ऐसे अप्रतिहत भाव का वर्णन किया है। शिष्य अपने पुरुषार्थ से तैयार हो गया है कि मैं निजरस से परिपूर्ण अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ।—इस प्रकार अपने भान से जिसके मोह की जड़ उखड़ गई है वह धर्मात्मा

भले ही संसार में राजकाज करता हो, छियानवें हजार रानियों में खड़ा हो, युद्ध कर रहा हो, तथापि उसके एक भव भी नहीं बढ़ता और जो अल्प अस्थिरता शेष है, वह दूर करने के हेतु से है—रखने के हेतु से नहीं है। आत्मा के भान बिना चाहे जितनी क्रिया करता हो तथापि उसका एक भी भव कम नहीं होता।

शिष्य कहता है कि—मुझे महान ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है। ऐसा अपनी साक्षी से कहता है, किन्तु केवलज्ञानी से पूछने नहीं जाना पड़ता। पहले कहा था कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। मैं स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्योति हूँ। मुझे ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है—इस प्रकार धर्मी स्वयं कहता है; किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता।

जिस प्रकार धनवान पिता को यह बात लड़के से नहीं पूछना पड़ती कि—मेरे पास कितनी सम्पत्ति है, मैं निर्धन हूँ या धनवान हूँ; उसी प्रकार शरीर, मन, वाणी, जड़ मैं हूँ, पुण्य-पाप के जो परिणाम हैं सो मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष आत्मा हूँ—इस प्रकार स्वयं नि:सन्देह हुआ; इसलिए स्वयं को ही अपनी खबर पड़ती है किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता।

गुरु के उपदेश से और स्वकाललब्धि से शिष्य ने वस्तु का स्वरूप समझ लिया। स्वकाल अर्थात् पुरुषार्थलब्धि से ज्ञानी हुआ। मैं एक हूँ, मुझमें अनेक पदार्थ ज्ञात हों तथापि मैं अनेक रूप नहीं जाता; इसलिए मैं एक हूँ। जो नवतत्त्व के विकल्परूप से भेद होते हैं वे अशुद्ध हैं, वह मैं नहीं हूँ, मैं शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ। परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है—ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हो गया; मूल से नाश हुआ इसलिए पुन: अंकुर उत्पन्न नहीं होगा। राग-द्वेष से और परवस्तु से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूप सम्पदा को जान लिया, वह कैसे पिछड़ सकता है ? कैसे लौट सकता है ? नहीं लौट सकता।

समयसार का पूर्व रंग ३८ गाथाओं में पूर्ण होता है। आचार्यदेव ने ३८ गाथाओं में मोक्ष का मार्ग खोलकर रख दिया है। और अब सबको आमन्त्रित करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा शान्तस्वरूप समझाया है, उसे समझकर समस्त लोक उसमें निमग्न होओ !—ऐसा आमन्त्रण देते हैं। इस विषय में अब कलश कहते हैं:—

(वसन्ततिलका)

मज्जन्तु निर्भर-ममी सम-मेव लोका,
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता:।
आप्लाव्य विभ्रम-तिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवा-नवबोध-सिन्धु:।।३२।।

अर्थ:—यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूप आड़ी चादर को सम्पूर्ण डुबाकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; इससे अब समस्त लोक उसके शान्तरस में एक ही साथ अत्यन्त मग्न होओ! कैसा है शान्तरस? समस्त लोकपर्यन्त उछल रहा है।

इस देहरूपी घर में भगवान आत्मा सो रहा है। शरीर और राग को अपना मानकर सो रहा है। लौकिक माता तो सुलाने के लिये लोरियाँ गाती है किन्तु प्रवचन माता जागृत करने की लोरियाँ गा रही है। शरीरादि के रजकणों में गुप्त हुए, पुण्य-पाप के भावों में छिपे हुए भगवान आत्मा को प्रवचन माता लोरियाँ गाकर जागृत करती है।

जिस प्रकार बीन का नाद सुनकर सर्प विष को भूल जाता है और बीन के नाद में एकाग्र होता है; उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी इस समयसार की वाणी रूपी बीन का नाद सुनकर कौन आत्मा नहीं डोल उठेगा? कौन जागृत नहीं होगा? सभी डोल उठेंगे, सभी जागृत होंगे; जिसे न जमे, न बैठे वह अपने घर रहा। आचार्यदेव ने तो अपने भाव से समस्त जगत को आमन्त्रण दिया है।

ज्ञानसमुद्र भगवान, समुद्र की भाँति अपने ज्ञान में हिलोरें भरता हैं। ज्ञानसमुद्र आत्मा चाहे जितने वर्षों की बात जाने तथापि उसका भार नहीं होता—ऐसा ज्ञानसमुद्र से परिपूर्ण आत्मा है।

जिस प्रकार समुद्र पानी से छलाछल भरा हो, उसमें आड़ी भीत या अन्य कोई वस्तु आ जाये तो पानी दिखायी नहीं देता, किन्तु यहाँ तो मात्र चादर अर्थात् चारों ओर मात्र वस्त्र का ही आवरण लिया है कि जिसे दूर करने में देर नहीं लगती। मात्र उस वस्त्र को पानी में डुबा देने से छलाछल पानी से भरा हुआ समुद्र दिखायी देता है; उसी प्रकार ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा भीतर छलाछल भरा हुआ है। विभ्रमरूप आड़ी चादर पड़ी थी उसे सम्पूर्ण पानी में डुबा दिया अर्थात् भ्रमण की मिथ्या पकड़ का व्यय किया और सर्वांग रूप से प्रगट

होनेरूप उत्पाद हुआ; सर्वांग अर्थात् असंख्य प्रदेश से प्रगट हुआ। ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा अपने ज्ञान आदि शान्तरस में हिलोरें मारता है।

जिस प्रकार लोक-व्यवहार में कहा जाता है कि—यह सरोवर मीठा स्वच्छ जल से भरा हुआ है, इसमें स्नान करो। उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि यह स्वच्छ ज्ञानसमुद्र भरा हुआ है, इसमें समस्त जीव आकर स्नान करो। शीतल होओ! शान्तरस में निमग्न होओ। यहाँ समस्त जीव आओ ऐसा कहा है; वह भी एकसाथ आओ—ऐसा कहा है; किन्तु ऐसा नहीं कहा कि एक के बाद आओ। अहा! ऐसा भगवान आत्मा है। भगवान आत्मा का अद्भुत स्वभाव देखकर आचार्यदेव का भाव उछल गया है कि अहो! ऐसा आत्मा है और सब जीव एक ही साथ क्यों नहीं आते? सब आओ! एक साथ आओ! शान्तरस में एक ही साथ अत्यन्त निमग्न होओ!

मात्र निमग्न नहीं कहा है किन्तु अत्यन्त निमग्न होओ—ऐसा कहा है। फिर कहते हैं—कैसा है शान्त रस? समस्त लोक में उछल रहा है, चौदह ब्रह्माण्ड के जीवों में शान्त रस हिलोरें ले रहा है, सभी जीव प्रभु है। अहो! सब जीव लीन होओ—ऐसा आचार्यदेव आमन्त्रण देते हैं। और दूसरा अर्थ यह है कि—केवलज्ञान होने से समस्त लोकालोक को जानते हैं, वहाँ समस्त लोकालोकपर्यन्त तक शान्त रस उछल रहा है।

मात्र भ्रान्ति का पट आड़े था इससे स्वभाव दिखायी नहीं देता था। भींत जैसी कठिन वस्तु आड़े हो तो तोड़ने में समय लगता है; किन्तु यह तो पट जैसी भ्रान्ति क्षण भर में दूर की जा सकती है। विभ्रम से अपना स्वरूप ज्ञात नहीं होता था। स्त्री, कुटुम्ब आदि तो एक ओर रहे किन्तु शरीर, मन, वाणी भी अलग रखे रहे। वे तो भिन्न ही हैं; किन्तु अन्तर में होनेवाली शुभाशुभ वृत्तियाँ भी भिन्न हैं; उन सबमें एकत्वबुद्धि थी उसे दूर करके, समूल डुबाकर इस ज्ञान समुद्र में-वीतरागी विज्ञान में सब एक साथ निमग्न होओ!—इस प्रकार आचार्यदेव ने घोषणा की है। आबालवृद्ध को निमन्त्रण दिया है। फिर कौन नहीं पहुँचेगा? सब पहुँचेगे। जिसे विरोध हो, वह नहीं पहुँचेगा; कोई बीमार हो वह नहीं जायेगा। बीमार कहेंगे कि हम नहीं पहुँच सकते तो क्या करें? अरे रोगी! अपनी पुरुषार्थहीनता की बात एक ओर रख दे! इस निमन्त्रण में एक बार चल तो! दाल-भात ही खा लेना; किन्तु चल तो!

अनेक श्रावक साधर्मियों को भोजन कराते हैं; उनमें बहुतों के ऐसे भाव होते हैं कि

कोई भी साधर्मी छूट न जाये; क्योंकि इन सबमें कोई जीव ऐसा श्रेष्ठ होता है कि भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला होता है; कोई केवली होनेवाला होता है; कोई अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करनेवाले भी होते हैं;—ऐसे साधर्मी जीवों के पेट में मेरा अन्न पहुँचे तो मेरे अवतार को धन्य है! कौन भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है, कौन अल्प काल में मोक्ष में जानेवाला है—इसकी भले कोई खबर न हो, किन्तु आमन्त्रण देनेवाले का भाव ऐसा है कि—अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला कोई जीव रह न जाये। इसका अर्थ ऐसा होता है कि यदि भोजन करानेवाले का भाव आत्मभावना पूर्वक यथार्थ हो तो स्वयं को अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करने की भाव-रुचि है।

इस प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि मेरा निमन्त्रण अबाल, वृद्ध सबको है। सबको निमन्त्रण दिया है कि—इस शान्तरस का स्वाद चखे बिना कोई जीव रह न जाये; ऐसा आमन्त्रण देते हुए वास्तव में आचार्यदेव को स्वयं को ही भगवान आत्मा के शान्तरस में निमग्न हो जाने की तीव्र भावना जागृत हुई है। समयसार की प्रत्येक गाथा में आचार्यदेव ने अद्‌भुत रहस्य भर दिया है, अपूर्व भाव भरे हैं, क्या कहा जाये! जिसकी समझ में आ जाये वही जान सकता है।

केवलज्ञान प्रगट हो उस समय समस्त ज्ञेय एक ही साथ ज्ञान में आकर झलकते हैं; उसने सर्व लोक को देख लिया—ऐसी भी यहाँ प्रेरणा की है। अहो! आचार्यदेव ने पूर्णस्वभाव की बात पूर्णरूप से ही की है; एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है—ऐसा कहकर पूरी बात कह दी। 'एक परमाणुमात्र भी स्पर्शता नहीं है'—ऐसे भान के बल में पूर्णता हो जाती है।

जैसे—किसी मनुष्य को राजा आदि उच्च पदाधिकारी व्यक्ति से मिलने जाना हो तो वह श्रीफल आदि कोई अच्छी भेंट लेकर जाता है; उसी प्रकार यदि त्रिलोकनाथ भगवान आत्मा से मिलने जाना हो तो पहले उसकी भेंट प्राप्त करना पड़ेगी, समयप्राभृत की भेंट धरना पड़ेगी। उसके बिना भगवान आत्मा के दर्शन नहीं हो सकेंगे; वह समयप्राभृत अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणतरूप भेंट के बिना आत्मारूपी राजा किसी भी प्रकार प्रसन्न नहीं होता।

इस प्रकार संसार की रंगभूमि में आत्मा अनेक वेष धारण करता है उन्हें ज्ञानी

पहिचान लेते हैं। इस ग्रंथ का वर्णन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अलंकार से नाटकरूप में किया है। जैसे आनन्दघनजी ने कहा है कि:—

अवधु नट नागर की बाजी, क्या जाणे ब्राह्मण काजी,
स्थिरता एक सम में ठाणे, उपजे विणसे तब ही
उलट-पलट ध्रुव सत्ता राखे; या हम सुनो न कबही।... अबधु....

क्षण में मनुष्य हो, क्षण में नारकी हो, क्षण में देव हो, पहले समय की अवस्था बदलकर दूसरे समय की नवीन अवस्थारूप उत्पन्न हो ध्रुवसत्ता को बनाये रखे—ऐसी बात तो कभी भी सुनने में नहीं आयी।—ऐसे आत्मारूप नटनागर की बाजी को अजान लोग क्या जानें ?

३८ गाथाएँ पूर्ण हुई। उनमें आत्मा के अधिकार का वर्णन किया। समयसार का नाटकरूप से वर्णन किया जा रहा है। प्रथम रंगभूमि होती है, उसमें दर्शक तथा पात्र होते हैं। नाटक करनेवाले अनेक प्रकार के स्वांग धारण करते हैं; भिन्न-भिन्न रस दर्शकों को बतलाते हैं।

ज्ञान में जो वस्तु लक्ष्य में आती है उसमें एकाग्र होना, और दूसरी चिन्ता न होने देना उसे लोग रस कहते हैं। दूसरी वस्तु ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाती किन्तु राग से ज्ञान का लक्ष्य उस ओर जाने पर राग में रुक जाता है और उस ओर एकाग्र होता है उसे रस कहते हैं।

स्वाद मिठाई में से नहीं आता; मिठाई का स्वाद अपने में प्रविष्ट नहीं हो जाता; जड़ वस्तु का रस आत्मा में नहीं आ जाता। अज्ञानी को स्वभाव के अतीन्द्रिय रस का भी स्वाद नहीं आता; किन्तु राग के रस का स्वाद आता है।

मैं निर्दोष ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा भान करके स्व को ज्ञेय करना और दूसरे को-विकार को भूल जाना अर्थात् उसमें युक्त न होना, किन्तु अपने स्वभाव रस में लीन रहना सो अतीन्द्रियरस है—ऐसा यह समयसार शास्त्र कहता है। राग का रस है, सो विकार का रस है; राग के वेदन में अज्ञानी आनन्द मानता है इससे उसे आनन्द मालूम होता है। फूलों की सुगन्ध में से सुख नहीं आता किन्तु अज्ञानी दूसरा सब कुछ भूलकर फूलों में से सुख आता है—ऐसा मानकर एकाग्र होता है इससे उनमें सुख का आभास होता है; किन्तु उनमें सुख

है ही नहीं; मात्र उसने कल्पना कर रखी है।

नाटक में दर्शकों के हृदय में शृंगाररस उत्पन्न करने के लिये नाटक के पात्र सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर-शृंगार करके आते हैं; किन्तु वह शृंगाररस आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर से अपना शृंगार मानना वह अपने को कलंक रूप है। और जिस प्रकार नाटक में भिन्न-भिन्न वेष धारण करके आते हैं;—क्षण में भर्तृहरि का वेष और क्षण में किसी अन्य राजा का वेष धारण करके आता है; किन्तु मनुष्य तो एक ही होता है। उसी प्रकार आत्मा तो वही का वही चिदानंदपरमात्मा है किन्तु उसके क्षण में एक शरीर क्षण में दूसरा शरीर; क्षण में राग, घड़ी में द्वेष-इस प्रकार भिन्न-भिन्न वेष दिखलाई देते हैं। क्षण में सुन्दर, क्षण में कुरूप, क्षण में रंक, क्षण में राजा;—इस प्रकार अनेक स्वांग धारण करके नाच रहा है। उसे ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई! यह स्वांग अजीव के घर की वस्तु है, तेरी अपनी वस्तु नहीं है; तू उससे पृथक् निर्दोष परमात्मा है, तू तो वही का वही है। इन पृथक्-पृथक् स्वांगरूप तू नहीं है और यह पर का शृंगार भी तेरा नहीं है—तेरा शृंगार तो तुझी से है।

अज्ञानी जीव कपड़े-गहने पहिनकर शोभा मानते हैं, किन्तु अरे मूर्ख! आत्मा तो तीन लोक का नाथ है; तुझे पर की शोभा से कलंक नहीं लगता? तू तो ब्रह्मानन्द चिदानन्द आत्मा है, तुझे शर्म नहीं आती? अरे आत्मा! पर से तेरी शोभा नहीं है, तेरी शोभा तो तुझसे है। कपड़े-गहने पहिनकर-शृंगार सजकर दर्पण में मुँह को ऊँचा-नीचा, उधर-उधर करके देखता हो उस समय पागल जैसा मालूम होता है; किन्तु भाई! शृंगार रस तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं वह पापरस है; संसार परिभ्रमण का कारण है।

हास्य रस आत्मा का स्वभाव नहीं है।—हँसना और खिलखिलाना उसमें तुझे रस का अनुभव होता है; किन्तु अरे तीन लोक के नाथ! यह कुतूहलता करना, खिलखिलाना तुझे शोभा देता है? अपना स्वभाव भूलकर पर में जड़ में तुझे क्या नवीनता मालूम होती है? काहे का कुतूहल होता है? पर में नवीनता नहीं है। भाई! यह तेरा स्वभाव नहीं है, तेरे आत्मा का स्वभाव तो अपूर्व शान्तरस से परिपूर्ण है, उसे देख!

रौद्ररस अर्थात् क्रूररस। दूसरों को मारने के परिणाम, शत्रु को मारने का परिणाम सो क्रूररस है। जब वह क्रूररस चढ़ता है उस समय किसी को मारते समय बीच में कोई भी आ जाये तो उसे भी मार डालता है; अरे, चैतन्य! अपने स्वभाव को भूलकर इस क्रूररस

में कहाँ फँस गया! ऐसे रस तो संसार-परिभ्रमण के कारण हैं।

करुण रस—एक साठ वर्ष की बुड्ढी हो, उसका इकलौता लड़का हो, वह जीवन का आधार हो, दूसरा कोई आधार न हो। वह लड़का जंगल में जाकर लकड़ी काटकर बेचता हो, और आजीविका चलाता हो। जंगल में लकड़ी काटते समय उसे साँप ने डस लिया और वह मर गया। किसी ने आकर बुड्ढी को समाचार सुनाया कि तेरे लड़के को साँप ने डस लिया, वह जंगल में मरा पड़ा है। उस समय बुड्ढी का रुदन कितना करुणा पूर्ण और हृदय को भेदनेवाला होता है। उस रुदन से जो करुणा उत्पन्न हो वह करुण रस है। ऐसे-ऐसे करुणा के प्रसंग देखकर दया के भाव हों वह करुणा रस है वह एक पुण्य का भाव है।

वीर रस-शत्रु का संहार करने में जो रस चढ़ जाता है, वह वीर रस है। राजकुमार पुष्पों की शय्या पर सो रहा हो और कोई राज्य पर चढ़ाई कर दे उस समय राजकुमार को शत्रु संहार का कैसा रस चढ़ आता है ? वह वीर रस है, पाप रस है, दुर्गति में भ्रमण करने का कारण है। अरे भाई! अपने ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को भूलकर यहाँ कहाँ अटक रहा है! यह तेरा स्वभाव नहीं है।

भयानक रस—आषाढ़ की अमावस्या की अँधेरी रात्रि में जब बादल गरजते हैं और पानी की झड़ियाँ लगती हैं उस समय जंगल में अकेला हो, सिंह, चीते चिंघाड़ रहे हों, बिजली चमक रही हो, वहाँ जो भय उत्पन्न होता है, वह भयानक रस है। अरे भाई! भीतर देख तो तेरा निभर्य स्वरूप है, तेरे स्वरूप को कोई काट डाले या छुड़ा ले ऐसा नहीं है;—ऐसा जानकर निर्भय हो। भय तेरा स्वरूप नहीं है।

वीभत्स रस—सुंदर शरीर में चेचक निकले और उसके दाने-दाने में कीड़े पड़ जायें शरीर से दुर्गन्ध छूटने लगे—उसे देखकर शरीर के रोंगटे खड़े हो जायें वह वीभत्स रस है। शरीर के रजकण कब, किस रूप में परिणमित हो जायें वह आत्मा के हाथ की बात नहीं है; इसलिए आत्मा को पहिचानकर उसकी श्रद्धा कर।

अद्‌भुतरस अर्थात् विस्मयरस। पुद्‌गल की रचना में कोई नवीनता—विशेषता दिखायी दे वहाँ बड़ा आश्चर्य हो जाता है, वहाँ पर ज्ञान पर में एकाग्र होकर राग का रस लेता है। पुद्‌गल के फेरफार देखकर आश्चर्य हो जाये वह अद्‌भुतरस है। यह सब लौकिक रस है।

नववाँ शान्तरस है, वह अलौकिक है; उसका लौकिक नाटकों में अधिकार नहीं है। पुण्य-पाप की उपाधि के भाव रहित अंशत: भी आत्मा में एकाग्र हो तब शान्तरस आता है, वह आत्मा का रस है; वह रस आत्मा के स्वभाव की पहिचान करके उसमें एकाग्र होने से ही प्रगट होता है। आत्मा का रस पर में कहीं भी नहीं है, पर में उसकी गन्ध तक नहीं है; आत्मा का रस तो अलौकिक है।

ज्ञान में जो ज्ञेय आया उसमें ज्ञान का तदाकार होना और दूसरे ज्ञेय की इच्छा न रहना—उसे रस कहते हैं। पैसे से, स्त्री से अथवा किसी बाह्य वस्तु से तीन काल-तीन लोक में भी रस या सुख नहीं आता, किन्तु स्वयं आत्मा ने अन्य सब कुछ भूलकर जिस किसी ज्ञेय में रागभाव से लीनता की-उसका नाम रस-आनन्द है; अन्य कोई रस की व्याख्या नहीं है। रस बाहर से नहीं आता, किन्तु जहाँ स्वयं लीनता करे उसे रस कहते हैं। यह रस की सर्व व्यापक व्याख्या है।

दस हजार की हीरे की अंगूठी पहिनकर कहीं जा रहा हो और मार्ग में लुटेरे मिल गये। लुटेरे कहने लगे, 'अंगूठी लाओ नहीं तो मार डालेंगे।' मन में सोचने लगा—इससे अच्छा तो यही था कि मैं अंगूठी न पहिनता; जिससे शोभा मानी थी वही दु:ख का कारण हुआ। पहले रागभाव से शोभा मानी थी किन्तु जहाँ लक्ष्य बदला वहाँ दु:ख हो गया। उस समय यदि मैं चिदानन्द आत्मा हूँ—ऐसा जानकर, मानकर उसमें स्थिर हो तो आत्मा के ज्ञान और आनन्द का रस आये; किन्तु उसमें लीन होकर भय में लीन हो तो भय का रस आता है। यह रस की सर्व व्यापक व्याख्या है।

राग की एकाग्रता से रस आता है, किन्तु बाह्य वस्तु पर आरोप करता है कि मुझे अमुक वस्तु में से, व्यापार-धन्धा में से, खाने-पीने में से, सोने-बैठने में से रस आता है, किन्तु वास्तव में तो राग की एकाग्रता में से रस आता है।

रस का स्वरूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते हैं। अन्य रस को अन्य रस के समान करके वर्णन करते हैं। जैसे—शृंगार रस में हास्य रस मिलाते हैं और हास्य रस में शृंगार रस मिलाते हैं।

उसी प्रकार आत्मसत्ता रंगभूमि है और देखनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। यथार्थतया ज्ञायकभाव से देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि हैं, अन्य सब विपरीत मान्यतावालों की सभा है; उन्हें बतलाते

हैं। नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं; उन दोनों का एकपना, कर्ता-कर्मपना आदि अनेक स्वांग हैं; कर्ता-कर्म आदि के स्वांग धारण करके नाच रहे हैं। वे परस्पर अनेकरूप होते हैं और आठ-रसरूप परिणमन करते हैं—वह नृत्य है। वहाँ जो सम्यग्दृष्टि देखनेवाले हैं वे जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानते हैं; वे तो इन सर्व स्वांगों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न हैं और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव का भेद नहीं जानते इससे इन स्वांगों को ही सच्चा जानकर इनमें लीन हो जाते हैं। उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, शान्तरस में लीन करके उन्हें सम्यग्दृष्टि बनाते हैं।

सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि से कहते हैं कि—देख भाई! जब तू माता के शरीर में आया उस समय यह स्थूल शरीर लेकर नहीं आया था, किन्तु कार्मण और तैजस लेकर आया था; माता के उदर में आने के पश्चात् इस स्थूल शरीर की रचना हुई, जब जन्म लिया तब एक बालिश्त जितना शरीर था; उसके बाद रोटी-दाल-चावल खाते-खाते उसमें इतना बड़ा शरीर हुआ; इसलिए इस शरीर का स्वांग तेरे आत्मा का स्वांग नहीं है; तेरे आत्मा का स्वांग तो इससे पृथक् है। सम्यक्त्वी ज्ञानी स्वयं जानते हैं और दूसरे मिथ्यादृष्टियों को बतलाते हैं—यह स्वांग तेरा नहीं है। देख, आत्मा और शरीर एक ही स्थान पर हैं, किन्तु भाव से भिन्न हैं। शरीर, मन, वाणी और क्रोधादि का मैं कर्ता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानते हैं; उनसे कहते हैं कि तू ज्ञान का कर्ता है और ज्ञान तेरा कर्म है।

संसार में अज्ञानी आठ रसरूप होकर परिणमित होता है; किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि यह राग-द्वेष मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति से होता है किन्तु यह मेरा स्वांग नहीं है; बाह्य की अनुकूलता-प्रतिकूलता, शरीर सुन्दर-कुरूप होना वह मेरा स्वांग नहीं है। शरीर-वाणी आदि का मैं कर्ता नहीं हूँ और वह मेरा कर्म नहीं है; इसलिए वह शरीर मेरा स्वांग नहीं है। इस प्रकार धर्मात्मा पर का अभिमान छोड़कर शांतरस में मग्न रहता है। आठ रसों में आकुलता का रस रहता था उसे छोड़कर नववें शान्त रस का स्वाद लेने लगा।

एक गरीब आदमी को कहीं से सौ-दो-सौ रुपये के नोट मिले। ठण्ड का मौसम था, इसलिए घर के सब लोग मिलकर अंगीठी पर ताप रहे थे और गप्पें लगा रहे थे। इसी समय लड़के ने नोटों का बण्डल अग्नि में, डाल दिया और जल गया। लड़के की माँ को बहुत दुःख हुआ और क्रोध आया कि बड़ी मुसीबत से तो पैसे आये थे और इसने जला

दिये! क्रोध में आकर उसने लड़के को इतना मारा कि बेचारा बेहोश हो गया और मर गया। लड़के के पिता को खबर पड़ी तो उसे बड़ा क्रोध आया कि रुपयों के लिये लड़के को मार डाला! उसने घरवाली को इतना मारा कि वह मर गई! फिर सोचने लगा कि अब मैं जीवित रहकर क्या करूँगा? ऐसा विचार करके स्वयं आत्महत्या कर ली। देखो! जीव क्रोधवश होकर क्या नहीं करते? जीवों को कैसा उल्टा रस चढ़ जाता है? माता के भाव लड़के को मारने के नहीं थे, किन्तु आकुलता के रस में भान खो बैठी; क्रोध की तीव्रता से भान भूल गई। विपरीत दृष्टिवाले जड़-चैतन्य के भिन्न स्वांगों को नहीं जानते और पर में एकाकार हो जाते हैं। वह स्त्री समाधान न कर सकी कि—होगा! बालक है, पैसे तो जाना थे इसलिए चले गये। आत्मा तो समाधान स्वरूप है। अरे भाई! बाह्य में जो नोट कागज हैं, वह तू नहीं है, उससे तुझे सुख नहीं है, वह तेरा स्वांग नहीं है। अपने अनाकुल स्वरूप को भूलकर आकुलता के रस में एकाग्र होना वह तेरा स्वरूप नहीं है; तेरा सुख तुझसे ही है, उसकी पहिचान करके उसमें स्थिर हो; वह तुझे सुख-शरणरूप है।

मिथ्यादृष्टि बाह्य स्वांग को अपना मानकर उसमें लीन होता है। दो-चार अच्छे लड़के हों और 'पिताजी, पिताजी' कहें वहाँ प्रफुल्लित हो जाता है; सुन्दर-सुशील स्त्री मिली हो, कुछ चाँदी के टुकड़े इकट्ठे हो गये हों सिर पर पंखा फिरता हो, सब मिलकर झूले पर झूलते हों तो मानों चक्रवर्ती का राज्य मिल गया हो—ऐसा फूल जाता है। मान बैठता है कि यह सब सदैव ऐसे का ऐसा ही रहेगा किन्तु भाई! यह स्वांग तेरे घर का नहीं है कि अधिक काल तक बना रहेगा; यह सब तो जड़ का स्वांग है; जब तेरा पुण्य फिरेगा कि सब क्षणभर में पलट जायेंगे; किन्तु अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा शाश्वत् है।

शरीर में चार-पाँच डिग्री बुखार आ जाये तो बिल्कुल ढीला हो जाता है; चार-पाँच तो क्या दो डिग्री में ही बेचैन हो जाता है; किन्तु यदि शरीर में नहीं तो क्या दीवार को बुखार आता होगा? यह सब जड़ की अवस्थाएँ बदलती हैं इनमें तेरा क्या जाता है? तू तो भगवान चिदानन्द है। उसे कभी बुखार-रोग नहीं आ सकता, वह तो अव्याबाध शान्त शीतलता का कन्द मूर्ति है। अज्ञानी को बुखार के साथ उलटी (-वमन) हो जाये तो उसे ऐसा हो जाता है कि—अरे! मानों मैं इस उलटी में निकला जा रहा हूँ, मेरा आत्मा मानो इस उलटी में निकला जा रहा है। किन्तु अरे चैतन्य! तू तो ध्रुवस्वरूप है, उलटी (-वमन) तो जड़

की—पुद्गल की अवस्था है, तू उलटी के साथ नहीं निकल सकता; तू तो उससे भिन्न टंकोत्कीर्ण शाश्वतमूर्ति है। मरते समय अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मैं मर रहा हूँ, मेरा नाश होता है; किन्तु देह और आत्मा पृथक् हों उसे मरण कहते हैं। वास्तव में जगत में मरण है ही नहीं; क्योंकि किसी वस्तु का नाश नहीं होता, मात्र अवस्थान्तर होता है। आत्मा भी है, है, और है और पुद्गल भी है, है और है। उसमें मरण किसे कहना ? किन्तु इस स्थूल शरीर और आत्मा—दोनों पृथक् हों उसे लोग मरण कहते हैं। अज्ञानी अपनी भिन्नता को भूलकर पर को अपना मानकर उसमें एकाग्र हो जाता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि पर के स्वांग को अपने से पृथक् जानकर शान्तरस में मग्न रहता है।

देखो, इसमें ऐसा नहीं आया कि यह सातवें गुणस्थानवाले को बतला रहे हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि को बतलाता है कि भाई! यह मान-प्रतिष्ठा तेरी नहीं है, और तूने मान रखा है कि यह आँख-कान-नाक मेरे हैं, किन्तु यह तेरे नहीं हैं; जो तुझसे पृथक् हो जाता है वह तेरा नहीं हो सकता। अरे भाई! तू आनन्द कन्द है, अपनी पहिचान कर, श्रद्धा कर, स्थिर हो!

भाई! धुएँ को गले नहीं लगाया जाता, बालू के गढ़ नहीं बनते, सनके बोरों में हवा नहीं भरी जा सकती। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि से कहता है कि भाई! भूल मत! अपनी चिदानन्द वस्तु को मत भूल! पर को अपना मत मान! वह तेरी वस्तु नहीं है, तू अपने में शान्त;—इस प्रकार धर्मात्मा मिथ्यादृष्टि को अपने शान्तरस में लीन करते हैं।

सम्यग्दृष्टि भ्रम मिटाकर स्वरूप में—शान्तरस में मग्न कराते हैं। 'मज्जंतु' कलश पहले आ चुका है, उसका यथार्थ भाव ऐसा है कि मेरे असंख्य प्रदेश में शांतरस भरा है, वह प्रस्फुटित हो जाओ, प्रगट हो जाओ। और बाह्य से लोगों को आमन्त्रण देते हैं कि—सब इस शान्तरस में मग्न होओ! कोई कहेगा कि—अभव्य को कहाँ शान्तरस प्रगट होता है कि आचार्यदेव ने सबको आमन्त्रण दिया ? किन्तु आचार्यदेव तो अपनी दृष्टि से ऐसा ही देखते हैं कि सभी को शान्तरस प्रगट हो। अभव्य भले अपने घर के लिये होगा; आचार्यदेव तो अपनी भावना के बल में भव्य-अभव्य सभी को आमन्त्रण देते हैं कि—सब आओ! मुझे ऐसा शान्तरस प्रगट हुआ है और जगत का कोई जीव इससे वंचित न रह जाए—ऐसी भावना तो अपनी है न!

अब जीव-अजीव के स्वांग का वर्णन करेंगे।

नृत्यु कुतूहल तत्त्व को, मरिपवि देखो धाय;
निजानंद रस में छको, आन सवै छिटकाय॥

यह तत्त्व क्या है इसका एक बार तो कुतूहल कर! यह जो इज्जत, कीर्ति, पैसा, कुटुम्ब में अपनापन मानकर उनमें लीन हो रहा है, उसे भूलकर भीतर आत्मा में उतर कर उसकी थाँह ले! जिस प्रकार कुएँ में डुबकी मारकर थाँह लेते हैं ऐसी थाँह ले। दुनिया को भूलकर, मरकर भी एक बार अन्तरतत्त्व क्या है, उसे देखने के लिये गिर तो! मरकर अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता सहन करके भी कुतूहल कर! अनन्त बार देह के अर्थ आत्मा को लगा दिया, किन्तु अब एक बार आत्मा के अर्थ देह को लगा दे तो भव न रहे। दुनिया को भूल दुनिया की चिन्ता छोड़कर आत्मा के रस में मस्त हो जा! पुरुषार्थ करके अन्तर-पट को तोड़ दे।

इस प्रकार जीव-अजीव अधिकार में पूर्वरंग समाप्त हुआ।

* * * *

अब जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। अब चिदानन्द मूर्ति आत्मा और शरीरादिक, पुण्य-पाप इत्यादि सब एक ही वेश धारण करके आते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि—तुझे पहले यह बताया जा चुका है कि जीव का स्वभाव ऐसा होता है; अब तू इससे यह समझ ले कि जो जो अजीव आते हैं, वह तू नहीं है। अब आचार्यदेव इस अधिकार को प्रारंभ करते हुए मंगलाचरण करते हैं; माणिकस्तम्भ को स्थापित करते हैं, ज्ञान की महिमा प्रगट करते हैं; यह ज्ञान समस्त वस्तुओं को जाननेवाला है, वह जीव अजीव के समस्त वेषों को भलीभाँति पहचानता है, ऐसा सर्व स्वांगों को पहिचाननेवाला सम्यग्ज्ञान प्रगट होताा है।

यहाँ 'सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है', यह कहकर सम्यग्ज्ञानी की बात कही है। अर्थात् यहाँ चतुर्थ गुणस्थानवालों की बात है सातवें गुणस्थानवालों की नहीं। रामचन्द्रजी, पाण्डव और राजा श्रेणिक इत्यादि गृहस्थ आश्रम में थे तथापि उन्हें यह दृढ़ प्रतीति थी कि आत्मा पर से भिन्न है, राग-द्वेष मेरे नहीं हैं, इस प्रकार भ्रान्ति का त्याग करके वे सब स्वरूप में स्थित रहते थे। संसार में रहकर भी ऐसी प्रतीति हो सकती है। ऐसी प्रतीति के बिना का त्याग वास्तविक त्याग नहीं है।

पुण्य-पाप इत्यादि पर की वृत्तियों का अभिमान दूर हो जाये और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो, वह ज्ञान ही सच्चा मंगल है। 'मंग' अर्थात् पवित्रता, 'ल' अर्थात् लाति—पवित्रता की प्राप्ति। वही सच्चा मंगल है। पवित्र आत्मस्वभाव को प्राप्त करानेवाला आत्मभाव ही सच्चा मंगल है। मंगल का दूसरा अर्थ यह भी है कि—'मं' अर्थात् अपवित्रता और 'गल' अर्थात् गला दे—नष्ट कर दे; अर्थात् शरीर-मन-वाणी और शुभाशुभ भाव को अपना मानने रूप जो अपवित्रता है उसे सम्यग्ज्ञान के द्वारा गला दे सो यही सच्चा मंगल है। वही मंगल सच्चे सुख की प्राप्ति कराता है।

अब सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है इस अर्थ का सूचक कलश कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्,
आसन्सारनिबद्धबन्धनविधिध्वन्साद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराम-मनन्त-धाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं,
धीरोदात्त-मनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्।।३३।।

अर्थः—जो ज्ञान है सो मन को आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव-अजीव के स्वांग को देखनेवाले महा पुरुषों को जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कराते हैं। अनादि संसार से जिनका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है, ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, अर्थात् जैसे फूल की कली खिलती है उसी प्रकार विकासरूप है। और वह ऐसा है कि जिसका क्रीड़ावान आत्मा ही है, अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार झलकते हैं तथापि स्वयं अपने स्वरूप में ही रमण करता है; जिसका प्रकाश अनन्त है, और जो प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है। और जो धीर है, उदात्त है, इसलिए अनाकुल है-सर्व इच्छाओं से रहित निराकुल है। यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल—यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण समझना चाहिए। ऐसा ज्ञान विलास करता है।

ज्ञान मन को आनन्द देता हुआ प्रगट होता है, जीव-अजीव साथ नच रहा है, उसे सम्यग्दृष्टि पहिचान लेता है कि यह मैं नहीं हूँ, मेरा स्वरूप पर से भिन्न ज्ञायकरूप है। यह बर्फ ठण्डा है, अग्नि गर्म है, गुड़ मीठा है इत्यादि का विवेक कौन करता है ? यह सब

विवेक ज्ञान ही करता है। आश्चर्य तो यह है कि यह जीव पराभिमुख हो रहा है और अपनी ओर नहीं देखता। तू पर को जानता है और उसी ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु स्वयं अपने को न जाने तो यह कितना भारी अविवेक है तू पर पदार्थों के तो भेद करता है कि यह हलुआ पुरी है जो खाने योग्य है, और यह मिट्टी है, विष्टा है, जो कि खाने योग्य नहीं है; इस प्रकार पर पदार्थों में विवेक करके भेद करता है किन्तु यह मलिनता है सो मैं नहीं हूँ, राग-द्वेष आकुलता है सो मैं कहीं हूँ, मैं तो ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ, ऐसा विवेक करके यदि अपने और विकार के बीच भेद न करे तो यह तेरे लिये घोर कलंक की बात है।

सम्यग्ज्ञान मन को आनन्द देता हुआ प्रगट होता है, और संसार के परिभ्रमण का ज्ञान खेद खिन्न करता हुआ प्रगट होता है। समझ समझ से ही प्रगट होती है यदि बारम्बार सत् समागम करके और विचार करके समझे तो आत्मा में ज्ञान और शान्ति हुए बिना न रहे।

जीव और मन वाणी देह, पुण्य-पाप के भाव-सबका एकत्रित वेष है, उन्हें जो भिन्न जानता है सो वह महा पुरुष है, दूसरा कोई महा पुरुष नहीं है। सम्यग्ज्ञान अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा भिन्न-भिन्न पदार्थों की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। जो भिन्न-भिन्न पदार्थों का विवेक करता है सो ज्ञान है। वह ज्ञान मन को आनन्द देता है, सो सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा पर कर्म के कारण जो वेष है, उसमें एक तो शरीरादिक और दूसरे भीतर होनेवाली वृत्तियाँ और पर को अपना माननेरूप वेष है, सो वह सब कर्म का वेष है, वह अपना वेष नहीं है। मैं ज्ञान-ज्योति आत्मा उन वेषों से भिन्न हूँ, इस प्रकार सच्चा ज्ञान विवेक करता है।

आत्मा एक वस्तु है, पदार्थ है। जो वस्तु होती है उसमें गुण और स्वभाव होता है। जैसे गुड़ एक वस्तु है, और मिठास उसका गुण है। गुड़ हो और मिठास न हो यह नहीं हो सकता! इसी प्रकार मैं आत्मा एक वस्तु हूँ और उसमें ज्ञान आदि अनन्त गुण न हों यह नहीं हो सकता; अतः आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है।

शरीरादिक या पुण्य-पाप में से सुख और शान्ति आती है ऐसा मानकर पराधीनता में न रहकर यह मेरे गुण हैं जिनसे सुख और शान्ति प्राप्त होती है, ऐसा परिचय प्राप्त करके श्रद्धा करके अपने स्वरूप में रहूँ तो पराधीनता मिट जाये, उस प्रकार की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता मोक्षमार्ग है। और उसकी पूर्णता होना सो मोक्ष है।

पराश्रय दु:ख है और स्वाश्रय सुख है, शरीर का प्रत्येक रजकण पृथक्-पृथक् है, इसलिए शरीर से आत्मा को लाभ नहीं हो सकता, एक स्वाधीन तत्त्व पर का आश्रय ले सो पराधीनता है, और पराधीनता स्वप्न में भी सुख नहीं है। पराधीनता की व्यापक परिभाषा भलीभाँति जान लेनी चाहिए। दूसरे की नौकरी करना इतनी मात्र ही पराधीनता की व्याख्या नहीं है किन्तु स्त्री, पुत्रादि से सुख मिलता है, रुपया पैसे से सुख मिलता है, बड़प्पन प्रतिष्ठादि से सुख मिलता है, इस प्रकार पर पदार्थों पर सुख का लक्ष्य करना सो पराधीनता है, इतना ही नहीं किन्तु यह मानना कि शुभाशुभ परिणामों से सुख मिलता है, सो यह पराधीनता है। 'पराधीन सपनेह सुख नाहीं'। एक तत्त्व को सुख के लिये दूसरे तत्त्व पर दृष्टि रखनी पड़े सो पराधीनता है। जब तक पर पदार्थों पर दृष्टि है तब तक पराधीनता दूर नहीं हो सकती। और जब तक पराधीनता दूर नहीं होती तब तक स्वाधीनता प्रगट नहीं होगी।

गुण के बिना गुणी नहीं होता ऐसे अनन्त शक्ति से परिपूर्ण स्वाधीन तत्त्व को जिसने नहीं माना और दूसरे तत्त्वों से मुझे सुख होगा मान रखा है, उसे चौरासी के अवतार अवश्य लेना पड़ेंगे। उसकी पराधीनता और दु:ख दूर नहीं हो सकते।

सम्यग्ज्ञान द्वारा सम्यग्ज्ञानी अज्ञान और उसके फल को भिन्न माने कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्दघन है; ऐसी प्रतीति हुई कि स्वाश्रय प्राप्त हुये बिना नहीं रहता, और सुख-शांति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती।

जब घर में विवाहादि का उत्सव होता है तब किसी के यहाँ से मंडप इत्यादि वस्तुएँ लाकर अपने यहाँ की शोभा बना ली हो किन्तु—समझदार मनुष्य यह जानता है कि अपना काम पूरा हो जाने पर दूसरे की यह वस्तुएँ वापिस कर देनी होंगी इसी प्रकार ज्ञानवान पुरुष जानता है अथवा अज्ञानी पुरुष से ज्ञानी पुरुष कहता है कि हे भाई! यह इन्द्रिय, शरीर, पुण्य-पाप के भाव इत्यादि सब कर्मकृत मण्डप हैं यह दूसरे का मण्डप है, तेरा चैतन्यघर तो अलग ही है, जड़ की पूँजी अपनी न मान, पर की शोभा से अपनी शोभा मत मान; तू शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है, तेरी अपनी पूँजी अलग है, तेरा वेष अलग है, और शरीर इन्द्रिय एवं शुभाशुभ परिणामों का वेष अलग है, यह सब कर्म कृत वेष हैं, यह तेरा वेष नहीं है। कर्म की शोभा से अपनी शोभा नहीं मानी जा सकती, यह सब पर की शोभा का मण्डप है। यहाँ तो मोक्ष का मण्डप तन चुका है, यह अब नहीं उखड़ सकता।

शरीर के सुख साधन को छोड़कर, और स्त्री, पुत्रादि का त्याग करके त्यागी हो जाने से कोई सच्चा त्यागी नहीं कहलाता, उससे धर्म नहीं होता। जब तक यह दृष्टि है कि जो पर है सो मैं हूँ, तब तक कर्म प्राप्त नहीं होता, और पराधीनता नहीं मिटती। कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुभपरिणाम हो और उससे अपने को लाभ होना माने तो तब तक वह पराश्रयी ही है, इसलिए उसकी पराधीनता दूर नहीं हो सकती। जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थों की भिन्नता की प्रतीति के बिना पराश्रयता दूर नहीं होती और स्वाश्रयता प्रगट नहीं होती।

चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है, उसमें जो अनेक प्रकार के वेष दिखाई देते हैं, सो अज्ञानी मानता है कि यह मेरा वेष है। संसार में विविध प्रकार के नाटक कर्ता पात्र भर्तृहरि, हरिश्चन्द्र या राम, लक्ष्मण इत्यादि का अत्यन्त सुन्दर वेष धारण करके और उनका ज्यों का त्यों अभिनय करके भी यह जानते हैं कि हम सच्चे भर्तृहरि, हरिश्चन्द्र, राम या लक्ष्मण नहीं हैं किन्तु हम तो वेतन भोगी सामान्य व्यक्ति हैं; किन्तु अनादि काल का अज्ञानी जीव अपने को भूलकर पर सम्बन्धी जो-जो वेष दिखायी देता है, उसे अपना ही मान लेता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी समझता है कि मैं चैतन्य अनन्त गुणमूर्ति पृथक् ही हूँ, और जो पुण्य-पाप के भाव अथवा अनुकूलता-प्रतिकूलता का कोई बाह्य वेष आये तो मैं चैतन्य सम्राट उसे अपनी पूँजी में नहीं मिला सकता, हाँ, मैं उसका ज्ञातामात्र रहूँगा। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान होने के बाद अल्प राग-द्वेष हो किन्तु उसे दूर करके वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेगा। धर्मात्मा ने अति उज्ज्वल पवित्र दृष्टि से भिन्न द्रव्य की जो प्रतीति उत्पन्न की है, और उस प्रतीति के होने से भिन्न द्रव्य का जो विवेक जागृत हो गया है, उससे अब पराश्रय ग्रहण करने की इच्छा नहीं रह सकती। यद्यपि पुरुषार्थ की अशक्ति को लेकर अल्प राग-द्वेष की ओर कभी-कभी लचक खा जाता है, किन्तु आन्तरिक विवेक किंचित् मात्र भी नहीं हटता। जो अल्प राग-द्वेष शेष रह गया है वह दूर होने के लिये ही है, बने रहने के लिये नहीं।

जैसे मकान में काँच का बहुत ही सुन्दर झूमर लटक रहा हो और उससे घर की शोभा हो रही हो किन्तु यदि वह ऊपर से गिरे और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ तो उस पर पहले जो राग था वह मिट जाता है और उसके प्रति उपेक्षा हो जाती है, वह तुच्छ प्रतीत होने लगता है। उस तुच्छता की प्रतीति का कारण यह है कि—ज्ञान में यह निश्चय हो गया

है कि—यह वस्तु मेरे काम की नहीं रही, इसलिए इन काँच के टुकड़ों को उठाकर बाहर फेंक दो। यद्यपि उन काँच के टुकड़ों को बाहर फेंकने का निश्चय हो चुका है यदि वे कुछ समय तक घर में ही पड़े रहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि अब उन्हें संग्रह करके रख छोड़ने का भाव है, इसी प्रकार अनन्त गुणस्वरूप प्रभु-परमात्मा की भाँति ही मेरा आत्मा है, मैं पर स्वरूप नहीं हूँ, ऐसी सम्यक् प्रतीति हो जाने पर विभाव की तुच्छता मालूम होने लगती है। मैं चैतन्यघन स्वभाव से पूर्ण पवित्र हूँ ऐसी प्रतीति होने पर आत्मा में नये-नये क्षणिक पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं वे तुच्छ मालूम होने लगते हैं। जबकि उन पुण्य-पाप के भावों में तुच्छता मालूम होने लगी तो फिर पुण्य-पाप के फल में अर्थात् बाह्य संयोग-शरीर, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि में तुच्छता मालूम होने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

पुण्य-पाप के भाव और पुण्य-पाप के फल सब उस झूमर के टूटे टुकड़ों जैसे ही भासित होते हैं। उन शुभाशुभ परिणामों को निकाल फेंकने में कुछ विलम्ब हो जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे प्रिय हैं अथवा उन्हें रखने का भाव है। अपने से पर पदार्थों को भिन्न मानता है। और उन्हें भिन्न मानते ही पर में तुच्छता भासित होने लगती है और महत्ता नहीं भासती है उन शुभाशुभ भावों को संग्रह कर रखने का भाव नहीं है किन्तु उन्हें दूर करने का ही भाव है। ऐसा भिन्नत्व विवेक होने पर अल्प काल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। पुरुषार्थ में कुछ कमजोरी है इसलिए अल्प राग-द्वेष पाया जाता है, उसे दूर करने में कुछ विलम्ब होता है, किन्तु क्रमशः स्थिरता को बढ़ाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। यह भिन्नत्व के विवेक का माहात्म्य है।

वह ज्ञान अनादि संसार से जिसका बन्धन दृढ़ता पूर्वक बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादिक कर्मों का नाश होकर विशुद्ध हो गया है, स्फुट हो गया है। ज्ञानावरणीय का नाश किया अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि जो अष्ट कर्म हैं सो मैं नहीं हूँ, इस प्रकार उससे भिन्नत्व का विवेक किया, और इससे श्रद्धा और ज्ञान से कर्मों का नाश किया है, तथा क्रमः स्थिरता करके सम्पूर्ण नाश करेगा। इस प्रकार विवेक से ज्ञान में विशुद्धता हुई, स्पष्टता हुई और जब ज्ञान यह मानता था कि—जो कर्म हैं सो मैं हूँ, तब वह सम्पुटित-बन्द रहता था, वह पर के साथ एकमेक रहता था इसलिए ज्ञान की कलियाँ संकुचित हो गयी थी। अब

पृथक् विवेक किया है इसलिए ज्ञान की कलियाँ भीतर से विकसित होकर खिल उठी हैं। शरीरादिक तथा पुण्य-पाप को अपना मान रखा था इसलिए ज्ञान संकुचित था, किन्तु जब यह मान लिया कि जो शरीरादिक हैं सो मैं नहीं हूँ, तो ज्ञान अलग हो गया और वह विकसित हो गया। पराश्रय भाव का त्याग किया कि ज्ञान खिल उठा। विवेक जागृत हुआ कि ज्ञान की संकुचित कली पुनः विकसित हो गयी। चाहे चक्रवर्ती का राज्य मिले या तीर्थंकर पद प्राप्त हो, किन्तु वह सब कर्मकृत है वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा चैतन्य ज्ञानकुण्ड स्वरूप पर से भिन्न है, इस प्रकार ज्ञान की कली खिलना ही आत्मधर्म है। शरीरादि को अपना मानकर ज्ञान उसमें रम रहा किन्तु जहाँ विवेक जागृत हुआ कि यह मैं नहीं हूँ वहाँ ज्ञान अपने में रमण करने लगा। इस प्रकार स्व-पर के पृथक्त्व का विवेक जागृत होने पर ज्ञान अपने में रमण करने लगा, अर्थात् ज्ञान की कली खिल उठी-स्फुट हो गयी।

यद्यपि ज्ञान में अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं, तथापि ज्ञान अपने स्वरूप में ही रमण करता है। ज्ञान में सब कुछ ज्ञात होता है, किन्तु इससे वह पररूप नहीं हो जाता। पराश्रय में स्थिर होनेवाला ज्ञान, यह पुण्य मेरा है, यह इन्द्रपद मेरा है इत्यादि मानकर पर पदार्थ में रमण कर रहा था, उसका जहाँ विवेक जागृत हुआ कि यह पर पदार्थ मेरे नहीं हैं किन्तु मेरा तो ज्ञानस्वभाव है, शान्ति-स्वभाव है और मेरा स्वभाव मुझमें ही है, ऐसा स्वाश्रय होने से वहाँ ज्ञान अपने में रमण करने लगा। मेरा आत्मा असंयोगी है, मेरा मूलधन मुझमें ही है ऐसा माना कि पराश्रयता छूट गयी, और अपना क्रीड़ावन आत्मा ही एकमात्र रह गया, दूसरा कोई स्थान नहीं रहा।

शरीर, वस्त्र और किसी वेष में धर्म नहीं है, किन्तु वह आत्मस्वरूप के विवेक में है। जैसे अपने हाथ से परिश्रम पूर्वक बनायी गयी रसोई मीठी लगती है, इस प्रकार अपने घर का स्वभाव अपने ही हाथ से अर्थात् पुरुषार्थ से प्रगट करके जो आनन्दयुक्त धर्म होता है सो वही मीठा लगता है, और वही सुखरूप मालूम होता है, वही सच्चा धर्म है, शेष सब अधर्म है। अपने स्वभाव को न पहिचाने और पर को अपना माने सो अधर्म है।

मेरा गुण निर्दोष और निरुपाधिक है मेरे गुण की पर्याय मुझमें ही रहती है, ऐसा विवेक होने पर ज्ञान का क्रीड़ास्थल आत्मा ही रह जाता है।

ज्ञान का प्रकाश अनन्त है, इसलिए ज्ञान में बहुत कुछ ज्ञात होने पर ज्ञान को ऐसा नहीं लगता कि अब मैं न जानूँ। जहाँ-जहाँ भव धारण किये वहाँ-वहाँ उस-उस भव का ज्ञान तो था ही, और जो-जो भव हुए वे अपने अस्तित्वरूप में प्रवर्तमान ही हुए थे, और उस-उस भव में पर को अपना मानकर अटका रहा, इसलिए ज्ञान विकास को प्राप्त नहीं हुआ; किन्तु अनन्त भवों को जाननेवाला मेरा ज्ञानतत्त्व भव से, शरीर से और पर से भिन्न है, मैं समस्त भवों का ज्ञान करनेवाला हूँ, मैं चाहे जितने पदार्थों को जानूँ, या चाहे जितनी भूत या भविष्य काल की बातों को जानूँ तो भी मेरे ज्ञान में ऐसा अनन्त प्रकाश है कि वह भी कभी कम नहीं हो सकता।

चैतन्य तेज प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान मन या इन्द्रियों के आधीन नहीं है, किन्तु ज्ञान स्वयं स्वत: ही जानता है, इसलिए प्रत्यक्ष है इन्द्रियों और मन का निमित्त अपूर्ण दशा में बीच में आ जाता है, किन्तु ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा जानता है, इसलिए ज्ञान प्रत्यक्ष है (सूर्य सबेरे उदय होता है और शाम को अस्त हो जाता है,) किन्तु यह ज्ञान सूर्य तो नित्य प्रत्यक्ष उदयरूप ही रहता है, वह कभी भी अस्त नहीं होता। सम्यक् ज्ञान का उदय हुआ सो हुआ अब वह कभी अस्त नहीं होगा। इस प्रकार ज्ञान में अपने ऐश्वर्य की प्रतीति हुई सो उसे पराश्रय की आवश्यकता नहीं रहती; इस प्रकार ज्ञान नित्य प्रत्यक्ष उदयरूप है। यहाँ आचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञान का मंगलाचरण किया है।

जैसे पुत्र विवाह के समय स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं कि—'मोतियन थाल भराये हो लाल' भले ही घर में मोती का एक दाना भी न हो किन्तु ममतावश ऐसा मंगल गीत गाया जाता है। इसी प्रकार आत्मा में अनन्त सन्तोषगुण हैं किन्तु जब विपरीत चलता है तब ममता भी अनन्ती हो जाती है, और जब यथार्थ प्रतीति होती है तब मानता है कि यह ममता भी मैं नहीं हूँ और यह मोती भी मैं नहीं हूँ। जैसे घर में मोती का एक दाना न होने पर भी किसी आशा, स्नेह या मोह के वश 'मोतियन थाल भराये' का गीत गाया जाता है, इसी प्रकार सम्यक् ज्ञानी जीव भविष्य में सिद्ध होनेवाला है, अभी वह सिद्ध नहीं है, फिर भी भावना की प्रबलता से अभी भी वह यह कहता है कि मैं सिद्ध हूँ। द्रव्यापेक्षा से तो सिद्ध हूँ ही किन्तु मैं पर्याय से भी सिद्ध हूँ। द्रव्यदृष्टि द्रव्य और पर्याय के भेद को नहीं देखती। वह भावना की प्रबलता से काल के अन्तर को बीच में से निकाल देती है।

वह ज्ञानधीर है, स्व-पर को जानता है, वह अपने भावों को जानता है और पर के भावों को भी जानता है; अनुकूलता, प्रतिकूलता, निन्दा, प्रशंसा इत्यादि सब कुछ जानता है। ज्ञान ऐसा विचक्षण है कि वह पदार्थ को चारों ओर से जानता है फिर भी कहीं राग-द्वेष या क्रोध-मान इत्यादि नहीं होने देता। किन्तु सब ओर से जानकर ज्ञान भीतर ही समा जाता है। वह ऐसा धीर है। ज्ञान सब कुछ जानता है तथापि कहीं राग-द्वेष की आकुलता नहीं होने देता जैसे आम का पेड़ ज्यों-ज्यों फलता है त्यों-त्यों नीचे को नमता जाता है, इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान ज्यों-ज्यों विकास को प्राप्त होता है त्यों-त्यों भीतर समाता जाता है। सच्चा ज्ञान भीतर समाता है और अज्ञान बाहर फैलता है। अज्ञान से विकार होता है और विकार से बाहर पुण्य-पाप फलित होते हैं; वे पुण्य-पाप के फल बाहर की ओर फैलते जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अज्ञान ही बाहर फैलता है, और ज्ञान स्वाश्रित होने पर पराश्रय से हटकर भीतर समा जाता है, इसलिए वह धीर है।

ज्ञान उदात्त है, उच्च है, और उदार है; अर्थात् भीतर से चाहे जितना ज्ञान निकाला जाए तो भी वह कम नहीं होता। जहाँ सम्यग्ज्ञान का विवेक प्रगट हुआ वहाँ शान्ति आये बिना नहीं रहती, इसलिए ज्ञान अनाकुल है। इस प्रकार धीरे, उदात्त और अनाकुल विशेषणों से युक्त ज्ञान विलास करता है।

जीव और अजीव का ज्ञान होने पर अज्ञान छूट जाता है। जैसे कोई बहुरूपिया विविध स्वांग रखकर आता है उसे जो यथार्थ जान लेता है उसको वह नमस्कार करके अपना यथार्थ रूप प्रगट कर लेता है, इसी प्रकार यथार्थ ज्ञानी कर्म के विविध स्वांग को जान लेता है, इसलिए कर्म अपना स्पष्ट रूप प्रगट कर देते हैं। यह पर है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार भिन्नत्व का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि को होता है। मिथ्यादृष्टि ऐसी भिन्नता को नहीं जानता।

अब, जीव-अजीव का एक रूप वर्णन करते हैं:—

अप्पाण-मयाणंता मूढा दु परप्प-वादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।३९।।

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्व-मंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति।।४०।।

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभाग-मिच्छंति।
तिव्वत्तण-मंदत्तण-गुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।४१।।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीव-मिच्छंति।।४२।।

एवंविहा बहु-विहा पर-मप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठ-वादी णिच्छय-वादीहिं णिद्दिट्ठा।।४३।।

अर्थः—आत्मा को नहीं जानते हुये, पर को आत्मा कहनेवाले कोई मूढ़, मोही अज्ञानी तो अध्यवसान को और कोई कर्म को जीव कहते हैं। कोई अध्यवसानों में तीव्र-मन्द अनुभागगत को जीव मानते हैं, और कोई नोकर्म को जीव मानते हैं। कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं। कोई कर्म के अनुभाग को—'जो अनुभाग तीव्र मन्दपनेरूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है, वह जीव है' ऐसा मानते हैं कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुए को भी जीव मानते हैं, और कोई कर्म के संयोग से ही जीव मानते हैं। इस प्रकार तथा अन्य अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि-मिथ्यादृष्टि जीव पर को आत्मा कहते हैं; वे परमार्थवादी अर्थात् सत्यार्थवादी नहीं हैं, ऐसा निश्चय (सत्यार्थ) वादियों ने कहा है।

अब यहाँ जीव-अजीव का एकत्रित नाटक है।

आत्म पदार्थ क्या है, उसके गुण क्या हैं और उसकी अवस्था क्या है, इसे न जानते हुए पर के आश्रय से अपना गुण माननेवाले कोई मूढ़ आत्मा की ओर से असावधान अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि जो अध्यवसान है सो जीव है। कर्म के निमित्त के आधीन होने से जो भाव होता हे सो अध्यवसान कहलाता है। आत्मा मात्र ज्ञाता है, उसे भूलकर कर्म निमित्तक पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उसमें एकत्वबुद्धि से मानता है कि जो यह अध्यवसान है सो ही मैं हूँ। इस प्रकार कर्म निमित्ताधीन होने से जो अध्यवसान होता है, उसे आत्मा माननेवाले, और उस अध्यवसान को अपने लिये सहायक माननेवाले मूढ़-अज्ञानी है।

कोई कर्म को जीव मानते हैं, वे कहते हैं कि यदि कर्म करें तो भगवान के पास जा सकते हैं और इस प्रकार कर्म से गुण-लाभ मानते हैं किन्तु यह बात मिथ्या है। कर्म से भगवान के पास नहीं पहुँचते, किन्तु कर्म और आत्मा क्या है इसकी भिन्न प्रतीति करने पर

भगवान अर्थात् स्वयं अपने आत्म भगवान के पास पहुँचा जाता है। जब तक अपूर्ण है तब तक निमित्त आये बिना नहीं रहेंगे, किन्तु स्वयं न जागे तो निमित्त क्या लाभ कर सकते हैं ? पुण्य बन्ध से अनेक बार भगवान मिले किन्तु अपने आत्मभगवान की प्रतीति नहीं की इसलिए लाभ प्राप्त नहीं हुआ। जड़कर्म को आत्मा माननेवाले अर्थात् कर्म से लाभ माननेवाले, कर्म को आत्मा माननेवाले, कर्म में आत्मा माननेवाले और ऐसा माननेवाले कि कर्म मुझे मार्ग दे दें तो धर्म लाभ हो,—सब अज्ञानी मूढ़ हैं।

कोई तीव्र-मन्द पुण्य-पाप के भाव को जीव मानते हैं। शुभाशुभ भाव में से शुभभाव को अच्छा और अशुभभाव को बुरा मानते हैं, किन्तु शुभ-अशुभ और तीव्र-मन्द भाव सब परभाव हैं, पुण्य-पाप भाव के रस के परिवर्तन को आत्मा माननेवाले तथा उससे लाभ माननेवाले भी मूढ़ हैं।

कोई नोकर्म को अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानते हैं। और वे शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब एवं धन सम्पत्ति में ही सुख मानते हैं किन्तु वह वास्तव में सुख नहीं है। शरीर और आत्मा दोनों पृथक् पदार्थ हैं। पर पदार्थ आत्मा को सुख नहीं दे सकते। आत्मा का सुख आत्मा में है, वह बाहर से नहीं आता, किन्तु वह कल्पना मात्र है।

अज्ञानी मानते हैं कि—शरीर पुष्ट करने से आत्मा को लाभ होगा और शरीर के सुखाने से आत्मा को हानि होगी, इस प्रकार अपने को जड़ का रखवाला मानता है और समझता है कि उन्हें जैसा रखेंगे वैसे रहेंगे किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है शरीर के पुष्ट होने व सूखने से आत्मा को कोई लाभ-हानि त्रिकाल में और तीन लोक में नहीं हो सकती। पर पदार्थ से आत्मा को हानि-लाभ हो ही नहीं सकता। शरीर से आत्मा को हानि-लाभ माननेवाला शरीर और आत्मा के कार्यों को एक मानता है—किन्तु वह मिथ्या है, क्योंकि दोनों के कार्य एक नहीं किन्तु सर्वथा भिन्न हैं।

अज्ञानी मानता है कि माल टाल खाने से शरीर में शान्ति आती है और सशक्त होने से आत्मा को स्फूर्ति मिलती है। ऐसा माननेवाले को यह प्रतीति नहीं है कि आत्मा की शक्ति आत्मा पर ही अवलम्बित है, वह अज्ञानी तो शरीर और आत्मा को एक ही साथ ढकेल रहा है। उसे यह पता नहीं है कि आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति आत्मा में और जड़ की जड़ में है, किसी की शक्ति किसी में नहीं आती। शरीर को आत्मा माननेवाला मूढ़ है। शरीर

तो अनन्त रजकणों का पिण्ड है, वह रजकणों का पिण्ड आत्मा के साथ रहता है ऐसा माननेवाला यह नहीं समझता कि आत्मा ऐसे शरीर से रहित अशरीरी, चैतन्यमूर्ति तत्त्व है इसलिए वह मूढ़ है, अज्ञानी है।

कोई पुण्य-पाप के उदय को जीव मानता है, कोई साता-असातारूप होनेवाले कर्म के भेद को जीव मानता है, और कोई आत्मा तथा कर्म के मिलने को जीव मानता है।

कोई कर्म के संयोग को ही जीव मानता है किन्तु मेरा स्वभाव कर्म को लेकर नहीं और कर्म का स्वभाव मेरे कारण नहीं है। दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। कोई कहता है कि मस्तिष्क में विचार शक्ति है, इसलिए कर्म के संयोग से जीव है, यह सिद्ध होता है। किन्तु आत्मा को नहीं माननेवाले ही ऐसा मानते हैं। उन्हें यह तो विचार करना चाहिए कि जड़ के मस्तिष्क में विचार होते हैं, या विचारों के जाननेवाले के व्यापार में ? विचार ज्ञान की पर्याय है; इसलिए वह आत्मा में ही होती है; जड़ को लेकर ज्ञान का व्यापार नहीं होता, इसलिए ज्ञान का व्यापार आत्मा से होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म के संयोग से जीव नहीं है, किन्तु जीव स्वयं अपने आप ही स्वत: है।

अज्ञानी जीव आत्मा को किस प्रकार मानते हैं, सो यह आगे आठ बोल से कहा जायेगा। इस जगत में आत्मा के असाधारण लक्षण को न जानने के कारण नपुंसकत्व से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्विक-परमार्थभूत आत्मा को नहीं जाननेवाले अनेक अज्ञानीजन विविध प्रकार से पर को भी आत्मा कहते (बकते) हैं।

आत्मा का ज्ञान लक्षण असाधारण है, अर्थात् उसका किसी से साथ मेल नहीं खाता। ज्ञान लक्षण किसी जड़ में या पर में नहीं पाया जाता कुछ भाग आँख का, कुछ भाग अन्य अंगों का और कुछ भाग चैतन्य का लेकर जड़ के साथ सहयोग करके ज्ञान लक्षण नहीं बनता, किन्तु जड़ से भिन्न चैतन्य का ज्ञान लक्षण सुस्पष्ट है, उस चैतन्य का असाधारण लक्षण ज्ञान है। आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान उसका लक्षण है। यह उसका अविनाभावी लक्षण है, गुण और गुणी अलग अलग नहीं हो सकते। जैसे गुड़ और मिठास अभेद है, इसी प्रकार गुण और गुणी अभेद हैं। क्रोध विभाव है, और विभाव दु:ख है, और ज्ञानगुण-सुखरूप है, इसलिए क्रोधादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान लक्षण निर्दोष है। विभाव भी आत्मा का लक्षण नहीं है तो फिर शरीर-मन-वाणी इत्यादि आत्मा का लक्षण हो ही

कहाँ से सकता है ? इसलिए उन सबसे भिन्न आत्मा का ज्ञान लक्षण सर्वांगपूर्ण-निर्दोष है। ऐसे आत्मा के असाधारण लक्षण को न जानते हुए नपुंसकपन से अत्यन्त विमूढ़ हो रहे हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि तू भीतर से जागने का पुरुषार्थ न करे और पर को अपना मानकर उसमें सुख माने तो तू नपुंसक है पुरुषार्थहीन है। आचार्यदेव ने नुपंसक कहकर कुछ कठोर विशेषण का प्रयोग किया है, तथापि उनके इस कथन में करुणा विद्यमान है। जिसे धर्म की प्रतीति नहीं है और जिसे यह खबर नहीं है कि आत्महित क्या है, स्वतन्त्रता क्या है और आत्मबल क्या है, वह अपने ज्ञानस्वरूप को भूलकर पर को अपना मानकर, अपने आत्मवीर्य को न मानता हुआ नपुंसक हो रहा है।

मेरा आत्मबल पुण्य-पाप के विकार को क्षणभर में नष्ट करनेवाला और केवलज्ञान प्रगट करनेवाला है। ऐसे अपने स्वभाव को न जानता हुआ अत्यन्त विमूढ़ होता हुआ नपुसंक है।

आत्मा के स्वरूप को न जाने और अज्ञानी बना रहे तो उसके फलस्वरूप नपुंसक और निगोद में जाना होगा। उसे कोई भान नहीं है, इसलिए इन्द्रियों को हारकर एकेन्द्रिय में जायेगा, निगोद का फल प्राप्त करेगा। वहाँ मात्र नपुंसक वेद है, वहाँ से अनन्त काल में भी निकलना कठिन हो जाएगा। इसलिए यहाँ तत्त्व को पहिचानने का उपदेश है।

यह सबसे पहले जानना चाहिए कि आत्मा क्या है, और उसका लक्षण क्या है। शरीर का प्रत्येक रजकण आत्मा से भिन्न है और वह रूपी है। पुण्य-पाप की वृत्ति आत्मस्वभाव में नहीं है इसलिए उस अपेक्षा से वह रूपी है, और जड़ है। उन सबके बीच में आत्मा एक अरूपी चैतन्य पदार्थ है, उसका परिचय प्राप्त किये बिना एकाग्र कहाँ होगा ? पदार्थ का परिचय प्राप्त किये बिना पदार्थ में एकाग्रता नहीं होती; और एकाग्रता हुये बिना धर्म कहाँ से होगा ? हित कहाँ से होगा ? और सुख कहाँ से होगा ? यदि आत्मस्वभाव का परिचय करके, श्रद्धा करके उसमें स्थिर हो तो धर्म हो।

भीतर भगवान आत्मा कौन है, उसका असाधारण लक्षण जाने बिना तत्त्व की पहिचान नहीं हो सकती। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है इसका अर्थ यह नहीं है कि शास्त्र के पन्ने ज्ञान देते हैं, किन्तु ज्ञान अपने आत्मा के ज्ञानस्वभाव में से ही आता है। ज्ञान आत्मा का असाधारण लक्षण है, अर्थात् वह विभक्त नहीं है। थोड़ा ज्ञान गुरु से प्राप्त हो, थोड़ा

शास्त्र से प्राप्त हो और थोड़ा आत्मा से प्राप्त हो, इस प्रकार ज्ञानस्वभाव एकत्रित होता हो सो बात नहीं है। किन्तु आत्मा का ज्ञानस्वभाव अनादि-अनन्त स्वतः है; वह किसी पर से प्राप्त नहीं होता, उसे कोई पर दे नहीं देता, मैं मात्र अपने स्वतः ज्ञान के द्वारा ज्ञान में जानता हूँ। ज्ञान कहीं शरीरादि में, या आन्तरिक वृत्तियों में विभक्त नहीं है। हे प्रभु! यह शरीर, इसके अंग प्रत्यंग और प्रतिष्ठादि तू नहीं है। तू तो असाधारण ज्ञान गुणरूप है। असाधारण का अर्थ यह है कि वह आत्मा में ही है, अन्यत्र नहीं। जो आत्मा से अलग नहीं हो सकता वह असाधारण है। शरीरादि तथा रागादि आत्मा से अलग हो सकते इसलिए वे आत्मा का लक्षण नहीं हैं।

असाधारण आत्मस्वभाव को न जाननेवाले, उसकी श्रद्धा न करनेवाले, तथा उसमें स्थिर न होनेवाले नपुंसक हैं। पुण्य-पाप जो क्षणिक विकार हैं सो मैं नहीं हूँ। मैं तो नित्य चिदानन्द स्वभाव हूँ। जिसे यह खबर नहीं है, वह पर में आत्मबल को लगानेवाला बलहीन नपुंसक है—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

आत्मा का जो आन्तरिक अरूपी बल है, वह आत्मा में है, अर्थात् अपने में है। मेरा स्वरूप निर्विकार निर्दोष है—विकार रहित है; ऐसा न माननेवाले, पर पदार्थों को अपना मानते हैं, उनने आत्मवीर्य को नहीं पहिचाना-आत्मबल को नहीं जाना, क्योंकि वे शरीर और मन इत्यादि को अपना मानकर उसी में अटककर वीर्य हीन हो रहे हैं; उसमें आत्मा के अनन्त अरूपी बल को रोककर वीर्य हीन हो गये हैं, आत्मा पर से भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है, पुण्य-पाप आत्मा नहीं है; आत्मा का सुख आत्मा में है। किन्तु आत्मा का हित क्या है? आत्मा का सुख क्या है? और आत्मा की स्वतन्त्रता क्या है? इसे न जाननेवाले नपुंसक हैं।

आचार्यदेव करुणा करके कहते हैं कि तू अनादि अनन्त है, और तेरे गुण भी अविनाशी हैं। तू भीतर अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, निर्दोष वीतराग स्वरूप है, और क्षणभर में केवलज्ञान तथा परमात्मा दशा प्रगट कर सके ऐसा है; उसे भूलकर तू इन पर पदार्थों में यहाँ रुक गया है? यह सदोषरूप तेरा स्वरूप नहीं है, उसमें वीर्य हीन होकर क्यों अटक रहा है? तू अपने स्वरूप की प्रतीति कर।

बहुत से विमूढ़ जीव परमार्थभूत आत्मा को न पहिचाननेवाले, तत्त्वदृष्टि को न समझनेवाले नपुंसक होते हैं, अर्थात् वे निगोद में जाते हैं। वे वर्तमान तत्त्वदृष्टि को नहीं

समझते इसलिए नपुंसक हैं, और भविष्य में भी नपुंसक होंगे। वे आलू, सकरकन्द इत्यादि निगोद में जाएँगे। स्मरण रहे कि आलू सकरकन्द इत्यादि में भी आत्मा है—चैतन्य है, उसे निगोदिया जीव कहते हैं, जो कि मात्र नपुंसक ही होते हैं।

देवों में स्त्री और पुरुष दोनों होते हैं, नपुंसक नहीं होते। नरक में मात्र नपुंसक ही होते हैं। जो जीव मनुष्यभव प्राप्त करके महा हिंसा करते हैं, गर्भपात करते हैं, मदिरा मांस का सेवन करते हैं, और कोडलिवर तेल इत्यादि पीते हैं, वे सब यहाँ से मरकर नरक में जाते हैं, और जो तत्त्वदृष्टि के प्रति विरोध भाव करते हैं, वे निगोद में जाते हैं। मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मस्वभाव को पहिचान और आत्मदशा का साधन करे तो वह मोक्ष में जाता है। निगोद का काल अनन्त है। त्रस का काल दो हजार सागर ही है। आत्मतत्त्व पर से निराला है, उसे नहीं जाना और आत्मस्वभाव से विरोध भाव किया सो वह निगोद में जाता है। बीच में दो हजार सागर ही त्रस में रह सकता है, इस प्रकार त्रस का काल अल्प है। एक तो मोक्ष अवस्था दूसरी निगोद अवस्था—दोनों परस्पर एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। मोक्षदशा सादि अनन्त है और निगोद में से अनन्तानन्त काल में निकलना कठिन होता है, इसलिए यदि तत्त्वपरिचय न किया तो निगोद में से निकलकर अनन्त काल में भी लट आदि दो इन्द्रिय का भव पाना भी कठिन हो जाएगा। यदि तत्त्व को समझ ले तो मोक्ष और तत्त्व को न समझे तो निगोद है। बीच में से त्रस का काल निकाल दिया जाए तो सीधा निगोद ही है और तत्त्व को समझने के बाद जो एक दो भव होते हैं, उन्हें निकाल दिया जाये तो सीधा सिद्ध ही है।

नरक की अपेक्षा निगोद में अनन्त गुणा दु:ख है। बाह्य संयोग दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु ज्ञान की मूढ़ता ही दु:ख है। अग्नि में झुलस जाना दु:ख नहीं है किन्तु यह प्रतिकूलता मुझे होती है। इस प्रकार मोह करना सो दु:ख है। इस प्रकार अनुकूलता में बाह्य सुविधाओं के साधन मिलने से सुख नहीं होता, किन्तु उसमें से मुझे सुख होता है, इस प्रकार मोह से कल्पना करता है, किन्तु वह सुख नहीं दु:ख ही है।

बहुत बड़ा सम्पत्तिशाली हो, सभी प्रकार की बाह्य सुविधाएँ हो और सिर पर पंखा घूम रहा हो, उसमें सुख मान रहा है, मानों सारा सुख इसी वैभव में आ गया हो। किन्तु भाई जैसे पंखे में चार पाँखें होती है, उसी प्रकार चार गतियों की चार पाँखोंवाला पंखा तेरे सिर

पर घूम रहा है; इसलिए उसमें सुख मानना छोड़ दे और अपने आत्मा की पहिचान कर, अन्यथा सीधा निगोद में जायेगा कि जहाँ से फिर तेरा ठिकाना लगना कठिन हो जायेगा।

आचार्यदेव ने यहाँ कहा है कि बहुत से अज्ञानीजन पर को आत्मा मानते हैं, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि जगत के सभी जीव ऐसा मानते हैं, इसका कारण यह है कि जगत में आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले जीव भी हैं; इसलिए सभी को अज्ञानी जन नहीं कहा है, किन्तु बहुत से अज्ञानी जन का शब्द प्रयोग किया है। जगत में बहुभाग अज्ञानी जीव आत्मा को न जाननेवाले होते हैं, वे जीव आत्मा की स्वतन्त्रता को भूलकर परतन्त्र में रुके हुए हैं। वे पर और आत्मा को भिन्न न समझने से पर को ही आत्मा कहते हैं और बकते हैं। जैसे सन्निपात से आविष्ट मानव कोई भान न होने से यद्वा तद्वा बकता है, इसी प्रकार आत्मस्वभाव के भान के बिना अज्ञानी जीव पर को अपना मानकर यद्वा-तद्वा बकते हैं। भानवगर का है, इसलिए बकता है, ऐसा आचार्यदेव ने कहा है।

अज्ञानी जीव पर को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु मैं पर से भिन्न, शुद्ध स्वरूप अनादि-अनन्त, स्वत: स्वभावी आत्मा हूँ, ऐसा स्वीकार नहीं करते आत्मा के वास्तविक स्वरूप को माने बिना, जब तक अपना अस्तित्व न जाना जाये तब तक अन्यत्र अपना अस्तित्व माने बिना नहीं रहते।

पर से पृथक् करनेरूप ज्ञान, प्रतीति और अन्तरंग में स्थिर होने का चारित्र स्वरूप जब तक ज्ञात न हो तब तक कहीं न कहीं तो अपने अस्तित्व को मानेगा ही। उस ज्ञान-दर्शन और चारित्र को स्वाश्रय कहो, सुख कहो, हित कहो या अलग होने का मार्ग कहो; ऐसे मार्ग को जाने बिना पर को अपने रूप में तो मानेगा ही।

कोई तो यह कहते हैं कि—स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुआ राग-द्वेष के द्वारा जो मलिन अध्यवसान है सो वही जीव है।

जब व्यापार में लाभ होता है तब प्रसन्न हो जाता है, और जब हानि हो जाती है तब दु:खी होता है; यह सब अन्तरंग में होनेवाला राग-द्वेष का विकारी भाव है, उसी को कुछ लोग जीव मानते हैं वे अपना पृथक् स्वत: आत्मा नहीं पहिचानते इसलिए क्षणिक विकारी पर्याय को आत्मा मानते हैं। आत्मा निर्विकार चैतन्यज्योति है, उसे नहीं माना और क्षणिक विकारी काम-क्रोध को अपना माना सो भ्रान्ति है, विपरीत अभिप्राय है, विपरीत अभिप्राय

अर्थात् उल्टा आशय है अर्थात् चौरासी के अवतार का कारण है। जो विपरीत है सो मिथ्या है।

अज्ञानी तर्क करता है कि जैसे कालेपन से भिन्न अन्य कोई कोयला दिखाई नहीं देता उसी प्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा देखने में नहीं आता। वह कहता है कि कोयला कहीं कालेपन से अलग होता है ? कोयला और कालापना एक ही होता है। कर्म और आत्मा की एकत्वबुद्धि के अभिप्राय से अज्ञानी कहता है कि जैसे कोयला और कालापन भिन्न नहीं है, इसी प्रकार मैं राग करनेवाला हूँ और राग-द्वेष मेरा गुण है, इस प्रकार हम गुण और गुणी दोनों एक हैं। पर पदार्थ के अवलम्बन से जो विपरीत भाव होता है सो गुण है और मैं गुणी हूँ, इस प्रकार हम गुण-गुणी दोनों एक हैं। जैसे गुड़ पदार्थ गुणी है और उसकी मिठास गुण है। जैसे गुण-गुणी दोनों एक हैं उसी प्रकार अध्यवसान और आत्मा एक है।

राग-द्वेष को दूर करने का मेरा स्वभाव है, उसे दूर करने का आत्मा में बल है, और आत्मा में वीतराग स्वभाव भरा हुआ है, उसका श्रद्धा ज्ञान करना कुछ जमता नहीं है, हम तो विकार को ही आत्मा मानते हैं ऐसा अज्ञानी कहता है।

राग-द्वेष विकार और दोष है, आत्मा निर्विकल्प विज्ञानघन स्वरूप है। तब क्या निर्दोष आत्मा का स्वभाव दोष स्वभाव हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेषरूप मलिन परिणाम-आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अज्ञानी जीव राग-द्वेष को अपना स्वभाव मानता है, इसलिए राग-द्वेष में लीन होकर जिसके साथ नहीं बनता उस पर क्रोध करके कहता है कि इस गाँव से तेरी जड़ें उखाड़ कर फेंक दूँगा, तुझे इस गाँव में नहीं रहने दूँगा ? किन्तु भाई ! किसी का बिगाड़ करना या सुधार करना तेरे हाथ की बात नहीं है, हारना-जीतना पूर्वकृत पाप-पुण्य के अनुसार होता है, राजाओं में जो लड़ाई होती है, उसमें वे जीतते हैं या हारते हैं सो यह पूर्व कृत पुण्य-पाप के योगानुसार होता है; वर्तमान प्रयत्न से जीतना-हारना नहीं होता, किन्तु आत्मधर्म को प्रगट करना आत्मा के वर्तमान प्रयत्न के हाथ की बात है।

अज्ञानी कहता है कि राग-द्वेष रूप मलिन परिणाम ही आत्मा है। मलिन भाव से भिन्न आत्मा दिखाई नहीं देता, जैसे कालेपन से भिन्न कोई कोयला दिखाई नहीं देता।

पुस्तक, दवात, कलम इत्यादि में राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि जिसमें ज्ञानगुण, शान्तगुण, निर्मल गुण नहीं है, उसमें विकार भी कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि जिसमें गुण होता है उसी में उससे विपरीत रूप अवगुण होता है। गुण का विपर्यास ही तो अवगुण है राग-द्वेष आत्मा के गुण की विपरीतता है। जिसमें शान्त गुण, क्षमा गुण, ज्ञान गुण न हो, उसमें राग-द्वेष और क्रोधरूप विपरीतता भी नहीं होती, इसलिए अवगुण आत्मा की पर्याय में होते हैं किन्तु वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वह गुण की विपरीतता है, इसलिए जो अवगुण हैं सो आत्मा नहीं है किन्तु आत्मा, अवगुण से अलग है। उस अवगुणरूप विपरीतता से भव का अभाव नहीं हो सकता और मुक्ति नहीं मिल सकती।

कोई अज्ञानी कहता है कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है, और अनन्त भविष्य का अवयव है, ऐसी जो एक संसरणरूप (भ्रमणारूप) क्रिया है, सो उसरूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता, इसलिए कर्म ही जीव है।

जैसे राग-द्वेष के भाव किये हों उसी प्रकार कौआ, कुत्ता, बिल्ली इत्यादि के भव मिलते हैं, इसका कारण पूर्व अवयव अर्थात् पूर्वकृत कर्म का फल है। अज्ञानी को कर्म से भिन्न आत्मा नहीं जमता। उसकी समझ में कर्म से भिन्न अक्रिय ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह नहीं बैठता; किन्तु आत्मा से भिन्न जो कर्म है सो वही अज्ञानी को दिखायी देता है।

एक अभिप्राय ऐसा है कि जो पूर्व अवयव अर्थात् अनादि काल के कर्म बाँधे हैं वे अब कैसे छूट सकते हैं ? किन्तु भाई ! वे कर्म तेरी भूल के कारण बँधे हैं तेरी भूल को लेकर ही तू परिभ्रमण कर रहा है, यह चौरासी का चक्कर भी तेरी भूल के कारण लग रहा है, इसलिए तू अपनी भूल को दूर कर तो कर्म छूट जाएँगे। परिभ्रमण करने में कर्म तो निमित्तमात्र हैं। तूने अपनी अनादिकालीन भूल को नहीं छोड़ा इसलिए तुझे परिभ्रमण करना पड़ रहा है; किन्तु जिसे अपनी भूल की खबर नहीं है वह यह मानता है कि—यह कर्म ही मुझे परिभ्रमण करा रहे हैं और कर्म ही पराधीनता में डाले हुए हैं।

जैसे एक मनुष्य किसी धर्मशाला में गया और वहाँ अँधेरे कमरे में चला गया, कमरे के मध्य में पत्थर का एक खम्भा था, उसे देखकर वह समझा कि यह कोई मनुष्य है-चोर है; वह उसे पकड़ गया और उस मनुष्यरूप माने हुए पत्थर से लिपट-छिपड़ करने लगा

थोड़ी ही देर में वह पत्थर उस मनुष्य पर आ गिरा, फिर क्या था ? वह मनुष्य नीचे और पत्थर उसकी छाती पर ? तब वह मनुष्य बोला कि भाई ! तू जीता और मैं हारा, अब तो उठ और मुझे छोड़ ? किन्तु वहाँ कौन उठता और छोड़ता ? उस मूर्ख ने तो पत्थर को आदमी मान रखा था और पत्थर को स्वयं ही पकड़ रखा था। इसी प्रकार स्वयं कर्मरूपी पत्थर को पकड़ बैठा है, और कहता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। वह अज्ञानी जीव कर्मों से कहता है कि अब तुम मेरा पिण्ड छोड़ो, किन्तु वह यह नहीं समझता कि स्वयं ही कर्मों को लपेटे हुए हैं, यदि वह उनसे अलग होना चाहे तो कर्म तो अलग हुए ही पड़े हैं। हे अज्ञानी जीव ! तू अपनी विपरीत मान्यता को छोड़ ! कर्म तुझे बाधा नहीं दे सकते, क्योंकि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को त्रिकाल में भी बाधा देने को समर्थ नहीं है।

अब भविष्य के अवयव की बात कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मुझे कर्म कब तक चक्कर खिलायेंगे किन्तु ऐसा कहनेवाले पुरुषार्थहीन नपुंसक हैं। कर्म तुझे दु:खी करेंगे अथवा कर्मों ने मुझे परेशान कर डाला। इस प्रकार तू क्या कह रहा है ? कुछ विचार तो सही ! क्या जड़ कर्म तुझे हैरान कर सकते हैं ? क्या तेरी सत्ता में पर सत्ता कभी प्रवेश कर सकती है कि जो तुझे हैरान करे या दु:खी कर सके। जैसे कोई महिला अपने लड़के से कहकर बाहर जाए कि घर को देखना मैं अभी आती हूँ। उधर माँ के जाने पर लड़का खेलने में लग गया और बिल्ली दूध पी गयी। जब माँ आकर देखती है तो लड़के से नाराज होती है और कहती है कि तू घर में मरता था कि नहीं ? इस प्रकार माता के कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि तू घर में मर गया या नहीं किन्तु वह यह व्यक्त करना चाहती है कि तू घर में था या नहीं। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि अकेले कर्म ही हैं या तेरा भी कोई अस्तित्व है ? तू कहाँ चला गया ? तुझमें कुछ दम है या नहीं ? वहाँ तू है या मात्र कर्म ही हैं ? तू विपरीतता से अलग हो जा, कि कर्म अलग ही हुए पड़े हैं। इस शरीर के कारणभूत जो कर्म के रजकण थे उनके हटने पर यह शरीर भी हट जाता है। जो अलग होने योग्य होता है वह सब अलग हो जाता है। मात्र चिदानन्द ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसके अतिरिक्त शरीरादिक तथा क्रोधादिक सब पर पदार्थ हटने योग्य हैं, वे हट जाते हैं।

शरीर में जो रोग होता है सो किसी कर्म का कार्य है, और जब रोग हट जाता है, तब उसका कारणभूत कर्म भी हट चुका होता है। स्वयं राग-द्वेष-काम-क्रोध न करे तो उसका कर्म भी हट जाता है, और मात्र अलग आत्मा रह जाता है।

कर्म का नाम शास्त्र में से सुना और कहने लगा कि कर्मों के कारण गति मिलती है, और जैसी गति होती है, वैसी मति होती है इत्यादि। किन्तु ऐसी उल्टी बात न कहकर यह कहना चाहिए कि जैसी मति होती है वैसी गति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमें इन अवतारों से अलग नहीं होना है, हम तो यह चाहते हैं कि अच्छे अवतार मिला करें और भव धारण करते रहें। कुछ लोग यह चाहते हैं कि हमें तो निरन्तर मनुष्य भव मिलता रहे और हमारी सोने-चाँदी की दुकानें चलती रहें, बस हमें फिर मुक्ति नहीं चाहिए। किन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि उन्हें मुक्ति तो मिल ही नहीं सकती किन्तु निरन्तर मनुष्यभव धारण करते रहने के योग्य पुण्य बन्ध भी निरन्तर नहीं हो सकता। क्योंकि जब आत्म-प्रतीति नहीं करेगा तो पुण्यभाव के बाद पापभाव का आना अवश्यम्भावी है।

अज्ञानी जीव दया और दान के उच्च शुभभाव करे तो उससे उसे उत्कृष्ट पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर की स्थितिवाला पुण्य बन्ध हो, किन्तु शुभ परिणाम विकार है और विकार मेरा स्वभाव नहीं है। विकार को नाश करने की मेरी शक्ति है जिसे यह खबर नहीं है, उस अज्ञानी के पुण्य की बड़ी स्थिति बँधती है, किन्तु ज्ञानी के पुण्य की बड़ी स्थिति नहीं बँधती, क्योंकि उसकी दृष्टि पुण्य पर नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव पर है। उसने विकार को अपना स्वभाव नहीं माना इसलिए उसे पुण्य का रस अधिक और स्थिति कम पड़ती है, वह उत्कृष्ट स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर की बाँधता है; किन्तु अज्ञानी पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति बाँधता है, किन्तु पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम का पुण्य भोगने का इस जगत में कोई स्थान है ही नहीं, क्योंकि यदि त्रस में गया तो वहाँ दो हजार सागर से अधिक की स्थिति नहीं है। अज्ञानी की दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिए शुभभाव को बदलकर अशुभ में जाकर पुण्य की लम्बी स्थिति तोड़कर निगोद में चला जाएगा।

जिसकी दृष्टि पुण्य पर है, जो पुण्य से धर्म मानता है, और जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा पुण्य-पाप का नाशक है, वह पाप करके पुण्य की स्थिति तोड़कर निगोद में चला जाएगा। ज्ञानी की दृष्टि शुद्ध पर पड़ी है, इसलिए वह पुण्य की बाँधी हुई स्थिति को तोड़कर शुद्ध में चला जाएगा, शुभपरिणाम को तोड़कर शुद्ध में चला जाएगा, और अज्ञानी शुभ परिणाम को तोड़कर अशुभ में चला जाएगा।

सर्वज्ञ भगवान ने जैसा देखा है वैसा कहा है। सर्वज्ञ भगवान किसी के कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता हैं। इस समय वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमन्धर भगवान विराजमान हैं वे जगत के ज्ञाता हैं कर्ता नहीं। उन सर्वज्ञ भगवंतों ने अज्ञानियों के अभिप्रायों को जैसा जाना है, वैसा ही कहा है।

अज्ञानी मनुष्य बालतप, अज्ञान कष्ट करता है, उससे कदाचित् पुण्य बाँध ले किन्तु उसकी दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिए शुभ को बदलकर अशुभ हो जाएगा। क्योंकि पुण्य परिणाम करते समय ऐसा विपरीत अभिप्राय था कि जो पुण्य है सो मैं हूँ, इसलिए पुण्य के साथ ही दर्शन मोह का भी बन्ध हुआ था। विपरीत मान्यता के बल से पुण्य की स्थिति को तोड़कर अशुभभाव करके नरक निगोद में चला जाएगा।

ज्ञानी समझता है कि मैं इस राग-द्वेष का उत्पादक नहीं हूँ। अल्प शुभराग होता है किन्तु मैं उसका उत्पादक नहीं हूँ, मैं तो अपने स्वभाव का उत्पादक हूँ। इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि शुद्ध पर होती है, इसलिए वह पुण्य की स्थिति को तोड़कर शुद्ध में चला जाएगा।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव कर्म को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें यह खबर नहीं है कि कर्मों का नाश करके वीतरागता प्रगट करनेवाले हम ही हैं, वे जीव संसार में ही परिभ्रमण करते रहेंगे।

श्रेणिक राजा जैसे एकावतारी हुए हैं सो वह सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का प्रताप है, आत्मा का निर्मलस्वभाव पर से भिन्न है ऐसी प्रतीति करके और उस प्रतीति के बल से एकावतारी हो गये हैं। श्रेणिक राजा के भव में उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया है। अभी वह प्रथम नरक में हैं, वहाँ से निकलकर वह तीर्थंकर होंगे। जैसे यहाँ भगवान महावीर थे उसी प्रकार वे आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होंगे।

आत्मा और दूसरे जड़ पदार्थ के स्वांग को यदि अपना माने तो उससे भिन्न श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र का पुरुषार्थ नहीं किया जा सकेगा। आत्मा का हितरूप और सुखरूप स्वभाव अनादि काल से विद्यमान है, उस पर जो कर्म का वेष चढ़ा हुआ है, उसे जब तक पृथक् जानने और मानने में न आये तब तक उसे अलग करने का अन्तरंग पुरुषार्थ नहीं हो सकता। ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा जिस स्थान पर है, उसी स्थान पर अन्य कर्म की उपाधिरूप विकार दिखायी देता है, उसे अपना मानने से भी पृथक्त्व का पुरुषार्थ नहीं

किया जा सकता। चैतन्य सत्ता कर्म और कर्म के विकार से भिन्न है, ऐसा सुनने समझने और मनन करने का पुरुषार्थ जिसके नहीं है, वह कहीं न कहीं अपने अस्तित्व को स्वीकार तो करेगा ही, इसलिए शुभाशुभभाव को अपना मानकर वहीं अड़ जाता है।

कोई अज्ञानी यह कहता है कि कोयला, कालेपन से अलग कोई वस्तु नहीं है, इसी प्रकार राग-द्वेषरूप अध्यवसान और जीव अलग नहीं हैं। अध्यवसान अर्थात् कर्म और आत्मा का एकत्व बुद्धिरूप अभिप्राय। अज्ञानी कहता है कि हम तो विकारी भाव में ही बने रहेंगे उससे अलग कोई जीव हमें दिखायी ही नहीं देता।

और अज्ञानी कहता है कि हमने कभी भी आत्मा की निर्मलता अलग नहीं देखी है, इसलिए हम तो कर्म को ही आत्मा मानते हैं। अनादि संसार में परिभ्रमण करनेरूप जो क्रिया और उस रूप से क्रीड़ा करता हुआ जो कर्म है, वही हमारे मन से आत्मा है। इस प्रकार वह कर्म के आधार से ही आत्मा को मानता है। कई लोग यह कहते हैं कि कर्मों के बल हो तो हमारा बल कैसे चल सकता है ? वे सब कर्म और आत्मा को एक ही मानते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है, और कर्म की शक्ति पर विश्वास है, इसलिए वे कर्म को ही आत्मा मानते हैं।

कोई अज्ञानी कहता है कि तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होनेवाले दुरन्त (जिसका अन्त दूर है ऐसे) रागरूप रस से परिपूर्ण अध्यवसानों की सन्तति (परिपाटी) ही जीव है, उससे अन्य कोई जीव दिखायी नहीं देता।

कुछ लोग कहते हैं कि आप भले ही आत्मा-आत्मा की रट लगाते रहें किन्तु हम तो कभी तीव्र राग और कभी मन्द राग की चलनेवाली परम्परा के अतिरिक्त किसी अन्य आत्मा को देखते ही नहीं हैं। हमें तो कपट और लोभ के तीव्र और मन्द प्रवाह का अन्त करना अति कठिन और अति दूर मालूम होता है; इसलिए आप जैसे आत्मा का वर्णन करते हैं, वह हमारी बुद्धि में नहीं बैठता। अज्ञानी को राग का अनुभव है, किन्तु उससे परे आत्मा के स्वाश्रय तत्त्व की उसे खबर नहीं है, इसलिए उसके चौरासी के भ्रमण की परम्परा चल रही है। यहाँ पहले अध्यवसान और फिर कर्म तथा उसके बाद अध्यवसान की सन्तति पर भार दिया गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि पुण्य करते-करते धर्म होता है अर्थात् राग करते-करते धर्म

होता है, किन्तु राग को तोड़कर राग से परे जो धर्म होता है, वह बात उसको नहीं बैठती।

आचार्यदेव कहते हैं कि एक तो यह मनुष्य देह मिलना ही दुर्लभ है, और फिर उसमें ऐसी यथार्थ बात कान में पड़ना और भी कठिन है। यदि यह ज्ञात न हो कि मैं स्वाश्रयी तत्त्व क्या हूँ और मेरा शरणभूत कौन है तथा सत्य को श्रवण करने की रुचि भी न हो, तो फिर कहाँ से जाकर उसका उद्धार होगा? स्वयं अपूर्व तत्त्व को न समझे तो समझानेवाले भी वैसे ही मिल जाते हैं। जबकि अपना उपादान ही वैसा होता है वैसा ही निमित्त भी मिल जाता है।

अज्ञानी कहता है कि मन्द-तीव्र राग से पार पहुँचने की बात हमें नहीं बैठती। तीव्र राग और मन्दराग की सन्तति अर्थात् एक के बाद एक प्रवाह चलता रहता है। एक समय आहार संज्ञा होती है तो दूसरे समय मैथुन संज्ञा होती है और फिर तीसरे समय भक्ति-पूजा के परिणाम हो जाते हैं; इस प्रकार एक के बाद एक सन्तति चलती रहती है, किन्तु अज्ञानी के मन में यह बात नहीं जमती कि—इस सन्तति को तोड़कर आत्मा का निर्मल चैतन्यस्वभाव प्रगट किया जा सकता है। अज्ञानी मानता है कि सन्तति को तोड़ा ही नहीं जा सकता। वह यह नहीं समझ पाता कि सन्तति को तोड़नेवाला मैं उससे भिन्न, नित्य, ध्रुव आत्मा हूँ।

अज्ञानी को यह स्थूल शरीर तो दिखायी देता है, किन्तु भीतर होनेवाले सूक्ष्म राग-द्वेष दिखायी नहीं देते, और वे राग-द्वेष आत्मा को बाधा पहुंचाते हैं यह नहीं देखता, इसलिए राग-द्वेष को ही आत्मा मानता है, यदि कोई उससे पूछे कि क्या तुझे कोई भीतर बाधा देते हैं? तो साफ इंकार कर देता है कि नहीं, कोई बाधा नहीं देता। इसका कारण यह है कि उसे जो तीव्र और मन्द राग बाधा दे रहे हैं, वे दिखायी नहीं देते। यदि कोई मार दे, काट दे तो वह दिखायी देता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं ज्ञानघन आत्मा सूक्ष्म राग-द्वेष से भिन्न हूँ, इसलिए उसे वे राग-द्वेष बाधक मालूम नहीं होते।

कोई अज्ञानी कहता है कि नवीन और पुरानी अवस्थादिभाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीर से अन्य कोई भिन्न जीव दिखायी नहीं देता।

अज्ञानी कहता है कि हमारी हिलने-डुलने और चलने-फिरने आदि की अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई पृथक् आत्मा हमें भासित नहीं होता। नई पुरानी अवस्थादि के भाव से प्रवर्तमान, अर्थात् बाल, युवक और वृद्धावस्था रूप से परिणमित होता हुआ नोकर्म ही

जीव है, इससे अतिरिक्त अन्य कोई जीव हमारे देखने में नहीं आता।

शरीर और वाणी की हलन-चलन और बोलने की जो अवस्था होती है उस समय इनकी अवस्था अलग हो और मेरी अवस्था अलग हो ऐसा हमें भासित नहीं होता। बालक होना, युवक होना और वृद्ध होना, इस प्रकार नई-पुरानी अवस्था और हलन-चलन तथा बोलने इत्यादि की सारी अवस्था उसके भाव से होती है, किन्तु अज्ञानी को यह भासित नहीं होता कि इसकी अवस्था और मेरी अवस्था अलग-अलग है। शरीर की अवस्था अपने आप ही परिणमित होती है, यदि ऐसा न हो तो किसी को बुखार चढ़ाने की इच्छा नहीं होती तथापि बुखार आ जाता है, शरीर में कम्पवायु हो ऐसा कोई नहीं चाहता, फिर भी कम्पवायु हो जाती है, शरीर को बहुत अच्छा रखने की इच्छा होने पर भी सूखकर लकड़ी हो जाता है; इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर की समस्त अवस्थाएँ अपने आप ही परिणमित होती हैं, इसमें आत्मा का कोई हाथ नहीं है।

अज्ञानी कहते हैं कि शरीर की होनेवाली समस्त अवस्थाओं से आत्मा, आत्मा के गुण, और अवस्थाएँ तीनों भिन्न हैं, ऐसा हमें भासित नहीं होता, इसलिए हम मानते हैं कि शरीर और आत्मा एक है।

जो यह मानते हैं कि शरीर की अवस्थाओं को हम कर सकते हैं या वे हमारे ही आधीन हैं, वे सब शरीर को ही आत्मा मानते हैं।

शरीर तो माता के पेट में बनता है, और फिर बाहर आकर खान-पान करने से क्रमशः बढ़ता है और फिर जब उसकी स्थिति पूरी हो जाती है, तब छूट जाता है, तथा आत्मा दूसरी गति में जाकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मा सतत, नित्य, भिन्न है और शरीर भी सर्वथा भिन्न है, तथापि ऐसे भिन्न स्वभाव को न मानकर अज्ञानी जीव मूढ़ होता हुआ शरीर को ही आत्मा मानता है।

कोई अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि समस्त लोक को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभ भाव से पृथक् अन्य कोई जीव दिखायी नहीं देता।

अज्ञानी कहते हैं कि—यह बात तो हमारी समझ में आती है कि पुण्य-पाप के रस को हम करते हैं, किन्तु उससे भिन्न आत्मा का जो शान्तरस है, उसे आत्मा कर सकता है,

यह बात हमारी समझ में नहीं आती। शुभाशुभ का जो विपाक भीतर उदय में आता है, यहाँ उसके कर्तृत्व का आशय लिया गया है। अज्ञानी कहता है कि ऐसे शुभाशुभ विपाक से भिन्न आत्मा का गुण मानना और उस गुण की अवस्था भी शुभाशुभविपाक से भिन्न प्रगट करना सो यह बात हमें नहीं जमती। किन्तु पुण्य-पाप आत्मा का स्वभाव नहीं है और आत्मा उन भावों का कर्ता भी नहीं है, परंतु स्थिरबिम्बस्वरूप आत्मा के शान्तरस का आत्मा कर्ता है। अज्ञानी को यह बात नहीं जमती।

जगत को यदि उसके अनुकूल कहनेवाले, चापलूस लोग मिल जाएँ तो उनकी बात जम जाती है। आज पैसेवालों की हाँ में हाँ मिलानेवाले बहुत से लोग पाये जाते हैं। यदि कोई अच्छी रकम कमा लेता है, और कोई दो-चार हजार मासिक वेतन पाने लगता है तो वह उसकी वर्तमान चतुराई या बुद्धि का फल नहीं है, किन्तु पूर्वकृत पुण्य का उदय है। वर्तमान में अनेक काले कृत्य करनेवाले भी अच्छी सम्पत्ति प्राप्त कर रहे हैं, और बड़ी-बड़ी पदवियाँ भी पा लेते हैं, किन्तु यह सब पूर्वकृत पुण्य का परिणाम है। अभी जो कुकृत्य कर रहे हैं सो उसका फल आगामी भव में बुरा मिलेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! यदि ऐसे सुअवसर में भी धर्म नहीं करोगे तो कब करोगे? तुझे अपनी तो खबर है नहीं और पर के द्वारा अपना हित और धर्म करना चाहता है, सो यह कैसे होगा? यह तो अपने आत्मबल को हीन करने की, उसे नपुंसक बनाने की बात है। संसार के तथाकथित सयाने और समझदार लोग भी आत्मा को बलहीन करने की बातें करते हैं। उसको आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा क्या है समझो, और धर्म क्या है तथा हित क्या है सो उसे अज्ञानी कहता है कि—कर्ताभाव से शुभाशुभ भाव का जो रस उदय में आता है, उसमें युक्त होना सो आत्मा है, उससे भिन्न गुणों को प्रगट करने की बात हमें नहीं जमती। इसमें कर्तृत्व की बात ली गयी है।

कोई कहता है कि साता-असाता रूप से व्याप्त जो समस्त तीव्र-मन्दतारूप गुण हैं उनके द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है, क्योंकि सुख-दुःख से अन्य पृथक् कोई जीव देखने में नहीं आता।

अज्ञानी कहता है कि हमारी बुद्धि में यह बात ही नहीं जमती कि आत्मा को पुण्य-पाप के फल के अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव होता है, अथवा अन्य कुछ निर्विकल्प सुख

भोगना होता है। और वह (अज्ञानी) कहता है कि जब एक ओर सुख भोगते हैं तब दूसरी ओर कभी दुःख भी भोगते हैं; किन्तु इसके अतिरिक्त कोई तीसरी वस्तु हो ही नहीं सकती। आत्म-प्रतीति होकर आत्मा का स्वाद आये और आत्मा के आनन्द का भोग करते हुए अनुभव का रस मिले यह बात भी नहीं जमती। हाँ, यह बात अवश्य जमती है कि अनुकूलता का सुख और प्रतिकूलता का दुःख—दोनों भोगना पड़ते हैं। जो सुख भोगता है, उसे दुःख भी भोगना पड़ता है; किन्तु आपकी यह विचित्र बात कुछ जँचती नहीं है कि साता-असाता के रस को नाश करके चैतन्य कोई अलग तत्त्व है। ऐसे अज्ञानी से ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि—कितने ही जीव पुण्य-पाप के फल के अतिरिक्त आत्मसंवेदन का स्वाद लेते हैं, इसलिये आत्मा के स्वभाव का उपभोग हो सकता है। किन्तु जिसे आत्मा के सुख का विश्वास नहीं जमता और जो यह कहता है कि—जो सुख भोगता है वह दुःख भी भोगता है, वह मूढ़-अज्ञानी है। उसे विकार की रुचि है, किन्तु आत्मा के सुख की रुचि नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि श्रीखण्ड की भाँति उदयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म—दोनों का संयोग ही जीव है क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से मुक्त कोई जीव दिखायी नहीं देता।

कोई कहता है कि श्रीखण्ड की भाँति आत्मा और कर्म दोनों एक होकर काम करते हैं। आत्मा का गुण प्रगट होता है, उसमें कुछ तो आत्मा का और कुछ कर्म का गुण मिला हुआ होता है।

जगत में कुछ लोग कहते हैं कि आप आत्मा ही आत्मा की बात करते हैं सो ठीक, किन्तु क्या यह सच नहीं है कि—अधिकांश भाग आत्मा का और कुछ भाग कर्म का होता है? ज्ञानी कहते हैं कि नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। कर्म का शत-प्रतिशत भाग कर्म में और आत्मा का शत-प्रतिशत भाग आत्मा में है; आत्मा का कर्म में और कर्म का आत्मा में किंचित् मात्र भी भाग नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि केवलज्ञान को प्रगट करने में मानव-शरीर और उसमें भी हड्डियों की सुदृढ़ता (वज्रवृषभनाराच संहनन) आवश्यक है। किन्तु ऐसा कहनेवाले उपरोक्त अज्ञानियों जैसे ही हैं, क्योंकि उन्होंने मानव शरीर और हड्डियों की सुदृढ़ता (जड़ पदार्थ) तथा आत्मा को मिलाकर केवलज्ञान होना माना है। उन्हें यह खबर नहीं है कि

हड्डियों की दृढ़ता उनके अपने कारण से है और आत्मा को केवलज्ञान होना आत्मा के कारण है, दोनों के स्वतन्त्र कारण सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा आकाशादि द्रव्य की भाँति स्वतन्त्र, अखण्ड और पूर्ण वस्तु है; उसका गुण किसी की सहायता से किंचित् मात्र भी प्रगट नहीं हो सकता।

इस मानव शरीर में पहले बाल्यावस्था होती है, फिर युवावस्था और फिर वृद्धावस्था होती है, और उसके बाद दूसरे भव में गमन हो जाता है। अनेक तो वृद्धावस्था होने के पहले ही चल बसते हैं। यदि इस मनुष्यभव में धर्म और आत्महित को नहीं समझा तो फिर समझना और हित करना कहाँ होगा? आत्मा गुणों की मूर्ति अलग वस्तु है उसे जीव अनादि काल से नहीं समझ पाया और विपरीत मान्यता जड़ जमाये बैठी है; इसलिए अज्ञानी जीव ने सम्पूर्णतया कर्म को ही आत्मा मान रखा है और वह कर्म से भिन्न आत्मा को नहीं पहिचानता।

कोई अज्ञानी यह कहता है कि अर्थ क्रिया में (प्रयोजनभूत क्रिया में) समर्थ कर्म का संयोग ही जीव है, क्योंकि जैसे लकड़ी आठ टुकड़ों के संयोग से भिन्न अन्य पृथक् कोई पलंग नहीं होता, इसी प्रकार कर्म-संयोग से पृथक् अन्य कोई जीव देखने में नहीं आता।

जैसे लकड़ी के आठ टुकड़ों के संयोग से पलंग बनता है, और उन आठ टुकड़ों से अलग कोई पृथक् पलंग नहीं होता। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के रजकण एकत्रित होकर कर्म संयोग मिलकर आत्मा उत्पन्न होता है, इस प्रकार कई अज्ञानी जीव मानते हैं।

कुछ अज्ञानी जीव कुतर्क से यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि जैसे महुआ, खजूर और अंगूर इत्यादि को एकत्रित करके—उन्हें सड़ाकर शराब उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अष्ट कर्म के संयोग से आत्मा उत्पन्न होता है, इस प्रकार माननेवाले तथा आठ लकड़ियों के पलंग की भाँति आत्मस्वरूप को अष्टकर्म का पुतला माननेवाले चैतन्य भगवान को अलग नहीं मानते। वे अष्टकर्मों के एकत्रित होने से चैतन्य की क्रिया का होना मानते हैं, किन्तु उनको यह बात नहीं जमती कि चैतन्य की क्रिया अलग है। जैसे पलंग और पलंग में सोनेवाला अलग है वैसे ही अष्ट कर्म का संयोग भी अलग और उसी स्थान में रहनेवाला आत्मा भी अलग है।

ऐसा उत्तम मानव शरीर प्राप्त करके परमात्मस्वरूप आत्मा का परिचय प्राप्त नहीं

किया और श्रद्धा नहीं की तो फिर अब कहाँ जाकर पार लगेगा ? किसकी शरण में जाएगा ? कहाँ जाएगा ? तेरे अरण्य रुदन को कौन सुनेगा ? जब घोर वन में अकेले हिरन पर कोई सिंह आक्रमण कर देता है तब वहाँ कौन उस बेचारे की पुकार को सुनता है, इसी प्रकार जब काल तुझे अपना ग्रास बनायेगा तब कौन तेरी पुकार सुनेगा ? उस समय कुटुम्ब कबीला और मित्र मण्डल क्या कर सकता है ? बड़े-बड़े महाराजा भी इसी प्रकार काल के ग्रास हो जाते हैं, उस समय उनके सब वैभव पड़े रह जाते हैं। इसलिए यह तो विचार कर कि तू मरकर कहाँ जानेवाला है ?

सत् समागम के द्वारा श्रवण-मनन करके पर से आत्मा को भिन्न करने का विवेक न करे तो इससे क्या लाभ है ? कोई पुण्य में लग जाता है और कोई पाप में, कोई आशीर्वाद से अपना अच्छा होना मानता है तो कोई श्राप से बुरा होना मानता है। किन्तु भाई तूने जो किसी पर करुणा आदि के शुभभाव किये या किसी को दु:खी करने के अशुभ भाव किये सो उन्हीं का फल तुझे मिलनेवाला है; इसके अतिरिक्त किसी के आशीर्वाद या श्राप से लेशमात्र भी अच्छा-बुरा नहीं हो सकता। तीन लोक और तीन काल में भी किसी के आशीर्वाद या श्राप से आत्मा का हिताहित नहीं हो सकता। जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ है वह ऐसे विविध प्रकार के मिथ्यात्वों में से कहीं न कहीं शरण लेकर जा खड़ा होता है।

इस प्रकार आठ ही तरह के नहीं किन्तु अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि जीव पर को आत्मा मान रहे हैं। उन्हें परमार्थवादी कभी भी सत्यार्थवादी नहीं मानते। सत्यार्थवादी तो वही है जो उपरोक्त आठ प्रकारों से भिन्न आत्मा को माने, जाने और उसमें स्थिर हो, वही सत्यार्थवादी है, शेष कोई भी सत्यार्थवादी नहीं कहा जा सकता।

भगवान आत्मा अनंत शक्तिवाला है। वह आत्मा और कर्म दोनों एक क्षेत्र में अवगाहन प्राप्त करके रह रहे हैं, और अनादि काल से पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकारी अवस्थाएँ हो रही हैं। यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाये तो भगवान आत्मा स्वयं चैतन्यतत्त्व जानना, देखना और निरुपाधिकता को कभी भी नहीं छोड़ता, और पुद्गल अपनी जड़ता को कभी नहीं छोड़ता। जड़ पुद्गल अजीव है, धूल है, मिट्टी है। वह भी एक वस्तु है। वस्तु कभी अपनी वस्तुता नहीं छोड़ती।

जड़ चेतन का भिन्न है, केवल प्रगट स्वभाव।
एकपना पाये नहीं, तीन काल द्वय भाव॥

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जड़ और चेतन त्रिकाल भिन्न हैं। आत्मा कभी आतमत्व से और अजीव-जड़ अजीवत्व से कभी नहीं छूटता। यदि वस्तु वस्तुत्व को छोड़ दे तो वह वस्तु ही नहीं कहलायेगी। इसलिए वस्तु अपने वस्तुत्व को त्रिकाल में कभी नहीं छोड़ती। किन्तु परमार्थ को न जाननेवाले पर संयोग से होनेवाले भावों को जीव कहते हैं। और वे पूजा, भक्ति, दया, दान इत्यादि के शुभ भावों को तथा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि के अशुभ भावों को ही अपना आत्मा मानते हैं। किन्तु सर्वज्ञ भगवान ने अपने पूर्ण ज्ञान के द्वारा शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप के भावों से सर्वथा भिन्न परम पवित्र तत्त्व (आत्मा) देखा है। सर्वज्ञ की परम्परा के आगम द्वारा और स्वानुभव से भी उस तत्त्व को जाना जा सकता है।

जिसके मत में सर्वज्ञ नहीं है वह अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनाएँ किया करता है। कोई कहता है कि कहीं भी कभी कोई सर्वज्ञ न तो था, न है, और न हो सकता है; किन्तु ऐसा कहनेवाला तीन लोक और तीन काल को जाने बिना ऐसा कैसे कह सकता है ? यदि वह तीन काल और तीन लोक की बात जानता है तो वह स्वयं ही सर्वज्ञ हो गया; इस प्रकार सर्वज्ञत्व सिद्ध हो जाता है। तीन काल और तीन लोक को एक ही समय में हस्तामलकवत् जानने का प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जिस आत्मा के प्रगट हो गया वही सर्वज्ञ है। जो सर्वज्ञ को नहीं मानते, और जिन्हें परम्परा से सर्वज्ञ का कथन नहीं मिला वे अपनी कल्पना से अनेक मिथ्या मनगढ़न्त बातें खड़ी करते हैं। तीन काल और तीन लोक की पर्यायें, अनन्त द्रव्य, एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण और एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें उस ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय में ज्ञात होती हैं। आत्मा की ऐसी सामर्थ्य है। जिसको ऐसी सामर्थ्य प्रगट होती है, वह सर्वज्ञ है। वैसे सर्वज्ञ यहाँ इस क्षेत्र में भगवान महावीर स्वामी थे और दूसरे भी अनेक सर्वज्ञ हो गये हैं। वर्तमान में विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान सर्वज्ञरूप में विराजमान हैं, और दूसरे भी अनेक सर्वज्ञ विराज रहे हैं। जो सर्वज्ञ को यथार्थतया स्वीकार करता है वह सर्वज्ञता प्रगट करेगा और जो सर्वज्ञ को स्वीकार नहीं करते वे बिना धनी के ढोर समान हैं। उनके भव-भ्रमण का कहीं अन्त नहीं आता।

'जानना' आत्मा का स्वभाव है। उस जानने के स्वभाव में 'न जानना' नहीं आ सकता। उस जानने के स्वभाव की मर्यादा नहीं होती। जबकि जानना ही स्वभाव है तब उसमें कौन सी वस्तु ज्ञात न होगी। जो सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को जानता है, ऐसा ज्ञानस्वभाव अमर्यादित है। जीव एक अखण्ड द्रव्य है, इसलिए उसकी ज्ञानशक्ति भी सम्पूर्ण है जो सम्पूर्ण वीतराग होता है, वह सर्वज्ञ होता है। प्रत्येक आत्मा में ऐसी शक्ति विद्यमान है।

आत्मा पर को जानने नहीं जाता, किन्तु जगत के अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा के ज्ञान में सहज रूप से ही ज्ञात होते हैं, ऐसा ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। आत्मा में पर ज्ञेय नहीं आते, पर ज्ञेयों की आत्मा में नास्ति है, किन्तु ज्ञान पर को जानता है, अपने को जानता है, ज्ञान ज्ञान को जानता है ज्ञान आत्मा में रहनेवाले अन्य अनन्त गुणों को जानता है, और ज्ञान लोकालोक को भी जानता है, ज्ञान का ऐसा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है।

यदि जगत अपनी कल्पना से विविध प्रकार से माने तो वह अपनी ऐसी मान्यता के लिये स्वतन्त्र है।

आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है इसलिए पर ज्ञेय उसमें सहज ही ज्ञात हो जाते हैं, पर को जानता हुआ आत्मा पर क्षेत्र में व्याप्त नहीं होता, पर को जानता हुआ आत्मा का ज्ञान अन्य पदार्थों में व्याप्त नहीं होता, अर्थात् सर्व व्यापक नहीं होता; इसी प्रकार पर ज्ञेय भी आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाते, आत्मा अपने स्वक्षेत्र में रहकर पर ज्ञेय को सहज ही जानता है।

भाव का विकास होने में क्षेत्र की चौड़ाई की आवश्यकता नहीं होती, छोटे शरीर में भी भाव की उग्रता की जा सकती है। शरीर तो साढ़े तीन हाथ होता है किन्तु स्वरूप की प्रतीति करके उसमें अमुक प्रकार से एकाग्र हो सकता है। क्षेत्र छोटा होने पर भी भाव की उग्रता कर सकता है इसलिए केवलज्ञान में जो लोकालोक ज्ञात होता है, सो आत्मा अपने क्षेत्र में रहकर जानता है। अपने क्षेत्र की पर में और पर के क्षेत्र की अपने में नास्ति है। आत्मा जगत के सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को अपने क्षेत्र में रहकर सहज जानता है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। जगत के अनादि अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनादि-अनन्त

रूप से जैसा वस्तु का स्वभाव है, उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञात होते हैं। ज्ञान की ऐसी अनन्त शक्ति है।

आत्मा का जैसा स्वभाव है वैसा न मानकर कर्म के निमित्त से आत्मा में होनेवाले भावों को अपना माननेवाले और उससे आत्मा को पहिचाननेवाले अज्ञानी हैं। यद्यपि बहुत से लोग आत्मा आत्मा पुकारते रहते हैं, किन्तु वे कर्म के निमित्त से आत्मा को पहिचानते रहते हैं और यह मानते हैं कि कर्म से हमें लाभ होता है वे सब जड़ को ही आत्मा मानते हैं। अध्यवसाय को आत्मा माननेवाले और संसरणरूप क्रिया को आत्मा माननेवाले इत्यादि आठ प्रकार की मान्यताओंवाले नपुंसक हैं, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

त्यागी हो, बाबा हो या गृहस्थ हो किन्तु यदि वह शुभाशुभ वृत्तियों के भावों का कर्ता बने, हर्ष-शोक इत्यादि वृत्तियों के भावों का भोक्ता बने और उनसे आत्मधर्म होना माने तो ऐसी मान्यतावाला नपुंसक है। कर्म और आत्मा दोनों एकत्रित होकर आत्मा के स्वभाव धर्म को करते हैं ऐसा माननेवाला भी नपुंसक है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि नामक ग्रंथ के मंगलाचरण में यह कहा है कि—

* जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनन्त।
समझाया वह पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त॥

श्रीमद् ने इस ग्रन्थ में कहा है कि आत्मा नित्य है, आत्मा अज्ञानभाव से कर्म का कर्ता-भोक्ता है और ज्ञानभाव से स्वभाव का कर्ता-भोक्ता है, मोक्ष है, और मोक्ष का उपाय भी है। इस विषय को लेकर सम्पूर्ण आत्मसिद्धि की सुंदर रचना हुई है।

उसके उपरोक्त पद में यह कहा है कि—स्वरूप को समझे बिना अनन्त दुःख प्राप्त किया है; वहाँ कहीं यह नहीं कहा कि—कोई क्रिया कर्म किये बिना अनन्त दुःख प्राप्त किया है, क्योंकि जीव ने अनन्त काल में मात्र यथार्थ ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, दूसरा सब कुछ किया है समवसरण में विराजमान साक्षात् तीर्थंकरदेव की रत्नों से भरे हुये थालों से अनन्त बार पूजा की किन्तु पर से भिन्न चैतन्यस्वभाव को स्वयं नहीं जान सका, और जब स्वयं जागृत नहीं हुआ तब फिर दूसरा कौन जगायेगा? कहीं भगवान कुछ दे नहीं देते

* आश्विन कृ० १ को श्रीमद् राजचन्द्र ने 'आत्मसिद्धि' की थी, इसलिए आज का (आ० कृ० १ होने से) यह प्रवचन 'आत्मसिद्धि' को लक्ष्य में लेकर ही हुआ है।

क्योंकि अपना स्वरूप अपने पर ही निर्भर है, वह दूसरे पर अवलम्बित नहीं है, इसलिए दूसरा कोई कुछ दे ही नहीं सकता, और न दूसरे के आधार पर वस्तु स्वभाव प्रगट ही हो सकता है जो वस्तु दूसरे पर अवलम्बित हो वह वस्तु ही नहीं कहला सकती। वस्तु अर्थात् पदार्थ जड़ चैतन्य सभी अपने-अपने आधार से रहते हुये स्वतन्त्र हैं। जगत में दो वस्तु स्वरूप हैं, एक जड़स्वरूप और दूसरा आत्मस्वरूप। यहाँ यह कहा है कि जीव आत्मा स्वरूप को समझे बिना अनन्त काल से परिभ्रमण कर रहा है अनादि काल से उसने आत्मस्वभाव को नहीं जान पाया और उसे जाने बिना दूसरी बहुत कुछ धूम-धाम की है।

आत्मसिद्धि के उपरोक्त मंगलाचरण में इस पर अधिक भार दिया है, कि— 'स्वरूप को समझे बिना' अनन्त दु:ख प्राप्त किया है। और यह शब्द शिष्य के मुँह में रखकर बुलवाये हैं। मैं अनन्त काल में अपने स्वरूप को नहीं समझा और यथार्थ समझानेवाले भी नहीं मिले। कदाचित् समझानेवाले मिल भी गये तो स्वयं आत्मा को नहीं पहिचाना, इसलिए यहाँ यह कह दिया है कि वे मिले ही नहीं। शिष्य कहता है कि हे प्रभो! मैं स्वयं ही सत्य को समझे बिना अनन्त काल से परिभ्रमण कर रहा हूँ। यहाँ यह नहीं कहा कि कोई कर्म या ईश्वर परिभ्रमण करा रहा है।

उपरोक्त पद में जो 'समझे बिना' पद है उसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष का मार्ग है, उसे समझे बिना मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र का सेवन करके परिभ्रमण किया है।

उपरोक्त पद में 'पाया दु:ख' कहकर शिष्य ने कहा है कि हे प्रभो! मैंने दु:ख पाया है। कुछ लोग कहते हैं कि दु:ख जड़ में है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है; स्वयं अपना स्वभाव भूला हुआ है, अर्थात् अपना चैतन्य भूमिका में ही दु:ख होता है। आत्मा में जहाँ आनन्द है वहीं उसकी विपरीत अवस्था दु:ख की होती है; जड़ में दु:ख नहीं होता।

उपरोक्त पद में 'अनंत' पद कहकर अनन्त दु:ख का विचार किया है, इसमें अनन्त भव भ्रमण का दु:ख बताया है और कहा है कि अनन्त दु:ख का वेदन करनेवाला— भोगनेवाला मैं था, दूसरा कोई द्रव्य नहीं था। अनन्त दु:ख आत्मा के गुणों की विपरीतता है। यहाँ यह बताया है कि आत्मा के आनन्द गुण की पर्याय उल्टी हुई सो अनन्त दु:ख

पाया, और ऐसा कहकर इस ओर लक्ष्य कराया है कि मुझमें अनन्त आनन्द भरा हुआ है। अनन्त दु:ख प्राप्त किया ऐसा कहकर दो बातें कह दी हैं।

१- आनन्द गुण से विपरीतता की सो यही दु:ख है।

२- स्वरूप को समझे बिना मैंने दु:ख पाया है।

मैंने दु:ख पाया है, यह कहकर बताया है कि सभी आत्मा एक नहीं है किन्तु प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र निराला तत्त्व है। मैं भूला और मैं नहीं समझा इसलिए दु:ख प्राप्त किया है यह कहकर स्वयं अपने को स्वतन्त्र रखा है।

समझने के बाद कहता है कि—पाया दु:ख अनन्त। अज्ञानपन में ज्ञात और अज्ञात की कुछ खबर नहीं थी, और ज्ञात होने के बाद ज्ञात और अज्ञात दोनों की खबर हैं।

मेरी पात्रता थी इसलिए समझा हूँ, यों 'समझा' शब्द न कहकर 'समझाया' कहा है। इसका अर्थ यह है कि उस समझ में समझनेवाला और समझानेवाला दोनों विद्यमान थे। यहाँ समझाया पद कहने से यह सिद्ध हुआ कि निमित्त के बिना नहीं समझा जा सकता। ज्ञानी के बिना यह अनादि काल से नहीं समझा हुआ स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। किन्तु जो पात्र होता है उसे निमित्त मिले बिना नहीं रहता। सत् उपादान और सत् निमित्त का मेल है। सत् पात्रता तैयार हो तो समझानेवाला सत् निमित्त भी विद्यमान होता है। उपादान-निमित्त का ऐसा ही मेल है। शिष्य कहता है कि अभी तक मैं समझा नहीं था, किन्तु अब गुरु के प्रताप से समझ गया हूँ श्रीगुरु ने मुझ पर कृपा करके मुझे समझाया इसलिए मैं समझा हूँ। उसे यह आन्तरिक प्रतीति है कि मेरी पात्रता थी इसलिए मैं समझा हूँ, किन्तु सत् को समझनेवाला यह नहीं कहता कि मैं अपने आप समझा हूँ। यथार्थ समझ होने पर विनय और नम्रता भी बढ़ जाती है, इसलिए यहाँ गुरु के प्रति बहुविनय बताते हुए 'समझाया' पद कहा है।

यहाँ 'मैं समझा' से यह सिद्ध किया है कि अभी तक मुझे भ्रान्ति थी और अब मुझे जागृति प्राप्त हुई है। हे प्रभो! मैं समझा हूँ किन्तु आपने मुझ पर कृपा की इसलिए समझा हूँ। यद्यपि स्वयं समझा है किन्तु गुरु के प्रति बहुमान होने से कहता है कि 'समझाय वह पद नमूँ'। जब तक वह पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता तब तक उसके विनयता बढ़ती जाती है और नम्रता का भाव बना रहता है। बहुमान होने से विनयपूर्वक गुरु से कहता है कि—

आपको मेरा नमस्कार हो। यहाँ नमस्कार का भाव किसका है ? परिचय किसका हुआ ? निमित्त का या अपना ? निमित्त से कहा जाता है कि गुरु को नमस्कार करता हूँ, किन्तु वास्तव में अपने स्वभाव की जो महिमा जम गयी है सो उसकी ओर उन्मुख होता है— नमस्कार करता है।

'श्री सद्गुरु भगवन्त' कहकर गुरु के प्रति बहुमान होने से गुरु को भगवान कह दिया है। सर्वज्ञ, वीतराग देव तो भगवान कहलाते ही हैं; किन्तु बहुमान होने से गुरु को भी भगवान कहा जा सकता है। शिष्य समझ गया अर्थात् सच्चे देव-गुरु को भी समझ लिया और अपने स्वरूप को भी पहिचान लिया। इस प्रकार निमित्त की ओर लक्ष्य जाने पर गुरु के प्रति बहुमान होने से गुरु को नमस्कार करता है, और अपने गुण के प्रति बहुमान होने से गुण को भी नमस्कार करता है।

विनय का बहुत वर्णन होने से विपरीत दृष्टिवाले ऐसा विचित्र अर्थ कर लेते हैं कि श्रीमद् राजचन्द्र को विनय चाहिए थी, इसलिए विनय का बहुत वर्णन किया है। इस प्रकार स्वच्छन्दी जीवों को स्वयं तो समझना नहीं है और स्वच्छन्दता की पुष्टि करनी है, इसलिए समझानेवाले का दोष निकालते हैं।

आत्मसिद्धि में अनेक स्थलों पर गुरु की महिमा और शिष्य की विचार क्रिया स्पष्ट दिखायी देती है। १४२वें दोहे में कहा है कि—

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
कितना कहिये दूसरा ? कर विचार तो पाम॥

यदि तू स्वयं विचार करे तो ही सच्चा ज्ञान प्राप्त (पाम) कर सकेगा। तेरी समझ और पात्रता के बिना गुरु कहीं कुछ दे नहीं देंगे। किसी की कृपा या आशीर्वाद से मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती। और किसी के श्राप से मुक्ति रुक नहीं जाती। तू ही स्वयं सुखरूप है, सुख का धाम है; यदि तू स्वयं विचार करे तो उसे प्राप्त कर लेगा, अन्यथा तेरी पात्रता के बिना त्रिकाल में कोई कुछ नहीं दे सकेगा। यदि विचार करे तो पायेगा। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों प्राप्त करेगा, यह बताया है। अन्य कोई शरीर की क्रिया करने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करने की बात नहीं कही है, किन्तु यह कहा है कि—'कर विचार तो पाम', अर्थात् विचार-क्रिया करेगा तो प्राप्त कर लेगा।

कितने ही अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि—बाह्य प्रतिकूलता को दूसरे लोग मिटा सकते हैं; कोई रोग मिटा सकता है, किसी महात्मा की कृपा से पुत्र मिल सकता है, रुपया-पैसा मिल सकता है। किन्तु त्रिकाल में भी ऐसा नहीं हो सकता। अपने पुण्य या साता के उदय के बिना ही किसी की कृपा या आशीर्वाद से कुछ मिल जाएगा तो ऐसा मानने और मनवानेवाले महामूढ़ अज्ञानी हैं। सब अपने पुण्य-पाप के उदयानुसार होता है। कोई मन्त्र-तन्त्र डोरा ताबीज इत्यादि से पुत्र और पैसे की प्राप्ति मानते हैं, किन्तु सांसारिक मधुरता में फँसे हुए घोर अज्ञानी हैं, और ऐसे मन्त्र-तन्त्र करनेवाले भी घोर अज्ञानी हैं, जो सांसारिक कल्पित मिठास में फँसे हुए हैं।

कोई कहता है कि अमुक महाराज के भक्त बहुत पैसेवाले हैं, इसका कारण यह है कि महाराज सबको चमत्कारपूर्ण आशीर्वाद देते हैं। किन्तु यह सब मिथ्या है। क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त पैसे और पुण्य की महिमा है ही कहाँ? यह सब तो शून्यवत् है—व्यर्थ हैं। क्या पर वस्तु किसी के आधीन हो सकती है, या किसी को दी जा सकती है? संसार की किसी वस्तु को देने और लेने की वृत्तिवाले दोनों अनन्त सांसारिक मिठास में लुब्ध महामिथ्यात्वी हैं।

आत्मसिद्धि में जो स्वरूप बताया गया है, वैसा ही वीतराग का जो स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है। शिष्य कहता है कि मैंने ही अपने उल्टे भाव किये और स्वत: ही परिभ्रमण करता रहा हूँ कोई किसी की अवस्था के करने में समर्थ नहीं है। अपनी सत् पात्रता के द्वारा जब सत्य को समझता है तब सत्समागम का निमित्त अवश्य होता है, किन्तु सद्गुरु अपने प्रगट स्वरूप में से रंचमात्र भी किसी को दे दें यह नहीं हो सकता। तीन काल और तीन लोक के केवलियों-तीर्थंकरों ने स्वतन्त्रता की घोषणा की है कि कोई किसी के गुण की एक भी अवस्था करने को त्रिकाल में भी समर्थ नहीं है।

'जो स्वरूप समझे बिना पाया दु:ख अनन्त'

जैसे सिद्ध भगवान परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ। मुझमें कर्म प्रविष्ट नहीं हैं, ऐसा शुद्ध चैतन्य आत्मा का स्वरूप समझे बिना अनन्त दु:ख प्राप्त किया। जब तक यह मानता है कि मैं पुण्य-दया आदि के भावों का कर्ता हूँ, तब तक वह अज्ञानी है, आत्मा निराला है, जिसे उसकी प्रतीति नहीं है वह अनन्त संसार में परिभ्रमण करेगा। स्वरूप को समझे बिना सब

कुछ किया, किन्तु किंचित्मात्र भी धर्म नहीं हुआ। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि—

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लियो॥

व्रत किये, तप किये, करोड़ों का दान दिया; किन्तु यदि उसमें कषाय मन्द हो तो पुण्य बन्ध होता है, किन्तु स्वतन्त्र आत्मा क्या वस्तु है इसकी प्रतीति के बिना भी भव कम नहीं हो सकता।

अपने आत्मा की सिद्धि स्वयं ही की जा सकती है। आत्मसिद्धि करने में कोई सहायक नहीं होता, उसमें किसी का हाथ नहीं होता, देव-गुरु का भी हाथ नहीं होता। किन्तु यथार्थ समझ के समय सच्चे गुरु का निमित्त अवश्य होता है, विचार की क्रिया और गुरु का निमित्त—दोनों होते हैं।

* बुझी चहत जो प्यास को, है बुझन की रीति।
पावे नहिं गुरुगम बिना, येही अनादि स्थित॥

यदि तू अपनी प्यास को बुझाना चाहता है तो उसके बुझाने की रीत यह है कि—गुरु ज्ञान प्राप्त किया जाए। जो पात्र होता है उसे सच्चे गुरु मिल जाते हैं। डोरा ताबीज देकर रोग मिटाने का दावा करनेवाले गुरु वास्तव में गुरु नहीं हैं। उनसे यथार्थ ज्ञान तो क्या मिलेगा पुण्य बन्ध तक नहीं होता। क्या रोग किसी के मिटाये मिटता है? सनतकुमार चक्रवर्ती जैसे सन्त मुनि धर्मात्माओं को भी सात सौ बरस तक रोग रहा था तथापि उन्हें आत्मप्रतीति थी इसलिए वे बारम्बार स्वरूप के निर्विकल्प ध्यान में रमण करते थे। यद्यपि उन्हें उसी भव से मोक्ष जाना था तथापि उनके गलित कोढ़ जैसे भयंकर रोग का उदय था। रोग तो प्रकृति का फल है, उससे आत्मा को क्या शरीर में रोग होने से कहीं आत्मा में रोग नहीं पहुँच जाता। जब कि मोक्षगामी लोगों को भी ऐसा रोग हो सकता है तब दूसरों की तो बात ही क्या है? रोग किसी का मिटाया नहीं मिटता। शरीर का प्रत्येक रजकण स्वतन्त्रतया परिवर्तन कर रहा है, जड़ और चेतन की अलग-अलग स्वाधीनतया क्रिया होती है। एक तत्त्व दूसरे को कुछ नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जो लोग विविध प्रकार से मानते हैं, सो वह उनके घर की मन गढ़न्त बातें हैं।

* भाषा की दृष्टि से यह दोहा ठीक नहीं है; तथापि इसका भाव ग्रहण करना चाहिए, जो अत्युत्तम है।

तीन काल में एक है, परमारथ का पन्थ।
प्रेरे वह परमार्थ को, सो व्यवहार समन्त॥

परमार्थ अर्थात् मुक्ति का मार्ग एक ही होता है। परमार्थ स्वरूप आत्मा को प्राप्त करने का पन्थ एक ही होता है। अभेद आत्मा पर जो दृष्टि है सो व्यवहार है, उस दृष्टि का जो विषय है सो परमार्थ है, तथा दृष्टि स्वयं अवस्था है इसलिए व्यवहार है। उस दृष्टि के विषय के बल से दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय वृद्धिंगत होती हुई साधी जाती है, सो व्यवहार समन्त है।

'निश्चयज्ञानी सर्व का आकर यहाँ समाय।'

सभी ज्ञानियों का एक ही निश्चय है, सभी का एक ही मार्ग है। और कहा है कि:—

पहले ज्ञानी हो गये, वर्तमान में होय।
होंगे काल भविष्य में मार्ग भेद नहिं कोय॥

भूतकाल में अनन्त ज्ञानी हो गये हैं, वर्तमान काल में हैं और भविष्य काल में अनन्त ज्ञानी होंगे किन्तु उन सबका एक ही मार्ग है, एक ही रीति है और एक ही पंथ है। यहाँ यह भावपूर्वक कहा गया है कि—सबका एक ही मार्ग है, सभी का एक ही मत है।

यदि चाहो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
भव-स्थिति का नाम ले, मत छेदो आत्मार्थ॥

कई लोग कहा करते हैं कि—यदि अभी हमारे बहुत से भव शेष होंगे, या कर्म बाकी होंगे, अथवा अभी भवस्थिति नहीं पकी होगी तो क्या होगा? उनसे श्रीमद् राजचन्द्रजी तथा अन्य ज्ञानी कहते हैं कि—ऐसा भवस्थिति आदि का बहाना लेकर पुरुषार्थ को मत रोको। त्रिकाल में भी ज्ञानी का वाक्य पुरुषार्थहीन नहीं होता। श्रीमद् राजचन्द्र ने एक जगह लिखा है कि ज्ञानी के हीन पुरुषार्थ वचन नहीं होते। यहाँ 'करो सत्य पुरुषार्थ' कहकर यह बताया है कि पुरुषार्थ करने से भवस्थिति पक जाती है, वह अपने आप नहीं पकती।

यहाँ पहले ३६ से ४३वीं गाथा में आठ प्रकार से पर को आत्मा कहनेवालों के सम्बन्ध में कहा गया है। वे लोग सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं? यह बात यहाँ ४४वीं गाथा में कही गयी है:—

एदे सव्वे भावा पोग्गल-दव्व-परिणाम-णिप्पण्णा।
केवलि-जिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।४४।।

अर्थः—यह पूर्व कथित अध्यवसान आदि सभी भाव पुद्गल द्रव्य के परिणमन से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा केवली सर्वज्ञ जिनदेव ने कहा है; उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है।

यह पूर्व कथित अध्यवसान-शुभाशुभभाव के विकल्प, पुद्गल द्रव्य के परिणाम से रचित हैं, ऐसा भगवान सर्वज्ञदेवों ने कहा है। भगवान की पूजा-भक्ति करने के भाव या व्रत-अव्रत के भाव होते हैं सो सब जड़ द्रव्य से उत्पन्न हुए हैं।

प्रश्नः—यह सब सुनकर या जानकर भी पूजा-भक्ति, व्रत इत्यादि क्यों करते हैं ?

उत्तरः—वे अशुभभाव को दूर करने के लिये ऐसे भाव करते हैं। जब तक वीतराग नहीं हो जाते तब तक अशुभभाव को दूर करके शुभभाव करते हैं, किन्तु यहाँ तो वस्तु स्वरूप बताया जा रहा है। उस शुभभाव को अपना स्वरूप माने या उससे धर्म होना माने तो वह अज्ञान है। जितने शुभ या अशुभ के, अथवा दया या हिंसा के विकल्प आते हैं उनमें ज्ञान अस्थिर हो जाता है, इसलिए कहा है कि वे पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न हुए हैं आत्मा से नहीं। यद्यपि वे भाव आत्मा में होते हैं, कहीं कर्म में-जड़ में नहीं होते, किन्तु उन भावों की अवस्था जड़ के आधीन होती है। वे भाव आत्मा में से उत्पन्न नहीं होते इसलिए उन्हें जड़ का कहा है। शुभभाव विकार भाव है। उन विकार भावों से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता, ऐसा सर्वज्ञ वीतराग देव ने कहा है। वे शुभाशुभ परिणाम बाह्य निमित्त की ओर जानेवाले भाव हैं। आत्मा मात्र वीतराग स्वरूप प्रभु है, जिन्हें उसकी खबर नहीं है, उन सबके भाव बाह्य निमित्त की ओर होते हैं। इन अध्यवसान आदि समस्त भावों को सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त देवों ने पुद्गल द्रव्य का परिणाम कहा है। जिनके ज्ञान में समस्त जगत की कोई भी वस्तु अजानरूप नहीं है ऐसे सर्व वस्तुओं से प्रत्यक्षरूप जाननेवाले भगवान वीतराग अरहन्त देवों के द्वारा शुभाशुभ अध्यवसान आदि भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाममय भाव कहे हैं।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है। जब उसमें यह शुभभाव होते हैं कि—देवभक्ति करूँ, गुरुभक्ति करूँ, अथवा विषय-कषाय आदि के अशुभभाव होते हैं, तब ज्ञान अस्थिर होता है, उसमें संक्रमण होता है। जब ज्ञान एक कार्य से दूसरे पर जाता है, तब वह बदलता है—हिलता

है, यही विकार है। जितनी करने-धरने की वृत्ति होती है सो वह सब विकार है और विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है। ऐसा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव ने जैसा देखा है, वैसा कहा है।

विकारभाव चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं है, कि—जो जीवद्रव्य चैतन्यभाव से शून्य पुद्गल भाव से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिए जो इन अध्यवसानादि को जीव कहते हैं, वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं।

आत्मा में जो शुभाशुभभाव होते हैं वे चैतन्यस्वभाव होने के लिये समर्थ नहीं हैं। शरीर की क्रिया मुझसे होती है ऐसा कर्तृत्व का भाव इत्यादि कुछ भी आत्मा में नहीं है। किसी भी प्रकार का विकारभाव आत्मा में नहीं है, ऐसा तीर्थंकर भगवान ने कहा है। इसलिए जो अध्यवसान आदि को जीव कहते हैं वे वास्तव में आत्मा को नहीं मानते।

शुभाशुभ परिणाम से जो पुण्य-पाप का बन्ध होता है, उससे धूल मिट्टी के ढेर के अतिरिक्त और क्या मिलता है ? उससे आत्मा नहीं मिल सकता। जो परपदार्थ से आत्मा को लाभ होना मानते हैं, वे इन उपरोक्त आठ मतवालों की भाँति ही पर को आत्मा माननेवाले हैं। जो यह मानते हैं कि—यदि शरीर अच्छा हो तो धर्म करें अथवा शरीर के द्वारा धर्म होता है तो वे सब जड़ को ही आत्मा माननेवाले हैं और वे आत्मा की हत्या करनेवाले हैं। इसलिए जो ऐसा मानते हैं वे वास्तव में सत्यार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि उनका पक्ष आगमयुक्ति और स्वानुभव से बाधित है।

जो भी विकारभाव होता है वह जड़ से उत्पन्न होनेवाला है, ऐसा शास्त्र भी कहते हैं, युक्ति-न्याय से भी वह जड़ सिद्ध है और अनुभव से भी वह जड़ है, इसलिए इन तीनों से उनका पक्ष बाधित है।

जो यह कहते हैं कि प्रवृत्ति के जितने भाव होते हैं, वे हमें लाभदायक हैं वे झूठे हैं। सुख-दुःख की वृत्ति हो, हर्ष-शोक का भाव हो सो वह जीव नहीं है, यह सर्वज्ञ भगवान का कथन है।

आत्मा शरीरादि से ही नहीं किन्तु पुण्य-पाप की वृत्ति से भी परे है, क्योंकि वे पुण्य-पाप के भाव जड़ हैं, ऐसा आगम में कथन है।

किसी का यह मत है कि जैसे कोयले की कालिमा कोयले से अलग नहीं है, इसी

प्रकार अध्यवसान से आत्मा अलग नहीं है, उसे आचार्यदेव स्वानुभव गर्भित युक्ति से कहते हैं कि स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष से मलिन अध्यवसान जीव नहीं है।

यहाँ स्वयमेव पद से यह कहा है कि तुझे भान नहीं है, इसलिए ऐसा लगता है कि सहज राग-द्वेष होता है। चैतन्यमूर्ति अखण्डानन्द है इसकी खबर नहीं है इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि मानों यह राग-द्वेष के भाव सहज आत्मा के घर के हों। इसे विशेष स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं।

अज्ञानी ने अभी यहाँ कोयले का उदाहरण दिया था किन्तु यहाँ आचार्यदेव सोने का उदाहरण देते हैं। जैसे सोना पीला है, किन्तु यदि उस सोने को अग्नि में तपाया जाये तो उस समय जो कालिमा निकलती है, वह सोने की नहीं, किन्तु धुएँ की है। इसी प्रकार अध्यवसान चित्स्वरूप जीव के नहीं हैं। आत्मा चिदानन्द स्वरूप है। उसमें जो वृत्तियाँ होती हैं, वह कालिमा हैं, वह आत्मा के घर की नहीं किन्तु पुद्गल के घर की वस्तु है। जैसे धुएँ से सोना आच्छादित हो जाता है, अर्थात् दिखायी नहीं देता इसी प्रकार मलिन पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं ऐसे अभिप्राय के धुएँ में आत्मा आच्छादित हो जाता है।

पुण्य-पाप के मलिन भाव मेरे हैं, ऐसे अभिप्राय से भी चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है। वह चित्स्वरूप आत्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा भेदज्ञानियों के द्वारा अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त जीवों के द्वारा अध्यवसान से अलग अनुभव में आता है। धर्मी होने के बाद अध्यवसान से भिन्न आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

कितने ही अन्ध और विपरीत दृष्टिवाले कहते हैं कि धर्म प्रगट होता है सो हम उसे कैसे जान सकते हैं, उसे तो केवली ही जानते हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ सो वहाँ स्वयं यह आत्मा अलग ही प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। भेदज्ञानी अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थाश्रमी जीव पुण्य-पाप से भिन्न आत्मा का अनुभव करते हैं। उसका वेदन करते हैं। जब केवलज्ञान होता है तब भिन्न अनुभव करते हैं सो बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन के होने पर अपने को पृथक् अनुभव करने की बात है। इस प्रकार आगम युक्ति और अनुभव को लेकर तीन प्रकार से कहा है।

आत्मा देह से भिन्न है। उस आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसे जाने—उसकी श्रद्धा करे और उसमें एकाग्र हो तो स्वतन्त्रतारूप मोक्ष मिले बिना न रहे।

परवस्तु में सुख-दुःख नहीं है किन्तु सुख-दुःख मात्र भासित होता है। यह मात्र कल्पना कर रखी है कि अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख है। न तो राजपाट मिलना सुख है और न निर्धनता दुःख है; किन्तु अपनी कल्पना के द्वारा परपदार्थ में सुख-दुःख मानकर चौरासी का भ्रमण बना रखा है। पर पदार्थ में सुख नहीं है इसलिए मात्र 'भासित होना' कहा है, अर्थात् सुख है नहीं किन्तु सुख भासित होता है।

आत्मा सदा ध्रुव-अविचल ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण है, उसे भूलकर ऐसा विपरीत अध्यवसान करता है कि—स्त्री, पुत्र, रुपया, पैसा इत्यादि सुखरूप हैं, अच्छे हैं, लाभरूप हैं; और इस प्रकार विपरीत अध्यवसान को आत्मा मानकर वहाँ अटक रहा है। उस अध्यवसान को अलग नहीं करना चाहता किन्तु उसे रखना चाहता है, जिस वस्तु को अपने घर का मान रखा है, उसे तो रखना ही चाहेगा, निकालना क्यों चाहेगा? किन्तु उस अध्यवसान से भिन्न आत्मा धर्मात्मा के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् धर्मात्मा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसके भविष्य का अवयव है ऐसी जो एक संसरणरूप क्रिया है, उस रूप क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जो यह मानता है कि—कर्मों से संसार में परिभ्रमण किया है और कर्मों से ही संसार में परिभ्रमण करेंगे वह अपने कर्म रहित स्वभाव को नहीं जानता, और कर्म को ही आत्मा मानता है। इस प्रकार वह ऐसी मान्यतारूप संसरण—भ्रमणरूप क्रिया को अर्थात् राग-द्वेष की क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। मैं राग-द्वेष से अलग हूँ, वह मेरा क्रिया नहीं है, मेरी क्रिया मुझमें है ऐसी प्रतीति नहीं है, और शास्त्र में जो कर्म की बात आयी है, उसे पकड़े बैठा है कि कर्म ने मुझसे भूल करायी है; किन्तु कर्म भूल नहीं कराता, भूल करते समय कर्म मात्र निमित्तरूप से उपस्थित है। अपनी भूल से स्वयं परिभ्रमण करता है। कहीं कर्म परिभ्रमण नहीं कराते और कर्म मोक्ष भी नहीं देते, इसलिए कर्म आत्मा से पृथक् वस्तु है।

प्रश्नः—पुण्य के कारण यह सब अनुकूलता तो मिलती ही है, या नहीं?

उत्तरः—पुण्य कहाँ उसके घर की वस्तु है? वह तो क्षणिक है—विनाशक है, धूल

है। कभी क्षणभर में बदलकर राजा से रंक हो जाता है तो कभी धनवान से निर्धन हो जाता है। कभी क्षणिक पुण्य के भाव करता है तो अच्छे संयोग मिल जाते हैं, और पाप के भाव करता है तो नरक में जाता है, क्योंकि वे विकारी भाव क्षण क्षण में बदलते हैं, इसलिए पुण्य में से पाप करके कीड़े-मकोड़े का भाव धारण करके नरक-निगोद में चला जाएगा। पुण्य की मिठास धूल की मिठास के समान है।

शंका:—कर्म तो अनादि काल से चले आ रहे हैं, इसलिए वे कैसे छूट सकते हैं ? जैसे चने में से पुनः चना उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अनादि काल से कर्म से कर्म बँधता चला आ रहा है, उसकी परम्परा नहीं टूटती, इसलिए कर्म कैसे छूट सकते हैं ?

समाधान:—अभान द्वारा बाँधे गये कर्म भान द्वारा टूट सकते हैं। कर्म कहीं अनादि काल के नहीं होते, किन्तु अनादि का अर्थ यहाँ ऐसा है कि कर्म प्रवाह—परम्परा से अनादि के हैं, जैसे एक रुई की पौनी से दूसरी जुड़ जाती है और इस प्रकार उनकी परम्परा चलती रहती है, (यद्यपि पौनी अलग-अलग दूसरी होती है) इसी प्रकार कर्म नये-नये—दूसरे-दूसरे बँधते रहते हैं ? पुराने दूर होते हैं और नये बँध जाते हैं, इसलिए वे कर्म अनादि के नहीं हैं, किन्तु वे प्रवाहरूप से अनादि हैं; कहीं एक के एक ही कर्म अनादि काल के नहीं होते। राजा से लेकर रंक तक और हाथी से लेकर चींटी तक किसी के पास भी अनन्त कालीन कर्म नहीं होते, किन्तु अधिक से अधिक असंख्य वर्षों के कर्म वर्तमान में होते हैं। अभव्य के पास भी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक स्थिति के कर्म नहीं होते। लाखों गायों को काटनेवाले कसाई के पास भी असंख्य अरब स्थितिवाले कर्म होते हैं, चाहे जैसे पानी के पास भी असंख्य अरब वर्ष की स्थितिवाले कर्म होते हैं, किसी के पास भी अनन्त अरब वर्ष की स्थितिवाले कर्म नहीं होते, कोई भी आत्मा कभी भी अनन्त अरब वर्ष के कर्म न तो बाँध सका है न बाँधता है, न बाँध सकेगा।

आत्मा की प्रतीति को और आत्मा की निर्मल मोक्ष पर्याय को प्रगट करे तो उसकी अनन्त काल की स्थिति होती है, क्योंकि मोक्ष की स्थिति अनन्त काल की होती है, आत्मा की मोक्षरूप निर्मल अवस्था में ऐसा होता है, किन्तु तीन लोक और तीन काल में भी अनन्त काल के कर्म बन्ध नहीं होते। कर्मों के नाश करने का आत्मा का स्वभाव है। कर्मों से भिन्न आत्मा का स्वभाव सम्यग्दृष्टि जीवों को प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

कुछ अज्ञानीजन यह कहते हैं कि यदि कर्म मार्ग दे दें तो अपनी मुक्ति हो जाए, किन्तु ऐसा माननेवाले सर्वथा मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कर्म हैरान करते हैं, वे जैसा करें वैसा होता है, अपने हाथ की बात ही क्या? किन्तु विचार तो करो कि कहीं कर्म हैरान कर सकते हैं? वे बेचारे तो जड़-धूल हैं। उन्हें तो यह भी खबर नहीं है कि हम कौन हैं, और हम कर्मरूप में परिणमित हुए हैं या क्या हैं? किन्तु कर्म का बहाना निकालनेवाले अज्ञानी को कर्म से मुक्त नहीं होना है, इसलिए कहता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं, और यदि कर्म मार्ग दें तो मोक्ष प्राप्त हो।

जैसे व्यवहार में 'घी का घड़ा' कहा जाता है किन्तु वास्तव में घड़ा घी का नहीं मिट्टी का होता है, मात्र घी के निमित्त से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कह दिया करते हैं; इसी प्रकार यह कह दिया जाता है कि आत्मा के साथ कर्म लगे हुए हैं, ऐसा कहा जाता है किन्तु कर्म आत्मा नहीं है और आत्मा कर्म नहीं है, कर्म कर्म में और आत्मा आत्मा में। किन्तु शास्त्रों में कर्म निमित्त का कथन हों, तो उसका वैसा अर्थ समझे लेकिन यहाँ तो निमित्त की ओर का कथन है उसे न समझे और कर्म को अपना माने एवं उससे पृथक्त्व की प्रतीति न करे तो उसे यथार्थ समझ में नहीं आ सकता।

कोई कहता है कि—ढँके हुए कर्मों की क्या खबर पड़ सकती है? किन्तु हे भाई! कर्म तूने किये हैं या दूसरे ने? विपरीत पुरुषार्थ से जो कर्म किये हैं वे सम्यक् पुरुषार्थ से एक क्षणभर में छूट सकते हैं, और अल्प काल में मुक्ति हो सकती है, यदि स्वयं सम्यक् पुरुषार्थ करे तो यह सब कुछ हो सकता है, उसमें कर्म आड़े नहीं आ सकते। किसी कर्म में ऐसी शक्ति नहीं है कि पुरुषार्थ करनेवाले को पुरुषार्थ करने से रोक सकते हैं।

अपनी स्वतन्त्रता को न पहिचाननेवाले और अपने वीर्य को पराधीन माननेवाले मरण समय असाध्य हो जाते हैं; वह बल मरण है। सच्चा मरण तो ज्ञानियों का कहलाता है, कि जो आत्मानंद में झूलते हुए देहत्याग करते हैं। आत्मा पर से निराला चैतन्यघन है, उसमें झूलते हुए ज्ञानी का मरण होता है। मरण आने से पूर्व ज्ञानी को प्रसन्नता होती है, अन्तरंग में आत्मा में से प्रसन्नता ही प्रसन्नता प्रगट होती है, तब वह ज्ञानी विचार करता है कि इतनी सारी प्रसन्नता की विशेषता कैसे स्फुरित हो आती है? और इसलिए वह मरण को निकट आया जान लेता है।

आत्मा के परिचय के साथ आत्मा का उपयोग घात को प्राप्त न हो इस प्रकार स्वरूप रमणता में ज्ञानी मरण करता है। ज्ञानी कहता है कि जगत में ऐसा कोई कर्म नहीं है अथवा कर्म में ऐसा कोई रस नहीं है कि जो मेरे मरण के समय आड़े आये अथवा मेरे उपयोग का घात कर सके। ज्ञानी का मरण ऐसी स्वरूप लीनता में होता है कि चैतन्य के उपयोग का घात नहीं होता।

अज्ञानी सदा मरण के भय से घबराता रहता है—अज्ञानी का मरण बाल मरण, अज्ञान मरण, जड़ मरण है और अज्ञानी आनन्दोल्लास के झूले में झूलता हुआ देह त्याग करता है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने अन्तिम समय कहा था कि—मुझे कोई बुलाना मत मैं अपने स्वरूप में लीन होता हूँ।

ऐसे वचन कौन कह सकता है ? यदि सच पूछा जाए तो इसका नाम मरण है। पूर्वबद्ध धारणा से यदि ऐसा कहा जाए तो उसका कोई मूल्य नहीं, किन्तु यदि श्रीमद् की भाँति सहज वाणी निकले तो उसका सच्चा मूल्य है।

भले ही चौथे या पाँचवें गुणस्थान में हो किन्तु चैतन्य की प्रतीति सहित स्थिरतापूर्वक समाधिमरण हो तो वह मरण एक विशिष्ट प्रकार का-प्रशस्त मरण है।

जिसका समाधिमरण होता है, और जिसका अखण्ड उपयोग पूर्वक मरण हुआ है, तथा जिसने सन्धि को नहीं तोड़ा है वह जिस दूसरे भव में जाता है, वहाँ भी उसकी जागृति की सन्धि नहीं टूटती। क्योंकि वह मरण समय अखण्ड सन्धि लेकर गया है इसलिए सन्धि नहीं टूटती अखण्ड रहता है।

जिसे धर्म के प्रारम्भ की खबर नहीं है उसे धर्म के अन्त और मध्य की खबर कहाँ से हो सकती है ? जिसे धर्म के प्रारम्भ का ज्ञान है, उसे उसके अन्त का अर्थात् केवलज्ञान का भी ज्ञान है, और उसे यह भी ज्ञान होता है कि बीच में समाधिमरण किस प्रकार होता है। सम्यक्त्वी जीव चैतन्यस्वभाव को पर से भिन्न अनुभव करता है, उसमें उसे शंका या सन्देह नहीं होता, किसी से कुछ पूछने नहीं जाना पड़ता। यह सब चतुर्थ गुणस्थान में होता है, जहाँ धर्म का प्रारम्भ है, और उसकी पूर्णतारूप जो केवलज्ञान है उसकी भी सम्यक्त्वी को खबर होती है। पूर्णता किस प्रकार की होती है इसे ज्ञानी भलीभाँति जानता है, और

पूर्णता को सिद्ध करने का बीच का साधक मार्ग भी अच्छी तरह जानता है। साधक दशा में बीच में कौन-कौन से निमित्त आते हैं, और किस प्रकार के शुभराग होते हैं, उन्हें भी भलीभाँति जानता है। समाधिमरण कैसे हो यह भी ज्ञानी भलीभाँति जानता है।

जब नारियल के भीतर खोपरा उसकी छाल से चिपका होता है तब छाल के तोड़ने पर वह खोपरा भी टूट जाता है, किन्तु जब नारियल में पानी नहीं रहता और वह सूख जाता है, तब भीतर का गोला छाल से अलग हो जाता है। ऐसी नारियल की छाल के तोड़ने पर भीतर का गोला ज्यों का त्यों बना रहता है, और वह टूटता नहीं है। इसी प्रकार शरीररूपी नारियल में ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा खोपरे की भाँति विद्यमान है, किन्तु शरीर के साथ एकत्वबुद्धि और राग-द्वेष के कारण मरण समय शरीर पर कष्ट होने से अज्ञानी जीव आकुलित हो उठता है, और ज्ञानी ने विपरीत मान्यता तथा अज्ञान पूर्वक होनेवाले राग-द्वेष को सुखा डाला है, इसलिए ज्ञानी आत्मा को सूखे हुए नारियल के गोले की भाँति शरीर से भिन्न समझता है, इसलिए मरण समय उसका आत्मा आकुलित नहीं होता किन्तु उसका चैतन्य-गोला भलीभाँति पृथक् होकर शरीर को छोड़ता है। ज्ञानी का मरण असाध्य नहीं होता, आनन्दपूर्वक होता है।

कर्म से भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीव धर्मात्मा के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, सम्यक्त्वी को अपने चैतन्यस्वभाव की स्वयं ही खबर होती है, उसे उसमें कोई शंका नहीं होती, और न किसी से पूछने ही जाना पड़ता है।

तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होने से दुरन्त राग रस से परिपूर्ण अध्यवसानों की सन्तति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस सन्तति से अन्य पृथक् चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अज्ञानी कहता है कि तीव्र-मन्द राग से पृथक् कोई जीव नहीं है। देव, गुरु, शास्त्र पर जो राग होता है, सो मन्द राग है, और मकान, स्त्री, पुत्र इत्यादि पर जो राग होता हे सो तीव्र राग है। ऐसा तीव्र मन्द राग ही जीव है; इत्यादि। किन्तु दया, भक्ति, व्रतादि का जो राग है, सो मन्द राग है और हिंसा-झूठ-चोरी-विषयादि का जो राग है सो पाप राग है। अज्ञानी कहता है कि ऐसा तीव्र-मन्द राग दुरन्त है, अर्थात् उससे पार उतरने की हमें जमती नहीं है।

सन्तति अर्थात् एक के बाद एक प्रवाहरूप राग के रस से मेरा चैतन्यरस अलग है।

उस राग-द्वेष के रस की सन्तति को तोड़कर सम्यक्त्वी को आत्मा के निजरस का अनुभव होता है।

जैसे संसार में कमाई करे तो रुपया-पैसा नकद दिखायी देता है, इसी प्रकार धर्म नकद है। रुपया-पैसा तो पर पदार्थ है किन्तु धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, इसलिए वह सुखरूप है। यदि पुरुषार्थ करे तो वह नगद अनुभव में आता है। वीतराग होने से पूर्व भी राग के रस की तीव्रता और मन्दता से आत्मा का रस सर्वथा भिन्न है, इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञानियों को प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, इसलिए धर्म नकदी है।

नई-पुरानी अवस्थादि के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीर से भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियों के स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

शरीर की प्रतिक्षण होनेवाली अवस्था को अज्ञानी अपना मानता है, जबकि वह जड़ की है। आत्मा उसका तीन लोक और त्रिकाल में भी कर्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव अनादिकाल से पर का कर्तृत्व मान रहे हैं। जगत को यह बात समझ में नहीं आयी, और जब समझ में ही नहीं आयी तब श्रद्धा करना तो कहाँ से हो सकता है ? इतना ही क्यों, जगत के जीवों के कान में आज तक यह बात नहीं पड़ी।

शरीर के हलन-चलन और बोल-चाल की नई-पुरानी अनेक प्रकार की अवस्था होती है, वह सब तुझसे भिन्न है, उसका तू कर्ता नहीं है—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। लोग यह समझते हैं कि हमारे द्वारा उंगली ऊँची करने पर ऊँची होती है, किन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि तू एक तिनके के दो टुकड़े भी नहीं कर सकता।

शरीर का मोटा होना, दुबला होना, खुराक मिलना या न मिलना। इत्यादि सब पुद्गल की अवस्था है, वह जीव का स्वरूप नहीं है अर्थात् उसकी सत्ता जीव की सत्ता से भिन्न है। वह पुद्गल की स्वतन्त्र सत्ता है। आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर की अवस्था शरीर में और आत्मा की आत्मा में होती है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है इसलिए वह ज्ञानस्वरूप आत्मा शरीर की अवस्था को कैसे कर सकता है ? हिलना-डुलना इत्यादि सब शरीर की अवस्था है। शरीरादि की अवस्था सब भेदरूप है, वह एकरूप नहीं रह सकती तब ऐसे भेद को तू कैसे कर सकता है ?

प्रश्नः—यह कहा जाता है कि—काया के दोष आत्मा करता है; क्या यह ठीक नहीं है ?

उत्तरः—नहीं, काया के दोष आत्मा नहीं कर सकता। अपने भावों में जो दोष होते हैं, उन्हें उपचार से शरीर के दोष कह देते हैं।

प्रश्नः—तब योग के जो पन्द्रह भेद हैं, उनका क्या अर्थ होगा ?

उत्तरः—शरीर, मन, वचन के जो भंग हैं, सो सब निमित्त के भंग हैं, वह राग के निमित्त का कर्ता स्वयं नहीं है। राग को दूर करने के लिये निमित्त से बात कही है। जिस निमित्त की ओर राग का झुकाव होता है, वह निमित्त के भंग कहलाते हैं। उस राग में मन का निमित्त हो तो मन योग, वचन का हो तो वचन योग, और काय का हो तो काय योग कहलाता है। योग के जो पन्द्रह भंग कहे हैं, उनमें राग से अस्थिरता होती है तब योग का जो निमित्त होता है, वह निमित्त के भंग कहलाते हैं, वे आत्मा के भंग नहीं हैं। आत्मा तो अरूपी ज्ञानघन है, उसमें पन्द्रह भेद नहीं हो सकते। आत्मा में जो विकारी भाव होते हैं उसमें जो निमित्त की ओट में रहकर राग करता है, उस निमित्त पर आरोप करके सत्य-असत्य योग इत्यादि उस ओर के भंग कर दिये गये हैं, तथापि उन योगों का कर्ता आत्मा नहीं है।

राग-द्वेषादि जो भाव होते हैं, उनमें बीच में जो निमित्त आता है, उसे राग का निमित्त कहा जाता है, और निर्मल अवस्था प्रगट करने में बीच में जो देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त आता है, उसे निर्मलता का निमित्त कहते हैं।

आत्मा चिदानन्द ज्ञानमूर्ति है। भीतर उस निमित्त के भंग की ओर का होनेवाला भाव न करे और मैं चिदानन्द शुद्ध आत्मा हूँ ऐसा भाव करे यह समझने के लिये योग के निमित्त की बात कही है, किन्तु निमित्त के कर्तृत्व की बात नहीं कही। मन, वचन और काय जड़ हैं, इसलिए योग के दोषों को दूर करने की बात कहकर उस ओर का राग दूर करने को कहा है, और आत्मप्रतीति करके वीतराग भाव प्रगट करने को कहा है। वैसे तो अज्ञानी भी एक परमाणुमात्र की पर्याय बदलने को समर्थ नहीं है। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कर सके तो दो द्रव्य एक हो जाएँ।

ज्ञानी सम्यक्त्वी जीव शरीरादिक पर पदार्थों से भिन्न चैतन्यस्वभावरूप आत्मा का

प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक भी जीव नहीं है, क्योंकि शुभाशुभभाव से भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

चार गतियाँ पुण्य-पाप का फल हैं। जगत में वे पुण्य और पाप व्याप्त हो रहे हैं, वे भी जीव नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन में प्रतीति होने पर शुभाशुभ भाव से भिन्न आत्मा का अनुभव होता है। ज्ञानी के शुभाशुभ भाव होता तो है, तथापि उन शुभाशुभ भावों से भिन्न होकर आत्मा का अनुभव करता है, क्योंकि अभी यह वीतराग नहीं हुआ है। वीतराग को राग अलग नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह तो अलग हो ही चुका है। चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ को भी ऐसा अनुभव होता है उनकी यह बात है; ज्ञाता-दृष्टा पर से भिन्न चैतन्यस्वभाव ज्यों का त्यों अनुभव करता है।

जिस भाव से भगवान की भक्ति की जाती है वह भी राग है इसलिए यह बात नहीं है कि शुभ परिणाम छोड़ दिये जाएँ और अशुभ किये जाएँ, किन्तु उन शुभ भावों से न तो धर्म होता है न मोक्षमार्ग ही खुलता है। तीन लोक और तीन काल में भी शुभाशुभ करते-करते क्रमशः धर्म प्रगट होनेवाला नहीं है; किन्तु निराले स्वभाव की प्रतीति करने पर ही निराला स्वभाव प्रगट होगा।

शंकाः—जैसे बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, रेलगाड़ी और हवाई जहाज इत्यादि क्रमशः तीव्र गति के लिये आवश्यक होते हैं, और उनके द्वारा जल्दी से जल्दी यथास्थान पहुँचा जाता है, उसी प्रकार शुभ करते-करते शुद्धता तक क्यों न पहुँचा जाएगा?

समाधानः—विकार करने से अविकार कहाँ से होगा? अविकार स्वरूप की श्रद्धा करने पर ही अविकार भाव प्रगट होता है। जाति में से ही जाति आती है, कुजाति से नहीं। बम्बई जाने का मार्ग मालूम न हो फिर चाहे, गाड़ी में बैठे चाहे हवाई जहाज में किन्तु बम्बई कैसे पहुँचेगा? इसी प्रकार आत्मस्वभाव कैसे प्रगट होता है इसे पहले समझे, श्रद्धा करे और फिर उसमें स्थिरता के प्रयत्न में धीमे चले या जल्दी चले, किन्तु मोक्षमार्ग का भान है, इसलिए अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेगा। पुण्य-पाप के भाव मेरे आत्मा में नहीं हैं, मैं ज्ञानमूर्ति आत्मा उन भावों से सर्वथा भिन्न निराला हूँ, ऐसी श्रद्धा करने से धर्म भाव प्रगट

होता है। किन्तु पुण्य भाव स्वयं धर्म है, वही धर्म का मार्ग है और उसी मार्ग से धीरे-धीरे मोक्षपर्याय प्रगट होगी ऐसी मान्यता सर्वथा मिथ्यात्व और पाखण्ड है। शुभभाव अशुभभावों को दूर करने के लिये हैं, किन्तु शुभभाव को धर्म मान बैठना मिथ्यात्व है।

मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है ऐसी प्रतीति होने पर आंशिक शुद्ध पर्याय प्रगट होती है, किन्तु अभी अशुभभाव विद्यमान हैं, पूर्णतया शुद्ध में स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए अशुभभाव को दूर करने के लिये शुभ में प्रवृत्ति करता है, किन्तु पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट होने पर शुभभाव भी छूट जाते हैं। सम्यक्त्वी के उसकी भूमिकानुसार शुभाशुभ भाव होते हैं किन्तु उसमें उसे विवेक होता है। अशुभभावों को छोड़ने के लिये पुरुषार्थपूर्वक शुभ भावों में प्रवृत्त होता है किन्तु उन्हें आदरणीय नहीं मानता, किन्तु वह जानता है कि यह शुभभाव आस्रव हैं, राग हैं, बन्धन हैं, इस प्रकार वह उनका कर्ता नहीं होता। ज्ञानी का झुकाव पूर्णतया स्वरूप में स्थिर हो जाने की ओर ही रहता है, किन्तु वह पुरुषार्थ की मन्दता को लेकर शुभभाव में प्रवृत्त होता है।

साता-असाता रूप से व्याप्त समस्त तीव्रता-मन्दतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होता हुआ कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अनेक प्रकार की अनुकूलताओं से युक्त साता के वेदन और अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं से युक्त असाता के वेदन से भिन्न आत्मा का स्वरूप हमें नहीं बैठता। जो साता का भोग करता है, वह असाता भी भोगता है। साता और असाता दोनों से भिन्न आत्मा कैसे हो सकता है ? इस प्रकार अज्ञानी जीव कहता है और वह जीव को साता-असातारूप ही मानता है।

जिसे पुण्य-पाप के परिणाम से भिन्न आत्मा की खबर नहीं है, और जो यह नहीं जानता कि आत्मा पुण्य-पाप के सूक्ष्म रस से भी सर्वथा भिन्न है, पुण्य के सूक्ष्म रस से भी सर्वथा भिन्न है, और आत्मा का चैतन्य रस जड़रस से सर्वथा भिन्न है, वह आत्मा की सर्वथा भिन्नता की प्रतीति न करके साता के रस को आत्मा का रस मान लेता है। कभी-कभी मन में साता के रस का ऐसा वेदन होता है कि अज्ञानी उसे आत्मा की शान्ति मान लेता है। किन्तु आत्मा में साता के रस का एक सूक्ष्म अंश भी अनुभव में आये तो वह

आत्मा का रस नहीं है, वह पर का रस है, जड़ का रस है। पर का एक अंश भी आत्मा में नहीं है, आत्मा चैतन्यरस से परिपूर्ण है। जिसे यह खबर नहीं है, और जो जड़ के रस को आत्मा का रस मान रहा है, वह मोक्षमार्ग में नहीं, किन्तु बन्धन मार्ग में प्रवृत्त है।

कई लोग कहा करते हैं कि—हमें ध्यान में शान्ति का वेदन होता है, प्रकाश दिखायी देता है, और कई जोगी बाबा कहा करते हैं कि हमें ध्यान में आत्मा का आनन्द आता है। किन्तु वे सब जड़ के प्रकाश को आत्मा का प्रकाश और जड़ के आनन्द को आत्मा का मान रहे हैं। क्योंकि आत्मा अरूपी ज्ञानप्रकाश वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त रूपी प्रकाश से भिन्न प्रकार का है। अज्ञानी उसकी महिमा को नहीं जानता और जड़ की महिमा के गीत गाता है। अरे! प्रकाश के देख लेने से क्या कल्याण हो गया? उससे आत्मा को क्या लाभ हुआ? जिन्हें आत्मस्वभाव की यथार्थ प्रतीति नहीं है, और जिन्हें पर की महिमा जमी हुई है, वे सब बन्ध के मार्ग पर हैं, मोक्षमार्ग पर नहीं।

भीतर 'मणसुहया' नामक प्रकृति का उदय होने पर मन में ऐसी शान्ति मालूम होती है और ऐसा आनन्द लगता है कि अज्ञानी उसे आत्मा का आनन्द मान लेता है। चिदानन्द आत्मा परिपूर्ण और स्वतन्त्र है, ऐसे पर से भिन्न आत्मा की जिसे खबर नहीं है, वह पर से आनन्द मानता है जिसे यही खबर नहीं है कि यह किस प्रकार का आनन्द है, और जो यह नहीं समझता कि यह आनन्द अलग है और मेरे चैतन्य का आनन्द अलग है, वह साता के रस में फँसा हुआ है। वह भले ही ध्यान करता रहता हो तथापि वह मोक्षमार्ग पर नहीं है, किन्तु बन्ध के मार्ग पर है। आत्मा के यथार्थ परिचय के बिना यथार्थ ध्यान नहीं हो सकता। यदि पहले यथार्थ ज्ञान करे तो फिर यथार्थ ध्यान है। तत्त्व की प्रतीति के बिना कहाँ स्थिर होगा। पर में स्थिर होगा।

भीतर ऐसे शुक्ल लेश्या के परिणाम होते हैं कि जिनसे मन में रति का वेदन होता है, किन्तु वह रति का भाग है। उसका वेदन होने पर उसे आत्मा का रस माने किन्तु उस रस से भिन्न आत्मरस को अलग करना न जाने तो वह भी असावधान-अज्ञानी है। संसार की अनुकूलता की साता के वेदन ने आत्मा माननेवाले और 'मणसुहया' नामक प्रकृति की साता में आत्मा माननेवाले-दोनों एक ही प्रकार के हैं।

आज कल बहुत से लोग यह कहा करते हैं कि हम नित्य ध्यान करते हैं किन्तु

आत्मा को जाने बिना ध्यान कहाँ से होगा ? कषाय कुछ मन्द हो, साता प्रकृति का उदय हो, अर्थात् मन में कुछ शांति सी प्रतीत हो तो यह मानने लगता हो कि मुझे आत्मा का आनन्द आ रहा है, किन्तु यदि उससे आत्मा की बात पूछे तो एक भी सच न निकले। आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है; आत्मवस्तु उसके गुण और उसकी पर्याय से परिपूर्ण है। एक रजकण का भी कर्ता नहीं है; रजकण अपने गुण और पर्याय से परिपूर्ण है; दोनों के कार्य भिन्न हैं, जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, किन्तु ध्यान कर रहा है, तो समझना चाहिए कि वह वहाँ अटक रहा है, और मार्ग पर नहीं आया।

जैसे समझदार मनुष्य शक्कर और मिश्री के लड्डुओं की अलग अलग परख कर लेता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी साता और आत्मा के रस का अलग-अलग भेद कर लेता है। आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्य-पाप के रस से भिन्न आत्मा भेद ज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् सम्यग्ज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

वास्तविक अनेकान्त तत्त्व को माने बिना यथार्थ अनुभव नहीं हो सकता उसे आत्मा का वेदन नहीं किन्तु विकार का वेदन होता है। आत्मा अपनी अपेक्षा से भी है और पर अपेक्षा से भी है, ऐसी दृष्टि एकान्त दृष्टि है। उसने दो द्रव्यों को एक माना इसलिए वही सच्ची एकान्त दृष्टि है। आत्मा की अपनी अपेक्षा से अस्ति है, और पर की अपेक्षा से नास्ति है, ऐसी दृष्टि ही सच्ची अनेकान्त दृष्टि है। इस अनेकान्त दृष्टि को माने बिना सच्चा अनुभव नहीं हो सकता।

श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मक रूप से मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्म से भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

यहाँ अज्ञानी कहता है कि हम आत्मा और कर्म दोनों को मानते हैं किन्तु दोनों मिलकर काम करते हैं ऐसा मानते हैं।

प्रश्नः—जब जीव सिद्ध हो जाता है तब दो द्रव्य अलग काम करते हैं या नहीं ?

उत्तरः—अरे, त्रिकाल में अलग काम करते हैं।

एक परिनाम के न करता दरब दोय।
दोय परिनाम एक दर्ब न धरतु है॥ *(नाटक समयसार)*

एक अवस्था को दो पदार्थ एक साथ नहीं करते, और दो अवस्थाओं को एक द्रव्य नहीं करता; यह तीर्थंकरदेव का निश्चित सिद्धांत है।

कर्म की अवस्था को आत्मा तथा कर्म करे अर्थात् एक अवस्था को दो द्रव्य मिलकर करे यह नहीं हो सकता, इसी प्रकार आत्मा ज्ञान करे और शरीरादि की अवस्था भी करे, इस प्रकार एक पदार्थ दो अवस्थाओं को धारण नहीं करता। यदि इस सामान्य सिद्धांत को भलीभाँति समझ ले तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहे।

वस्तु की भिन्नता की प्रतीति के बिना अज्ञानी जीव श्रीखण्ड की भाँति जीव को जीव और कर्म दोनों से मिला हुआ एकरूप मानता है। किन्तु जीव तो सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न है, और कर्मों की अवस्था से भी त्रिकाल भिन्न है।

सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्म की अवस्था से भिन्न चैतन्य स्वभावमय प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसलिए अनुभव से भी सिद्ध होता है कि आत्मा कर्म से भिन्न है।

अर्थक्रिया में समर्थ ऐसा कर्म का संयोग भी जीव नहीं है, क्योंकि लकड़ी के आठ टुकड़ों के संयोग से निर्मित पलंग से भिन्न, उस पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति कर्म संयोग से भिन्न, अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

कर्म का संयोग कर्म की क्रिया करने में समर्थ है, किन्तु वह आत्मा की क्रिया करने में समर्थ नहीं है, इसलिए वह जीव से भिन्न है, जीव स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव आठ कर्म की क्रिया को ही जीव मानता है, और कर्म के संयोग से होनेवाली अवस्था को अपने आधीन मानता है। किन्तु वह कर्म और उसके निमित्त से होनेवाली अवस्था—दोनों से तू अलग है, वह तेरे आत्मा का स्वरूप नहीं है।

ज्ञानावरणीयकर्म ने ज्ञानगुण को, दर्शनावरणीय ने दर्शनगुण को मोहनीय ने प्रतीति और स्थिरता गुण को, तथा अंतराय कर्म ने वीर्य गुण को रोक रखा है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु सच बात तो यह है कि जब स्वयं राग-द्वेष में फँसकर अपनी ज्ञान अवस्था को हीन करता है, तब ऐसा आरोप कथन होता है कि ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को रोक रखा है, इसी प्रकार दर्शन, चारित्र और वीर्य इत्यादि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। स्वयं ही अपने स्वभाव में परिणमित न होकर, उल्टा होकर राग-द्वेष और आकुलतारूप परिणमित

होता है, अर्थात् अपने गुण की अवस्था को स्वयं ही हीन करता है। उसमें कर्म तो मात्र निमित्त अर्थात् उपस्थित मात्र हैं। स्वयं हीन अवस्था को परिणमित होता है, किन्तु कर्म पर आरोप करके कहा जाता है कि इस कर्म ने आवरण डाला है। अरे! यह कहते तुझे लज्जा नहीं आती कि तेरी प्रभुता को चुकानेवाला (भुलानेवाला) कोई अन्य कर्म है?

कुछ लोग कहते हैं कि कर्म अवगुण कराते हैं, किन्तु यह तो विचार कर कि कर्म अवगुण कराते हैं या तू अवगुण करता है, तब अवगुण होते हैं? अपने पुरुषार्थ को तो प्रगट नहीं करता, तब तेरी इस भूल के लिये कर्म क्या करें? वे तो बेचारे पड़े हैं। वे जड़कर्म तेरे चैतन्य को कैसे अवगुण करा सकते हैं? तू जब भूल करता है तब वे मात्र उसमें निमित्त रूप होते हैं निमित्त तो मात्र बारदान के समान है। बारदान बारदान में और माल माल में है। बारदान की क्या कीमत? बारदान वह माल नहीं है। जैसे पलंग और उस पर सोनेवाला जीव दोनों भिन्न हैं, इस प्रकार आठ कर्मों से आत्मा बिल्कुल भिन्न है। भेदज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

आत्मा में कर्म अवगुण कराते हैं, और जब कर्म दूर हो जाते हैं, तब आत्मा में गुण प्रगट होते हैं, यह घोर अज्ञानी के घर की बात है; वीतराग के घर की नहीं।

यद्यपि यहाँ यह आठ प्रकार कहे गये हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी कोई विपरीत कथन करते हों तो उन्हें भी इसी प्रकार समझना चाहिए इस प्रकार भगवान का उपदेश है।

चैतन्य स्वभावरूप जीव सर्व पर भावों से भिन्न है, जो कि भेदज्ञानियों को अनुभवगोचर है। इसलिए यदि अज्ञानी पूर्वोक्त आठ प्रकारों में से किसी प्रकार से जीव को माने तो उस प्रकार जीव का स्वरूप है ही नहीं।

कर्म और आत्मा की एकत्वबुद्धिरूप जो अध्यवसान होता है, अज्ञानी उसी को जीव मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि—जैसे अनेक कलपुर्जे और लट्टू इत्यादि मिलकर घड़ी बनती है, उसी प्रकार शरीर और पुण्य-पाप के भाव इत्यादि मिलकर आत्मा होता है, किन्तु यह निरा भ्रम है, यह बात उपरोक्त आठ बोलों के आठ उत्तरों में भली भाँति कह दी गयी है।

प्रश्नः—कहीं इस समय संसार दशा में कर्म और आत्मा अलग हैं? वे तो सिद्ध होने पर अलग होते हैं?

उत्तरः—ज्ञानी जन अपने अनुभव से स्पष्ट जानते हैं कि—इस समय भी आत्मा और कर्म सर्वथा भिन्न हैं। जो इस समय कर्म से आत्मा को भिन्न नहीं मानता उसका आत्मा कभी भी कर्मों से भिन्न नहीं होगा, और उसे धर्म-लाभ नहीं होगा।

तिलों में रहनेवाला तेल वर्तमान में ही अलग है। जब वह वर्तमान में अलग होता है, तभी तो अलग हो सकता है, इसी प्रकार वर्तमान में कर्म और आत्मा अलग हैं। अतः जब आत्मा सिद्ध होता है, तब अलग हो सकता है। भेद ज्ञानियों को पृथक् आत्मा की प्रतीति केवलज्ञान होने से पूर्व, इसी समय हो रही है। शुभाशुभभाव होने पर भी भेद ज्ञानियों को इसी समय आत्मा की पृथक् प्रतीति हो रही है।

यदि इसी समय जड़ से भिन्न आत्मा की प्रतीति न हो तो वह जड़ से अलग नहीं हो सकता, और उसे पृथकृ जाने बिना सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता, वीतरागता नहीं होती, केवलज्ञान नहीं होता, और मुक्ति नहीं होती।

यहाँ आठ कर्म और पुण्य-पाप के परिणाम इत्यादि को जड़ में ही गिन लिया है, उन सबको मिट्टी मान लिया है। शरीरादिक बाहर की मिट्टी और कार्माण शरीर से उत्पन्न होनेवाले मलिन भाव अन्दर की मिट्टी हैं; भगवान आत्मा इन मिट्टियों से अलग है।

अब, पुद्गल से भिन्न आत्मा की प्राप्ति के प्रति विरोध करनेवालों से, अर्थात् पुद्गल को ही आत्मा माननेवालों से, आत्महित की बात कहकर मधुरता और सम्भाव से उपदेश देते हुए कहते हैं कि—प्रभो! तुम्हारे द्वारा जड़-चेतन की खिचड़ी में आत्मा कैसे मान लिया गया। आचार्यदेव इसी प्रकार प्रेमपूर्वक उपदेश देते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं कि—

विरम किमपरेणाकार्य-कोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुन्सः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ।।३४।।

अर्थः—हे भव्य! व्यर्थ का कोलाहल करने से तुझे क्या लाभ है? तू इस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल-लीन होकर देख; ऐसा छह माह तक अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से तेरे हृदय सरोवर में उस आत्मा की प्राप्ति होती

है या नहीं कि—जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है।

हे भव्य आत्मा! ठहर! तू इस पुण्य-पाप के भाव को अपना मानकर उसमें क्यों अटक रहा है? इस प्रकार तो तू कभी भी पार नहीं पा सकेगा। ऐसा उत्तम अवसर और सत् समागम प्राप्त हुआ, सर्वज्ञ की वाणी कानों में पड़ी फिर भी तू व्यर्थ का कोलाहल क्यों कर रहा है? भला, यह कैसी बात है कि—तुझे अपना स्वरूप समझ में नहीं आता और पर स्वरूप तू समझ लेता है? यह मानव शरीर मिला और आत्मस्वरूप में स्थित होने का सुयोग मिला फिर भी तू कोलाहल कर रहा है कि हमारी समझ में नहीं आता यह तो कठिन मालूम होता है। अब यह व्यर्थ का कोलाहल करना छोड़ दे।

हे भव्य जीव! इस वृथा के कोलाहल से क्या लाभ है? इस शरीर मन्दिर में काम-क्रोधादि विकारों से रहित चैतन्य प्रभु विराजमान है, उसे देख, उसे ढूँढ और उसमें स्थिर हो जा। मैं ऐसा करूँ तो धर्म होगा और वैसा कर डालूँ तो धर्म होगा तथा पर से धर्म तो सकता है, इत्यादि व्यर्थ की कोलाहल छोड़ दे और अब कुछ स्थिर हो, निवृत्त हो।

तैतीस गाथाएँ पूर्ण करते हुए आचार्यदेव ने कहा था कि यह सुनकर किसे भेदज्ञान न होगा? कोई दीर्घ संसारी हो तो उसकी यहाँ बात नहीं है। वहाँ तीन के दो अंकों पर (३३) जो कुछ कहा था वह यहाँ चार के दो अंकों (४४वीं गाथा) में कहते हैं कि हम इतनी इतनी बातों से लेकर कहते आ रहे हैं, तब फिर यह सुनकर किसे आत्मप्रतीति न होगी?

प्रभो! पंचेन्द्रिय के विषयों को बन्द करके भीतर देख कि कैसी निर्मल चैतन्यधारा बह रही है, उसका शरीर, वाणी, पुण्य-पाप के परिणामों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

पंचेन्द्रियों का लक्ष्य बनद करके आँखें बन्द कर ले तो भी भीतर अनेक वर्षों की स्मृति को रख सकने लायक एक वस्तु विद्यमान है; जो अनेक वर्षों की बात को स्मृति में ला सकती है। कल क्या हुआ था, और दस वर्ष पहले क्या हुआ था, यह सब याद आ सकता है, वह याद करनेवाला शरीर और इन्द्रियों से भिन्न चैतन्य भगवान है, चैतन्य पदार्थ है, उसे देख।

एक परमाणु दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, एक आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता; इसलिए अब तू अपने ही आँगन में खड़ा रह। कोई किसी का कुछ कर सकता है, यह मानना त्रिकाल मिथ्या है। इसलिए यह जो कोलाहल है सो तेरे ही घर में, तेरे ही

आँगन में हो रहा है। अब तुझे अपने ही आँगन से अर्थात् अपने ही भाव में रहकर अपनी कितनी हानि करनी है।

स्त्री, पुत्र इत्यादि तेरा कुछ नहीं कर सकते, देव-गुरु-शास्त्र भी तेरा कुछ नहीं कर सकते। कोई तेरा बिगाड़ने या सुधारने में समर्थ नहीं है, और तू भी किसी का कुछ बिगाड़ने सुधारने में समर्थ नहीं है, सर्व द्रव्य असहाय हैं। इसलिए अब तुझे क्या करना शेष रह जाता है ? तू केवल अपने भाव ही कर सकता है। उल्टे या सीधे भाव करना तेरे हाथ की बात है, क्योंकि दूसरे का तू कुछ नहीं कर सकता। जगत का प्रत्येक पदार्थ पर से असहाय है। तू यह मानने को समर्थ है कि जितने विकारी भाव होते हैं सो मैं हूँ, किन्तु विकारी भाव करके तुझे क्या करना है ? अब तुझे अपने ही आँगन में कोलाहल करने से क्या लाभ है ?

मन में जो भाव होते हैं, वे सब तेरे हाथ में हैं, किन्तु विकारी भावों को अपना मानने से तुझे क्या लाभ है ? वस्तु का परम स्वतन्त्र स्वभाव है, तब परभाव को अपना मानकर तुझे कौन सा लाभ मिल जाएगा।

शरीरादि और स्त्री कुटुम्बादि तथा देव, गुरु, शास्त्र तेरा कुछ नहीं कर सकते और तू उनका कुछ नहीं कर सकता इसलिए सब ओर से खदेड़कर तुझे एक ओर तेरे घर में ले आये हैं। अब तू ही कह कि तुझे अपने ही आँगन में, और अपने ही घर में आकर कितनी हानि करनी है ?

तू अपनी जाति और समाज का कुछ भी भला-बुरा करने को समर्थ नहीं है, इसलिए अब अपने ही आँगन में खड़ा रह। और पुण्य-पाप की वृत्ति से अलग हो जा। तू भले ही अपने भीतर कोलाहल कर रहा है, किन्तु पर पदार्थ तेरा कुछ भी नहीं कर सकते, त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भी तेरा कुछ नहीं कर सकते। वस्तु का यह परम सत्य स्वभाव है, इससे अन्य यदि कुछ हो तो वह मिथ्या है।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप के परिणाम और अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि के पुण्य परिणाम हैं, इन दोनों अशुभ और शुभ परिणामों में फँसे रहकर तुझे अब कितना-क्या लाभ निकालना है ? कोलाहल को बन्द कर ! शान्त रह शान्त रह ! और अब अपनी दया कर !

इस शरीर में चैतन्य भगवान सर्वथा पृथक् तत्त्व विद्यमान है, उस चैतन्यमूर्ति में स्थिर हो। स्वयं—स्वतः अनुभव कर, प्रत्यक्ष अनुभव कर। मन, राग और पर की अपेक्षा

से रहित, तथा इस प्रकार परावलम्बन से रहित स्वयं—स्वतः अनुभव कर, पराश्रय के बिना स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव कर। तेरा चैतन्यमूर्ति स्वभाव अलग है उसे पहिचान, उसी में स्थिर हो, चैतन्यमूर्ति आत्मा को स्वयं देख और निश्चल-लीन हो जा।

यहाँ इतना-इतना समझाने के बाद कहते हैं कि अब तू पृथक् हो जा अनुभव कर; यदि एकदम समझे बिना करना चाहे तो नहीं होगा। आचार्यदेव कहते हैं कि छह महीने तो अभ्यास कर निवृत्ति ले सारी बातें छोड़ दे और मात्र चैतन्यमूर्ति को ही भीतर अभ्यास करके पर से अलग कर।

आत्मा ध्रुव चैतन्यमूर्ति पर से निराला अखण्डानन्द है। जैसे ठण्ड के दिनों में घी जम कर घन हो जाता है-कठोर हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा कठिन-कठोर है। जैसे उस कठिन घी में उंगली नहीं जा सकती उसी प्रकार सुदृढ़ आत्मा में अन्य वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती।

जैसे घी अग्नि के संयोग से गर्म होकर ढीला हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा कर्म के संयोग से राग-द्वेष में युक्त हो तो अवस्था में उष्ण होकर ढीला हो जाता है किन्तु द्रव्य तो सुदृढ़ ही है, अखण्डानन्द ही है। वह खण्ड-खण्ड नहीं हो सकता। ऐसे भगवान आत्मा का छह महीने अभ्यास कर।

परदेश में रुपया-पैसा कमाने जाता है तो वहाँ कितने वर्ष लगा देता है ? रुपये-पैसे को अपना मानकर उसका स्वामी बनता है, किन्तु रुपया-पैसा तो जड़ पदार्थ हैं। तब यह तो विचार कर कि जड़ का स्वामी जड़ होता है या चेतन ? जड़ का स्वामी जड़ ही होता है, जो जड़ शरीर और रुपया पैसा इत्यादि को अपना मानता है, वह जड़ ही है, उसे आत्मा की प्रतीति नहीं है। हे मूर्ख ! तुझे तारनेवाला रुपया-पैसा नहीं है, यदि तेरे लाखों-करोड़ों रुपियों को गलाकर तुझे पिला दें तो भी तेरी दुर्गति नहीं रुक सकती; और यदि अपने माने हुए लाखों-करोड़ों रुपये किसी को दान दे दें तो भी धर्म नहीं हो सकता।

धर्म आत्मा का स्वभाव है, उस स्वभाव को कुछ कोलाहल बन्द करके देख। भगवान चैतन्य आत्मा जो कि निजधन से भरपूर है, और जो धन कभी घट नहीं सकता, उसकी बात तुझसे कर रहे हैं, उसे एक बार अभ्यास करके देख ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में जिसका तेज और प्रताप पुद्गल से भिन्न है, उस आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ?

जो लोग कहते हैं कि यह सूक्ष्म बात हमारी समझ में नहीं आती, उनसे आचार्यदेव कहते हैं कि अपने हृदय सरोवर में कुछ खोज करके देख तो सही ?

ऐसा समझे बिना अनन्त बार कुत्ता, बिल्ली और गिजाई इत्यादि की भाँति जन्म-मरण किये किन्तु ऐसे जन्म-मरण का क्या मूल्य है। जब मरनेवाला मरता है, तब घर के लोग एकत्रित होकर रोते हैं, और मरनेवाले के गुणगान कर चलते हैं कि वह बड़े पुण्यशाली थे ? दुनिया के लोग ऐसे ही पागल होते हैं। कहीं पागलों के सींग थोड़े ही उगते हैं ? मेरी स्त्री, मेरे पुत्र, मेरा पैसा और सब कुछ मेरा-तेरा कहते हुए अज्ञानी जीव मूढ़ता पूर्वक मर गया, और मरकर न जाने कहाँ गया होगा, फिर भी लोग कहते हैं कि वह बड़ा पुण्यशाली था, भला वह पुण्यशाली कैसा ? पुण्यशाली तो वह है, जो स्वरूप को पहिचान कर उसमें लीन होकर देह को छोड़ता है। यहाँ स्वरूप की पहिचान करनेवाले को पुण्यशाली कहा है, उसमें पुण्य का अर्थ आत्मा की पवित्रता समझना चाहिए।

तू अपने तत्त्व की पहिचान के बिना कहाँ जाएगा ? तू तत्त्व की पहिचान के बिना ही मानता हो कि मुझे लाभ होगा और धर्म होगा, तो यह बात वृथा है। अपने आत्मस्वभाव की खबर के बिना तू कहाँ जाकर टिकेगा ? लोग जीवन की बाजी लगाकर भी मोती निकालने के लिये समुद्र के नीचे जाते हैं, और इतना घोर परिश्रम करते हैं किन्तु जब आत्मा का अभ्यास करने की बात आती है तो उसके लिये परिश्रम करने को जी नहीं करता।

लोग बड़े-बड़े वेतन पाते हैं और मानते हैं कि यह हमारे परिश्रम और चतुराई का फल है, किन्तु यह मिथ्या हे, वह तो पूर्वकृत पुण्य का फल है। इसी प्रकार उच्च पढ़ाई करके बड़ी-बड़ी पदवियाँ पा लेना भी वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है। पहले ज्ञानावरणीयकर्म का अल्प बन्ध किया होगा इसलिए ज्ञान का विकास बना रहा इसी से वर्तमान में बुद्धि और कला दिखायी देती है, और पहले कुछ कषाय मन्द की होगी, इसलिए वर्तमान में पुण्य का उदय दिखायी देता है। तथापि यदि आत्मा का परिचय करे तो यह वर्तमान पुरुषार्थ का फल है, धर्म पूर्वकृत पुण्य से नहीं होता किन्तु वह वर्तमान पुरुषार्थ से ही होता है, इसलिए उसके लिये परिश्रम करना कठिन मालूम होता है। जो पुरुषार्थ से नहीं होता उसमें परिश्रम मानता है चेष्टा करता है और जो पुरुषार्थ से होता है उसके लिये परिश्रम नहीं करता। बड़े से बड़े अधिकारी का पद पा लेना वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है। रुपया-पैसा प्राप्त करने

का राग है, तब तक जिस किसी व्यापार या नौकरी इत्यादि से पैसा मिलना हो उस प्रकार का विकल्प आये बिना नहीं रहता। बुद्धि का विकास होना दूसरी बात है। यदि आत्म-प्रतीति के लिये पुरुषार्थ नहीं किया, तो सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। इसलिए कहते हैं कि यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो आत्मस्वरूप की प्राप्ति अवश्य हो।

एक भंगी का बालक भी बुद्धिशाली हो सकता है, और एक वणिक का पुत्र भी वज्र मूर्ख हो सकता है। ऐसा भी देखा जाता है कि—कोई वणिक पुत्र दस वर्ष में भी जो कुछ नहीं लिख पाता उससे कई गुना अधिक और अल्प समय में कोई भंगी का पुत्र पढ़ लेता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि का विकास होना वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है। यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो तत्काल ही आत्मा का लाभ पुरुषार्थ से हो जाता है; यदि परवस्तु हो तो तत्काल प्राप्ति नहीं हो सकती।

अपना स्वरूप तो विद्यमान है किन्तु उसे भूल रहा है। यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने पास है, अथवा यह कहना चाहिए कि वह तू ही है। चैतन्य भगवान ज्ञान-आनन्द से भरपूर है। शरीर, मन, वाणी इत्यादि सब धूल समान हैं। मैं करूँ, धरूँ यह भाव और हिंसा-अहिंसा का भाव सब विकार हैं। और भीतर जो चैतन्यमूर्ति भगवान है वह तो निराला निर्विकार है; उसे तू देख तो सही! उसकी प्राप्ति के लिये एक बार छह महीने तक उसी के पीछे लगकर अभ्यास कर और फिर देख कि आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं। धर्म आत्मा का स्वभाव है, उस स्वभाव को निश्चल होकर एक बार तो देख। जिसका तेज-प्रताप अखण्ड है, उसका एक बार छह महीना अभ्यास कर और देख कि आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं। अवश्य प्राप्ति होगी।

यदि सावधान होकर देखे तो राग-द्वेष और शरीर रहित जैसा सिद्ध भगवान का स्वरूप है वैसा ही आत्मा भीतर विराजमान है वैसा ही तुझे अनुभव होगा।

यहाँ जो छह महीने के अभ्यास की बात कही है, इसका यह अर्थ नहीं है कि इतना ही समय लगेगा, क्योंकि उसके लिये तो मुहूर्त मात्र ही पर्याप्त है। तू यदि आत्मस्वरूप को प्रगट करने के लिये अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट में ही हो सकती है, किन्तु शिष्य को यह बहुत कठिन प्रतीत होता है, इसलिए यहाँ छह महीने का समय कर दिया है। यहाँ कोई यह कह सकता है कि यह छह महीने में आत्मस्वरूप प्रगट

हो सकता हो तब तो यह बहुत सरल है; आचार्यदेव कहते हैं कि—वह सरल तो है ही, अपने स्वभाव को जान ले तो वह तुझमें ही है, जो कि सरल ही है। कोई यह भी कह सकता है कि यह अभ्यास तो बहुत कठिन मालूम होता है। हम तो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान में दे सकते हैं, और उससे यदि धर्म लाभ होता हो तो ऐसा करने को तैयार हैं। किन्तु यह तो विचार कर कि—यह रुपया-पैसा तेरी वस्तु कहाँ है ? वह तो पर वस्तु है, इसलिए उससे धर्म कैसे हो सकता है ? धर्म तो तुझे अपना करना है, तब वह तेरा धर्म तेरी वस्तु से प्रगट होगा या परवस्तु से ? तेरी वस्तु तेरे पास है, उसी से धर्म होगा। आत्मा ने अपने स्वभाव को भूलकर पर लक्ष्य किया है, इसलिए उसे यह सब दुर्लभ प्रतीत होता है।

'अनुभव प्रकाश' में चाँपा नामक एक ग्वाले की कहानी है कि—एक चाँपा नामक ग्वाला था जो सबकी गायें चराने जाता था। लोग उसके यहाँ पूछने आया करते कि चाँपा! मेरी गाय आ गई ? एक बार चाँपा शराब पीकर घर आया, और जिस प्रकार दूसरे लोग पूछा करते थे उसी प्रकार वह भी (अपने को भूलकर) अपने द्वार पर खड़ा होकर पूछने लगा कि भाई चाँपा! क्या मेरी गाय आ गयी ? उसकी स्त्री ने आकर देखा कि यह तो चाँपा ही बोल रहा है, तो उसने कहा कि तुम ही तो चाँपा हो, जरा होश संभालो, यह क्या कह रहे हो ? तब उसे होश आया और वह समझ गया कि मैं ही चाँपा हूँ।

इसी प्रकार आत्मारूपी चाँपा ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह अज्ञान के कारण अपने को भूला हुआ है; शरीरादिक और रागादि को अपना मानने से उसे यह हो गया है कि वही मैं हूँ; क्योंकि उसे अनादि काल से यही अभ्यास है। जब उसे समझानेवाले श्रीगुरु मिले तो उन्होंने कहा कि तेरा स्वरूप तो परम निर्मल सिद्ध समान है, तूने जो मान रखा है, सो वह तेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जब वह गुरु वचन सुनकर सावधान हो जाता है, तो उसे मालूम होता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अपने को भूला हुआ था।

जीवों को इस काल में यथार्थ को समझना दुर्लभ हो गया है। इस पंचम काल में अनेक स्थलों पर उल्टी प्ररूपणा हो रही है, और स्वयं समझ नहीं पाते, इसलिए लोगों को यथार्थ का समझना कठिन हो गया है। जब आत्मा की बात होती है, तब कहते हैं कि सुबह-शाम आत्मा की ही बात क्यों होती है ? किन्तु यह तो विचार कर कि आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कौन सी बात करनी है ?

सत् समागम के द्वारा आत्मास्वरूप का श्रवण करके समझने का प्रयत्न करे तो समझ में आय, किन्तु चैतन्य मूर्ति को भूलकर राग-द्वेष पुण्य-पाप में फँसा है इसलिए वह कठिन होता है। किन्तु यह अनभ्यास के कारण और विपरीत मानने के कारण कठिन मालूम होता है। शास्त्रों में बोधीबीजदुर्लभ की बात आती है, किन्तु अपने स्वभाव की अपेक्षा वह सुलभ ही है। यदि उसके लिये एक बार परिपूर्ण अभ्यास करे तो छह महीने से अधिक समय नहीं लगेगा।

आजकल तो लोगों ने बाह्य अभ्यास को ही सब कुछ मान रखा है।

श्री देवचन्द्रजी ने कहा है कि:—

द्रव्य क्रिया रुची जीव को रे, भाव धरम रुचि हीन;
उपदेशक वैसे मिले, तो—क्या करे जीव नवीन, रे।

आजकल जीवों की भावभासनपूर्वक भावधर्म की रुचि कम हो गयी है। आत्मा क्या है ? धर्म क्या है ? मोक्ष क्या है ? और मोक्षमार्ग क्या है ? इसके यथार्थ स्वरूप को समझने की रुचि कम हो गयी है; और बाह्य जड़ की क्रिया में ही जीव रचपच रहे हैं, किन्तु क्या जड़ की क्रिया से चैतन्य का धर्म हो सकता है ? इतना भी विचारने का अवकाश नहीं है। क्या किया जावे उपदेश देनेवाले भी ऐसे ही मिलते हैं, इसलिए बेचारे जीव क्या नवीन कर सकते हैं ?

आजकल जीव जड़ क्रिया में ही धर्म मान बैठे हैं। धर्म क्या है, इसकी उन्हें कोई खबर नहीं है। वे तो जिस तरफ का उपदेश सुनते हैं उसी ओर हाँ जी हाँ कहने लगते हैं। जैसे ध्वजपुच्छ जिधर की हवा होती है, उधर ही हिलता है इस प्रकार स्वयं कुछ निर्णय न करके जहाँ का उपदेश सुनता है वही कहने लगता है कि—'सत्य वचन महाराज' इस प्रकार सत्य-असत्य की परीक्षा न करके जो सरल होता है, उसी को मान लेता है और जहाँ आत्मा की बात होती है वहाँ कहता है कि—यह तो सारे दिन आत्मा ही आत्मा की बात करते रहते हैं; इस प्रकार उस बात में अरुचि प्रगट करता है। किन्तु यदि कोई रुपया-पैसा, क्रियाकाण्ड या शुभ परिणाम से धर्म होना बताये तो वह रुचिकर मालूम होता है और कहता है कि आप जो कहते हैं सो वही ठीक है, इससे शीघ्र ही मनुष्यभव से छुटकारा हो जाएगा ? किन्तु वह भी मिथ्या नहीं है, इससे भव का छुटकारा नहीं तो मनुष्यभव का छुटकारा

अवश्य हो जाएगा, अर्थात् मनुष्यभव को हारकर दुर्गति में जाएगा, और अनन्त काल में भी पुनः यह मनुष्यभव मिलना कठिन हो जाएगा।

जिस भाव से बन्ध होता है, उस भाव से मोक्ष नहीं होता, जिस भाव से मोक्ष होता है, उस भाव से बन्ध नहीं होता, जिस भाव से मनुष्यत्व मिलता है उस भाव से मोक्ष नहीं होता जिस भाव से तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है, उस भाव से मोक्ष नहीं होता, और जिस भाव से मोक्ष मिलता है, उस भाव से तीर्थंकर प्रकृति या मनुष्यत्व इत्यादि कुछ नहीं मिलता। आचार्यदेव कहते हैं कि जिस विधि और पद्धति से कहा जा रहा है, उसे भलीभाँति समझ ले तो जन्म-मरण न रहे अवतार न रहे, बन्धन न रहे।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जिसमें तेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उसमें व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहा है, किन्तु जो हम कहते हैं उसमें एक बार तू छह मास तो अभ्यास कर; चैतन्यस्वरूप को समझकर उसमें लीन होने का एक बार सततरूप से उसके पीछे लगकर छह मास अभ्यास कर यदि सचमुच ही एक बार छह महीने अभ्यास कर लेगा तो आत्मा की प्राप्ति हुए बिना न रहेगी।

यहाँ शिष्य पूछता है कि भगवन? आत्मा में जो पुण्य, पाप, दया, हिंसा और भक्ति, पूजा या व्रतादि के भाव होते हैं, उन्हें आपने जीव नहीं कहा, किन्तु उससे भिन्न आत्मा का जो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, उसे जीव कहा है, किन्तु यह पुण्य-पापादि के भाव तो कथंचित् चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखते हैं, किसी प्रकार से चैतन्य की अवस्था में प्रतिभासित होते हैं, वे चैतन्य के अतिरिक्त लकड़ी आदि जड़ पदार्थों में होते हुए दिखायी नहीं देते। यहाँ शिष्य को जिज्ञासा हुई इसलिए अपने परिणाम को देखना सीखा है। उसके कहने का तात्पर्य यह कि—हर्ष-शोक, सुख-दुःख और उसका वेदन आत्मा के साथ सम्बद्ध प्रतिभासित होता है, किन्तु वे भाव कहीं जड़ में दिखायी नहीं देते तब उन्हें जड़ का क्यों कहा है? शिष्य को भीतर जो राग-द्वेष की आकुलता का वेदन हो रहा है, उसे देखकर प्रश्न किया है। आचार्यदेव ने ४५वीं गाथा में आकुलता और अनाकुलता का स्वरूप समझाया है।

आचार्यदेव ने पुण्य-पाप के मलिन भावों को जड़ का कहा है। शरीरादि के रजकण तो जड़ हैं ही, किन्तु भीतर जो काम-क्रोध के विकारी भाव होते हैं, उन्हें भी जड़ कहा है।

जितनी पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, वह सब बाह्य लक्ष्य से होती है। वह सब उपाधि है। जो उस उपाधि जितना ही आत्मा मानता है, वह अपने निर्मल स्वभाव को अलग नहीं मानता, इसलिए उनसे अलग होना, धर्म करना और मुक्ति प्राप्त करना इत्यादि कुछ भी नहीं रहा। जिसे पर के प्रति अपनेपन की बुद्धि है, उसे अपनी श्रद्धा नहीं है, अपने पृथक् निर्मल स्वभाव की प्रतीति नहीं है। जिसने विकार को अपना मान रखा है, वह उसे दूर करने का और स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न क्यों करेगा? आचार्यदेव कहते हैं कि विकार भावों को अपना न मान और स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र करके स्थिर हो तो वे विकार दूर हो जाएँगे।

हिंसादि के अशुभ परिणाम और दया, दान, पूजादि के शुभ परिणाम सब विकारी परिणाम हैं, उनसे रहित मात्र चैतन्यस्वभाव की निराली प्रतीति, ज्ञान और स्थिरता ही मोक्ष का मार्ग है; इसके अतिरिक्त तीन काल, तीन लोक में कोई दूसरा मार्ग मुक्ति का नहीं हो सकता।

जब बन्धन भाव का नाश करना चाहते हैं, इससे सिद्ध होता है कि बन्धन भाव और बन्धन से मुक्ति दोनों आत्मा में हैं, पर में कहीं नहीं हैं; और बन्धन भाव से पृथक् जीव स्वभाव भी है, इसलिए बन्धन भाव को नाश करने का भाव होता है।

यहाँ शिष्य कहता है कि प्रभो! आपने तो मात्र स्वभाव, जागृत स्वभाव, ज्ञातास्वभाव को जीव कहा है; जो भाव होते हैं उन्हें जान लेना, किन्तु उन भावों में एकमेक न होना अर्थात् उन्हें दूर कर देना, इस प्रकार मात्र चेतन होने के स्वभाव को ही जीव कहा है, किन्तु भीतर जो क्रोधादि भाव होते हैं, वे कहीं लकड़ी इत्यादि में नहीं होते, किन्तु चैतन्य में दिखायी देते हैं, वे किसी अपेक्षा से चैतन्य में होते हों ऐसा मालूम होता है, वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखते हुए दिखायी देते हैं। लकड़ी आदि में काम-क्रोध होता हो ऐसा कभी न तो सुना है और न देखा है, वह तो पुद्गल है, जड़ है, उसमें कहीं भी आत्मा नहीं है।

जड़ में कहीं क्रोध दिखायी नहीं देता। कहीं मुर्दा भी क्रोध करता है? दया, सत्य आदि के पुण्य परिणाम और हिंसा-असत्य आदि के पाप परिणाम—सब आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हों ऐसा मालूम होता है। किन्तु प्रभो! आपने तो उन्हें निरा जड़ कहा है। इन समस्त विकारी परिणामों को तो जड़ कहा ही है किन्तु यदि उन्हें अपना मानूँ तो मुझे भी

जड़ कहा है; किन्तु प्रभो! वे सब विकारी भाव मुझमें होते हुए प्रतीत होते हैं, सत्य बोलूँ या असत्य बोलूँ वह सब मेरे परिणाम में होता हुआ मालूम होता है। इसलिए मेरा समाधान करने की कृपा कीजिये।

उसके समाधानार्थ गाथा कहते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।।४५।।

अर्थः—आठ तरह के कर्म हैं, वे सब पुद्गल स्वरूप हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है, और कहा है कि—पक्व होकर उदय में आनेवाले उन कर्मों का फल प्रसिद्ध दुःख है।

यहाँ शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई धैर्य रख! आत्मा तो निराला तत्त्व है वह अनन्त ज्ञान सुख इत्यादि से परिपूर्ण है, और जो विकार है सो दुःखस्वरूप है, तथा दुःख अपना स्वभाव नहीं है, इसलिए वह पुद्गलमय है। अनादिकालीन भूल के कारण विकारी परिणाम को अपना मान रखा है, विकारी परिणाम में अटक रहा है और यह मान बैठा है कि—मैं शुभाशुभ परिणाम जितना ही हूँ। इसलिए तेरी भूल के कारण तेरा हित नहीं होता, अब तू अपनी भूल को छोड़ और आत्मा में स्थिर हो जा। धर्म कहाँ होता है वह आचार्यदेव बतलाते हैं। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। आत्मा एक वस्तु है, इसलिए आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। वह धर्म कहीं बाहर नहीं किन्तु आत्मा में ही है। पुण्य-पाप आदि अपना मूल स्वरूप नहीं है इसलिए वह पुद्गलमय है; वह आकुल स्वरूप है, आत्मा अनाकुल स्वरूप है इसलिए विकारी भाव पुद्गल कर्म का फल है, अतः वह पुद्गलमय है।

अध्यवसान आदि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाले आठों प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म-सब पुद्गलमय हैं, ऐसा सर्वज्ञदेव का वचन है।

यद्यपि सभी आत्मा समान हैं, किन्तु उनमें से किसी के ज्ञान का विकास कम और किसी का अधिक दिखायी देता है, सो इसका कारण स्वयं की गयी अनादिकालीन भूल है। अपने ज्ञान के विकास में न रहकर स्वयं ही ज्ञान की हीन अवस्था कर डाली है। स्वयं

ज्ञान के विकास में नहीं रहा तब ज्ञानावरणीय कर्म को निमित्त कहा जाता है कि ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को रोक रखा है।

स्वयं अपनी दर्शनशक्ति के विकास में न रहकर पर में दृष्टि करके स्वयं अटक रहा है, तब दर्शनावरणीयकर्म को निमित्त कहा जाता है कि दर्शनावरणीय ने दर्शनगुण को रोक रखा है।

मोहनीय अर्थात् स्वयं अपनी आनन्द शक्ति को भूलकर अपने को राग-द्वेषरूप माने और विकारी भावों में अटक जाये तब मोहनीय कर्म की उपस्थिति होती है।

अन्तराय अर्थात् मैं अनन्त वीर्यवान हूँ, ऐसा न मानकर मैं शक्ति हीन हूँ ऐसा अपने बल को हीन मानता है, इसलिए उसका बल रुक जाता है। और जब इस प्रकार रुक जाता है तब वीर्यान्तरायकर्म को निमित्त कहा जाता है कि वीर्यान्तराय कर्म ने वीर्य-बल को रोक रखा है; किन्तु पर द्रव्य आत्मा को नहीं रोक सकता, किन्तु जब स्वयं अटक जाता है तब ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को निमित्त कहा जाता है।

शेष चार अघातिया कर्म बाह्य संयोगों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, और वे चारों कर्म बाह्य फल देते हैं।

साता-असाता का होना सो वेदनीय कर्म है। शरीर में सुख-दुःख का होना वेदनीय कर्म के कारण है।

शरीर का टिकना या न टिकना आयुकर्म के कारण है। यदि कोई कहे कि मैं शरीर को अधिक समय तक टिकाये रखूँ तो वह नहीं टिक सकता जितनी आयु होती है, उतना ही टिकता है। इसका कारण आयुकर्म है।

शरीर का सुन्दर या असुन्दर होना सुस्वर या दुस्वर होना अथवा शरीर की अच्छी-बुरी आकृति का होना इत्यादि सबका कारण नामकर्म है।

उच्च—नीच जाति में अवतार होने का कारण गोत्रकर्म है।

जैसे इस शरीरादि की स्थूल मिट्टी है, उसी प्रकार भीतर कार्मण-शरीर की सूक्ष्म मिट्टी है, जो कि पुद्गल ही है। आचार्यदेव कहते हैं कि—आठों कर्म की मिट्टी पुद्गलमय है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

यदि सामने निमित्तरूप कोई दूसरी वस्तु न हो और मात्र आत्मा ही भूल करे तो भूल आत्मा का स्वभाव हो जाये, और यदि भूल स्वभाव हो आये तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। ज्ञानस्वरूप—आनन्द स्वरूप अकेला हो और साथ में कोई दूसरी वस्तु न हो तो फिर भूल होने का कारण ही क्या हो सकता है ? इसलिये दूसरी वस्तु भूल में निमित्त है, और उस दूसरी वस्तु का उपाधिभाव अपने में कल्पित किया जाता है। जब यह समझा जाता है कि वह अपने में है, तब वह दूसरी वस्तु कर्म, उस भूल में निमित्त होती है। दूसरा निमित्त सामने है, इसलिए उसके उपाधिभाव को अपना मानता है और स्वयं भूलता है। दूसरी वस्तु हो तो भूल होती है, मात्र अपना शुद्धस्वरूप हो तो उसे भूलने का कारण क्या है ? साथ में दूसरी वस्तु हो, और वह यदि अपनी मान ली जाए तो अपने आनन्द स्वरूप से विचलित होता है। इसलिए दूसरी वस्तु कर्म है और भूल होने में उसकी उपस्थिति होती है। यद्यपि स्वयं ही भूल करता है, किन्तु भूल होने में पुद्गल कर्म की उपस्थिति है।

स्वाश्रय से भूल नहीं होती अकेला कभी भूल को नहीं करेगा, चेतन जब तक वर्तमान दशा में मोही है तब तक भूल कर सकता है। भूल में निमित्त तो विलक्षण जाति का कर्म है। जो विलक्षण जाति का होता है वही भूल में निमित्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्म ही भूल में निमित्त है।

जब कर्मफल में युक्त होता है, तब राग-द्वेष होता है, किन्तु भीतर आत्मा के गुणों में युक्त हो तो राग-द्वेष नहीं हो सकते। यदि आत्मगुणों में युक्त होने से भी राग-द्वेष होने लगें तो वे दूर कैसे होंगे ? तात्पर्य यह है कि कर्म के फल में युक्त होने से राग-द्वेष होता है, अतः वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जितना विकारी भाव होता है, वह आत्मा के आनन्द को रोकनेवाला है, इसलिए जो आत्मानन्द को रोकता है, वह आत्मा की जाति का कहाँ से हो सकता है ? कर्म का स्वरूप आत्मा से विलक्षण जाति का दुःख स्वरूप है। कर्म कहो या राग-द्वेष रूप विकारी भाव कहो—दोनों एक ही हैं, क्योंकि पुद्गल कर्म के आश्रय करने से होनेवाले राग-द्वेष पुद्गलमय हैं, इसलिए दोनों को एक कहा है।

निमित्त पर दृष्टि करने से पुण्य-पाप के भाव होते हैं, और आत्मा पर दृष्टि रखने से पुण्य-पाप के भाव नहीं होते। राग-द्वेष पर संयोग से होते हैं, इसलिए वे पर के हैं। अशुद्ध

अवस्था अपने में होती है, किन्तु वह अपने त्रैकालिक स्वभाव में नहीं है, इस अपेक्षा से उसे पर का कहा है।

कुछ लोग कहते हैं कि यह बात बहुत सूक्ष्म है इसलिए हमारी समझ में नहीं आती। किन्तु व्यापार-रोजगार में सूक्ष्म से सूक्ष्म बात कैसे समझ में आ जाती है ? वहाँ तो सारी बुद्धि और चतुराई लगा कर पूरा प्रयत्न किया जाता है। किन्तु वहाँ भी व्यापार की कला आनी चाहिए। उसमें भी यदि पुण्य होगा तो रुपया मिलेगा और यदि पुण्य नहीं होगा तो चाहे जितने परिश्रम, सयान और चतुराई के बाद भी एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिलेगी। देखो तो सही कि—जो पुण्याधीन है, अपने हाथ की बात नहीं है, वहाँ तो अपना सारा सयान लगाता है, परिश्रम करता है, मानता है। किन्तु जो अपने हाथ की बात है, जिसे स्वयं कर सकता है, ऐसे आत्मा के हित की बात होती हो तो कहता है कि यह हमारी समझ में नहीं आती ! इस प्रकार जीवों ने अनन्त काल से अपने को समझने की चिन्ता ही नहीं की।

यह आत्मा एक वस्तु है, पदार्थ है, ध्रुव-अविनाशी वस्तु है, ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है; ऐसे आत्मा में अच्छे-बुरे का विकल्प नहीं हो सकता। किन्तु जो अच्छे-बुरे के भाव होते हुए दिखायी देते हैं वह कर्मजनित उपाधि है। उस कर्मजनित उपाधि को निश्चय से अपना मानना ही विपरीत अध्यवसान है। विपरीत अध्यवसान—विपरीत रुचि—विपरीत मान्यता, यह सब कर्मजनित उपाधि है, इसलिए पुद्गल है; ऐसा सर्वज्ञ भगवान का वचन है।

अनाकुलता है लक्षण जिसका—ऐसा सुख नामक आत्मस्वभाव है उससे सर्वथा विलक्षण होने से जो विपाक को प्राप्त वे कर्मफल दुःखरूप हैं।

विपाक की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए कर्मफल का अर्थ यह है कि जैसे कच्चे चावल पक जाते हैं, तब वह उनका पाक कहलाता है, अथवा चिरायते को उबलाने से जो कड़वा अर्क उतर जाता है, वह चिरायते का पाक कहलाता है; इसी प्रकार कर्मों ने जो शुभाशुभरूप फल दिया सो वह कर्मों का पाक है, वह आत्मस्वभाव से विपरीत लक्षणवाला होने से दुःखरूप है। आत्मा आनन्दमूर्ति सुख का सागर है, उसमें जो राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भाव का स्वाद आता है, वह कर्म का स्वाद है।

लोग कहते हैं कि आम खाने से हमें आम के रस का स्वाद आ गया, किन्तु यह

तो विचार करो कि आम जड़ है या चेतन ? सभी कहेंगे कि आम जड़ रजकणों का समूह है, किन्तु क्या जड़ रजकणों को चेतन खा सकता है ? वास्तव में बात तो यह है कि यह आम मीठा है, इसे आत्मा मात्र जानता है, किन्तु अनादिकाल से मूढ़ आत्मा ने कभी विचार नहीं किया कि यह रसास्वाद कहाँ से आता है, वह तो यही मानता है कि—मुझे पर पदार्थ से रस आता है—स्वाद मिलता है।

इसी प्रकार पुण्य-पाप के रस का स्वाद कर्म में से आता है किन्तु आत्मा अपने निराकुल आनन्द को भूलकर शुभाशुभ भाव के रस को अपना स्वाद मानता है।

यद्यपि आम का रस आम में है; किन्तु उसे अपना मानकर विपरीत मान्यता से अज्ञानी राग करता है। कोई आम या खीर किसी बर्तन में रखा हो तो वह अपने में है, और यदि मुँह में आ गया हो तो भी वह अपने में है; मुँह में आ जाने से कहीं वह आत्मा में नहीं आ जाता। इसी प्रकार कर्म का रस कर्म में होता है, कर्म का है, और विपाक में आकर भी कर्म का ही है।

मैं शुद्ध चैतन्य पवित्र हूँ, इस पर दृष्टि न देकर आत्मा के अनाकुल सुख स्वभाव को भूलकर उससे विलक्षण-विपरीत लक्षणवाले आकुलतारूप शुभाशुभ वृत्तियों के जो भाव हैं वे कर्म का विपाक हैं और दु:खरूप हैं, उन्हें अपना मान रखा है, वह दु:ख है।

विकारी अवस्था के पाक पर दृष्टि करता है इसलिए उसे आकुलता होती है। शरीर में बुखार आया कि हाय तोबा करने लगता है। किन्तु यह विचार नहीं करता कि बुखार कहाँ आया है ? शरीर के रजकण गरम हो जाते हैं और उन पर तेरी दृष्टि जाती है, इसलिए दु:ख करने लगता है। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उस पर यदि दृष्टिपात करे तो हर्ष-शोक न हो। यह स्पर्श भले ही उष्ण हो जाए किन्तु आत्मा उष्ण नहीं होता, किन्तु जहाँ स्पर्श उष्ण होता है वहाँ उसे आत्मा पर आरोपित करके अपने को उष्ण मान लेता है, और कहता है कि मुझे बुखार आ गया ? किन्तु यह तो विचार कर कि शीत और उष्ण जड़ शरीर होता है कि तू ? जब शरीर शीत-उष्ण होता है तब अज्ञानी आत्मा यह मानता है कि मैं शीत-उष्ण हुआ हूँ, और इसप्रकार उस कर्म के विपाक पर दृष्टि की इसलिए दु:ख है।

आत्मा स्फटिक जैसा शुद्ध है उसमें कर्म का फल ज्ञात होता है। वह जहाँ ज्ञात हुआ कि उसे अपना मान लिया सो यही दु:ख है। पुण्य-पाप का संयोग मिलने पर उसमें जो

अपने अनुकूल होता है, उसे सुख मान लेता है और जो प्रतिकूल होता है, उसे दु:ख मान लेता है। वह मूढ़ है।

दु:ख में ही आकुलता लक्षण अध्यवसान आदि भावों का समावेश होता है, इसलिए तथापि चैतन्य के साथ होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, किन्तु वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, पुद्गल स्वभाव हैं।

कर्म का फल दु:ख है और दु:ख का लक्षण आकुलता है, उस आकुलता में सभी शुभाशुभ भाव आ जाते हैं, शुभ और अशुभ दोनों भाव आकुलता स्वरूप हैं वह आत्मस्वभाव नहीं किन्तु कर्म का फल है। आत्मा ज्ञाता न रहकर कर्म के निकट जा खड़ा हुआ सो वह दु:ख और आकुलता स्वरूप ही है। जो जिसके निकट जा पहुँचता है वह उसी जैसा हो जाता है। जैसे कोई ब्रह्मचारी या सती किसी कुलटा या कुलिंग का संग करे तो समझना चाहिए कि उसे कुलटा या कुलिंग के भाव की प्रीति है, इसलिए वह सच्चा ब्रह्मचारी या सती नहीं है। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने कर्म को कुशील स्वभाव कहा है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो उस स्वभाव को अपना माने और आत्मस्वभाव को भूले उसे भगवान कुशील कहते हैं। जो आत्मा का संग छोड़कर पर का संग करता है, वह कुशील है। आत्मा का अन्तर विषय भूल कर जितना बाह्य पुण्य-पाप के विषय पर लक्ष्य जाता है, वह कुशील है, वह दु:ख ही है।

प्रश्न:—पाप तो खराब है ही किन्तु क्या पुण्य भी बुरा है ?

उत्तर:—पाप के भाव छोड़ने के लिये पुण्य के भाव करना हेयत्व की बुद्धि हो तो ठीक है। किन्तु पुण्य-पाप को अपना मानना आत्महत्या करने के समान है। पुण्य से आत्मधर्म होता है यह माननेवाला भी आत्मा की हिंसा ही कर रहा है। धर्म तो आत्मस्वभाव को पहिचानने से ही होता है। जो आत्मस्वभाव है, उसकी यथार्थ प्रतीति हुए बिना, यथार्थ प्रवृत्ति (चारित्र) नहीं हो सकती।

आत्मा सुखस्वरूप है, उस ओर दृष्टि न करके अपने को हीन मानकर लक्ष्मी आदि की ओर राग करे तो दु:ख है, और जो दु:ख है सो अपना स्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गल-कर्म का फल होने से वह पुद्गल का स्वभाव है। वह दु:ख चैतन्य की पर्याय में होता हुआ दिखायी देता है, इसलिए ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है कि मानों वह चैतन्य का स्वभाव ही

है; किन्तु वास्तव में वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है।

पुराने पुण्य-पाप का भोक्ता हुआ इसलिए नवीन कर्मों का कर्ता हुआ; और वह कर्म का कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही दुःख है। यदि स्वभाव में ही कर्ता-भोक्ता रहे तो आकुलता न हो, और जो अल्प रागादि हो उसे अपना न माने।

पुराने पुण्य फलित होना भी दुःख है और नवीन पुण्य का बन्ध होना भी दुःख है, क्योंकि पुण्य आत्मा का स्वभाव नहीं किन्तु विकार है; उसे अपना मानना अनन्त जन्म-मरण का कारण है।

आत्मा शुभाशुभभाव कर सकता है, दूसरे का कुछ भी कर सकने की बात तीन काल और तीन लोक में मिथ्या है। शुभाशुभभाव आत्मा का स्वभाव नहीं है, शुभाशुभभाव और हर्ष-शोक के भाव आत्मा की निर्मल ज्योति से विलक्षण हैं इसलिए वे सब दुःख ही हैं। इसलिए रागादि भावों का भी दुःख में ही समावेश होता है। आत्मा के गुणों से भिन्न कोई भी भाव हों तो वह सब खेद स्वरूप ही हैं, वे कोई भाव स्वभाव में स्थिर नहीं होते इसलिए सब दुःखरूप ही हैं।

ऐसी बात समझने में कठिन मालूम होती है, किन्तु यदि संसार का कोई काम उलझ गया हो तो उसे झट सुलझा लेता है। यदि सूत की लच्छी उलझ गयी हो तो उसे बड़े धीरज के साथ धीरे-धीरे सुलझा लेता है; इसी प्रकार आत्मा में अनादि काल से जो विपरीत भाव उलझ रहे हैं, और जो उनकी गाँठ पड़ गयी है उसे दूर करने का प्रयत्न धैर्य धरकर कर, ऐसा न करेगा तो वह गाँठ कैसे खुलेगी ? अनन्त जीव भेदविज्ञान द्वारा आत्मा की गाँठ को खोलकर एक अन्तर्मुहूर्त में ही उसी जाति का पुरुषार्थ करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है, इसलिए इसे समझ, और यदि समझ में न आये तो धैर्य रख और शान्तिपूर्वक सुन तथा आत्मा को पकड़ ! यह सब भाव स्वभाव के नहीं हैं, इसलिए दुःखरूप हैं, उन सबका दुःख में ही समावेश होता है।

दुःखरूप भाव में चेतनता का भ्रम उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् उसका उदय विपाक होने पर—फल होने पर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मानो यह राग-द्वेष और पुण्य-पाप मुझमें से ही होते हों अथवा वे मानों मेरे स्वभाव ही हैं। वह अपनी अशुद्ध अवस्था में होते हैं, इसलिए ऐसा लगता है कि—यह मेरे आत्मा में ही हो रहे हैं और यह मानो मेरे स्वभाव

ही हैं। यद्यपि ऐसा भ्रम होता है किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह तो पुद्गल का स्वभाव है। हे भव्य जीव! तू तत्त्व का मंथन कर, विचार कर।

तत्त्व को समझे बिना जन्म-मरण की परम्परा सदा बनी रहेगी। यदि स्वभाव को मान लेगा-समझ लेगा तो मुक्ति प्राप्त होगी, अन्यथा संसार में परिभ्रमण करना होगा। इन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई मार्ग नहीं है। मेरा स्वभाव शुद्ध ज्ञायक है ऐसी श्रद्धा करने से अल्प काल में मुक्ति मिल जाएगी और यदि यह माने कि पुण्य-पाप मेरे हैं तो संसार में परिभ्रमण करना होगा।

विकार के स्वामित्व का त्याग कर। आत्मस्वरूप समझे बिना सुख का कोई दूसरा उपाय नहीं है, आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को भूलकर पर पदार्थ को अपना माने तो चौरासी की खाई में ही पड़ा रहेगा।

आत्मा स्वतन्त्र चैतन्यमूर्ति है, उसे त्रिकाल में भी कोई दुःख देने को समर्थ नहीं है, दुनिया में तो कहा जाता है कि—विधवा हो जाने पर, हीनता आ जाती है और पराधीनता हो जाती है, किन्तु उसमें हीनता और पराधीनता क्या है? आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव है, यदि उसकी बाह्य अनुकूलता कुछ कम हो गयी तो इससे आत्मा का क्या कम हो गया? जो बाह्य अनुकूलताओं में सुख मानता है उसे आत्मस्वभाव की खबर नहीं, वह पुण्य-पाप के दुःख में फँस जाता है। आत्मा ज्ञाता सुखस्वरूप है, पर में कहीं किंचित्मात्र भी सुख नहीं है।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि आकुलतारूप दुःख भी मेरी ही जाति का है, किन्तु यह तो विचार कर कि कुजाति में भी कहीं जाति होती है? बात तो यह है कि—अज्ञानी को पाप में दुःख मालूम होता है, किन्तु पुण्य में नहीं होता;—उसे तो पुण्य में मिठास मालूम होती है। बड़े-बड़े बँगलों में और उसके वैभव में अज्ञानी जीव मधुरता का स्वाद लेता है, किन्तु सुख पर में नहीं वह तो आत्मा में है। किन्तु अज्ञानी ने पर में सुख कल्पित कर रखा है। यदि धीरज धरकर शान्तिपूर्वक विचार करे तो उसमें मात्र आकुलता ही प्रतीत होगी।

यथार्थ स्वरूप समझे बिना सच्चे व्रत, तप इत्यादि नहीं हो सकते। पहले यथार्थ स्वरूप को समझे बिना और उसे माने बिना कहाँ जाकर स्थिर होगा?

आत्मस्वभाव की प्रतीति के बिना मात्र अज्ञान भाव से किये गये व्रत, तपादि को

अज्ञानरूपी भैंसा यों ही खा जाता है। इसलिए आत्मस्वभाव का यथार्थ परिचय प्राप्त कर ॥४५॥

यहाँ शिष्य पूछता है कि—यदि अध्यवसान आदि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो उन्हें सर्वज्ञ के आगम में जीवरूप क्यों कहा गया है ?

व्यवहार शास्त्र में व्यवहार की बात होती है। व्यवहार अर्थात् जिसमें निमित्त की ओर की अपेक्षा से कहा जाए। उस बात को लेकर शिष्य प्रश्न करता है।

जहाँ व्यवहारनय का कथन प्रधान होता है, उस बात को सम्मुख रखकर शिष्य निमित्त की ओर से प्रश्न करता है कि भगवान के आगम में जहाँ परनिमित्त की अपेक्षा से बात आती है, वहाँ उन अध्यवसानादि भावों को जीव भी कहा है, तो हे प्रभु! आप क्यों जीव नहीं कहते ?

४४वीं गाथा में यह कहा गया है कि आत्मा में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, वे सब जड़ हैं। व्रत, अव्रत और दान, पूजादि के भाव भी जड़ हैं। जो भाव पर के आश्रय से होते हैं, वे आत्मा के नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्य की अवस्था में होते हैं, किन्तु वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। जड़ के निमित्त से होनेवाला वह भाव भी जड़ है। इसलिए त्रैकालिक निर्विकारी स्वभाव का परिचय करके प्रतीति करने से विकार का नाश होता है।

शिष्य ने कहा था कि दया-दान करूँ, तृष्णा को कम करूँ, ऐसे सब भाव आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हों ऐसा लगता है।

उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा के अतिरिक्त जो भी भाव होते हैं, वे सब दुःखरूप हैं। वे भाव आत्मानन्दरूप नहीं हैं। जो-जो आत्मानन्द का नाश करनेवाले हैं, वे आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकते।

जो सुख स्वाश्रयी स्वतः होता है, वह दुःखरूप नहीं होता। जो सुख पर के आधार से होता है, वह सुख नहीं किन्तु दुःख है।

जो परवश है वह दुःख लक्षण, निजवश सो सुख लहिये।
इस विधि से आतमगुण प्रगटे, और सुक्ख क्या कहिये॥
भविजन वीर वचन चित धरिये।

जैसा सर्वज्ञदेव-भगवान महावीर ने कहा है, वही कहा जा रहा है। दया, पूजा, व्रत, अव्रत और हिंसादि के जो भाव होते हैं, वे सब शुभाशुभभाव पर निमित्त से-पराश्रय से होनेवाले भाव हैं, यह पराधीनता है। अपने सुख के लिये एक रजकण का भी आश्रय लेना पड़े तो वह परवशता है, और परवशता दुःख का लक्षण है। एक भी रजकण के आधार के बिना अपने आधार से अपने चैतन्य की शुद्धता में स्थिर रहे सो सुख है। ऐसी दृष्टि से ही आत्मा का सुख प्रगट होता है। ऐसी दृष्टि हुए बिना सुख किसे कहा जा सकता है ?

कर्म आठ हैं, उनके आधार से जो भाव होते हैं वह सब दुःखरूप ही हैं। शुद्धभाव को देखने के लिये भीतर स्थिर नहीं होता और शुभाशुभभाव में डोलता रहता है। भीतर स्थिर हुए बिना शुभाशुभरूप दो भाव होते हैं, उनमें से एक में कलुषित भाव की तीव्रता है, और दूसरे में मन्दता; किन्तु दोनों कलुषित ही हैं, इसलिए दुःखरूप हैं। व्यवहार में महाव्रत और अणुव्रत के जितने शुभभाव हैं वे सब दुःख में समाविष्ट हो जाते हैं। आत्मा ज्ञाता-दृष्टारूप से पर से जितना निराला रहे उतना ही सुखरूप है, चैतन्य की स्वाश्रयता ही सुखरूप है। आत्मा के स्वाश्रय से जो बात कही जाती है, वह यथार्थ और परमार्थ है।

अब, पराश्रय से शास्त्र में जो बात कही गयी है, उसे शिष्य ने उठाया है। सर्वज्ञ के शास्त्र में जो पराश्रय बात कहने में आयी है, वह व्यवहार है।

आत्मा में पराश्रय से जो बात कही जाए वह व्यवहार और स्वाश्रय से जो बात हो वह निश्चय है। आत्मा में स्वाश्रय से जितना भाव हो उतना ही आत्मा है, और जो पराश्रित भाव हो वह आत्मा नहीं है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान की जो बात आत्माश्रित कही जाती है, वह परमार्थ दृष्टि अर्थात् निश्चय दृष्टि की है।

शुभाशुभभाव आत्मा की अवस्था में होते हैं, उस बात को यहाँ गौण कर दिया है, और स्वाश्रयभाव को ही मुख्य रखा है। आत्मोन्मुख होते हुए जो भाव होते हैं, उन्हीं पर यहाँ भार दिया गया है।

अध्यवसानादि भाव जीव के हैं और नहीं भी हैं—ऐसा आगम में कहा है। पहले ४४वीं गाथा में कहा था कि अध्यवसानादि भाव सब जीव नहीं हैं—ऐसा सर्वज्ञ का वचन है, और वह आगम है। यहाँ भी शिष्य कहता है कि जो अध्यवसानादिभाव हैं वे पुद्गल

स्वभाव हैं; तो सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीवरूप कैसे कहा गया है ? इस प्रकार दोनों जगह सर्वज्ञ के आगम की बात कही है।

शास्त्र में दो नयों से कथन है। एक आत्माश्रित होनेवाले जो भाव हैं सो निश्चय की बात है, और दूसरे कर्माश्रित होनेवाले जो भाव हैं, सो व्यवहार की बात है; ऐसे दो प्रकार से बात होती है।

आत्माश्रित होनेवाले भाव मोक्षमार्ग है और कर्माश्रित होनेवाले भाव बन्धमार्ग है।

शिष्य परमार्थ की बात सुनकर पूछता है कि सर्वज्ञ के आगम में अध्यवसानादि को जीव क्यों कहा है ? प्रभो ! आपने यह पुकार-पुकार कर कहा है कि अध्यवसानादिक जीव नहीं हैं, किन्तु दूसरे शास्त्रों में यह लिखा है कि अध्यवसानादि के साथ जीव का सम्बन्ध है, शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध है। दोनों में से ठीक क्या है ? इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि:—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।४६।।

अर्थः—यह सब अध्यवसानादिक भाव हैं सो जीव हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने जो उपदेश दिया है सो वह व्यवहारनय दर्शाया है।

पराश्रय की—निमित्त की ओर की जो बात है सो वह 'है' यह जानने के लिये है, ग्रहण करने के लिये नहीं।

यह सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं, ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है सो वह व्यवहारनय के अभूतार्थ होते हुए भी व्यवहारनय को बताने के लिये कहा है।

पराश्रय से आत्मा में जो भाव होता है, वह त्रिकाल रहनेवाला भाव नहीं है, वह अभूतार्थ है। आत्मा में जो राग-द्वेषादि भाव होते हैं सो व्यवहार है। राग-द्वेष की अवस्था आत्मा में एक समय मात्र की होती है। राग-द्वेष और शुभाशुभभाव आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं है, किन्तु उसका और आत्मा का एक क्षणमात्र का सम्बन्ध है।

शरीर और आत्मा का भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ सम्बन्ध है यह बताया है, किन्तु उसे आदरणीय या ग्राह्य नहीं कहा।

आत्मा का स्वभाव ही ग्राह है। एक क्षणमात्र की राग-द्वेष आदि की जो अवस्था होती है, उसका आत्मा के साथ एक क्षण का ही सम्बन्ध है, किन्तु वह आत्मभान द्वारा, दूर करने योग्य है। मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, निर्मल हूँ ऐसा जो लक्ष्य करना पड़ता है, सो वह यह बतलाता है कि अवस्था में मलिनता है। यदि अवस्था में मलिनता न हो तो आत्मा की ओर उन्मुख होना कहाँ रहा ?

यदि कोई कहे कि आत्मा में क्षण मात्र के लिये भी राग-द्वेष नहीं होता और शरीर के साथ आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है, उससे इस सम्बन्ध की बात कही जाती है कि—शरीर मेरा है ऐसा विपरीत मानने में शरीर निमित्त है, उतना व्यवहार सम्बन्ध है, शरीर के साथ जो एकत्वबुद्धि है सो शरीर के साथ निमित्त-नैमित्तिक का सम्बन्ध है। शरीर की ओर का जो राग है, सो भी शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है, वह व्यवहार है।

जैसे म्लेच्छी भाषा म्लेच्छों को वस्तु स्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवों के लिये परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहारनय का दर्शाना न्यायसंगत ही है।

व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के समान है, और म्लेच्छवत् मिथ्यादृष्टि श्रोता हैं। राग-द्वेषादिक अवस्था में होते हैं। वे 'हैं' ऐसा विचार करना सो व्यवहारनय है, और वे स्वभाव में नहीं हैं, सो परमार्थ है।

म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में समझाया जाता है। जैसे गुजराती भाषा का कोई शब्द गुजराती जाननेवाला बालक ही समझ सकता है, किन्तु उसे अंग्रेज नहीं समझता इसलिए उसे अंग्रेजी भाषा में समझाया जाता है। इसी प्रकार अनादि काल से व्यवहारदृष्टिवाले जीव पराश्रय में फँसे हुए हैं। अत: उन अज्ञानियों को पराश्रित व्यवहार से समझाया जाता है, उन अज्ञानियों की दृष्टि भंग पर और निमित्त पर जमी हुई है; इसलिए उन्हें यदि भंग द्वारा और निमित्त द्वारा समझाया जाये तभी समझते हैं।

व्यवहारनय का विषय खण्ड-खण्ड युक्त है, जो कि आदरणीय नहीं है; आदरणीय तो निश्चयनय का विषय अखण्ड आत्मा ही है। तथापि वर्तमान दशा में जानना चाहिए कि मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति को लेकर यह राग-द्वेष की अवस्था होती है, यदि ऐसा ज्ञान हो

तो उस अवस्था को दूर करने का पुरुषार्थ करना होता है। किन्तु व्यवहारदृष्टि तो भंग दृष्टि है, खण्ड दृष्टि है, पराश्रित है, इसलिए वह आदरणीय नहीं है, रख छोड़नेयोग्य नहीं है। मेरा ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। मैं त्रिकाल ज्ञाता अखण्ड हूँ, वही एक आदरणीय है, ऐसी दृष्टि निश्चयदृष्टि है, वह सम्यग्दृष्टि है। निश्चयदृष्टि आत्मा में शुभाशुभ भाव को स्वीकार नहीं करती किन्तु निषेध करती है। किन्तु जब तक अपने पूर्ण पवित्र स्वभाव में पूर्णतया स्थिर न हो जाये, पूरी पर्याय न हो जाये तब तक जो-जो अवस्था होती है, उसे ज्ञानी भलीभाँति जान लेता है। जो-जो अवस्था होती है, उसे ध्यान से बाहर नहीं जाने देता, उन्हें जान लेता है सो व्यवहारनय है। मैं कर्मस्वभाव नहीं हूँ, मैं रागभाव नहीं हूँ, ऐसी दृष्टि विद्यमान है, किन्तु जब पूर्ण स्वभाव प्रगट नहीं हुआ तब हीन पुरुषार्थ की अवस्था को जानना व्यवहारनय है। जहाँ यह कहा कि आत्मा रागयुक्त नहीं है, वहाँ यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पहले रागयुक्त था। जहाँ एक अपेक्षा से कथन होता है, वहाँ दूसरी अपेक्षा आ जाती है, इसलिए व्यवहार है।

व्यवहारी जीवों को व्यवहार की भाषा से समझाते हैं कि आत्मा रागयुक्त है, देषयुक्त है, और वह विकार है। विकार अवस्था में होता है, स्वभाव में नहीं, ऐसा कहा कि वहाँ भेद हो गया। भेद किये बिना कैसे समझाया जाये ? यद्यपि भेद से अभेद नहीं समझा जा सकता, किन्तु अभेद को समझते हुए बीच में भेद आ जाता है। व्यवहारनय परमार्थ को कहनेवाला है, किन्तु परमार्थरूप नहीं है। परमार्थ को समझते हुए बीच में व्यवहार आ जाता है, इसलिए उसके आरोप से ऐसा कहा जाता है कि व्यवहार से समझा है, किन्तु वास्तव में व्यवहार से नहीं समझा, लेकिन यथार्थ को समझते हुए बीच में व्यवहार आ जाता है।

व्यवहार का अर्थ है विकल्प। विकल्प से समझा नहीं जाता, किन्तु अभेद निर्विकल्प स्वरूप होने में बीच में विकल्प आ जाता है, वह व्यवहारनय पराश्रित है। व्यवहारनय परमार्थ को भी कहता है। व्यवहारनय अपरमार्थभूत है, फिर भी उसे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये बताना न्यायसंगत है।

व्यवहार परमार्थ को कहनेवाला है किन्तु वह लाभदायक नहीं है। यदि अज्ञानी से कहा जाये कि तू आत्मा है, तो मात्र आत्मा शब्द कहने से वह नहीं समझेगा इसलिए उसे समझाने के लिये यह कहा जाता है कि—देख जो यह जानता है सो आत्मा है, या जो प्रतीति

करता है, सो आत्मा है, इत्यादि। इसी प्रकार धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिये व्यवहारनय कहा जाता है, वह व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ बतानेवाला है किन्तु परमार्थ को प्रगट करनेवाला नहीं है।

आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है, उसमें से एक गुण को भेद करके समझाना व्यवहार है। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका को समझाने के लिये कहे कि देखो यह आत्मा है सो जीव कहलाता है, यह शरीरादिक अजीव कहलाते हैं, जो शुभाशुभभाव होते हैं सो आस्रव हैं, वह विकारी भाव हैं और आतमा के अखण्ड स्वभाव को लक्ष्य में लेने पर निर्मल पर्याय प्रगट हो और मलिन अवस्था दूर हो सो संवर है, आत्मस्वभाव में गाढ़ स्थिरता होना सो निर्जरा है, कर्म का खिर जाना द्रव्य निर्जरा है; संवर और निर्जरा मोक्षमार्ग है, और सम्पूर्ण निर्मल पर्याय का प्रगट होना सो मोक्ष है। ऐसे नव तत्त्व के विकल्प राग मिश्रित हैं, तथापि ऐसे भेद करके, व्यवहार धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिये समझाया जाता है। स्वरूप को समझते हुए और उसमें स्थिर होते हुए बीच में शुभविकल्प का व्यवहार आता है, सो वह व्यवहार धर्मतीर्थ है; इतना ही नहीं, किन्तु समझकर स्वरूप में स्थिर होना भी व्यवहार धर्मतीर्थ है। किन्तु वह व्यवहार परिपूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होने से पूर्व बीच में आता अवश्य है, इसलिए व्यवहार समझाया जाता है। परिपूर्ण अखण्ड द्रव्यदृष्टि के विषय में ऐसे भेद नहीं होते।

व्यवहार है तो अवश्य, यदि वह न हो तो उपदेश देना ही व्यर्थ सिद्ध होगा। आत्मा में मलिन अवस्था होती है, उसे दूर किया जा सकता है। साधक अवस्था है, बाधक अवस्था है, और अपूर्ण अवस्था है उसे पूर्ण किया जा सकता है। अशुभ परिणाम को दूर करने के लिये निम्न भूमिका में शुभ परिणाम आते हैं, किन्तु शुद्धदृष्टि के बल से स्वरूप में स्थिर होने पर शुभ परिणाम भी दूर हो जाते हैं। पुरुषार्थ के द्वारा मोक्षमार्ग में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अवस्था साधी जाती है; इत्यादि भेदों को व्यवहारनय बताता है, इसलिए व्यवहारनय का बताना न्याय संगत है। व्यवहार है अवश्य, किन्तु वह वर्तमान मात्र के लिये है, त्रिकाल नहीं है। अनंत गुणों से परिपूर्ण आत्मा त्रिकाल है, त्रिकाली अर्थात् समस्त नय एकत्रित करके त्रिकाली अखण्ड हो ऐसा नहीं है वह जैसे वर्तमान में परिपूर्ण अखण्ड है वैसा ही त्रिकाल परिपूर्ण अखण्ड है, इसलिए आत्मा त्रिकाल है, आत्मा वर्तमान में ही

परिपूर्ण अखण्ड है, ऐसा विषय करनेवाली दृष्टि परमार्थदृष्टि है। जो व्यवहार है सो वर्तमान एक समय पर्यन्त ही है, वह बदल जाता है, इसलिए अभूतार्थ है इसलिए व्यवहारनय आदरणीय नहीं है। व्यवहारनय, व्यवहारनय से आदरणीय है, किन्तु वह आत्मा में त्रिकाल स्थायी भाव नहीं है। वह व्यवहारनय परमार्थ दृष्टि से आदरणीय नहीं है। मिलन अवस्थ्था और निर्मल अवस्था तथा अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्था का परिपूर्ण दृष्टि में स्वीकार नहीं है; वह दृष्टि उसे स्वीकार नहीं करती, उसका आदर नहीं करती। व्यवहार है, वैसा ज्ञान में जानना सो व्यवहारनय है।

निम्न भूमिका में बीच में निमित्त आये बिना नहीं रहते, अशुभ परिणामों को दूर करने के लिये शुभ परिणाम आये बिना नहीं रहते, अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्था का भेद हुए बिना नहीं रहता; इसलिए व्यवहार है, अवश्य।

अनादि मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये साक्षात् चैतन्यमूर्ति देव-गुरु के अपूर्व वचन एक बार कान में पड़ना चाहिए, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जहाँ सत् को समझने की जिज्ञासा जागृत होती है, वहाँ ऐसे निमित्त मिल जाते हैं। जो निमित्त मिलते है सो निमित्त के कारण मिलते हैं, और जो समझता है सो अपने कारण से समझता है। निमित्त के बिना समझा नहीं जाता, किन्तु वह भी सच है कि निमित्त से समझा नहीं जाता। एक बार सत् वचन कान में पड़ना चाहिए।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद भी जब तक अपूर्ण अवस्था है, तब तक साधक जीवों के कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं इसलिए उनके उदय भी भिन्न प्रकार के होते हैं। राग भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और राग के निमित्त भी भिन्न प्रकार के होते हैं। राग के अनुसार निमित्त का संयोग हो तो राग के निमित्त भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे प्रतिमा, दर्शन, स्वाध्याय, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि।

चतुर्थ पंचम और छट्ठे गुणस्थान के अनुसार अमुक मर्यादा तक राग का उदय होता है। उसमें चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती समस्त साधक जीवों के राग का उदय एक सा नहीं होता, किन्तु अनेक प्रकार का होता है, और निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं तथा छठे गुणस्थानवर्ती समस्त साधक मुनियों के राग का उदय एक सा नहीं होता किन्तु अनेक प्रकार का होता है और उनके निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं; जैसे स्वाध्याय, उपदेश,

शास्त्र रचना, भगवान का दर्शन, स्तुति, अभिग्रह (वृत्तिपरिसंख्या) इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार के शुभभाव होते हैं और तदनुसार उसके उदय के अनुसार बाह्य निमित्त भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। चैतन्य की अवस्था में शुभराग का उदय आता है किन्तु उस शुभराग के अनुसार निमित्त का संयोग होना या न होना पुण्याधीन रहता है। जैसे साक्षात् सीमन्धर भगवान के दर्शन करने की भावना है, किन्तु उसका संयोग मिलना पुण्याधीन है। ज्ञानी के निमित्त है, राग है, उसका ज्ञान है, किन्तु वह आदरणीय नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मा अकेला ही है और कर्म सर्वथा पृथक् ही है, कर्म और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तो फिर बन्ध-मोक्ष कहाँ रहा? विकार कहाँ रहा? और उसे नाश करना भी कहाँ रहा? इसलिए आत्मा और कर्म का सम्बन्ध व्यवहार से है। आत्मा के साथ कर्म का निमित्त है—कर्म का व्यवहार है, किन्तु उसे आदरणीय माने या लाभदायक माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

यदि व्यवहारनय से भी आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्धन हो तो दु:ख कहाँ रहा? और दु:ख को दूर करने के लिये पुरुषार्थ करने की भी आवश्यकता कहाँ रही? इसलिए यदि सम्बन्ध न माना जाए तो वह कुछ भी नहीं रहता। पराश्रय भाव के होने में निमित्तरूप से कर्म का सम्बन्ध है किन्तु निश्चय से कर्म का सम्बन्ध आत्मा में नहीं है।

और ऐसा भी नहीं है कि कर्म आत्मा को राग-द्वेष कराते हैं। यदि कर्म आत्मा को राग-द्वेष कराते हों तो कर्म और आत्मा दोनों एक हो जाएँ; किन्तु ऐसा नहीं होता। स्वयं विपरीत दृष्टि के द्वारा राग-द्वेषरूप विकारभाव में युक्त हो तब कर्म निमित्तरूप होते हैं, इसे जानना सो व्यवहारनय है।

यदि व्यवहारनय न दिखाया जाए तो परमार्थत: जीव शरीर से भिन्न बताया जाता है, इसलिए जिस प्रकार भस्म को मसल देने में हिंसा का अभाव है उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवों को भस्म की भाँति नि:शंकतया मर्दन कर देने में भी हिंसा का अभाव सिद्ध होगा, और इससे बन्ध का ही अभाव हो जाएगा।

परमार्थ की भाँति व्यवहार से भी आत्मा और शरीर से कोई सम्बन्ध न हो तो फिर जैसे राख को मसल देने से हिंसा नहीं होती इसी प्रकार त्रस स्थावर जीवों को भी मसल देने से हिंसा नहीं होगी, किन्तु ऐसा नहीं है।

शरीर में रोग होता है सो उस रोग का दु:ख नहीं होता, किन्तु उस रोग के प्रति जो द्वेष-भाव है, उसका दु:ख होता है; उस द्वेष का और रोग का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे परमार्थत: शरीर से आत्मा सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार यदि व्यवहार से भी शरीर और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध न माना जाए, और शरीर तथा आत्मा सर्वथा सम्बन्ध रहित भिन्न हों तो त्रस स्थावर जीव को मार डालने के भाव और प्रस्तुत मरनेवाले त्रस स्थावर का निमित्त दोनों सिद्ध नहीं होते। मरनेवाले जीव को शरीर पर राग है, इसलिए उस राग के कारण शरीर के अलग होते समय दु:ख होता है। यदि शरीर के साथ आत्मा की वैभाविक पर्याय का कोई सम्बन्ध न हो तो शरीर के अलग होते समय दु:ख न हो, इसलिए सम्बन्ध न माने तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

जैसे परमार्थत: शरीर और आत्मा भिन्न हैं, कर्म और आत्मा भिन्न हैं। इसी प्रकार यदि व्यवहार से भी शरीर और आत्मा तथा कर्म और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध न हो तो मारनेवाले जीव के किसी जीव को मारने या दु:ख देने के भाव ही न हों। मरनेवाले जीव को अपने शरीर पर राग है, इसलिए यदि कोई उसे मारता है तो उसे दु:ख होता है, इसलिए राग में और दु:ख में शरीर का निमित्त है और राग होता है इसलिए कर्म का भी निमित्त है। यदि कर्म का निमित्त न हो तो राग आत्मा का स्वभाव हो जाए इसलिए राग के होने में कर्म की उपस्थिति होती है।

यदि रागभाव और शरीर का तथा कर्म और राग का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही न हो, तो मरनेवाले जीव को दु:ख ही न हो।

मारनेवाले जीव को भी द्वेषभाव और अपने शरीर का तथा द्वेषभाव और कर्म का व्यवहार से भी कोई सम्बन्ध न हो तो दूसरे जीव को मारने का भाव ही न हो।

मारनेवाले जीव के उसके द्वेषभाव और शरीर का सम्बन्ध है, तथा उसके आत्मा के प्रदेशों के कम्पन का और शरीर का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है; इसी प्रकार मरनेवाले जीव के भी रागभाव और शरीर का सम्बन्ध है, उसके आत्मा के प्रदेशों के कम्पन और शरीर का भी एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, जब तू ऐसे सम्बन्ध को लक्ष्य में लेता है, तब मारने की वृत्ति उत्पन्न होती है।

मारनेवाले को सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, वह तो शरीर को ही आत्मा मानता है, किन्तु मारने की जो वृत्ति होती है, उसमें सम्बन्ध आ जाता है।

उपरोक्त सबके व्यवहार सम्बन्ध अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तो मारने के भाव होते हैं, इसलिए बन्ध भी होता है। जैसे भस्म को मसल देने में बन्ध का अभाव है, वैसे वे नहीं हैं, किन्तु बन्ध होता है, और इसलिए संसार में परिभ्रमण करता है। यदि ऐसा व्यवहार सम्बन्ध न माने तो संसार, मोक्ष, मोक्षमार्ग इत्यादि कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाए तो शरीर और आत्मा वस्तुत: भिन्न-भिन्न हैं, वस्तुस्वभाव से राग-द्वेष और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, कर्म और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु यदि अवस्था में कोई भी सम्बन्ध न हो तो उसका शरीर पर लक्ष्य न जाए और राग-द्वेष न हो।

यदि कर्म और आत्मा की पर्याय का व्यवहार से भी कोई सम्बन्ध न हो, तो राग-द्वेष और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी न हो, और उससे किसी जीव के मारने के विकारी भाव भी न हों, तथा बन्ध भी न हो। मार डालने का जो भाव होता है, सो कर्म के आश्रय से होता है। किसी जीव को मार डालूँ और उसे दु:ख होता है, ऐसी कल्पना हुए बिना मारने के भाव होंगे ही नहीं।

यदि आत्मा में राग-द्वेष सर्वथा होते ही न हों तो आत्मा सर्वथा निर्मल हो, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि मलिनता तो दिखायी देती है, इसलिए आत्मा राग-द्वेष करता है। राग-द्वेष और आत्मा का वर्तमान पर्याय से सम्बन्ध है। यदि सम्बन्ध ही न हो तो किसी जीव को मारने से उसे दु:ख न हो, और अपना मार डालने का भाव भी न हो।

शास्त्रों में पराश्रय का कथन भी है और स्वाश्रय का कथन है। यदि उन दोनों की सन्धि करके दोनों में विवेक न करे तो समझ में नहीं आ सकता। यदि दोनों के अन्तर का अभ्यास करके विवेक न करे तो समझ में नहीं आ सकता। वास्तव में तो उपकार अपनी यथार्थ समझ का है, निमित्त का उपकार कहना तो व्यवहार से है। यदि विपरीत भाव में कर्म की उपस्थिति न हो तो दु:ख नहीं हो सकता। यदि दु:ख के समय शरीर में रोग न हो तो दु:ख और द्वेष नहीं हो सकता। ऊपर जैसे हिंसा की बात कही है, उसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इत्यादि के भावों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। शरीर, वाणी, कर्म और आत्मा की वैभाविक पर्याय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि सत्य

बोलने के भाव हों तो वाणी सत्य बोलने में निमित्त होती है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि सत्य बोलने के भाव हों और वाणी असत्य बोलने के रूप में निमित्त हो। जैसे भाव होते हैं, उसी प्रकार निमित्त परिणमित होता है। जिसने वास्तव में माँस का त्याग कर दिया है, उसके शरीर की क्रिया माँस खाने की नहीं हो सकती—ऐसा सम्बन्ध है, यदि कोई कहे कि हमारे अमुक वस्तु का त्याग है, किन्तु उसके खाने की क्रिया बनी हुई है, तो यह बात सर्वथा मिथ्या है; वह वस्तुस्वरूप को नहीं समझा है, और मात्र बातें बताना जानता है; उसे धर्म प्रगट नहीं हुआ है किन्तु वह मिथ्या प्रकार से यह बताता है कि मुझे धर्म प्रगट हुआ है। जिसके ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट हुआ है, उसके पास अब्रह्मचर्य रूप से शरीर का निमित्त नहीं हो सकता ऐसा सम्बन्ध है। अन्तरंग में तो ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट हो गया हो और बाहर से विषय सेवन करता हो ऐसा नहीं हो सकता। यदि कोई यह कहे कि हमें अन्तरंग में तो ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट हो गया है, किन्तु बाहर से विषय सेवन करते हैं तो ऐसा कहनेवाले सर्वथा झूठे हैं, उन्हें धर्म प्रगट नहीं हुआ, किन्तु वे मिथ्या प्रकार से अपने को धर्म प्रगट होना बतलाते हैं। शुभाशुभ भाव के साथ शरीर, वाणी और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

गृहस्थाश्रम में स्थित चक्रवर्ती के श्रद्धा और ज्ञान से तो सर्व विषयों का त्याग है। पर पदार्थ में कहीं भी सुखबुद्धि भासित नहीं होती। सुख हो तो मेरे आत्मा में है, एक रजकण भी मेरा नहीं है, यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जाता हो तो मुझे यह कुछ नहीं चाहिए, ऐसी भावना विद्यमान है। क्या किया जाए? चारित्र में पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण यहाँ रह रहा हूँ, यदि इसी क्षण पुरुषार्थ जागृत हो जाए तो मुझे कुछ नहीं चाहिए, ऐसी भावना करता हुआ वह राजवैभव में बैठा हुआ अपने को विष्टा के ढ़ेर पर बैठा हुआ मानता है, किन्तु अल्प अस्थिरता विद्यमान है; इसलिए वह राजकाज में विद्यमान है। वह वीतराग हो गया है; और कोई राग-द्वेष नहीं रहा है, फिर भी संसार में-राजकाज में लगा हुआ है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जितना राग विद्यमान है, उतना शरीर, राज्य और स्त्री इत्यादि के साथ सम्बन्ध विद्यमान है। राग के कारण गृहस्थाश्रम में विद्यमान है यदि राग छूट जाए तो मुनि हो जाए। राग का और गृहस्थाश्रम का सम्बन्ध है। यदि राग छूट जाए तो गृहस्थाश्रम छूट जाए ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। चारित्रदशा प्रगट नहीं हुई इसलिए गृहस्थाश्रम में विद्यमान है।

राग है, निमित्त है, उसे ज्ञान में स्वीकार करना सो व्यवहारनय है। यदि उसे स्वीकार कर ले तो पुरुषार्थ करना होता है। व्यवहार है, यह जानना सो व्यवहारनय है। इससे अतिरिक्त व्यवहारनय का दूसरा अर्थ नहीं है।

जो निमित्त को रखनेयोग्य माने और लाभदायक माने, तथा राग को रखनेयोग्य या लाभदायक माने वह मिथ्यादृष्टि है। जो निमित्त और राग का कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

समयसार शास्त्र परमार्थ की बात कहनेवाला है, उसमें व्यवहार गौण है। व्यवहार की मुख्यतावाले अन्य अनेक शास्त्र हैं। किन्तु इस शास्त्र में कथित परमार्थ को समझे बिना तीन काल और तीन लोक में सिद्धि नहीं हो सकती। परमार्थ प्रगट होते हुए बीच में व्यवहार आ जाता है। उस व्यवहार को बतानेवाले व्यवहारशास्त्र हैं, किन्तु जो मात्र व्यवहार को पकड़ रखता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जब स्वयं राग-द्वेष करता है तब कर्म निमित्तरूप होते हैं, किन्तु यदि यह माने कि कर्म ने राग-द्वेष कराया है तो वह व्यवहार ही निश्चय हो गया, और यदि राग-द्वेष को अपना माने तो व्यवहार ही परमार्थ हो गया।

त्रिकालदृष्टि-परमार्थदृष्टि भूल का नाश करती है। निमित्त और राग के सम्बन्ध में व्यवहार बीच में आता है, उसे जानना सो व्यवहारनय है, किन्तु उसे आदरणीय मानना सो व्यवहारनय नहीं है।

राग-द्वेष तथा शरीर का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; यदि वह न हो तो कैसे समझाया जाएगा? शरीर तेरा नहीं है और राग-द्वेष तेरे नहीं हैं, ऐसा मान, ऐसे उपदेश के द्वारा उस अज्ञानी को समझाया जाता है कि जो शरीर को और राग-द्वेष को अपना मानता है।

शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं, इस परमार्थतत्त्व को समझ लेने पर मारने के भाव नहीं होते। जो अस्थिरता होती है, उसे यहाँ नहीं लिया है।

परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाता है, इसलिए 'रागी-द्वेषी-मोही जीव कर्मों से बँधते हैं, उन्हें छुड़ाना चाहिए'—इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव होगा, और इसलिए मोक्ष का ही अभाव हो जाएगा।

वास्तव में तो आत्मा राग-द्वेष से भिन्न है, किन्तु विपरीत दृष्टि के कारण राग-द्वेष

को अपना मान रहा है। उस विकारी अवस्था के साथ आत्मा का वर्तमान पर्याय जितना सम्बन्ध है, उतना व्यवहार सम्बन्ध न हो तो यह उपदेश नहीं हो सकता है कि तू विकार को छोड़ दे और मुक्ति को प्राप्त कर।

परमार्थदृष्टि तो आत्मा को पर से भिन्न ही बतलायी है, किन्तु व्यवहार सम्बन्ध से कहा जाता है कि तू पुण्य-पाप से बँधा हुआ है। यदि पर की अपेक्षा न हो तो उसे छुड़ाने का उपाय-मोक्ष का उपाय जो निर्मल श्रद्धा, निर्मल ज्ञान, और निर्मल चारित्र है, उसका उपदेश भी नहीं दिया जा सकेगा, और यह नहीं कहा जा सकेगा कि—मोक्ष के उपाय को ग्रहण कर।

यदि मात्र ध्रौव्य को ही माना जाए तो राग-द्वेष के व्यय और मुक्ति के उत्पाद करने का पुरुषार्थ ही न हो सकेगा।

यद्यपि मोक्ष का उपाय ध्रुव दृष्टि से ही होता है, किन्तु उस ध्रुव दृष्टि के द्वारा मोक्ष पर्याय का उत्पाद और बन्ध पर्याय का व्यय होता है; यदि उत्पाद-व्यय को स्वीकार न करे तो पर्याय में भी मलिनता सिद्ध नहीं होगी, और तब मलिनता दूर करने का उपदेश भी नहीं दिया जा सकेगा।

यहाँ जिस प्रकार नाप-तौलकर कहा जा रहा है, उसी प्रकार समझना चाहिए। यदि त्रैकालिक स्वभाव में विकार की नास्ति माने और उस स्वभाव को निर्मल माने तो ही मोक्ष का उपाय होता है, परन्तु मोक्षमार्ग की पर्याय और मोक्ष की पर्याय दोनों व्यवहार हैं। यदि व्यवहार को न माने तो मलिनता को दूर करने का उपदेश नहीं दिया जा सकता। ध्रुवदृष्टि के बल से मोक्षमार्ग की अवस्था और मोक्ष की अवस्था प्रगट होती है, उसे ज्ञान में स्वीकार करना सो व्यवहारनय है। बन्ध की अवस्था, मोक्ष और मोक्षमार्ग की अवस्था है, इसलिए व्यवहार को बताना न्यायसंगत है।

यह आत्मा देह से निराला अनन्त गुणस्वरूप तत्त्व है। यह शरीररूपी रजकणों का एक पुतला है, उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हैं; यह अनन्त रूपी परमाणुओं का पुतला है। जहाँ शरीर है, उसी क्षेत्र में आत्मा है। वह आत्मा भी शरीराकार अरूपी एक पुतला है। जहाँ आत्मा है, उसी स्थान पर कार्माण शरीर का भी एक पुतला है। जो विकारी भाव है, वह जड़कर्म के आश्रय करने से होता है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से आत्मा में विकार की नास्ति

है। आत्मा देह से पृथक् तत्त्व है, अनन्त गुणों की पिण्डरूप एक वस्तु है; यह बात अनन्त काल में जीवों ने कभी नहीं सुनी और उसके प्रति रुचि नहीं जमी, तब फिर एकाग्र होना कहाँ से हो सकता है ?

पहले आत्मा को समझे बिना यथार्थ वर्तन नहीं हो सकता, इसलिए आत्मस्वरूप समझने के लिये सच्चे देव-गुरु की वाणी का श्रवण और उनका संग करना चाहिए। व्यवहार में से रुचि हटकर आत्मस्वभाव की रुचि जागृत हुए बिना यथार्थ नहीं समझा जा सकता। आतमस्वभाव की रुचि जागृत होने पर वह स्वभाव जिसे प्रगट हुआ है, उसे यथार्थ देव-गुरु पर बहुमान और भक्ति हुए बिना नहीं रहती। पहले आत्मा को समझने की सत् जिज्ञासा सहित देव-गुरु-शास्त्र का बहुमानपूर्वक समागम, सत् श्रवण, सत् पठन और सत् विचार आयेगा। सत् को समझने की आकांक्षा से यथार्थ ज्ञान और श्रद्धा होती है, उसके बाद यथार्थ प्रवृत्ति (चारित्र) होती है। आत्मा का चारित्र आत्मा में होता है, जड़ में नहीं। समझने के बाद स्वरूप में स्थिर होना सो अन्तरंग की अरूपी क्रिया है, यह यथार्थ प्रवृत्ति है, वह सच्चे व्रत हैं। स्वभावदृष्टि के बल से अशुभराग को दूर करते-करते राग रह जाता है, उसमें व्रत तप के शुभभाव सहज होते हैं। स्वरूप स्थिरता में टिकने पर जितना राग का नाश होता है, उतना चारित्र है।

सम्यग्दर्शन के बिना व्रत और चारित्र सच्चे नहीं हो सकते। पहले सम्यग्दर्शन होता है, अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान होता है, तत्पश्चात् आगे बढ़ने पर पाँचवाँ गुणस्थान आता है, जहाँ आंशिक स्वरूपस्थिरता बढ़कर अव्रत के परिणाम दूर हो जाते हैं, और शुभ परिणामरूप व्रत होते हैं, जो कि व्यवहार व्रत हैं; और जो स्वरूप में स्थिरता बढ़ी सो निश्चय व्रत हैं। इसके बाद छट्ठा गुणस्थान होता है, तब मुनित्व प्राप्त होता है, वहाँ स्वरूपरमणता विशेष बढ़ जाती है। पहले सच्ची श्रद्धा होती है, और फिर व्रत होते हैं, यह मोक्षमार्ग का क्रम है।

आजकल लोग उपरोक्त समझने के मार्ग का क्रम छोड़कर बाह्य व्रत-तप इत्यादि में धर्म मान रहे हैं, जिसमें मात्र शुभ परिणाम हो तो पुण्य बंध हो सकता है, किन्तु भव का अभाव नहीं हो सकता। लोगों ने ऐसे बाह्य व्रत-तप इत्यादि में सर्वस्व मान रखा है, और उन्हीं से धर्म मोक्ष का होना मान लिया है, किन्तु ऐसी मान्यता मात्र मिथ्यादर्शन शल्य है। ऐसी मान्यता से एक भी भव कम होनेवाला नहीं है। पहले सच्ची श्रद्धा कर, उसके बाद

यथार्थ चारित्र बन सकेगा। सत् श्रवण, मनन और बहुमान के शुभ परिणाम के साथ सत् रुचि और सत् को समझने का शोधन यदि यथार्थ हो तो अवश्य सत् समझ में आये और सम्यक् श्रद्धा प्रगट हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि विषय-कषाय का अशुभ राग दूर न किया जाए। विषय-कषाय की तीव्र आसक्ति को दूर करने के लिये शुभराग होगा, किन्तु वह धर्म नहीं है, इसलिए पहले यथार्थ को समझने का प्रयास करना चाहिए और उस ओर उन्मुख रहना चाहिए, यह सच्चे मार्ग को प्राप्त करने का क्रम।

सम्यग्दर्शन के साथ नि:शंकादि अष्ट अंग होते हैं। व्रत का प्रकार तो पंचम गुणस्थान में होता है, इसलिए सत् समागम से पहले सच्ची समझ प्राप्त करनी चाहिए। जीव ने अनन्त काल से धर्म श्रवण नहीं किया। उपवासादि करके यदि कषाय को हलका करे तो पुण्य बंध होता है, किन्तु इससे भव का अभाव नहीं होता।

जो शुभाशुभभाव होते हैं सो विकारी भाव हैं। कर्म के निमित्त से जितने भाव होते हैं, वे सब विकारी भाव हैं। वे आत्मा का स्वभाव धर्म या हितरूप नहीं हैं। विकार सदा स्थायी नहीं है और आत्मा सदा स्थायी वस्तु है। उसे पहिचान तो तेरा हित हो, धर्म हो।

शिष्य ने दूसरी ओर का तर्क उपस्थित करते हुए कहा था कि प्रभो! आपने तो आत्मा के मात्र शुद्ध स्वरूप की ही बात कही है, और उसी को जानने-देखने और स्थिर होने को कहा है किन्तु अन्य शास्त्रों में तो ऐसा कथन है कि—आत्मा राग-द्वेष और देहयुक्त है; तब इन दोनों बातों का मेल कैसे बैठ सकता है।

इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—भगवान सर्वज्ञदेव ने यह कहा है कि—यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं, सो यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तथापि व्यवहारनय को भी बताया है।

आत्मा में पराश्रय भाव होता है, उसे आत्मा में होता है, ऐसा जानना सो व्यवहारनय है। कर्माश्रित भाव एक समय मात्र के लिये होते हैं सो अभूतार्थ हैं। जो कर्माश्रित-पराश्रित भाव होते हैं सो सत्य नहीं हैं, क्योंकि वह त्रिकालस्थायी वस्तु नहीं है। सत्य नहीं है, अर्थात् जड़ में होती है, यह बात नहीं है। यद्यपि वह आत्मा की अवस्था में होती है तथापि वह आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं है, इसलिए उसे अभूतार्थ कहा है।

पानी अग्नि के निमित्त से उष्ण होता है किन्तु पानी का स्वभाव शीतल है, उसका

त्रिकाल स्वभाव उष्ण नहीं है। पानी का स्वभाव शीतल है; ऐसा जानना सत्यार्थ है, किन्तु अग्नि के निमित्त से वर्तमान में उष्णता आ गयी है, सो इस आरोप का आना व्यवहार है। जो आरोप है सो आरोप की दृष्टि से सत्य है, किन्तु वह पानी के मूल स्वभाव की दृष्टि से सत्य नहीं है।

इसी प्रकार जिसे आत्मा का शीतल स्वभाव प्रगट करना है, उसे आत्मा की ज्ञान और शान्ति आदि की शीतलता तथा राग-द्वेष-अज्ञानरूप उष्णता—इन दोनों भावों का स्वरूप जानना होगा। आत्मा की पर्याय में कर्म के निमित्त से राग-द्वेष और अज्ञानरूप उष्णता होती है, परन्तु आत्मा का स्वभाव सम्पूर्ण निर्मल और अविकारी है। उसका त्रिकाल स्वभाव राग-द्वेष और अज्ञानरूप से मलिन नहीं है, परन्तु शुद्ध और निर्मल है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध और निर्मल है ऐसा जानना सो सत्यार्थ है, किन्तु स्वयं कर्म के निमित्ताधीन होने पर राग-द्वेष और अज्ञानरूप मलिन अवस्था वर्तमान में हुई है, इतना आरोप आया सो व्यवहार है। आरोप को आरोप की दृष्टि से देखा जाए तो वह सत्य है, किन्तु वह आत्मा के मूल स्वभाव की दृष्टि से देखने पर सत्य नहीं है।

आत्मस्वभावरूप शीतलता की दृष्टि के बल से राग-द्वेषरूप अस्थिरता दूर हो जाती है। पर्याय पर दृष्टि नहीं जमती, क्योंकि पर्याय पलट जाती है। पर्याय टिकती नहीं है, इसलिए जो टिकनेवाला द्रव्य है, उस पर दृष्टि डाले तो वहाँ दृष्टि टिक जाती है, और दृष्टि के स्तम्भित होने से स्थिरता होती है, राग-द्वेष का अभाव होता है, और स्वभाव पर्याय प्रगट हो जाती है।

यद्यपि बन्ध मोक्ष की पर्याय है अवश्य वह सर्वथा अभूतार्थ नहीं है; यदि सर्वथा अभूतार्थ हो तो कोई पुरुषार्थ करने की आवश्यकता न रहे, किन्तु वह क्षण के लिये होती है। मोक्ष की अवस्था प्रतिक्षण नयी-नयी होकर अनन्त काल तक रहती है, किन्तु वह एक-एक पर्याय वर्तमान समय तक ही रहती है, इसलिए वह अभूतार्थ है। उस पर्याय पर लक्ष्य करने से राग होता है, परन्तु राग टूटता नहीं है, द्रव्य पर दृष्टि रखने से राग टूटता है। मोक्षपर्याय शुद्ध पर्याय है, और बन्धपर्याय मलिन पर्याय है। एक में निमित्त के अस्तित्व की अपेक्षा है, और दूसरे में अभाव की। दोनों निमित्त के आश्रय की अपेक्षा रखनेवाले प्रकार हैं, इसलिए दोनों पर लक्ष्य जाने से राग होता है। मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ, ऐसे विकल्प

साधक अवस्था में आते हैं, किन्तु मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ, इस प्रकार गुण के भेद करके लक्ष्य करके पर राग होता है। उस राग के आश्रय से स्वभाव की शरण में नहीं पहुँचा जाता; किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि डालने से राग टूट जाता है, स्वभाव की शरण में पहुँचा जाता है, और वीतरागता प्रगट होती है। स्वरूप को साधने का जो प्रयास होता है अर्थात् मोक्षमार्ग होता है, सो वह भी अवस्था है, सम्पूर्ण आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए उस अवस्था पर लक्ष्य करने से राग होता है। जब तक अपूर्ण है, तब तक मोक्षमार्ग और उस ओर लक्ष्य होता है, किन्तु वहाँ लक्ष्य देने से राग होता है, किन्तु वह टूटता नहीं है, और अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि डालने से राग टूटता है और स्वरूप प्रगट होता है।

श्रद्धा-गुण की पर्याय स्वयं निर्विकल्प है, इसलिए उसका विषय भी निर्विकल्प है। दृष्टि में भेद का विषय नहीं है, दृष्टि स्वयं सामान्य है, इसलिए उसका विषय भी सामान्य है। जो सम्यक् श्रद्धा प्रगट होती है सो अवस्था है, किन्तु उस अवस्था का विषय सम्पूर्ण द्रव्य है। दृष्टि का विषय भेद नहीं, किन्तु अभेद-सम्पूर्ण द्रव्य है। ज्ञान गुण है, जो कि स्व-पर दोनों को जानता है। दृष्टि होने के बाद का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। ज्ञान द्रव्य को और अपूर्ण एवं पूर्ण पर्याय को भी जानता है। दृष्टि हीन (सम्यग्दर्शन सहित) ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है।

धर्मी की दृष्टि अखण्ड द्रव्य पर होती है, और वह जानता है कि मैं ज्ञान में सामान्य परिपूर्ण हूँ, तथा वह वर्तमान अवस्था में जो मलिनता होती है, उसे भी जानता है। यह ज्ञान की प्रमाणता है।

जब तक पूर्ण वीतराग दशा न हो तब तक सामान्य की दृष्टि बनी रहती है, इसलिए पुरुषार्थ तो सामान्य के साथ विशेष को अखण्ड करने के लिये करता है। द्रव्य और पर्याय को जानना यह ज्ञान की प्रमाणता है। श्रद्धा और ज्ञान तो हैं, किन्तु पुरुषार्थ पूर्वक रमणता को बढ़ाता हुआ जितने अंश में राग को तोड़कर और रमणता को जोड़कर सामान्य के साथ ज्ञान अखण्ड होता है, सामान्य-विशेष दोनों एक होते हैं, सो वह प्रमाणज्ञान है।

ज्ञान अखण्ड पूर्ण स्वभाव को भी जानता है, और पर्याय में जो मलिनता है, उसे भी जानता है। वह वस्तु को और अवस्था को दोनों को जानता है। इस प्रकार जो सामान्य और विशेष दोनों को जानता है, वह प्रमाण ज्ञान है।

श्रद्धा विकारी और अपूर्ण पर्याय को स्वीकार नहीं करती। श्रद्धा के विषय में द्रव्य

ही है, शुद्ध परिपूर्ण ज्ञान में दोनों पहलू ज्ञात होते हैं। ज्ञान जब द्रव्य के शुद्ध स्वभाव की ओर मुख्यतया उन्मुख होता है, तब पर्याय का वजन हल्का (गौण) हो जाता है; सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु ज्ञान में पर्याय का लक्ष्य गौण होता है, और ज्ञान जब पर्याय का मुख्यतया लक्ष्य करता है, तब दूसरे पहलू का लक्ष्य गौण होता है। जब ज्ञान का पहलू मुख्यतया एक ओर जाता है, तब उसके साथ राग लगा हुआ होता है। ज्ञान में वस्तु का एक पहलू मुख्य और दूसरा गौण हो तो उसे नय कहते हैं। दृष्टि के विषय में द्रव्य का अभेद स्वभाव ही रहा करता है। जितने अंश में राग को तोड़कर निर्मल पर्याय बढ़ाता हुआ सामान्य के साथ ज्ञान अखण्ड होता है, सामान्य विशेष दोनों एक होते हैं, वह ज्ञान की प्रमाणता है। द्रव्य और पर्याय दोनों प्रमाण ज्ञान में एक ही साथ ज्ञात होते हैं। जहाँ वस्तु दृष्टि होती है, वही नय, प्रमाण इत्यादि सच्चे होते हैं।

चन्दन की लकड़ी सुगन्ध युक्त, भारी और चिकनी तथा कोमल इत्यादि अनेक गुण युक्त एक ही साथ है, किन्तु उनमें से एक सुगन्ध गुण को मुख्य करके दूसरे को समझाने के लिये कहा जाता है कि चन्दन की लकड़ी सुगन्धमय है, यह व्यवहारनय है। इसी प्रकार आत्मा में अनन्त गुण एक ही साथ अभेदरूप से विद्यमान हैं, उस अभेद पहलू को लक्ष्य में लेना सो निश्चयनय है, और गुण-पर्याय के भेद करके लक्ष में लेना या दूसरों को समझाना सो व्यवहारनय है।

जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही अनन्त गुणों का पिण्ड यह भगवान आत्मा है, किन्तु उसमें से ज्ञान गुण को मुख्य करके समझाने के लिये कहना कि जो यह ज्ञान है सो आत्मा है, यह दर्शन या चारित्र आत्मा है, सो व्यवहारनय है। आत्मा के पूर्ण अखण्ड स्वभाव की प्रतीति होने के बाद भी मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, इत्यादि भेद होते हैं, किन्तु गुण तो द्रव्य के साथ अभेद है। जैसे द्रव्य त्रिकाल है वैसे ही गुण भी त्रिकाल है, द्रव्य से गुणों का भेद नहीं होता, तथापि ज्ञान ज्ञानरूप से, दर्शन दर्शनरूप से, चारित्र चारित्ररूप से, वीर्य वीर्यरूप से त्रिकाल है; सभी गुण लक्षण से भिन्न हैं किन्तु वस्तु से अभिन्न हैं। कोई भी गुण द्रव्य से अलग नहीं होता, द्रव्य से उसका पृथक्त्व नहीं हो सकता, तथापि अपूर्ण अवस्था में मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, इत्यादि विकल्प हुए बिना नहीं रहते, भेद हुए बिना नहीं रहते। बीच में व्यवहार आता है, इसलिए वीतराग देव ने बताया है; अथवा व्यवहार बीच में आता है, इसलिए समझाया है।

स्वभाव तो निर्मल अविकारी वीतरागस्वरूप है, किन्तु कर्म का आश्रय लेने से जो भाव होते हैं, वे व्यवहार तुझमें हैं—ऐसा वीतरागदेव ने कहा है। स्मरण रहे कि विकारी भाव तेरी अवस्था में होते हैं; कहीं सर्वथा जड़ में नहीं होते। इस प्रकार प्रयोजनवश किसी नय को मुख्य करके कहना या समझना सो नय है। प्रमाणज्ञान द्रव्य, पर्याय दोनों को एक ही साथ जानता है।

कर्माश्रित भाव तुझमें होते हैं, ऐसा वीतरागदेव ने कहा है। अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि होने पर भी निर्बलता से अवस्था में राग-द्वेष होता है, उसे जानना चाहिए। मैं चौथे, पाँचवें या छट्ठे गुणस्थान में हूँ, इत्यादि गुणस्थान भेद को जानना चाहिए। मेरी अवस्था श्रावक की है या मुनि की, इत्यादि उस-उस समय की अवस्था को जान लेना सो व्यवहारनय है। स्वयं वीतराग नहीं हुआ इसलिए जो-जो अपूर्ण अवस्था हो उसका ज्ञान भलीभाँति होना चाहिए। ज्ञान ठीक हो तो पुरुषार्थ को लेकर पूर्ण हो जाता है।

श्रद्धा के विषय में पूर्ण होने पर भी अवस्था में अपूर्ण होने से अपूर्ण को अपूर्ण जाने तो पुरुषार्थ बढ़ाए, और पर्याय को पूर्ण करे। दृष्टि सम्पूर्ण द्रव्य पर विद्यमान है, उस समय अपूर्ण-अधूरी पर्याय के जो भेद होते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहारनय है।

रागी और वीतरागी तथा शुद्ध और अशुद्ध इत्यादि प्रकार से भगवान ने वस्तु का स्वरूप बताया है। जैसे म्लेच्छ भाषा से म्लेच्छ को समझाया जाता है, उसी प्रकार पर के आश्रय से भेद करके व्यवहारी जीवों को समझाया जाता है।

यद्यपि व्यवहार से वास्तव में परमार्थ समझ में नहीं आता, किन्तु जब स्वयं समझे तब समझानेवाले को निमित्त कहा जाता है।

सच्ची श्रद्धा हो तो समझते हुए बीच में जो गुण-भेद करके समझा था उस भेद को व्यवहार या निमित्त कहते हैं; यदि न समझे तो निमित्त कैसा ? मेरा वीतराग स्वरूप राग-द्वेष रहित है, यदि वह समझे तो भेद को निमित्त कहा जाता है।

भेद का व्यवहार, समझने में और समझाने में बीच में आता है। व्यवहार है अवश्य, यदि आत्मा पर्याय से भी सम्पूर्ण पवित्र ही हो तो फिर किसे समझाना है ? जिसे ऐसा लगता है कि शरीर मेरा है, उसे समझाने के लिये कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही क्षेत्र में रहते हैं, किन्तु शरीर से आत्मा अलग है। जिसने यह मान रखा है कि घी का घड़ा है, उसे

समझाते हैं कि—घी का घड़ा वास्तव में घी का नहीं किन्तु मिट्टी का है; उसमें घी भरा हुआ है, किन्तु वह घड़ा घीमय नहीं लेकिन मिट्टीमय है।

जैसे किसी बालक ने लकड़ी के घोड़े को सच्चा घोड़ा मान रखा है, इसलिए उससे उसी की भाषा में यही कहा जाता है कि तू अपने घोड़े को बाहर ले जा, अथवा तू अपने घोड़े को इधर ले आ; यदि उससे कहा जाए कि उस लकड़ी को बाहर ले जा या यहाँ ले आ तो वह नहीं समझ सकेगा, इसलिए उसी की भाषा में लकड़ी को घोड़ा कह दिया जाता है।

इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान तीन काल और तीन लोक को जानते हैं। जगत के जो जीव घर में प्रवेश नहीं करते, और घर के आँगन में ही खड़े हैं, उनसे कहते हैं कि जो ज्ञान है सो तू है, जो दर्शन है सो तू है; और इस प्रकार भेद करके समझाते हैं। यद्यपि आत्मा वस्तु अनन्त गुण-स्वरूप से अभिन्न है, किन्तु बालकवत् अज्ञानी जीव अभेद में नहीं समझता इसलिए उसे भेद करके समझाते हैं।

जिन जीवों ने यह मान रखा है कि—शरीर, मन, वाणी और कर्म हमारे हैं, उन जीवों को श्री तीर्थंकरदेव समझाते हैं कि आत्मा स्वतन्त्र, निरुपाधिक, ज्ञाता-दृष्टा सबका साक्षी और आनंद का पिण्ड है, वह स्वभाव भाव तेरा है, उसे अपना न मानकर कर्म के भाव को और शरीरादि के भाव को अपना मान रहा है, यह तुझे शोभा नहीं देता। भाई! राग-द्वेष के आश्रित रहने में तेरे स्वभाव की हीनता होती है। तेरे आत्मा में अनन्त गुणों का अनन्त वैभव भरा हुआ है। ऐसा समझाने पर यदि समझनेवाले जीव की दृष्टि अपने अभिन्न आत्मा पर पहुँच गयी तो जो भेद करके समझाया गया, वह व्यवहार या निमित्त कहलाता है।

भगवान तीर्थंकरदेव ने कहा है कि जो निमित्ताश्रित भाव होते हैं, वे तेरे हैं। उन्हें तेरे कहने का कारण यह है कि वे पराश्रित रागादि भाव तेरी अवस्था में होते हैं, इसलिए तू पुरुषार्थ करके उन्हें दूर कर। पराश्रितभाव तुझमें होते हैं, यह कहना सो व्यवहार है। जो ज्ञान है सो तू है, जो दर्शन है, सो तू है, और जो चारित्र है, सो तू है, ऐसे गुण के भेद करके व्यवहार कहने पर परमार्थ को समझ जाता है कि अरे! यह विकारी भाव त्रिकाली मुझमें नहीं हैं, मेरे अभेद आत्मा में यह रागादि के भेद नहीं हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विकल्प-भेद मेरे अभेद आत्मा में नहीं हैं; इस प्रकार परमार्थ को समझ ले तो व्यवहार उपकाररूप हुआ कहलाता है। स्वयं परमार्थ को समझे तो व्यवहार को निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी से श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई! तूने राग किया, द्वेष किया और अनन्त भव धारण किये, किन्तु वह तेरा स्वरूप नहीं है; तब उसे ऐसा लगता है कि अरे! मैंने अनन्त भव धारण किये हैं, वे क्यों कर दूर होंगे? तब ज्ञानी कहते हैं कि—जो नित्य निरन्तर जाननेवाला है, सो तू है, और जो सुख का पिण्ड है, सो तू है, तथा राग-स्नेह या क्रोध-मान रूप तू नहीं है; इस प्रकार भेद करके समझाने पर, यदि वह यह समझ जाए कि आत्मा अखण्ड गुणों का पिण्ड है, तो धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिये व्यवहार कथन न्याय संगत है।

परन्तु यदि व्यवहारनय न दर्शाया जाए तो परमार्थतः शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने से त्रस-स्थावर जीवों का निःशंकतया मर्दनघात कर डालने पर भी हिंसा का अभाव सिद्ध होगा, जैसे कि भस्म के मर्दन कर देने में हिंसा का अभाव होता है; और इस प्रकार तो बन्ध का ही अभाव हो जाएगा।

परमार्थ से तो यह आत्मा ही परमात्मा जैसा है, और दूसरा आत्मा भी परमात्मा जैसा है; किन्तु शरीर मेरा है, राग मेरा है, इस प्रकार अपनेपन की बुद्धि है, और एकत्व की बुद्धि है, उसके हिंसा करने का भाव होता है। परमार्थ से शरीर और आत्मा भिन्न हैं, तथापि निःशंकतया मारने का जो भाव होता है, उसी में व्यवहार सिद्ध होता है। जिसकी दृष्टि शरीर पर है, ऐसे त्रस-सथावर जीवों को मारने का भाव या अपने शरीर पर राग का भाव परमार्थ नहीं किन्तु व्यवहार ही है, क्योंकि आत्मा निर्विकार है।

तेरा मारने का भाव हो; और यदि वह मारने का भाव-हिंसा का भाव तेरे आत्मा से सर्वथा भिन्न हो तो हिंसा का अभाव हो जाएगा, और इससे बन्धन का भी अभाव हो जाएगा, किन्तु ऐसा नहीं है। उस हिंसा का भाव तेरी आत्मा की अवस्था में होता है, इसलिए उस हिंसा का भाव होने पर तुझे बन्ध होता है। उस हिंसा का भाव तेरे आत्मा की अवस्था में होता है, ऐसा न माने तो बन्ध का भी अभाव हो जाएगा, और बन्ध का अभाव होने से मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा।

हिंसा के भाव की भाँति ही झूठ, चोरी, कुशील आदि के भाव भी आत्मा की अवस्था में होते हैं। यदि ऐसा न माने तो उसे दूर करने का पुरुषार्थ भी कहाँ से करेगा?

अपने शरीर पर राग है, इसलिए दूसरे जीवों को मारने का द्वेष होता है। राग में और द्वेष में शरीर का निमित्त है, सो वह भी व्यवहार है।

परमार्थ से शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार यदि व्यवहार से भी भिन्न हों तो त्रस-स्थावर जीवों के शरीर को मसल देने पर पाप का अभाव ही सिद्ध होगा, किन्तु ऐसा नहीं है। राग-द्वेष का भाव, शरीर सम्बन्धी मोह का भाव अपने में विद्यमान है, सो वह सब व्यवहार सम्बन्ध है, ऐसा समझना चाहिए। अपने शरीर और आत्मा का आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, इसी प्रकार अन्य आत्मा का और उसके शरीर का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। जब तू ऐसे सम्बन्ध को लक्ष्य में लेता है, तब तेरी मारने की वृत्ति होती है, इसलिए त्रस-स्थावर जीवों को मारने का विकल्प मलिन भाव है, और उस भाव का और तेरे आत्मा का सम्बन्ध है ऐसा समझना चाहिए।

उसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्र की विनय करना भी व्यवहार है। जब तक सम्पूर्ण वीतराग नहीं हुआ तब तक ऐसा भाव होता है कि यह देव, गुरु, शास्त्र विनय करने योग्य हैं और मैं विनय करनेवाला हूँ। इस प्रकार देव-गुरु-शास्त्र के प्रति बहुमान और विनय हुए बिना नहीं रहती, तथापि वह भाव व्यवहार है।

शरीर और आत्मा को भिन्न कहा है, वहाँ यह अपेक्षा भी है कि शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। आत्मा पृथक् है, ऐसा कहते ही पर के सम्बन्ध का इतना व्यवहार आ जाता है। तूने शरीर का सम्बन्ध माना है, तूने पर का आश्रय माना है, इसलिए व्यवहार कहते हैं।

पुण्य-पाप का जो भाव होता है, उसमें तू अटक रहा है, इसलिए उसे टालने को कहा जाता है। जो हिंसादि के परिणाम होते हैं, उन्हें बताये बिना, उन्हें दूर करने का प्रयत्न नहीं बन सकेगा, बन्धभाव को समझे बिना मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा।

बन्ध के मानने में दूसरी वस्तु निमित्त है, वह व्यवहार बताया है; जो कि जानने योग्य है, किन्तु अंगीकार करनेयोग्य नहीं है। जाननेरूप से अंगीकार करनेयोग्य अवश्य है, किन्तु वह व्यवहार रखनेयोग्य अर्थात् अंगीकार करनेयोग्य नहीं है।

एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा के बिना छोटी-बड़ी कैसे कही जा सकती है ? इसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड-वस्तु है, और कर्म दूसरी वस्तु है, वह कर्म विकार में निमित्त है। उस विकारभाव में आत्मा फँसा हुआ न हो तो मुक्त होने की बात कैसे कही जाएगी ? आत्मा मुक्त ही है ऐसा कहने पर बन्ध की अपेक्षा साथ में आती है, सो व्यवहार है।

मात्र अपनी अपेक्षा का होना निश्चय है। वास्तविक दृष्टि से वस्तु में बँध नहीं है। यदि वस्तु बँधी हुई हो तो वह छूट नहीं सकती। वस्तु का स्वरूप तो एक समय में परिपूर्ण है। वह वस्तु किसी से पकड़ी नहीं जाती और छूट भी नहीं सकती। भगवान आत्मा वर्तमान एक समय में अनन्त गुणों का परिपूर्ण पिण्ड है, उसमें जो बन्ध अवस्था है, सो वह भी व्यवहार है, और छूटने की अवस्था भी व्यवहार है। पर से निराला वर्तमान समय में भी परिपूर्ण तत्त्व है, ऐसी दृष्टि के बल से व्यवहार छूटता है। अज्ञानी को व्यवहार से बताया है, कि व्यवहार से अवस्था मलिन हुई है उसे जान, किन्तु निश्चय से तू सम्पूर्ण-परिपूर्ण तत्त्व है, ऐसी दृष्टि कर, ऐसा कहने से यदि वह समझ जाए तो व्यवहार के उपदेश से समझा है, ऐसा आरोप करके कहा जाएगा।

आत्मा का स्वरूप ऐसा है, इस प्रकार उपदेश देते ही व्यवहार आ जाता है। निश्चय से तू अखण्ड, अध्भेद और पर से निराला तत्त्व है, ऐसा समझाते ही व्यवहार आ जाता है। क्योंकि तत्त्व का स्वरूप ऐसा है, यह कहने पर यह स्पष्ट होता है कि उसे तू समझा नहीं है, यही व्यवहार है, अथवा वस्तु को समझाते हुए गुण-गुणी का भेद करके समझाना पड़ता है सो यही व्यवहार है।

निश्चयपूर्वक व्यवहार समझ में आये तो वह यथार्थ समझ है यदि भेद करके समझाया जाए कि यह पुरुष का आत्मा है, यह स्त्री का आत्मा है, यह पशु पक्षी का आत्मा है, तब प्रस्तुत जीव समझ जाता है कि यह आत्मा भिन्न-भिन्न है किन्तु सभी आत्माओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न नहीं है; स्वरूप तो सबका एक ही प्रकार का है। जो ज्ञान है सो आत्मा है, जो दर्शन है सो आत्मा है, और चारित्र है सो आत्मा है, इस प्रकार गुरु के द्वारा समझाये जाने पर स्वयं अभेद आत्मा का स्वरूप समझ जाए तो वह व्यवहार के भेद बताने से समझा है, यह कहलाएगा। गुरु उपदेश देते हैं उसी में व्यवहार आ जाता है। यदि उपदेश से स्वयं वास्तविक स्वरूप को समझ ले तो गुरु के उपकार का निमित्त कहलाता है। समझ तो स्व से है, किन्तु उपचार से यह कहा जाता है कि-व्यवहार से समझा है।

यदि हिंसादि का भाव न बताया जाए तो उसे दूर करने का प्रयत्न भी नहीं करेगा। निश्चयपूर्वक व्यवहार के लक्ष्य में आये बिना बन्ध का व्यवहार दूर नहीं होगा। वास्तव में तो हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि के भाव निश्चय दृष्टि के लक्ष्य में आये बिना दूर होते ही नहीं।

मेरे स्वरूप में वे भाव हैं ही नहीं, ऐसी दृष्टि के बिना वे भाव दूर नहीं हो सकते। 'अस्ति स्वरूप मैं कौन हूँ' इसकी श्रद्धा के बिना विकार की नास्ति होती ही नहीं। ऐसी श्रद्धा होने के बाद भी अल्प हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि के भाव रहते हैं, किन्तु वे क्रमशः दूर हो जाते हैं; प्रतीति होने के पश्चात् तत्काल ही वीतराग हो जाए ऐसा नहीं होता। स्वरूप की श्रद्धा होने के बाद अस्थिरता दूर होकर क्रमशः स्थिरतारूप चारित्र होता है—ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। यदि कोई जीव आत्म-प्रतीति होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो उसमें भी अन्तर्मुहूर्त का क्रम तो पड़ता ही है। प्रतीति होने के पश्चात् एक समय में किसी को केवलज्ञान नहीं होता। प्रतीति होने के बाद जो अल्प शुभाशुभभाव रहते हैं, उसे आचार्यदेव ने बताया है कि—तू जरा ठहर, अभी पूर्ण नहीं हो गया, अभी अस्थिरता शेष है, अवस्था में अधूरापन है, उसे समझ और जान। जब तक वीतराग न हो तब तक उस काल में उस अवस्था को यथावत् जानना सो व्यवहारनय है।

विकारी पर्याय के होने पर भी निर्विकार स्वभाव की प्रतीति हो सकती है। चारित्रगुण में विकार होने पर भी समस्त परिपूर्ण तत्त्व की श्रद्धा और ज्ञान हो सकता है। वह यह बतलाता है कि—गुणों में कथंचित् भेद है, समस्त गुणों के कार्य अलग हैं, गुणों में यदि कथंचित् भेद न हो तो सम्यग्दर्शन के होते ही तत्काल वीतराग हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अखण्ड द्रव्य की प्रतीति होने पर भी चारित्रगुण में विकार बना रहता है, इसलिए गुणों में कथंचित् भेद है और इसलिए गुणस्थान के भी भेद होते हैं। गुणों में कथंचित् भेद होने से स्वभाव दृष्टि होने के बाद तत्काल ही वीतरागता नहीं हो जाती, इसलिए गुणस्थान के भेद होते हैं।

द्रव्य अखण्ड है, वह अनन्त गुणों की पिण्डरूप वस्तु है, उस प्रत्येक गुण की जाति भिन्न-भिन्न है, लक्षण की अपेक्षा से गुणों में कथंचित् भेद है। प्रत्येक गुण का कार्य भिन्न-भिन्न है, ज्ञानगुण जानने का, दर्शनगुण प्रतीति का और चारित्रगुण स्थिरता का कार्य करता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गुण भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं और इस प्रकार वस्तु में 'गुण-भेद हैं' तथा गुणभेद होने से पर्यायभेद भी है।

जैसे सोना पीला, चिकना और भारी आदि गुणों से अखण्ड है, परन्तु कथंचित्

गुणभेद है। पीलापन, चिकनापन, भारीपन आदि गुणों के लक्षण भिन्न हैं, उनके प्रकार अलग हैं, और कार्य अलग हैं इसलिए कथंचित् गुण भेद हैं।

सम्यग्दर्शन होने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जाते हैं, फिर भी अबुद्धिपूर्वक विकल्प रह जाते हैं, इसलिए गुण भेद भी रह जाता है, अतः सम्यग्दर्शन के होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता। कोई जीव तत्काल ही केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो भी बीच में अन्तर्मुहूर्त का अन्तर तो होता है। इसका कारण यह है कि गुणों में कथंचित् भेद रह जाता है, इसलिए वस्तु और पर्याय का भेद होता है, सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान होने में बीच में अन्तर पड़ता है।

छट्ठे गुणस्थान में मुनि के बुद्धिपूर्वक विकल्प हों और आर्तध्यान के परिणाम विद्यमान हों तो भी वहाँ निर्जरा विशेष है, क्योंकि वहाँ तीन कषायों का अभाव है, और चारित्रगुण की पर्याय विशेष है। चौथे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प न हों निर्विकल्प स्वरूप में स्थिर हो गया हो तो भी वहाँ तीन कषाय विद्यमान हैं, इसलिए निर्जरा कम है, अतः गुण-भेद है, चारित्र आदि गुणों का परिणमन कम है, इसलिए व्यवहारनय अनेक प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन के होने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प दूट जाएँ तो भी गुणों का परिणमन कम-बढ़ अर्थात् तारतम्यरूप से रहता है यदि ऐसा न हो तो एक गुणरूप वस्तु हो जाए, किन्तु ऐसा नहीं होता, वस्तु तो अनन्त गुणों की पिण्डरूप होती है।

वस्तु में अनन्त गुणों का परिणमन कम-बढ़ तारतम्यरूप से होता है। गुणों के परिणमन में अनेक प्रकार की विचित्रता है, इसलिए व्यवहारनय भी अनेक प्रकार का है। सम्यग्दर्शन होने के बाद तत्काल ही वीतराग नहीं हो जाता। सम्यग्दृष्टि से एक समय का परिणमन नहीं पकड़ा जाता, यदि पकड़ा जाए तो केवलज्ञान हो जाए। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद चारित्रगुण की पर्याय अपूर्ण रहती है, इसलिए केवलज्ञान तत्काल नहीं होता। इस प्रकार गुणों के परिणमन में भेद रहता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद तत्काल ही केवलज्ञान नहीं होता, क्योंकि चारित्र, ज्ञान और दर्शनगुण की पर्याय अपूर्ण है। यद्यपि दर्शनगुण की (उपशम और क्षायोपशमिक) पर्याय अपूर्ण है परन्तु दर्शनगुण की सम्यक्त्व पर्याय का विषय पूर्ण है, दृष्टि का विषय अपूर्ण नहीं है। चारित्रगुण में विकार होने पर भी

दर्शनगुण की पर्याय वस्तु का पूरा विषय कर सकती है। दृष्टि की पर्याय अपूर्ण है परन्तु दृष्टि का विषय पूर्ण है।

अनन्त गुणों की पिण्डरूप अभेद वस्तु न हो तो अभेद दृष्टि नहीं हो सकती। द्रव्यदृष्टि से गुण अभेद हैं, इसलिए एक गुण के प्रगट होने पर सभी गुणों का अंश सम्यक्रूप में प्रगट होता है। यदि वस्तु अभेद न हो तो एक गुण के प्रगट होने पर समस्त गुणों का अंश प्रगट न हो। यदि कथंचित् गुण भेद न हो तो साधक स्वभाव न रहे, तत्काल ही केवलज्ञान हो जाना चाहिए। इसलिए कथंचित् गुणभेद भी है, और द्रव्यदृष्टि से वस्तु अभेद है।

दृष्टि का विषय ध्रुव है, अपने में होनेवाली मलिन अवस्था पर दृष्टि में भेद का स्वीकार नहीं है। दृष्टि के साथ रहनेवाला ज्ञान दृष्टि को जाननेवाला ज्ञान प्रलम्बित होता है कि मैं इस अवस्था तक सीमित नहीं हूँ; मैं तो परिपूर्ण हूँ; इस प्रकार अपनी होनेवाली मलिन अवस्था का वह ज्ञान स्वामी नहीं होता। अपने में होनेवाली अवस्था पर दृष्टि का लक्ष्य नहीं है और बाहर होनेवाली पर पदार्थों की अवस्था पर भी उसका लक्ष्य नहीं है। अपना सामान्य द्रव्य ही दृष्टि का विषय है। अपने में होनेवाली मलिन या निर्मल पर्याय को दृष्टि स्वीकार नहीं करती, इसलिए वह दूसरे द्रव्य की मलिन या निर्मल पर्याय को भी स्वीकार नहीं करती। अपने में होनेवाली मलिन अवस्था क्षण भर के लिये है, इसलिए वह अपने द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से हानि या लाभ नहीं करती। जो अवस्था अपना हानि-लाभ नहीं करती, वह दूसरे जीवों की अवस्था को भी हानि-लाभ नहीं करती, और अन्य जीवों की अवस्था अपनी अवस्था को हानि-लाभ या सहायता नहीं करती। इस प्रकार दृष्टि निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को स्वीकार नहीं करती। दृष्टि का विषय मात्र ध्रुव ही है। अन्य द्रव्य का ध्रौव्यत्व अपने में नास्तिरूप है और स्वयं ध्रौव्य अपने में अस्तिरूप है। इस प्रकार दृष्टि का विषय अकेला ध्रुव है, परन्तु ज्ञान ध्रुव को, मलिन-निर्मल पर्याय को और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को जानता है। दृष्टि का विषय पूर्ण है। पहले दर्शनगुण की पर्याय प्रगट होती है, और फिर चारित्रगुण की पर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार सभी गुण एक ही साथ एक से कार्य नहीं करते तथा एक साथ पूर्ण नहीं होते इसलिए वस्तु में कथंचित् गुण भेद है।

यह शरीर और आत्मा दोनों भिन्न वस्तु हैं, वे दोनों वस्तुएँ एक नहीं हैं। आत्मा और

शरीर दोनों एक ही स्थान पर रहे हैं, सो अपनी अपनी अवस्था और योग्यता के कारण रह रहे हैं। दोनों एक ही स्थान पर रह रहे हैं, ऐसा कहना सो व्यवहार है। आत्मा आत्मा के क्षेत्र में है और शरीर शरीर के क्षेत्र में—जैसे दूध और पानी एक ही लोटे में एकत्रित हैं अर्थात् दोनों एक ही क्षेत्र में एक साथ विद्यमान हैं, यह व्यवहार है, किन्तु दोनों एक स्थान पर एकत्रित रहते हुए भी दूध पानीरूप या पानी दूधरूप नहीं हो जाता; दूध दूध में, और पानी पानी में।

जैसे आत्मा और शरीर दोनों एक ही आकाश क्षेत्र में एकत्रित होकर रहे हैं, तथापि आत्मा आत्मा के क्षेत्र में है और शरीर शरीर के क्षेत्र में। आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है; और शरीर वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों से परिपूर्ण रजकणों का पिण्ड है। वे अपनी-अपनी अवस्था की योग्यता के कारण से रह रहे हैं।

आत्मा की प्रतिक्षण होनेवाली अवस्था में रजकण की अवस्था नहीं है, और रजकण की प्रतिक्षण होनेवाली अवस्था में आत्मा की अवस्था नहीं है।

आत्मा के अनन्त गुणों में रजकण के कोई भी गुण नहीं आ जाते, और रजकण के अनन्त गुणों में आत्मा के कोई भी गुण नहीं पहुँचते। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में हैं; पर-वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में नहीं है, अपने-अपने स्वचतुष्टतया अपने-अपने में है।

परमार्थनय जीव को शरीर तथा राग, द्वेष, मोह से भिन्न कहता है। यदि उसका एकान्त पक्ष ग्रहण किया जाए तो शरीर तथा राग, द्वेष, मोह, पुद्गलमय कहलायेंगे; और ऐसा होने से पुद्गल का घात करने से हिंसा नहीं होगी, तथा राग, द्वेष, मोह से बन्ध नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थ से जो संसार और मोक्ष दोनों का अभाव कहा है, वही एकान्त से सिद्ध होंगे, किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है।

काम, क्रोध, हिंसा, झूठ, दया, दान इत्यादि भाव आत्मा में स्वभावदृष्टि से नहीं हैं; आत्मा तो पवित्र ज्ञानमूर्ति, शुद्धता से परिपूर्ण तत्त्व है। उस दृष्टि को परमार्थदृष्टि, सत्यदृष्टि या अपना सत्यस्वरूप इत्यादि कुछ भी कहा जा सकता है। उस दृष्टि को एकान्तरूप से लिया जाए और जितना व्यवहार सम्बन्ध है उतना पक्ष न लिया जाए तो तो व्यवहार सम्बन्ध को माने बिना वह परमार्थ से भिन्न है, ऐसा भी नहीं बताया जा सकेगा।

राग को शरीर में अनुकूलता के समय राग और प्रतिकूलता के समय द्वेष होता है। उस राग-द्वेष में शरीर निमित्त है। स्वयं विकार में युक्त होता है, इसलिए राग-द्वेष होता है, किन्तु उसमें शरीर की उपस्थिति है, इतना सम्बन्ध है।

व्यवहार से सचेत शरीर और अचेत शरीर कहलाता है। यहाँ सचेत अर्थात् जीववाला शरीर मात्र अर्थ होता है, किन्तु यदि शरीर को एकान्तत: सचेतन मान लिया जाए तो भूल होगी तब तक जीव रहता है, तब तक शरीर में जीव का आरोप किया जाता है, इसलिए शरीर को सचेत कहा जाता है, जो कि व्यवहार है। किन्तु वास्तव में देखा जाए तो शरीर सचेत नहीं है।

परमार्थ दृष्टि में दूसरे जीवों को मारने का भाव भी आत्मा में नहीं होता। किसी के शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है और अपने शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, उसे भी परमार्थ दृष्टि स्वीकार नहीं करती, क्योंकि शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न है।

किन्तु यदि व्यवहार से भी आत्मा में बन्ध न हो तो बन्ध को दूर करके मुक्त होने का उपदेश न दिया जाए और यदि हिंसा का भाव आत्मा की पर्याय में होता ही न हो, तो उस भाव को दूर करने का उपदेश न दिया जाए। यदि शरीर और आत्मा का कोई सम्बन्ध स्वीकार न करे तो किसी जीव को मारने का भाव ही न हो। किसी जीव को मारने का भाव होता है, इससे यह स्पष्ट है कि शरीर और आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। शरीर और आत्मा का एक ही स्थान पर रहने का अपनी अपनी पर्याय की योग्यता के कारण सम्बन्ध है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, ऐसा लक्ष्य में आने पर ही दूसरे जीव को मारने का भाव होता है।

आत्मा के साथ ही एक ही स्थान पर शरीर की उपस्थिति है; इसलिए शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ज्ञायक है, और हिंसा, दया, राग, द्वेष आदि भावों का वर्तमान अवस्था तक ही सम्बन्ध है। उस विकारी अवस्था का ज्ञातव्य है, किन्तु रखने योग्य नहीं है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा का एक ही स्थान पर रहने का सम्बन्ध ज्ञातव्य है, किन्तु रखने योग्य नहीं है। 'सम्बन्ध है' यह ज्ञातव्य है, किन्तु अंगीकार करने योग्य नहीं है।

जैसे छाछ बिलोने की मथानी के रस्सी के दो छोरों में से यदि दोनों को एक ही साथ

खींचे तो मक्खन नहीं निकलेगा, दोनों को छोड़ देने से भी मक्खन नहीं निकलेगा, एक को पकड़ रखे और दूसरे को छोड़ दे तो भी मक्खन नहीं निकलेगा, किन्तु यदि एक छोर को खींचे और दूसरे को ढील दे तो मक्खन निकलेगा। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप को समझने के लिये दो नय होते हैं, एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। उन दोनों नयों को न समझे तो आत्महितरूप मक्खन प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों नयों को एकान्तरूप से पकड़ रखने से भी आत्महित नहीं होगा, व्यवहारनय को एकान्तरूप से पकड़ रखे और निश्चयनय का निषेध करे, तो भी हित न होगा, यदि निश्चयनय को एकान्तरूप से पकड़ रखे और व्यवहारनय का स्वरूप यथावत् न जाने, तथा यह कहे कि किसी भी अपेक्षा से आत्मा में व्यवहार है ही नहीं तो भी आत्मा का हित न होगा, धर्म नहीं होगा, किन्तु जब निश्चय की बात समझायी जाए तब व्यवहारनय की अपेक्षा लक्ष्य में रखे, और जब व्यवहार की बात समझायी जाए तब निश्चयनय की अपेक्षा लक्ष्य में रखे; इस प्रकार दोनों नय का जो स्वरूप बतलाते हैं, उस स्वरूप के भलीभाँति यथावत् समझे तो आत्मा का हित हो, सुख प्रगट हो और मुक्ति प्राप्त हो। इस प्रकार दोनों नयों के ज्ञान की एकता होकर प्रमाण होता है। जो निश्चय और व्यवहारनय का विषय है, उसका ठीक ज्ञान करके दोनों का मेल होकर प्रमाण होता है और प्रमाण ज्ञान के होने पर मुक्ति होती है।

कितने ही लोग निश्चय का एकान्त पकड़ रखते हैं, किन्तु मात्र निश्चयनय की अपेक्षा ली जाए तो उसमें बन्ध-मोक्ष नहीं हो सकता। एक मत ऐसा है कि आत्मा में जो राग-द्वेष आदि दिखायी देता है, और जो शरीरादि बाह्य वस्तुएँ दिखायी देती हैं, वह सब भ्रम है, किन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। बाह्य वस्तु जगत में है, किन्तु तेरे आत्मा में नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह वस्तु जगत में नहीं है। राग-द्वेष और मोह आत्मा की अवस्था में होते हैं, किन्तु वे आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं; इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा की अवस्था में विकार होता ही नहीं। जड़कर्म रूप अन्य वस्तु है, वह जब आत्मा भूल करता है तब विकार में निमित्त होती है। राग-द्वेष तेरे स्वरूप में नहीं हैं, इसलिए अभूतार्थ हैं किन्तु राग-द्वेष अवस्था में भी नहीं हैं ऐसा मानना मिथ्या है; व्यवहारमें अवस्था से बन्ध है इतना स्वीकार न करे तो वह एकान्त दृष्टि है। आत्मा की पर्याय में शुभाशुभभाव होते हैं, इसलिए वे आदरणीय हों सो बात नहीं है; किन्तु 'होते हैं' इतना स्वीकार करने की बात है। यदि सर्वथा अवस्था से भी अबन्ध माना जाए तो हिंसा विषय इत्यादि के अशुभ

भाव छोड़कर दया, दान, ब्रह्मचर्य इत्यादि के शुभभाव करने का और शुभभाव दूर करके शुद्धता को प्रगट करने का भी अवकाश नहीं रहता।

कुछ लोग एकान्त व्यवहार को पकड़ लेते हैं, और मानते हैं कि मात्र शुभपरिणाम करते रहने से धर्म हो जाएगा, और मोक्ष मिल जाएगा, किन्तु ऐसा मानना मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि त्रिकाल में भी शुभ से शुद्ध की प्राप्ति नहीं हो सकती; आस्रव तत्त्व को जीव तत्त्व माने किन्तु दोनों एक नहीं होगा, विकार करते-करते त्रिकाल में भी अविकार भाव प्रगट नहीं हो सकता। यथार्थ स्वरूप को समझे बिना निश्चयनय और व्यवहारनय नय नहीं किन्तु नयाभास हैं, उन्हें निश्चयभास और व्यवहाराभास कहा जाता है।

यथार्थतया निश्चय और व्यवहार का स्वरूप समझने से मुक्ति होती है। यथार्थ निश्चयदृष्टि पराश्रयरूप व्यवहार का नाशकरनेवाली है। मैं आत्मा एक समय में परिपूर्ण तत्त्व हूँ ऐसी दृष्टि का नाम निश्चयदृष्टि है; ऐसी प्रतीति होने के बाद स्वभाव दृष्टि के बल से राग, द्वेष, हिंसा, झूठ इत्यादि शुभाशुभ भाव क्रमशः कम होते जाते हैं, और निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है; वह जो-जो होता है उसे जानना व्यवहारनय है। साध्य-साधक भाव का जो भेद होता है, वह भी स्वभावदृष्टि के बल से पूर्ण स्थिरता होने पर उस भेद का व्यवहार भी छूट जाता है। निश्चयदृष्टि का बल उस व्यवहार का नाश करनेवाला है। जिस जिस भूमिका से जो-जो अवस्था होती है, उसे जानना सो व्यवहारनय है। अमुक अंश में आत्मा की शुद्ध भूमिका में पहुँचने पर भी अभी अपूर्ण है, इसलिए अशुभभाव को दूर करके व्रतादि के जो-जो शुभ परिणाम आते हैं, उन्हें जानना व्यवहारनय है। यदि व्यवहार को न माने तो सम्पूर्ण उपदेश व्यर्थ जाएगा। कई लोग कहा करते हैं कि स्याद्वाद अर्थात् ऐसा हो सकता है, और वैसा हो सकता है, किन्तु वास्तव में स्याद्वाद ऐसे चकरीवाद (संशयवाद) के समान नहीं है।

आत्मा जिस अपेक्षा से शुद्ध है, उस अपेक्षा से अशुद्ध नहीं है, और जिस अपेक्षा से अशुद्ध है, उस अपेक्षा से शुद्ध नहीं है; दोनों की अपेक्षा अलग-अलग है, यह स्याद्वाद है। और जिस अपेक्षा से शुद्ध है उसी अपेक्षा से अशुद्ध माना जाए तो वह चकरीवाद है। और शुद्धभाव से भी मुक्ति हो सकती है, तथा शुभभाव से भी मुक्ति हो सकती है, ऐसा मानना सो चकरीवाद है। शुद्धभाव से मुक्ति होती किन्तु शुभभाव से मुक्ति नहीं होती, ऐसा

मानना स्याद्वाद है। दोनों नय ज्ञातव्य हैं, किन्तु आदरणीय नहीं हैं। आत्मा की अवस्था में राग-द्वेष होता है, उसे दूर करके वीतराग हुआ जाता है, किन्तु स्वभाव में पुण्य-पापादि कुछ नहीं हैं, तथा दोनों का ज्ञान करने से वीतराग स्वरूप प्रगट होता है। ज्ञान तो दोनों का करना चाहिए। किन्तु आदरणीय दोनों नहीं हो सकते। निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान करना चाहिए, किन्तु दोनों को ग्रहण करने से आत्मा की निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होगी।

निश्चय और व्यवहार दोनों आदरणीय नहीं हो सकते। जब विकार को आदरणीय माना जाएगा तब अन्तरंग में जो निर्विकार स्वभाव भरा हुआ है, उसका आदर (ग्रहण) नहीं होगा। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड परिपूर्ण तत्त्व है, ऐसी निश्चय दृष्टि को आदरणीय मानने पर पर्याय निर्मल हुए बिना नहीं रहती। पर्याय का निर्मल होना व्यवहार है, और उसे जानना व्यवहारनय है।

आत्मा परमार्थतः पर से निराला है। निराला, निर्विकल्प स्वरूप से है उसका ज्ञान कर और वर्तमान में अवस्था मलिन है, उसका भी ज्ञान कर। 'होता है' उससे इंकार करे तो ज्ञान मिथ्या कहलायेगा, और उससे लाभ माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी।

दृष्टि निमित्त को स्वीकार नहीं करती। दृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार हेय है। दृष्टि विकारी पर्याय को स्वीकार नहीं करती, अपूर्ण-पूर्ण अवस्था को भी स्वीकार नहीं करती; इतना ही नहीं, किन्तु भीतर जो जो निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है, उसे भी स्वीकार नहीं करती। दृष्टि का विषय एक परिपूर्ण तत्त्व ही है। ज्ञानी की अपेक्षा से व्यवहार ज्ञेय (जानने योग्य) है, और चारित्र की अपेक्षा से शुभाशुभ भावरूप व्यवहार विष है।

यथार्थ दृष्टि होने के बाद देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का व्यवहार बीच में आता है, इसलिए यदि मात्र परमार्थ को माने तो सबका अभाव हो जाएगा। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का जो शुभभाव होता है, उसका ज्ञान करे, किन्तु यदि उसे आदरणीय माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी। जब तक अपूर्ण है, तब तक बीच में शुभभाव आ जाता है, किन्तु उसका खेद है, अशुभभाव को दूर करके शुभभाव में युक्त होता है, और वह युक्त हुआ इतने मात्र से व्यवहार है। व्यवहार व्यवहार से आदरणीय है, किन्तु वह श्रद्धा में किंचित् मात्र भी आदरणीय नहीं है; यदि उसे आदरणीय माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी, किन्तु इससे

देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के परिणाम बीच में नहीं आते, ऐसा माने तो ज्ञान मिथ्या होगा। शुद्ध में विशेष स्थिर नहीं हुआ जाता और शुभभाव में युक्त न हो तो अशुभ परिणाम होते हैं, इसलिए शुभभाव में युक्त होता है। चतुर्थ गुणस्थान में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के शुभ परिणाम होते हैं, तत्पश्चात् पंचम गुणस्थान में अव्रत के परिणाम दूर करके स्वरूप में विशेष स्थिरता होती है, वे सच्चे व्रत हैं, और अशुभ परिणामों को दूर करके शुभ परिणामरूप व्रत भी बीच में आते हैं। व्रत के शुभ परिणाम और देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के शुभ परिणाम को जानना सो व्यवहारनय है। परमार्थदृष्टि के बल से पूर्ण स्थिरता होने पर, शुभाशुभ विकल्प का व्यवहार और साध्य-साधक भाव के विकल्प के भेद का व्यवहार भी छूट जाता है, किन्तु अपूर्ण अवस्था है, तब तक विकल्प के भेद आये बिना नहीं रहते। वे आते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहारनय है।

मैं विकल्प रहित हूँ, निर्विकल्प स्वरूप हूँ, उसे स्वीकार करने से ही लाभ है; ऐसा जाने और वर्तमान पर्याय में मलिन अवस्था होती है, उसे जाने किन्तु उससे लाभ न माने। देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि निमित्त बीच में आते हैं, उसे न माने तो ज्ञान मिथ्या है, और उससे लाभ होता है, ऐसा माने तो श्रद्धा मिथ्या है। विकारी पर्याय का वर्तमान अवस्था मात्र का भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा माने तो उसे वस्तु का वास्तविक श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं हुआ है।

अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है, इसलिए व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

आत्मा की पर्याय में राग-द्वेष और भ्रान्ति होती है, उसे न जाने तो अवस्तु का ज्ञान किया; और वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा न जाने तो अवस्तु का ज्ञान किया कहलायेगा। जिसकी श्रद्धा यथार्थ होती है, उसका ज्ञान यथार्थतया ही जानने का कार्य करता है, किन्तु जिसका ज्ञान मिथ्या है, उसकी श्रद्धा भी अवस्तु की ही कहलायेगी। अवस्था में राग-द्वेष होता है, ऐसा नहीं माना, इसलिए राग-द्वेष को दूर करके स्वरूप में स्थिर होने का आचरण नहीं रहा, इसलिए आचरण भी अवस्तु का ही हुआ। वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा आचरण नहीं हुआ इसलिए अवस्तु का ही आचरण हुआ कहलायेगा।

आत्मा की पर्याय में वर्तमान अवस्था पर्यन्त राग-द्वेष होते हैं, इसे स्वीकार न करे तो उसके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों अवस्तु के हुए; और इसलिए वे तीनों मिथ्या कहलायेंगे।

यदि ऐसा माने कि राग-द्वेष आत्मा के स्वभाव में हैं तो भी अवस्तु की श्रद्धा, ज्ञान और अवस्तु का आचरण हुआ। और इस प्रकार उसके श्रद्धा ज्ञान और चारित्र तीनों मिथ्या हुए। जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है, उसका ज्ञान और आचरण भी सम्यक् होता है। जैसे- पानी का त्रिकाल अखण्ड स्वभाव शीतल है, किन्तु उसकी योग्यता वर्तमान अवस्था में अग्नि के कारण उष्ण होती है। अब यदि कोई उस उष्ण अवस्था को पानी के सम्पूर्ण त्रिकाल स्वभाव में माने तो यह कहा जाएगा कि—उसने अवस्तु की श्रद्धा की, अवस्तु का ज्ञान किया और अवस्तु का आचरण किया है। किन्तु जिसे तृषा मिटानी है उसे यह ज्ञान करना होगा कि पानी का स्वभाव तो त्रिकाल शीतल है, किन्तु वर्तमान में उसमें उष्णता है। यदि शीतलता का उपादेयरूप ज्ञान न करे तो वह यह मानेगा कि गर्म पानी ही पेय है, और इससे उसकी प्यास नहीं बुझेगी। यदि यह न माने कि—वर्तमान अवस्था में उष्णता आ गयी है तो वह पानी को ठण्डा करने का प्रयत्न ही नहीं करेगा, और इसलिए उसकी प्यास भी नहीं बुझेगी। इसलिए पानी के नित्य शीतल स्वभाव को और वर्तमान उष्ण पर्याय को दोनों को स्वीकार करे तो वह पानी को ठण्डा करेगा और उसे पीकर अपनी प्यास बुझायेगा। तात्पर्य यह है कि-प्यास को बुझाने के लिये ज्ञान तो दोनों का करना होगा, किन्तु उसमें से आदरणीय मात्र शीतलता ही है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द ज्ञान जल से भरा हुआ सिद्ध परमात्मा के समान है। सभी आत्माओं का स्वरूप वैसा ही है, किन्तु वर्तमान अवस्था में कर्म के अवलम्बन से राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक इत्यादि होते हैं। यदि कोई उस वर्तमान अवस्था पर्यन्त ही सम्पूर्ण द्रव्य का स्वरूप मान ले तो यह कहलायेगा कि उसने अवस्तु की श्रद्धा की, अवस्तु का ज्ञान किया, और अवस्तु का आचरण किया है। जो संसार-दावानल को बुझाना चाहता हो उसे यह ज्ञान करना होगा कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध पवित्र और आनन्दस्वरूप त्रिकाल है, किन्तु वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष और भ्रान्तिरूप मलिनता है। आत्मा का स्वभाव त्रिकाल ज्ञान जल से भरा हुआ है, यदि यह ज्ञान न करे तो मलिन अवस्था को ही आत्मा मानेगा, और ऐसा होने से उसका दुःख दूर होकर उसे आत्मशान्ति नहीं मिलेगी; और यदि यह मानेगा कि वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष तथा भ्रान्ति है ही नहीं,

तथा आत्मा अवस्थादृष्टि से भी बिल्कुल निर्मल है तो भी वह मलिन अवस्था को दूर करके निर्मल अवस्था प्रगट करने का प्रयत्न नहीं करेगा, और इसलिए उसे दुःख दूर होकर शान्ति नहीं मिलेगी, इसलिए आत्मा का त्रिकाल शुद्धस्वभाव और वर्तमान अवस्था की मलिनता दोनों को स्वीकार करे तब निर्मल अवस्था को प्रगट करने का प्रयत्न करता है, और इससे आत्मा के अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। इससे यह निश्चित हुआ कि दुःख को दूर करने के लिये दोनों का ज्ञान करना होगा, किन्तु आदरणीय तो एक शुद्धस्वभाव ही है।

यदि यह माने कि राग-द्वेष का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं और आत्मा मात्र शुद्ध ही है, तो भी उसने सम्पूर्ण वस्तु को नहीं जाना इसलिए उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है, और यदि वर्तमान मलिन अवस्थापर्यन्त ही आत्मा को जाने तथा त्रिकाल अखण्ड पवित्र स्वभाव को न जाने तो भी सम्पूर्ण वस्तु को न जानने से उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है, इसलिए जब दोनों ओर का ज्ञान एकत्रित होता है, तब सम्पूर्ण प्रमाण ज्ञान होता है, और सम्पूर्ण प्रमाण ज्ञान वीतरागी स्वभाव को प्रगट करता है।

यदि यह स्वीकार न किया जाए कि वर्तमान अवस्थापर्यन्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तो सम्पूर्ण वस्तु लक्ष्य में नहीं आयेगी। आत्मा में मलिन अवस्था मात्र वर्तमान एक समय है, त्रिकाल स्वभाव में नहीं। यदि यह त्रिकाल स्वभाव में हो तो कभी भी दूर नहीं हो सकती किन्तु यदि दूसरे ही क्षण निर्मल अवस्था प्रगट करना चाहे तो की जा सकती है। आत्मा द्रव्यदृष्टि से त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु पर्यायदृष्टि से वर्तमान अवस्था में मलिनता होती है। इसलिए उन दोनों को दिखाना न्यायसंगत है। किनतु उसके भेद आदरणीय नहीं है, आदरणीय तो मात्र अभेद स्वरूप ही है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है।

दोनों नयों का विरोध मिटा हुआ तब कहला सकता है, जब यह जाने कि—आत्मा स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध है, और अवस्था में मलिनता मात्र वर्तमान में ही होती है, तथा अवस्था से शरीरादि के साथ सम्बन्ध है।

यदि आत्मा के मात्र शुद्ध निर्मल स्वभाव को माने और वर्तमान मलिन अवस्था को न माने तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा, तथा मात्र राग-द्वेष की अवस्था को माने और शरीर के सम्बन्ध को माने किन्तु यह न माने कि आत्मा का निर्विकल्प शुद्ध

स्वभाव त्रिकाल राग-द्वेष रहित है तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा; क्योंकि मात्र द्रव्य या मात्र पर्याय के मानने में विरोध आता है, इसलिए उनमें से मात्र एक-एक को मानने से विरोध मिटाया गया नहीं कहला सकता।

और फिर निश्चय भी आदरणीय है और व्यवहार भी आदरणीय है, इस प्रकार दोनों को आदरणीय माने तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा; परन्तु यदि द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान करे और उसमें मात्र शुद्ध स्वभाव को आदरणीय माने तो दोनों नयों का विरोध मिटाया गया कहलायेगा।

यह समझने योग्य बात है। त्रिकाल के तीर्थंकर देवों ने जैसे वस्तु का स्वरूप है वैसा ही कहा है ॥४६॥

अब शिष्य पूछता है कि—वर्तमान जितनी अवस्था को जाननेवाला व्यवहारनय किस दृष्टांत से वर्तता है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।४७।।

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो।।४८।।

अर्थः—जैसे कोई राजा सेना सहित निकला, वहाँ जो सेना के समूह को ऐसा कहा जाता है कि यह राजा निकला है, सो वह व्यवहारनय से कहा जाता है। उस सेना में वास्तव में तो एक ही राजा निकला है; इसी प्रकार इन अध्यवसानादि अन्य भावों को परमागम 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहारनय से कहा है, निश्चय से विचारा जाए तो उन भावों में जीव तो एक ही है।

यह व्यवहार-निश्चयरूप वस्तुस्वभाव जीवों ने कभी आज तक नहीं जाना था। इसे जानने के अतिरिक्त दूसरा सब कुछ करने में जीव ने कहीं कोई कसर नहीं रखी। किसी ने कहा है कि:—

अहो कष्टं महा कष्टं, लाभः किंचिन्न विद्यते।

घोरातिघोर तपस्या करके शरीर को सुखा डाला किन्तु उससे किंचित् मात्र भी लाभ

नहीं हुआ। आत्मा का स्वभाव सदा स्थायी है, उससे लाभ नहीं माना किन्तु शुभ परिणाम से पुण्य बन्ध हुआ और राज्य मिला—धूल मिली उससे सुख माना, परन्तु भव-भ्रमण नहीं मिटा।

जब तक दोनों नयों को अविरोधरूप से नहीं जाने तब तक मुक्ति नहीं होती। वर्तमान अवस्था में शुभ परिणाम होते हैं, उन्हें आदरणीय माने किन्तु वस्तु का मूल स्वभाव निर्विकार है, इसे न जाने तो वह क्रिया जड़ है, और आत्मा मात्र शुद्ध ही है, उसकी वर्तमान अवस्था में अशुद्धता नहीं होती, ऐसा माने तो मलिन अवस्था को दूर करके, पुरुषार्थ करना नहीं रहा, और इसलिए शुष्क हो गया।

शिष्य पूछता है कि—भगवन् इस एक आत्मा में यह सब इतना बड़ा विस्तार क्या है ? आठ कर्म, उनके निमित्त से होनेवाले राग-द्वेष और राग-द्वेष के फल पुण्य-पाप तथा राग-द्वेष के निमित्तभूत शारीरिक रोग, घर, स्त्री, पुत्र इत्यादि एक ही आत्मा में कैसे होते हैं ?

जैसे लाखों सैनिकों के साथ कोई राजा निकले तब उस सेना के समुदाय को यह कहा जाता है कि यह अमुक राजा जा रहा है। यद्यपि राजा तो एक हाथी पर बैठा होता है, किन्तु मीलों तक फैली हुई सेना को यह कहा जाता है कि राजा जा रहा है। इस प्रकार सेना के समुदाय को राजा कहना व्यवहार है। राजा सेना सहित निकला और आगे जाकर युद्ध में सारी सेना मर गयी और राजा अकेला अपने राज्य में वापिस आ गया तो यह स्पष्ट सिद्ध है कि राजा और सेना एक नहीं है, किन्तु सेना के निमित्त के सम्बन्ध से मात्र राजा सेना सहित कहा जा सकता है किन्तु वास्तव में जो सेना है, सो राजा नहीं है।

इसी प्रकार क्रोध, मान, दया, दान, सत्य, झूठ इत्यादि के भाव सेना के समान हैं, वे सभी भाव जीव हैं ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वर्तमान क्षणमात्र के लिये, उसमें अटका होने से, वे भाव व्यवहार से आत्मा के कहे जाते हैं।

आत्मा ध्रुव त्रिकाल, निर्विकार, अखण्ड है, और अवस्था क्षण मात्र की खण्डवाली और विकारी है, ऐसा परमागम में कहा है। अवस्था क्षणिक है, और आत्मा त्रिकाल स्थायी है, इसलिए दोनों के काल भिन्न हुए। आत्मा निर्विकार और अखण्ड है, तथा पर्याय विकारी और खण्डवाली है। इसलिए दोनों के भाव भिन्न हुए।

वास्तव में देखा जाए तो आत्मा अध्यवसान के समूह को नाश करनवाला उसी अवस्था तक ही नहीं, किन्तु ज्ञायकरूप ध्रुव है। उस ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और आचरण किया जाए तो वह आत्मा एक ही ज्ञात होता है। परसंयोग और राग-द्वेष आदि का जो झुण्ड मालूम होता है, सो कर्म के सम्बन्ध की दृष्टि से दिखायी देता है।

भगवान आत्मा देह से भिन्न तत्त्व है, वह शरीर, मन, वाणी से पृथक् तत्त्व है, उसका क्षणिक अवस्था तक ही राग-द्वेष और भ्रान्ति के साथ व्यवहार से सम्बन्ध कहा है, किन्तु परमार्थतः जीव एकरूप ही है। व्यवहार की सेना आत्मा की पर्याय में होती अवश्य है, किन्तु वास्तव में वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वास्तव में तो आत्मा एक ही स्वरूप है।

जिसे आत्मा का हित अर्थात् आत्मा का धर्म करना हो उसके लिये आत्मा एक अलग वस्तु है, तथा शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि बाह्य संयोगी वस्तु और पुण्य, पाप, हर्ष, शोक इत्यादि अन्तरंग संयोगी वस्तु सब पर हैं, अपना स्वरूप नहीं है, ऐसा जानना पड़ेगा। उनसे आत्मा का हित या धर्म नहीं होता, इसलिए बाह्य संयोग से और अन्तरंग संयोग से चैतन्यस्वभाव को निराला जानना, मानना और उसमें एकाग्र होना सो मोक्ष का मार्ग है।

शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! आत्मा में जो राग-द्वेष भाव प्रवर्तमान हैं, वे व्यवहार से प्रवर्तमान हैं, तो वह कौन से दृष्टान्त से व्यवहार प्रवृत्त हुआ है?

उत्तरः—जैसे मीलों तक विस्तृत सेना को राजा कह दिया जाता है; यद्यपि राजा का मीलों तक फैलना अशक्य है, किन्तु व्यवहारी लोगों का सेना समुदाय को राजा कहने का व्यवहार है; परमार्थ से तो राजा एक ही है।

राजा तो एक ही है, किन्तु उसकी सेना मीलों तक फैली हुई है, इसलिए ऐसा कहते हैं कि राजा ने इतने मील की जमीन रोक रखी है, किन्तु एक राजा मीलों तक नहीं फैल सकता, फिर भी यह कह दिया जाता है कि राजा ने इतनी जमीन रोक रखी है। यद्यपि मीलों की जमीन राजा ने रोक रखी है, किन्तु वास्तव में राजा ने नहीं रोकी है; स्थूल दृष्टिवाले का और वर्तमान देखनेवाले का ऐसा व्यवहार है। व्यवहारी लोगों का सेना समुदाय को राजा कहने का व्यवहार है।

इसी प्रकार यह जीव समग्र राग ग्राम में (राग के स्थानों में) व्याप्त होकर प्रवर्त रहा है, ऐसा कहना सो, एक जीव का समस्त राग ग्राम में व्याप्त होना अशक्य होने से, व्यवहारी

लोगों का अध्यवसानादिक भावों में जीव कहनेरूप व्यवहार है, वैसे परमार्थ से तो जीव एक है।

भगवान आत्मा तो एक ही है; उसका हिंसा, दया, दान, पूजा, भक्ति, झूठ, कंजूसी में और ऐसे ही अन्य भावों में फैलना अशक्य है। चिदानन्दमूर्ति आत्मा एक ही है, उसका इतने सारे विकारों के विस्तार में फैलना अशक्य है। राग-द्वेष का विकार तो लक्ष्य भर का है, उसमें भगवान आत्मा फैल नहीं गया है, यदि फैल गया हो तो उससे अलग करके धर्म कैसे कर सकेगा?

घर, कुटुम्ब और लक्ष्मी का जो फैलाव होता है, सो वह फैलाव भगवान आत्मा का नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु हिंसा, दया, कंजूसी, उदारता, विनय, अविनय, पूजा, भक्ति इत्यादि भावों का जो विस्तार होता है, सो वह भी भगवान आत्मा का नहीं है। जो शुभाशुभ वृत्तियाँ हैं, सो क्षणभर के लिये हैं। सम्पूर्ण भगवान आत्मा उसमें फैल नहीं जाता। आत्मा तो एक है, वह अनेक रूप नहीं होता।

जैसे एक राजा मीलों तक नहीं फैल सकता उसी प्रकार आत्मा एक है, वीतराग स्वभाव है, उस एक आत्मा का पुण्य-पाप के भावों के समूह में व्याप्त होना अशक्य है, अर्थात् वैसा हो ही नहीं सकता। यहाँ अशक्य कहा है किन्तु दुर्लभ नहीं कहा है। अशक्य अर्थात् जो बन ही नहीं सकता, और दुर्लभ अर्थात् बन तो सकता है, किन्तु दुर्लभता से (भारी कठिनाई से) बन सकता है। इस प्रकार दोनों के अर्थ में अन्तर है।

घर, कुटुम्ब, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र इत्यादि के विस्तार की तो यहाँ बात ही नहीं है, क्योंकि उनका विस्तार तो आत्मा से भिन्न ही है, किन्तु शरीर-मन-वाणी के विस्तार की भी यहाँ बात नहीं है, क्योंकि—इन सबका विस्तार आत्मा से भिन्न ही है परन्तु दया-दान आदि की जो वृत्ति हो उसमें भी आत्मा को फैला हुआ माना जाए, तो वह सर्वथा अज्ञान है।

वर्तमान में पानी में जो उष्णता दिखायी देती है, वह पानी के मूल स्वभाव में नहीं है, इसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा से देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति की या अविनय की, दान की या कंजूसी की और निर्दयता की या दया की, समस्त वृत्तियाँ संयोगी वस्तु हैं, क्षणिक हैं; वे आत्मा का मूल स्वभाव नहीं हैं, वह विकारी और क्षणिक अवस्था का विस्तार है, वह विस्तार आत्मा का नहीं है। जो यह मानता है कि उस विस्तार से आत्मा

का हित होता है, या धर्म होता है वह अज्ञानी है। आत्मा चिदानन्द शुद्ध स्वभाव है, उसे राग-द्वेष में फैला हुआ मानना सो मूढ़ जीवों का अज्ञान है।

आत्मा चिदानन्द प्रभु है। कर्म संयोग के निमित्त से जो वृत्ति होती है, वह आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, भगवान तीर्थंकर देव और अनन्त ज्ञानी सन्तों ने यह कहा है कि यह विकारी भाव आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं।

कुत्ते-बिल्ली इत्यादि के भव धारण करके सत्य की शरण प्राप्त किये बिना अनन्त बार संसार में परिभ्रमण किया, उसमें मनुष्य का भव अनन्त काल में जैसे-तैसे मिला, उसमें भी यदि सत्य की शरण प्राप्त न की तो फिर चौरासी के चक्कर में जा गिरेगा। असत्य की शरण में किसी भी क्षेत्र या किसी भी काल में सुख नहीं हो सकता।

जैसे—सेना के समुदाय में राजा कथन मात्र से व्यवहार है, इसी प्रकार व्यवहारी लोगों का अध्यवसानादिक भावों में जीव कहने का व्यवहार होता है। व्यवहारीजन यह कहा करते हैं कि अध्यवसानादि जीव हैं, इसलिए उनकी भाषा में समझाया है कि अध्यवसानादि जीव हैं, परन्तु आत्मस्वभाव में वे अध्यवसानादि भाव नहीं है। उनसे आत्मा को कोई लाभ या हित नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र की ओर का राग, और व्रत, दया, दानादि के परिणाम तो पुण्य बन्ध के कारण हैं किन्तु स्वरूप में स्थिर होने के लिये प्रथम विकल्प आये कि मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं चारित्र हूँ, वह भी पुण्य बन्ध का कारण है, क्योंकि उसमें राग है। इसलिए वह पुण्य बन्ध का कारण है, और वह व्यवहार है। यदि निर्विकल्प स्वरूप में स्थिर हो जाए तो बीच में आया हुआ विकल्प व्यवहार कहलाता है, अन्यथा वह व्यवहार भी नहीं है, किन्तु मात्र पापानुबन्धी पुण्य बन्ध है। यदि स्वभाव पर्याय प्रगट हो तो बीच में आये हुए विकल्प को व्यवहार कहा जाता है। स्वरूप को समझते समय और स्वरूप में स्थिर होते समय बीच में व्यवहार आये बिना नहीं रहता। परिपूर्ण स्वरूप की दृष्टि करके स्वरूप का अनुभव करना सम्यग्दर्शन है और विशेष रमणता बढ़ने पर सम्यक्चारित्र प्रगट होता है। साधकदशा में जितने-जितने राग मिश्रित परिणाम आते हैं, वे सब पुण्य बन्ध का कारण हैं, और स्वभावदृष्टि के द्वारा स्वभाव में से जो स्वभाव पर्याय प्रगट होती है, वह निर्जरा का कारण है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसमें से अनन्त पर्याय प्रगट होती है सामान्य में से विशेष आता है, विशेष में से विशेष नहीं आता।

जड़ की अवस्था को आत्मा करता है, ऐसी मिथ्या मान्यता अज्ञानी जीवों के द्वारा माना हुआ व्यवहार है, और मलिन अवस्था आत्मा में प्रविष्ट हो गयी है वह भी अज्ञानी जीवों के द्वारा माना हुआ व्यवहार है, यह व्यवहार ज्ञानी का नहीं है, ज्ञानी तो मलिन अवस्था को मात्र जानता है, और उसका व्यवहार अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप में एकाग्र होना और अस्थिरता को दूर करना है।

आत्मा की वर्तमान अवस्था में शुभाशुभ परिणाम होते हैं उसको हेयरूप जानना सो व्यवहार है। स्वरूप में स्थिर होने के लिये मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ ऐसे विकल्पों का आना भी व्यवहार है। स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न व्यवहार है, और स्वरूप में स्थिर हुआ सो वह भी व्यवहार है, क्योंकि उसमें अपूर्ण अवस्था है, और पूर्ण अवस्था करनी चाहिए ऐसे भंग होते हैं। जब तक पूर्णदशा नहीं होती तब तक बीच में व्यवहार आता है। अपूर्ण अवस्था है और उसे पूर्ण किया जाए, ऐसा व्यवहार यदि न हो तो उपदेश देना व्यर्थ सिद्ध हो। ज्ञाता-दृष्टा रहकर स्वरूप में एकाग्र होना धर्मी का व्यवहार है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव जिसके परम गुरु हैं—उनका दास, उनका भक्त, ऐसा धर्मात्मा ज्ञानी परमार्थत: जीव एक है-ऐसा कहते हैं। वह अध्यवसानादि भावों में अनेक नहीं हो गया, उन विकारी भावों से आत्मा का धर्म नहीं है, सुख नहीं है, हित नहीं है, इस प्रकार सर्वज्ञ का दास धर्मात्मा कहता है। स्वभावदृष्टि और पर से पृथक्त्व का ज्ञान उस धर्मात्मा के प्रवर्तमान ही रहता है, इसलिए वह पर द्रव्य के भावरूप में परिणमित नहीं होता, पर में कर्तृत्व नहीं मानता। ऐसी प्रतीति के साथ जो स्वरूप का अनुभव करता है, ऐसा भगवान का भक्त कहता है कि अध्यवासानादि जीव नहीं है, परमार्थ से जीव तो एक है, वह अध्यवसानादि भावों से भिन्न है।

आचार्यदेव नियमसार में कहते हैं कि मार्ग की श्रद्धा बराबर करो, उसे उल्टा-सीधा मत मानो, यदि हो सके तो श्रद्धापूर्वक स्थिरता भी करो, यदि स्थिरता का प्रयत्न न हो तो श्रद्धा भली-भाँति करना, यदि तुझसे स्थिरता न हो सके तो मार्ग की श्रद्धा को विपरीत मत करना।

हे प्रभु! जबकि तूने अनन्त काल में कभी भी आत्मस्वभाव की बात नहीं सुनी तब तुझे यह खबर कहाँ से हो सकती है कि श्रद्धा की, मुनित्व की और केवली की बात कैसी

होती है ? जहाँ यथार्थ परिचय नहीं, और यह खबर नहीं है कि—किस मार्ग पर जाना है, तो वहाँ मार्ग पर कैसे चलेगा ?

हे भाई ! यह बहुत उच्च कोटि की नहीं किन्तु यह तो प्रथम इकाई की बात है, पहले यथार्थ ज्ञान श्रद्धा करने की बात है। विशेष स्थिरता प्रगट करके मुनित्व को प्रगट करना और फिर केवलज्ञान प्रगट करना उच्चातिउच्च कक्षा की बात है।

अनीतिमय आचरण कर रहा हो, तथापि दुनिया में बड़ा होने के लिये नीति की आड़ में रहना चाहे, और दूसरों से कहे की कि—क्या मैं अनीति कर सकता हूँ ? अनाचार कर सकता हूँ ? क्या मैं असत्य बोल सकता हूँ ? छि: छि: ! इनका तो नाम ही मत लो ! इस प्रकार वह नीति की आड लेकर भला बनना चाहता है, और इस प्रकार वह यह मानता है कि अनीति अच्छी नहीं किन्तु नीति अच्छी है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शुभाशुभ विकारों से रहित सत्स्वरूप शुद्ध आत्मा ही आदरणीय है।

लोग सांसारिक बातों में अपना सयान बतलाते हैं, उत्साह दिखाते हैं और उन्हीं में तन्मय रहते हैं, किन्तु यहाँ धर्म की बातों में कोई उमंग नहीं है; तो क्या यह धर्म कोई मुफ्त की चीज़ है ? धर्म की बात में लोग यह मानते हैं कि यह हमारी समझ में नहीं आयेगी, अपनी ऐसी शक्ति ही नहीं है। किन्तु हे भाई ! तुझमें शक्ति तो अनन्त है। तेरे स्वभाव की अनन्त शक्ति प्रतिसमय ऐसी परिपूर्ण है कि—अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट कर सकता है; तब फिर यह कहना कि मेरी समझ में नहीं आ सकता या मुझे मत समझाइये, घोर कलंक की बात है। यदि कोई किसी मनुष्य से बातचीत में गधा कह दे तो वह लड़ने को तैयार हो जाता है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है, कि जहाँ तेरा अनन्त संसार में परिभ्रमण करने का भाव विद्यमान है, वहाँ गधे आदि के अनन्त भव भी धारण करने होंगे ?

हे भाई ! ऐसा उत्तम सुयोग मिला है, दुर्लभ मनुष्यभव मिला है, और सत्समागम भी मिला है, ऐसे समय में भी यदि न समझे तो फिर कब समझेगा ? विकार की अनेकता से रहित एक ही चैतन्यस्वरूप है, उसकी श्रद्धा करने और उसका ज्ञान करने में ही तेरा हित है। चैतन्य प्रभु एक है, ज्ञाता-दृष्टा है, वीतराग स्वरूप है। पुण्य-पाप के परिणाम की जो अनेकता है, सो आत्मा नहीं है; उस परिणाम में आत्मा फैलता नहीं है, या उसमें अटककर नहीं फैलता ॥४८॥

अब शिष्य पूछता है कि—यदि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो बताइये कि एक टंकोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ?

यहाँ शिष्य के मन में प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जिज्ञासा हुई है जानने की तीव्र आकांक्षा हुई है, और वह जानने के लिये पुलकित हो उठा है कि प्रभो ! यह क्या है ? आपने जो भगवान आत्मा को राग रहित कहा है सो कैसा है ? टंकोत्कीर्ण और कभी नष्ट न होनेवाला आत्मा कैसा है ? जिस आत्मा की श्रद्धा करने से मोक्ष होता है, उसका सत्य स्वरूप क्या है ? आपने तो यहाँ तक कह दिया है कि पुण्यादि के शुभ भावों से भी लाभ नहीं होता, तो फिर सत्यस्वरूप क्या है, सो समझाइये। यहाँ बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव की बात नहीं है, किन्तु शिष्य को जिज्ञासा हुई है, और वह स्वरूप का इच्छुक होता पूछता है कि भगवान ! जिस आत्मा का नाश नहीं होता वह वस्तु क्या है; जिसे जानकर श्रद्धा करके स्थिर हों तो इस संसार का अन्त हो जाए ?

शिष्य पूछता है कि भगवान ! शुभाशुभभाव की जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, और उनके आश्रय से आत्मा को लाभ नहीं होता, तो अब हम किसकी शरण ग्रहण करें ? किस पर दृष्टि लगायें ? आत्मा कैसा है ? उसका परमार्थ स्वरूप क्या है कि जिस पर दृष्टि रखकर उसमें स्थिर होने से भवभ्रमण का अन्त आये ? इस प्रकार विनय पूर्वक शिष्य के पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए निम्नलिखित गाथा में कहा है कि—

अरस-मरूव-मगंधं अव्वत्तं चेदणागुण-मसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीव-मणिद्दिट्ठ-संठाणं ।।४९।।

अर्थः—हे भव्य ! तू जीव को रूप, रस और गन्ध से रहित, अव्यक्त और इन्द्रिय अगोचर, तथा चेतना जिसका गुण है, शब्द रहित, जिसका किसी भी चिह्न से ग्रहण नहीं होता, तथा जिसका कोई आकार नहीं कहा जा सकता ऐसा जान।

यह गाथा अलौकिक है। यह गाथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित सभी ग्रन्थों में पायी जाती है। नियमसार में ४६वीं, अष्टपाहुड़ के भाव पाहुड़ में ६४वीं, प्रवचनसार में ८०वाँ और पंचास्ताय में १२७वीं गाथा है। तथा धवल ग्रन्थ के तीसरे भाग में यह पहली गाथा है। पद्मनन्दीपंचविशतिका, लघु द्रव्य संग्रहादि में भी है। इस प्रकार यह गाथा इन सभी

शास्त्रों में है। इस गाथा में आत्मा का वास्तविक स्वरूप अचिन्त्य और अलौकिक ढंग से किया गया है।

सर्वज्ञ भगवान के भावों को कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने अनुभव में उतारकर इस शास्त्र में स्पष्टतया लिखा है।

हे सुयोग्य भव्य! तू भगवान आत्मा को रस रहित जान। गाथा में सबसे पहले रस रहित कहा है, इसका कारण यह है कि जीव पर-पदार्थों में रस मान रहे हैं, वे खाने-पीने, चलने-फिरने और रहन-सहन इत्यादि में रस मान रहे हैं, तथा इसी में सुख मान रहे हैं; और इस गाथा में आत्मा के अतीन्द्रिय अनुभव रस की बात करनी है, आत्मा का आनन्द बताना है, इसलिए यहाँ रस की बात पहले कही है। अन्य सभी शास्त्रों में पंचवर्णादि का वर्णन करते हुए पहले स्पर्श की बात आती है, किन्तु यहाँ तो आत्मा का अनुभव रस बताना है; इसलिए रस की बात पहले कही है।

आत्मा अनन्त काल से परवस्तु में रस मान रहा है। प्रतिष्ठा में, कीर्ति में, लक्ष्मी में, खाने में, पीने में, उठने में, बैठने में, सोने में जो रस मान रहा है, वह विकारी रस है। उस विकारी रस का नाश करनेवाला अतीन्द्रिय आनन्द रस आत्मा में सम्पूर्णतया भरा हुआ है, वह रस सम्यग्दर्शन होने पर प्रगट होता है। वह रस ही आत्मा का है, शेष अन्य रस आत्मा के नहीं हैं।

जैसे भगवान आत्मा में रस नहीं है, उसी प्रकार रूप भी नहीं है। आत्मा सफेद, काला, हरा, पीला और लाल नहीं है। इन पाँच वर्णों में से कोई भी वर्ण आत्मा में नहीं है। आत्मा स्वयं अपने अनन्त गुणों से स्वरूपवान है।

भगवान आत्मा में सुगन्ध या दुर्गन्ध कुछ भी नहीं है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है—इन्द्रिय गोचर नहीं है। स्पर्श, रस इत्यादि के जानने में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं। किन्तु आत्मा के जानने में इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं। उपदेश सुनना भी कान का विषय है।

प्रश्नः—जब कि सुनना भी कान का विषय है, तब हमें क्या करना चाहिए?

उत्तरः—रुपये-पैसे की कमाई की बात, पुत्र-पुत्रियों की प्यारी आवाज और स्त्री के मीठे बोल सुनना सो सब पापराग है। उसकी दिशा बदलकर देव-गुरु-शास्त्र के वचन

श्रवण करना सो पुण्यराग है और उसमें विवेक करना कि—आत्मा रागरहित है, वर्ण आदि रहित है, ऐसा विवेक करना—वह आत्मा से होता है, सुनने से नहीं होता। जब सत् को समझने की जिज्ञासा होती है, तब सत्श्रवण बीच में आता है, क्योंकि सत्श्रवण के बिना सत्स्वरूप समझ में नहीं आता, किन्तु सत्श्रवण से ही सत्स्वरूप समझ में नहीं आ जाता; सत्स्वरूप तो आत्मा के पुरुषार्थ से समझा जाता है। अपने स्वरूप का विवेक करने की ओर जब वीर्य ढलता है, तब श्रवण के राग का लक्ष्य छूट जाता है। परन्तु स्वयं स्वरूप का विवेक करके समझे तो जो श्रवण का राग और श्रवण का निमित्त, जो देव-गुरु-शास्त्र हैं, वे समझने में निमित्त हुए कहलाते हैं। विवेक करना आत्मा का स्वतन्त्र कर्तव्य है।

भगवान आत्मा शब्द रहित है। आत्मा में वाणी नहीं है। यह जो वाणी बोली जा रही है, सो उसे जड़ बोलता है, आत्मा नहीं। जड़भूतवाणी जड़ की खान में से निकलती है। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप है, उसकी खान में से वाणी नहीं निकलती इसलिए आत्मा शब्दरहित है।

आत्मा किसी बाह्य चिह्न से नहीं पकड़ा जा सकता। विपरीत दृष्टि के कारण जीव ऐसा मान रहे हैं कि हम स्त्री हैं, हम पुरुष हैं, हम बालक हैं; हम युवक हैं, हम वृद्ध हैं, हम मनुष्य हैं, और हम पशु हैं, इत्यादि। उससे सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हे भाई! तू आत्मा है, स्त्री, पुरुषादि कोई भी चिह्न वाला नहीं है, तेरा आत्मा चिह्नरहित है, लिंगरहित है। आत्मा का स्वरूप किसी बाह्य चिह्न से नहीं पकड़ा जा सकता, तथापि जो बाह्य चिह्न को 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है वह आत्मा की हत्या करनेवाला है। आत्मा चिह्नरहित, चिदानन्द है। शरीर के चिह्न (लिंग) वाणी इत्यादि पर वस्तु आत्मा की नहीं है। आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं है, इस प्रकार हे शिष्य! तू जान! यहाँ शिष्य से 'तू जान' ऐसा कहा है, किन्तु तेरी समझ में नहीं आयेगा ऐसा नहीं कहा। ऐसा ही आत्मा है, इस प्रकार आचार्यदेव घोषित करते हैं। वैसे ही आत्मा की श्रद्धा कर, उसी को जान, और उसी में स्थिर हो जा। आत्मा में ज्ञात न हो ऐसा कुछ है ही नहीं। यहाँ 'जान' शब्द कहकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र तीनों का समावेश कर दिया है।

अब, रस आदि का विस्तृत विवेचन करते हैं—

जो जीव है सो निश्चय से पुद्गल द्रव्य से अलग है, इसलिए उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है, इसलिए अरस है।

आत्मा रस रहित है। खट्टा, मीठा, कड़वा इत्यादि पाँच प्रकार के जो रस हैं सो पुद्गल के हैं, आत्मा के नहीं। शरीर-मन-वाणी इत्यादि सब आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए भगवान आत्मा में वह रस विद्यमान नहीं है। रस तो रजकण का गुण है, और आत्मा में रजकण का अभाव है, इसलिए रस का भी अभाव है। आत्मा और पुद्गल दोनों वस्तु है, किन्तु रस पुद्गल द्रव्य का गुण है, आत्मद्रव्य का नहीं।

यह शरीर बहुत से रजकणों का पिण्ड है, इस पिण्ड के अन्तिम भाग को परमाणु कहते हैं, उस परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श गुण हैं; ऐसे रजकणों का संयोग मिलकर यह शरीर का दल दिखायी देता है, अतः यह शरीर जड़ की अवस्था है, और जड़ का रस गुण जड़ में है, आत्मा इस शरीर से भिन्न है, इसलिए उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है, अर्थात् उस रस गुण का अस्तित्व ही आत्मा में नहीं है। तेरे आत्मा का तो शान्त रस है, अनाकुल रस है, अतीन्द्रिय रस है। वह तेरा रस तुझमें है। वह तेरा रस जड़ में कहीं भी नहीं है, और जड़ का रस तुझमें नहीं है।

यहाँ प्रथमोक्ति में आत्मा को पुद्गल द्रव्य से अलग किया है, और अब द्वितीयोक्ति में पुद्गल के गुणों से अलग करते हैं।

पुद्गल द्रव्य के समस्त गुणों से भी भिन्न होने के कारण आत्मा स्वयं भी रस गुण नहीं है, अर्थात् अरस है।

पुद्गल द्रव्य के जितने गुण हैं, उन सबसे आत्मा भिन्न है। पुद्गल के अनन्त गुण पुद्गल में हैं। वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, द्रव्यत्व, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि पुद्गल के अनन्त गुण पुद्गल में हैं। ऐसे पुद्गल द्रव्य के गुणों से आत्मा भिन्न है। जैसे पुद्गल पुद्गल के रस गुण में परिणमित हुआ है, वैसे रस गुणरूप से आत्मा परिणमित नहीं हुआ है, इसलिए आत्मा अरस है।

विविध प्रकार के व्यंजनों का उपभोग करते हुए जो रसास्वाद होता है, वह रस आत्मा का नहीं किन्तु जड़ का है, लेकिन मूढ़ात्मा उसे अपना रस मानता है। वास्तव में

तो आत्मा उस रस को जानता है, इसके अतिरिक्त आत्मा में जड़ का कुछ नहीं है। मैं रस नहीं, किन्तु मात्र ज्ञाता हूँ—ऐसा ज्ञान किया सो रस में जो राग आता था उस राग से अंशत: अलग हो गया, और रस का मात्र साक्षी रह गया। मैं रस नहीं हूँ ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करके स्थिर होने पर आकुलता दूर हो जाती है, सो चारित्र है। इस प्रकार आत्मा न तो पररूप है, और न पर के गुणरूप भी है।

अब तृतीयोक्ति में कहते हैं कि परमार्थ से पुद्गल द्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है, इसलिए द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस को नहीं चखता, इसलिए वह अरस है।

भगवान आत्मा इस जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा भी रस को नहीं चखता, क्योंकि आत्मा जिह्वा का स्वामी नहीं है उसका स्वामी तो जड़ है; वह जीभ आत्मा के हिलाये नहीं हिलती। यदि वह आत्मा के हिलाये हिलती हो तो कभी-कभी मरते समय बोलने की उत्कृष्ट इच्छा होते हुए भी और भीतर आत्मा के रहते हुए भी जिह्वा का अग्रभाग तक क्यों नहीं हिलता और वह क्यों नहीं बोल पाता? तात्पर्य यह है कि जीभ का हिलाना आत्मा के वश की बात नहीं है। आत्मा उसका स्वामी नहीं है। वह जड़ के आलम्बन से रस को नहीं चखता क्योंकि जीभ हिलती है, उसका स्वामित्व जड़ का है। परद्रव्य के द्वारा पर द्रव्य का रस लेना त्रिकाल में भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों द्रव्य स्वाधीन हैं। वास्तव में जड़ इन्द्रियरूप जीभ आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह जडेन्द्रिय आत्मा नहीं है, आत्मा का गुण नहीं है, आत्मा की पर्याय नहीं है। भगवान आत्मा तो विज्ञानघन है, वह जड़ रस में प्रविष्ट नहीं हो जाता, इसलिए वह अरस है।

शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! इसमें आत्मा किसे कहा जाए? क्योंकि जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु अन्य जो विकारी भाव हैं, उन्हें हम आत्मा मान रहे हैं तो हित कैसे हो? इसलिए स्थायी स्वभाव क्या है सो बताइये।

जिसे हित करना है उसे आत्मा का स्वभाव जानना चाहिए, काँच के लाखों टुकड़ों के बीच में एक हीरा पड़ा हो तो हीरे का इच्छुक और परीक्षक उनमें से हीरे को पहिचानकर तत्काल ही उठा लेगा; इसी प्रकार शरीर-इन्द्रिय-मन यह सब काँच के टुकड़े हैं और इन्द्रियों के विषय भी काँच के टुकड़े हैं, और जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं वे काँच के छोटे टुकड़े हैं, तथा भीतर चैतन्यमूर्ति अमूल्य हीरा है, जिसे उस आत्मारूपी हीरे का

महत्व मालूम होगा वह परीक्षा करके चैतन्यमूर्ति हीरे को प्राप्त कर लेगा, उसका उपयोग उस चैतन्यमूर्ति हीरे पर ही जाएगा और उसमें लीन हो जाएगा।

जो हीरे के महत्व को नहीं जानता, जिसे काँच और हीरे का विवेक नहीं है, वह काँच को उठा लेगा। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति अमूल्य हीरे की खबर नहीं है, उसे जड़ और चैतन्य पृथक् स्वभाव का विवेक न होने से वह शुभाशुभ परिणाम को और शरीर की क्रिया को ही चैतन्य मान लेगा। जिसे चैतन्यरूपी अमूल्य हीरा चाहिए हो, उसे जड़ और चैतन्य के पृथक् स्वभाव का विवेक करना पड़ेगा। उसके बिना चैतन्यरूपी अमूल्य हीरा नहीं मिलेगा।

आत्मा के साथ जो शरीर, मन और वाणी है वह सब संयोगी वस्तु है नाशवान है; स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि सब बाह्य वस्तुएँ हैं जो कि नाशवान हैं; वे सब बाह्य वस्तुएँ चली जाती हैं और ममता रह जाती है। और जो भीतर पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे भी सब बदल जाते हैं, इसलिए वे भी क्षणिक, नाशवान हैं। यह सब संयोगी वस्तुएँ क्षणिक हैं। जितने काल आत्मा रहता है, उतने काल वह संयोगी वस्तुएँ नहीं रहती। आत्मा उनसे पृथक् तत्त्व क्या है, उसकी श्रद्धा और परिचय के बिना एकाग्रता नहीं होती।

यदि कोई कहे कि हम मात्र शुभ परिणाम किया करें, और पाप भाव न करें तो क्या हानि है ? किन्तु ऐसा नहीं हो सकता; पुण्य-परिणाम सदा एकरूप नहीं रहते, पुण्य को बदलकर आत्मा के स्वभाव को न समझे तो पाप परिणाम होते हैं; अनादिकालीन मूढ़ता के कारण संसार की आवश्यकता मालूम होती है, इसलिए अज्ञानी जीव संसार की बेगार किया करता है। जिसे जिसकी आवश्यकता प्रतीत होती है, वहाँ उसका वीर्य काम किये बिना नहीं रहता। आत्मा की आवश्यकता प्रतीत हो तो वहाँ वीर्य काम किये बिना नहीं रहेगा। जिसे आत्मा का हित करना हो उसे कहाँ दृष्टि रखना चाहिए ? उसे क्षणिक पर से दृष्टि हटाकर स्थायी पर दृष्टि करनी चाहिए, अर्थात् परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखनी चाहिए। पूर्ण स्वभाव पर दृष्टि डाले बिना पूर्णता प्रगट नहीं होगी, और मोक्षमार्ग प्रारम्भ भी नहीं होगा। अपने घर को देख। अपने स्वरूप को जाने बिना नित्य सुख प्रगट नहीं होगा, और अनित्य पर दृष्टि रखने से सुख प्रगट नहीं होगा।

यदि क्षणभर में पुण्य और क्षणभर में पाप के बदलते हुए भावों के भरोसे सुख लेना

चाहेगा तो नहीं मिलेगा। जो स्वभाव कभी बदलता नहीं है, उसके भरोसे सुख मिलेगा।

सायंकाल में संध्या खिलती है और सुहावनी प्रभा दिखायी देती है, उस समय ऐसा लगता है कि मानों पृथ्वी ने चुनरी ओढ़ रखी है। जब वह प्रभा अपने मकान पर पड़ती है तब मूढ़ पुरुष की दृष्टि उधर जाती है और वह मानता है कि—यह प्रभा सदा बनी रहेगी! किन्तु हे अज्ञानी मानव! यह प्रभा कुछ ही क्षणों में चली जाएगी, यह मनोहर रंग कुछ ही क्षण में नष्ट हो जाएँगे, यह प्रभा क्षणिक है, नाशवान है; इस पर दृष्टि जमाकर यदि सुख लेना चाहे तो वह सुखी नहीं होता।

पुण्य के कारण सुन्दर स्त्री मिली हो, दो-चार अच्छे बालक हों, और शरीर को सुन्दर चमड़ी मिली हो तथा ऐसी ही सांसारिक अनुकूलताएँ मिल गयी हों तो अज्ञानी जीव उसमें सुख मान बैठता है। किन्तु यदि उस सुन्दर चमड़ी को जरा शरीर पर से उतारकर देखे तो पता लगे कि भीतर क्या भरा हुआ है। रक्त-माँस से भरा हुआ यह पुतला है, इसमें जो सुख मानता है वह मूढ़ है। रुपया, पैसा, स्त्री इत्यादि अनुकूलताओं में सुख मान बैठा है, किन्तु वे सब क्षणिक हैं। उन पर से दृष्टि के विषय को हटाकर उसे आत्मा की ओर ले जा। परोन्मुख दृष्टि को हटाकर स्वोन्मुख कर।

सम्यग्दृष्टि का विषय आत्मोन्मुख होता हुआ स्थायी है, उसकी दृष्टि ध्रुव-शाश्वत पर होती है; पुण्य, पाप, राग, द्वेष, शरीर, मन, वाणी पर नहीं होती, मात्र एक शाश्वत् टंकोत्कीर्ण भगवान आत्मा पर ही उसकी दृष्टि होती है। संध्या की लालिमा क्षणिक है, उस पर जानेवाली दृष्टि भी क्षणिक है; इसलिए राग-द्वेष रहित, सदा स्थायी अविचल वस्तु आत्मा पर दृष्टि कर। उस आत्मद्रव्य का कभी नाश नहीं होता। भगवान आत्मा पर राग-द्वेष की लालिमामय सन्ध्या का रंग पड़ा हुआ है, वह सदा नहीं रहेगा। अज्ञानी जीव राग की लालिमा पर दृष्टि रखकर सुख लेना चाहता है, किन्तु वह स्थायी नहीं है, इसलिए सुख नहीं मिलता। अनित्य के भरोसे सुख नहीं हो सकता, उसके जाने से दुःख होगा। नित्य के भरोसे दुःख नहीं किन्तु सुख होगा।

अपने सांसारिक घर पर जब सन्ध्याकालीन लालिमा की प्रभा पड़ती है, तब उसे देखकर कितना प्रसन्न हो जाता है? किन्तु भाई! अपने निज घर में तो देख कि आत्मा क्या है, और उसकी कितनी सुन्दर शोभा है, जो कि सदा स्थायी है।

परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श यह चार गुण मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनन्त गुण भी परमाणु में विद्यमान हैं। पुद्गल का रस आत्मा में नहीं है, आत्मा में शान्तरस है, आत्मा विकार के कलुषित रस से रहित आनन्द रसयुक्त है।

यह जिह्वा अजीव है, परमार्थ से इस जड़ेन्द्रिय जिह्वा का स्वामित्व भी आत्मा के नहीं है, आत्मा जीभ के द्वारा अथवा जीभ के आलम्बन से नहीं चखता। जिह्वा की जो ऊँची-नीची अवस्था होती है, सो वह जीभ की है। जिह्वा के अग्रभाग को चलाना आत्मा के वश की बात नहीं है किन्तु वह जिह्वा से ही चलता है। जीभ की अवस्था जीभ से ही बदलती है, आत्मा उससे सर्वथा भिन्न चिदानन्द आनन्दरस से परिपूर्ण है। पुद्गल द्रव्य का स्वामित्व आत्मा के नहीं है, इसलिए वह परमार्थ से द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा रस को नहीं चखता। यहाँ प्रथमोक्ति में पुद्गल द्रव्य से आत्मा को अलग किया और द्वितीयोक्ति में पुद्गल के गुण से अलग किया, तथा तृतीयोक्ति में पुद्गल की पर्याय से भी आत्मा को अलग कर दिया है।

यदि आत्मा जिह्वा के द्वारा रस को चख सकता हो तो जब बुखार आता है, और जीभ बिगड़ जाती है—जीभ के परमाणु ऐसे हो जाते हैं कि उन्हें रस में मिठास नहीं लगती तब रसास्वादन की इच्छा होते हुए भी कोई रस अच्छा नहीं लगता! जीभ अनन्त परमाणुओं का एक पिण्ड है, उसकी प्रतिक्षण जो अवस्था होती है, वह स्वतन्त्र होती है; तात्पर्य यह है कि आत्मा जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा रस नहीं चखता। परमाणु की प्रतिक्षण जो अवस्था होती है वह परमाणु के आधार से होती है, आत्मा के आधार से नहीं होती और परमाणु की अवस्था के आधार से आत्मा रस नहीं चखता।

आत्मा को खाना-पीना और बोलना आता है, ऐसी मान्यता अज्ञान है, मूढ़ता है।

जीभ पर वस्तु है, वह आत्मा नहीं है, वह आत्मा के रखे नहीं रह सकती। जब हाथ में आम लेकर मुँह में देता है और उसे चूसता है, तब तो रसास्वाद आता है, उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि मानों स्वर्ग का सुख उतर आया हो! किन्तु प्रभो! तेरा रस तुझ ही में है। तेरा रस आम में से या जीभ में से नहीं आता, तू तो मात्र अपने राग का वेदन करता है, जड़ का वेदन कोई नहीं कर सकता। तू रस को नहीं चखता किन्तु तुझे रस का स्वरूप ज्ञान से ज्ञात होता है। उसमें जो यह मानता है कि मैंने इस जीभ से रस चखा है, वह पराधीन

दृष्टिवाला मूढ़ मिथ्यात्वी है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा रस नहीं चखता, इसलिए आत्मा अरस है। अब यहाँ चतुर्थोक्ति कही जाती है।

अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस को नहीं चखता, इसलिए अरस है।

यह चतुर्थोक्ति तृतीयोक्ति से अधिक सूक्ष्म है। आत्मा में जड़ेन्द्रिय की नास्ति है, इसलिए जड़ेन्द्रिय को अलग कर दिया है। अब भावेन्द्रिय को भी आत्मा से अलग करते हैं। रस को जानने का वर्तमान ज्ञान का विकास, रस को जानने की वर्तमान ज्ञान की शक्ति, उस समय रस में वर्तमान अटकनेवाला ज्ञान, एक ही रस की ओर जाननेवाला जो ज्ञान है वह क्षायोपशमिक ज्ञान है—उसका भी आत्मा में परमार्थदृष्टि से अभाव है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण ज्ञान है; उस स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो अल्प ज्ञान का उसमें अभाव है। चैतन्य आत्मा उस पूर्ण ज्ञान की मूर्ति है, इसलिए अपूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव नहीं है।

आत्मा को स्थायी स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो क्या एकमात्र रस को ही जानने का उसका स्वभाव है ? नहीं, सबको एक साथ जानने का उसका स्वभाव है। परन्तु अपूर्ण ज्ञान के कारण राग में अटकनेवाला ज्ञान, रूप को जानते समय रूप को ही जानता है, और गन्ध को जानते समय गन्ध को ही जानता है, इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों को लेकर खण्ड-खण्ड जानता है। जिस समय जिसे जानने की ओर उन्मुख हो, उसे जाने सो वह ज्ञान क्षायोपशमिक है। यदि स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा में उसका अभाव है; मात्र आत्मा का स्वभाव लें तो उसमें क्षायोपशमिक-अपूर्ण ज्ञान का अभाव है, क्योंकि आत्मा परिपूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव की मूर्ति है, अरूपी ज्ञान की प्रतिमा है और सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति से सदा भरपूर है। उस परिपूर्ण शक्ति की दृष्टि से देखा जाए तो उसमें अल्प शक्ति का अभाव है।

क्षायोपशमिक ज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञान है, उसमें जिस समय जिस इन्द्रिय की ओर जानना चाहे, उस समय वह मात्र एक ही इन्द्रिय के विषय को जान सकता है। कान से शब्द सुनायी देता है, किन्तु स्वाद नहीं आता, इसी प्रकार आँख की ओर लक्ष्य करे तो रूप ज्ञात होता है, किन्तु आँख से सुगन्ध नहीं आती, इसी प्रकार रस को जानने के लिये जीभ

की ओर लक्ष्य करे तो स्वाद मालूम होता है, किन्तु उससे सुना नहीं जा सकता, इसी प्रकार सुगन्ध जानने के लिये नाक की ओर लक्ष्य करे तो उससे गन्ध ज्ञात होती है, किन्तु उससे रसास्वाद नहीं जाना जाता, इसी प्रकार ठण्डा-गर्म स्पर्श जानने के लिये स्पर्शेन्द्रिय की ओर लक्ष्य करे तो उसके द्वारा ठण्डा, गर्म इत्यादि स्पर्श मालूम होता है, परन्तु स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा देखा नहीं जाता; तात्पर्य यह है कि एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय का कार्य नहीं होता; क्षायोपशमिक ज्ञान उन इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः खण्ड खण्ड जानता है, इसलिए वह खण्डयुक्त ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं किन्तु अखण्ड ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। समस्त इन्द्रियों का ज्ञान आत्मा में है किन्तु इन्द्रियाँ तो अपने अपने विषय का ही कार्य करती है।

सोने में जो अशुद्धता आ जाती है, वह उसका अपना स्वभाव नहीं है; किन्तु उसमें ताँबे का मिश्रण हो गया इसलिए ऐसे पर संयोग के कारण उसमें हीनता आ गयी है; उसी प्रकार आत्मा में जो अपूर्ण ज्ञान दिखायी देता है सो वह अपना निज का स्वभाव नहीं है, किन्तु पर की ओर दृष्टि करके स्वयं अटक रहा है, इसलिए उसकी वर्तमान पर्याय हीन हो गयी है। यदि सोने में से ताँबे की दृष्टि अलग कर ली जाए तो सोना स्वभाव से सौटंची-शुद्ध ही है। इसी प्रकार आत्मा में से परसंयोगी दृष्टि को निकाल दिया जाए तो वह स्वभाव से परिपूर्ण ही है।

चैतन्य आत्मा का रस को ही मात्र जानने का स्वभाव नहीं है, किन्तु अखण्ड को जानने का उसका स्वभाव है, एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानने का उसका परिपूर्ण स्वभाव है, उसमें मात्र रस को ही जानने में अटक जाना सो राग है। अखण्ड को जानने का आत्मा का स्वभाव है, ऐसी अखण्ड दृष्टि से देखें तो खण्डयुक्त अपूर्ण और एक विषय में अटकनेवाला ज्ञान तथा वैसा और उतना ही विकास आत्मा का स्वभाव नहीं है।

चैतन्य ज्ञानज्योति आत्मा अखण्ड गुणों का पिण्ड है। ऐसे स्वभाव की प्रतीति के बिना मात्र एक ही विषय को-रस को ही जानने में अटक जाता है सो यह उसका अज्ञान है। जब किसी राजा को बुलाना हो या उससे काम हो तो बड़ी-बड़ी पदवियाँ लगाकर उसे बुलाया जाताा है, तब कहीं सुनवाई होती है, सामान्य शब्दों से बुलाने पर काम नहीं बनता; इसी प्रकार यदि भगवान आत्मा को अपूर्ण ज्ञानवाला मानोगे तो वह उत्तर नहीं देगा, शान्ति

प्रगट नहीं होगी, धर्म नहीं होगा। जैसा स्वरूप हो वैसा ही जाने तो आत्मा की निर्मल पर्याय प्रगट हो। यह आत्मा के गीत तो सच्चे हैं और राजा के गीत मिथ्या हैं; इस चतुर्थोक्ति में भीतर की बात कही है। यदि आत्मा को मात्र एक-एक इन्द्रिय के विषय को जानने जितना माना जाए तो वह दुःखी होने का उपाय है।

वास्तव में बात यह है कि जगत को सच्चे तत्त्व का अभ्यास ही नहीं है। दूसरा सब कुछ अभ्यास किया किन्तु उसमें मात्र छिलके ही कूटता रहा। इस अभ्यास से बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ देकर बड़ी-बड़ी पदवियाँ लगा लीं किन्तु वह कहीं वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है। पूर्व भव में आत्मप्रतीति के बिना ही कुछ राग-द्वेष कम किया था इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का कम बन्ध हुआ, और इसलिए वर्तमान में ज्ञान का कुछ विकास दिखायी देता है, और पूर्व भव में कुछ पुण्यबन्ध किया था, इसलिए वर्तमान में कुछ पुण्य का उदय दिखायी देता है; रुपया-पैसा मिलना वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है। जिस प्रकार रुपया-पैसा मिलने का उदय होता है वैसा विकल्प उठता है। रुपया-पैसा प्राप्त करने का राग विद्यमान है इसलिए जिस प्रकार का उदय हो, उस प्रकार विकल्प आये बिना नहीं रहता। कर्म विकल्प नहीं करा देता, परन्तु स्वयं घातिया कर्म के उदय के योग में अर्थात् रुपया-पैसा प्राप्त करने के राग में विद्यमान है, इसलिए पुण्य-पाप के उदयानुसार विकल्प आता है, इसलिए रुपया-पैसा मिलना कहीं वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है।

आत्मधर्म प्रगट करना वर्तमान पुरुषार्थ से होता है; अपूर्व ज्ञान और अपूर्व स्थिरता भी वर्तमान पुरुषार्थ से होती है।

एकेन्द्रिय जीव के मात्र शरीर ही है, जिह्वा आदि नहीं है। वे तत्त्व को नहीं समझे इसलिए शक्ति हार गये हैं, इसलिए मात्र एक ही इन्द्रिय मिली है दूसरी सब इन्द्रियाँ हार गये हैं। उन बेचारों को रस चखने की भी शक्ति नहीं रही। और यह सब जो मनुष्य हुए हैं उन्हें पाँचों इन्द्रियों का विकास प्राप्त हुआ है, तो वे एक-एक इन्द्रिय के विषय में ही अटक रहे हैं, यह उनका अज्ञान है।

भगवान आत्मा अटकते हुए ज्ञान में अटक जाए इतना नहीं है, किन्तु वह सो विशाल स्वभाववाला है। वस्तु पर से निराली है। जो वस्तु पर से निराली होती है, वह अखण्ड होती है, उसकी ज्ञानशक्ति भी परिपूर्ण होती है। जब केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती

है, तब परिपूर्ण हो सो बात नहीं है किन्तु आत्मा की ज्ञानशक्ति वर्तमान में ही परिपूर्ण है। परिपूर्ण पर जो दृष्टि है सो सम्यग्दृष्टि है। अपूर्ण पर्याय की नास्ति और पूर्ण स्वभाव की अस्तिमय स्वभाव की दृष्टि सम्यग्दृष्टि है। स्वभाव परिपूर्ण भरा हुआ है। सम्यग्दृष्टि की अल्प विकास पर दृष्टि नहीं होती, किन्तु पूर्ण स्वभाव पर होती है, इसलिए वह रस से भिन्न अरस आत्मा का अनुभव करता है।

अपूर्ण पर्याय को मानना और पूर्ण स्वभाव को न मानना सो ऐसी दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। हीरे का जितना मूल्य होता है, उतना मूल्य स्वीकार न करे तो हीरा नहीं मिलता। इसी प्रकार चैतन्यरूपी हीरा सारा पूर्ण स्वभाव से भरा हुआ है, यदि उसे अपूर्ण पर्यायवाला माने तो पूरी पर्याय प्रगट नहीं होगी, मोक्षमार्ग भी प्रगट नहीं होगा। यदि पूर्ण स्वभाव की दृष्टि करे तो उसी से मोक्षमार्ग और पूर्ण पर्याय प्रगट होगी।

जिसे आत्मा की रुचि नहीं है, उसे इस बात के सुनने में रस नहीं आता। किन्तु यदि घर में कोई बहुमूल्य वस्तु आयी हो या गहना इत्यादि आया हो तो घर के सभी स्त्री पुत्रादि तत्सम्बन्धी बात को रस पूर्वक सुनते हैं, किन्तु जहाँ आत्मा की बात सुनायी जाती है, वहाँ उकताहट आ जाती है।

यहाँ आचार्यदेव यह बता रहे हैं कि आत्मा का हित किस प्रकार हो सकता है। वे स्व-पर का यथार्थ विवेक बताकर आत्मा का हित बतला रहे हैं। जिसे सुनकर सुयोग्य जीव कहते हैं कि अहा! ऐसी बात तो कभी भी नहीं सुनी थी। आत्मा पर से भिन्न वस्तु है, अखण्ड वस्तु है; यद्यपि विकास कम है तथापि स्वभाव से पूर्ण है। यह अपूर्व बात है।

जैसे लेंडी पीपल के चौंसठ पुट होने पर जो चरपराहट प्रगट होती है, वह चरपराहट वर्तमान में भरी हुई है—ऐसा ज्ञान पहले का लेने के बाद उस लेंडी पीपल को घोंटने लगता है, तो उसमें से चौठस पुटी चरपराहट प्रगट होती है। इसी प्रकार भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा वर्तमान क्षण में ही परिपूर्ण स्वभाव से भरा हुआ है, ऐसी दृष्टि और ज्ञान करने के बाद घोंटने लग जाए, अर्थात् आत्मा में एकाग्रता करने लगे तो उसमें से केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है।

परन्तु यदि परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति न करे और पहले कुछ राग-द्वेष मन्द किया था जिससे ज्ञान का कुछ विकास हुआ, उतना ही आत्मा को मान ले अर्थात् उस पर्याय

जितना ही आत्मा को मान ले तो पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होगी—केवलज्ञान प्रगट नहीं होगा।

जो सहस्त्रपुटी अभ्रक भस्म है, उसमें सहस्त्र पुट होने की शक्ति वर्तमान में ही है, उसमें हजार पुट होने का स्वभाव वैद्यों के ध्यान में पहले से ही होता है। इसी प्रकार आत्मा में एक-एक इन्द्रिय को जानने मात्र का स्वभाव नहीं, किन्तु तीन काल और तीन लोक को सबको जानने का स्वभाव वर्तमान में ही भरा हुआ है; उसमें एकाग्र हो जाऊँ तो पूर्ण स्वभाव प्रगट हो ऐसा ज्ञान पहले से ही करे तो आत्मा में स्थिर हो, और केवलज्ञान पर्याय प्रगट हो जाए। यह चतुर्थोक्ति है। अब पंचमोक्ति निम्न प्रकार है।

समस्त विषयों के विशेषों में साधारण-एक ही संवेदन परिणामरूप उसका स्वभाव होने से केवल एक रसवेदनपरिणाम को प्राप्त करके रस को नहीं चखता, इसलिए अरस है।

यहाँ समस्त पर अधिक भार दिया गया है। समस्त प्रकार के विषयों को एक ही साथ जाने तो भी उसका एक ही प्रकार का स्वभाव और एक ही प्रकार का आनन्द होने से रस को नहीं चखता।

लोकालोक के जितने पदार्थ हैं, उन सभी भावों को-उन समस्त प्रकारों को एक ही साथ जान ले ऐसा उसका स्वभाव है। समस्त विषयों को जानकर कहीं रुक जाए या खण्ड हो जाए, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। उन सबको जानते हुए वह जड़रसरूप या रागरसरूप नहीं होता, किन्तु अपने स्वभाव की शक्ति के आनन्द का वेदन करता है। वह वेदन एक ही प्रकार का होने से और उस अतीन्द्रिय रस का अनुभव उसका स्वभाव होने से वह जड़ के रस को नहीं चखता, राग के रस का अनुभव नहीं करता।

आत्मा के अनन्त गुणों को जानते हुए जिस शान्तरस और आनन्दरस का अनुभव करता है वह एक ही प्रकार का होता है; उसमें दो प्रकार नहीं होते या अनेकत्व नहीं होता; उसमें राग का अनुभव नहीं होता।

भगवान आत्मा एक रस का ही ज्ञान करने की शक्तिवाला नहीं है, या मात्र एक-एक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान करने की शक्तिवाला नहीं है, किन्तु लोकालोक के जितने पदार्थ हैं, उन सबके भावों को एक ही साथ जानने की शक्तिवाला है। आत्मा में अनन्त गुणों को एक ही साथ जानने की शक्ति है। वह समस्त भावों को जानकर आकुलता रहित एक ही प्रकार के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेता है, ऐसा उसका स्वभाव है। वह मात्र

रस सम्बन्धी राग का ही अनुभव करके रस को नहीं चखता परन्तु भगवान आत्मा तो अपने स्वभाव का एक ही प्रकार का अनुभव करनेवाला नित्यानन्द प्रभु है।

आत्मा मात्र रस का ही ज्ञान करनेवाला नहीं है, किन्तु त्रिकाल की वस्तुओं को जाननेवाला है।

समस्त वस्तुओं को जानने का स्वभाव होने पर भी, सबको जानते हुए भी आत्मा अपने एक ही प्रकार के अनुभव का वेदन करता है वह खण्डरूप होकर पर का वेदन नहीं करता।

विविध व्यंजनों के रस का राग करके, उसके वेदन में अटक जाए इतना ही आत्मा नहीं है, किन्तु आत्मा का अनुभव तो एक ही प्रकार का है, वह नित्यानन्द प्रभु स्वभाव रस में एक ही प्रकार से रुकना है, वह समस्त विषयों में कहीं भी नहीं रुकता, या खण्ड नहीं होता।

आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह मन, वाणी, रूप और रस का ज्ञान करके उसी का वेदन करे। मैं एक अखण्ड पूर्ण समस्त पदार्थों को एक ही साथ जाननेवाला हूँ। अपूर्ण अवस्था होने पर भी स्वभाव से पूर्ण हूँ; ऐसा ज्ञान करना सो उसका नाम सच्चा ज्ञान है। अपूर्ण अवस्था के समय पूर्ण हूँ ऐसी दृष्टि करना सो सच्ची दृष्टि है। पूर्ण होने के बाद पूर्ण को मानना कहाँ रहा ? इसलिए पूर्ण की श्रद्धा तो पहले से ही होती है।

सर्वथा अजान शिष्य ने पूछा था, उसे यह बात समझायी जा रही है, जानकर—समझे हुए को नहीं। यह बात समझने के लिये पुरुषार्थ चाहिए। यदि समझने में कुछ समय लग जाए तो अकुलाहट हो जाती है, किन्तु कमाई के वर्षों के वर्ष कैसे निकाल देता है। वह कह सकता है कि—यह तो भूख लगती है इसलिए करना पड़ता है, किन्तु इसी प्रकार आतमा की भी भूख लगना चाहिए, वास्तविक जिज्ञासा जागृत होनी चाहिए तो स्वरूप समझ में आये बिना नहीं रहेगा। न तो समझना है, और न उसके लिये परिश्रम करना है, तो क्या धर्म किसी वृक्ष पर लटक रहा है कि उसे तोड़कर ले लेगा ? स्वरूप को पहिचाने बिना तीन काल और तीन लोक में भी धर्म होनेवाला नहीं है। यह पंचमोक्ति हुई। अब षष्ठोक्ति कहते हैं।

आत्मा को समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञेय-ज्ञायक तादात्म्य का निषेध होने से रस के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता, इसलिए

अरस है। यों छह प्रकार से रस के निषेध से वह अरस है।

रस ज्ञेय है, आत्मा ज्ञायक है। रस के जिह्वा पर स्पर्श करने से रस का ज्ञान होता है, किन्तु उस रस के ज्ञानरूप में, ज्ञान की अवस्था होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता।

आत्मा ज्ञायक है और शरीर, मन, वाणी, राग, द्वेष इत्यादि ज्ञेय हैं। ज्ञायक और ज्ञेय दोनों त्रिकाल भिन्न हैं। शरीर के कारण शरीर और आत्मा के कारण आत्मा है, दोनों अपने-अपने कारण से हैं। वे दोनों कभी भी एकरूप नहीं होते सबकी क्रिया स्वतन्त्र है। जड़ की क्रिया जड़ में और आत्मा की क्रिया आत्मा में होती है। इस प्रकार दोनों द्रव्य पृथक् होने पर भी एकक्षेत्र में एकत्रित हैं, अर्थात् दोनों एक ही स्थान पर मिलकर रह रहे है, तथापि दोनों एकमेक नहीं हो जाते, दोनों के तादात्म्य सम्बन्ध का निषेध है। यदि दोनों एकरूप हो जाएँ तो आत्मा जड़ हो जाए। यदि आत्मा और जड़ दोनों एक हों तो अग्नि के जानने पर आत्मा उष्ण हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञान होने योग्य बाह्य वस्तु और ज्ञाता—दोनों एकरूप नहीं होते। आत्मा रस के ज्ञानरूप में अर्थात् अपने ज्ञान की अवस्था के रूप में परिणमित होता है, तथापि वह रसरूप नहीं होता, इसलिए आत्मा अरस है। इस प्रकार आत्मा को परिपूर्ण रस रहित जानना और उसमें स्थिर होना ही हित का उपाय है।

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, आकार इत्यादि शरीर का स्वभाव-धर्म है। जो जड़ का स्वभाव है सो जड़ का धर्म है, और जो आत्मा का स्वभाव है सो आत्मा का धर्म है। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मा और जड़ दोनों वस्तु हैं, इसलिए दोनों का अपना अपना स्वभाव, अपना अपना धर्म है। जैसे गुड़ का स्वभाव मीठापन है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र है, और जड़ का स्वभाव वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श है। आत्मा का धर्म आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है; वह मन, वाणी, देह के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे पीतल के डिब्बे में गुड़ रखा हो तो वह दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं, इसी प्रकार शरीर में चैतन्यरूपी आत्मा विद्यमान है। शरीर और आत्मा दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं।

दुर्गति में जाने से अथवा अधर्म में गिरने से आत्मा को जो धारण कर रखे (बचा रखे) तो धर्म है। जितने राग-द्वेष-अज्ञान आदि के भाव होते हैं, वे सब दुर्गति-अधर्म हैं,

उनमें गिरने से आत्मा को रोके सो धर्म है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभाव हैं, उसमें स्थिर न होकर पुण्य-पाप के भाव में लग जाना या उसे ठीक मानना ही दुर्गति है। वास्तविक दुर्गति तो यही है, और जो चार गतियाँ हैं वे तो उसका फल हैं। आत्मा के स्वभाव में न रहकर पर में रहने का फल चार गतियाँ हैं। आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर चैतन्यघन में युक्त होना और पुण्य-पाप के विकार में युक्त नहीं होना—यही आत्मा का धर्म है, और उस धर्म का फल मुक्ति है।

यथार्थ को समझे बिना अनन्त भवों में भ्रमण किया; और यदि अभी भी सत्य को न समझा तो चौरासी लाख का भयंकर चक्कर विद्यमान है। जिस भाव से अभी तक अनन्त भव किये, उस भाव से भव का नाश नहीं होगा, किन्तु उससे विरुद्ध भावों से भव का नाश होगा।

जो व्यक्ति रुपया, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब और शरीरादि के आश्रय से ही जीवन मानता है, वह रंकातिरंक-भिखारी है। चैतन्य प्रभु जागती ज्योति है। उसे भूलकर जो किसी पर के आश्रय से सुख लेना चाहता है, वह अति रंक है। हे प्रभु! वह रुपया-पैसा और कुटुम्बादि वहाँ कोई शरण नहीं होंगे; जहाँ तू आँख बन्द होते ही चला जाएगा और कुत्ते, बिल्ली इत्यादि के रूप में भव धारण करेगा। यदि आत्मधर्म को समझेगा तो वही तुझे शरणरूप होगा, इसलिए आत्मधर्म को समझ।

अरे प्रभु! तू अनन्त काल से अनन्त भव धारण कर चुका है। तू अनन्त बार स्वर्ग के भव धारण कर चुका, और अनन्त बार नारक, पशु तथा मनुष्य के भव धारण कर चुका, तथा ऐसे अनन्तानन्त भवों में न जाने क्यों और कैसे मरण को प्राप्त हुआ। स्वर्ग में देव का शरीर प्राप्त किया और वहाँ सूर्य से भी अधिक तेजस्वी शरीर मिला, किन्तु वहाँ से मरकर कौए इत्यादि का भव धारण किया। इस प्रकार आत्मप्रतीति के बिना पुण्यपरिणाम से पापपरिणाम, और पापपरिणाम से पुण्यपरिणाम होते रहे और तू व्यर्थ ही भवभ्रमण करता रहा। यदि अब सुखी होना हो तो आत्मधर्म को समझ और यदि भवभ्रमण ही करना हो तो सभी आत्मा स्वतन्त्र हैं। यह तो जिन्हें सुखी होना हो उनके ग्रहण करनेयोग्य बात है।

जैसे रस रहितता के छह प्रकार कहे गये हैं, उसी प्रकार रूप रहितता के छह प्रकार संक्षेप में कहे जा रहा हैं।

१- आत्मा जड़ पुद्गल से भिन्न है; क्योंकि पुद्गलरूपी है, इसलिए आत्मा अरूपी है।

२- पुद्गल के गुणों से भी भिन्न होने से आत्मा रूप-गुणयुक्त भी नहीं है, इसलिए अरूपी है। रूप का अर्थ है रंग; जिसके पाँच प्रकार हैं—काला, सफेद, लाल, पीला, हरा। रंग गुण की यह पाँच अवस्थाएँ हैं। पुद्गल द्रव्य सदा स्थायी वस्तु है और उसमें रंग नामक गुण भी सदा रहता है और उसमें जो रंग बदलते हैं, वह उसकी पर्याय है। उस पुद्गल से आत्मा भिन्न है, इसलिए रूपरहित है। अज्ञानी जीव उस रूप में मोहित हो जाते हैं। उन्हें उसमें राग हो जाता है। जहाँ शरीर की सफेद चमड़ी देखता है, वहाँ राग कर लेता है, और जहाँ काली चमड़ी देखता है वहाँ तिरस्कार कर लेता है, जहाँ राग हो जाता है, वहाँ वह यह मानता है कि यह मुझे अनुकूल है। अनुकूल मानने की गहराई में ऐसा समझ लेता है कि वह मेरी साता में सहायक होगी, और सहायक होगी अर्थात् मेरे साथ एकमेक हो जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि रूप और मैं—दोनों एक हो जाएँगे। इस प्रकार अज्ञानी रूप को अच्छा मानते हैं। वे अज्ञानवश यह समझते हैं कि हम दोनों एक हो जाएँगे।

किन्तु जिसे यह विवेक जागृत हुआ है, कि रूप तो पुद्गल का गुण है, मेरा आत्मा रूप रहित है, उसे रूप में राग और कुरूप में द्वेष नहीं होता। वह विवेकी ज्ञानी अपने आत्मा में राग-द्वेष नहीं होने देता और उपयोग को सुरक्षित रखता है। यह किसने कहा है कि सफेद चमड़ी अच्छी है, और काली चमड़ी अच्छी नहीं है। ऐसा भेद करने का कौन सा कारण है कि सफेद चमड़ी अच्छी है और काली अच्छी नहीं है? इसका कारण मात्र अज्ञान है। अज्ञानी को अपने स्वभाव की खबर नहीं है, इसलिए उनमें भेद करके राग-द्वेष करता है, किन्तु ज्ञानी धर्मात्मा तो समझता है कि मेरा स्वभाव एक ही प्रकार का है; उस एक प्रकार के स्वभाव में राग-द्वेष का, अच्छे-बुरे का भेद करके उसमें अटक जाना मेरा स्वभाव नहीं है। जितना जितना वृत्ति का उत्थान होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह सब विकारी भाव है, वह मेरा सामर्थ्य नहीं है। मेरा सामर्थ्य तो उन सबका ज्ञान करना और ज्ञातारूप से रहना है। राग में एकमेक होने पर राग का जितना बल होता है, उतना राग से अलग रहकर उसका ज्ञाता रहने पर राग का बल नहीं आता।

सफेद और काली चमड़ी दोनों धूल समान हैं; उनमें अच्छे-बुरे का भेद करके

कहाँ अटक रहा है ? वह तेरे लिये शरणभूत नहीं होगी। यदि ऐसे मोह में मरण को प्राप्त हुआ तो, कहाँ जाकर पार पायेगा ? तब तेरे अरण्य-रोदन को कौन सुनेगा ? इसलिए अपने आत्मा के स्वरूप को समझ, आत्महित कर और वैराग्यपूर्वक आत्मा में स्थिर हो जा।

३- परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी न होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रूप को नहीं देखता इसलिए अरूप है।

आँख के आलम्बन से रूप को देखता है, ऐसा माननेवाला आत्मा जड़ का स्वामी हो जाता है, इसलिए पुद्गल द्रव्य के रूप को आँख से देखा जाता है, ऐसा माननेवाला आत्मा की हत्या करता है।

आँख के आधार से कोई भी रूप को नहीं देख सकता, क्योंकि रूप तो ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। कोई वस्तु परतन्त्र नहीं हो सकती। आत्मा आत्मा से है, रजकण से नहीं। इसी प्रकार रजकण रजकण से है आत्मा से नहीं; इसी प्रकार अस्ति-नास्ति भी है। अस्तित्व-नास्तित्व प्रत्येक द्रव्य में है, प्रत्येक द्रव्य के समस्त गुणों में है, और एक-एक गुण की सभी अवस्थाओं में है। इसलिए रूप ज्ञान से जाना जाता है, आँख से नहीं।

प्रश्नः—आँखें देखने में कम से कम निमित्त तो होती ही हैं ?

उत्तरः—देखनेवाला ज्ञान किसके अस्तित्व में जानता है ? ज्ञान के अस्तित्व में या आँख की कौड़ी के अस्तित्व में ? जाननेवाला ज्ञान है, या आँख की कौड़ी ? इतना विचारने पर स्पष्ट हो जाएगा कि जाननेवाला ज्ञान है, वह ज्ञान के अस्तित्व में रहकर जानता है, किन्तु आँख की कौड़ी कुछ नहीं जानती; क्योंकि वह तो जड़ है। जैसे चश्मा कुछ नहीं जानता उसी प्रकार आँख भी कुछ नहीं जानती। अल्प विकास के कारण बीच में आँख निमित्त हो जाती है, किन्तु ज्ञात तो ज्ञान से ही होता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव उस जड़ (आँख) के रजकणों के आधार से जाने यह कदापि नहीं हो सकता।

आत्मा अरूपी तत्त्व है, उसमें ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण हैं। वे अनन्त गुण अपनी अपेक्षा से हैं और पर की अपेक्षा से नहीं हैं, अर्थात् वे पंचेन्द्रियरूप नहीं हैं। इसलिए आँख की कौड़ी से ज्ञात होता है, यह मानना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। अपना स्वभाव परस्वभावरूप नहीं होता। अपने गुण का सम्बन्ध अपनेरूप से होता है, पररूप से नहीं।

आँख की कौड़ी पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है, वह जगत के रजकण हैं, परमाणु सत् हैं और आत्मा भी सत् है। आत्मा आत्मारूप से है, कौड़ीरूप से नहीं। जिस रूप से है उस रूप से नहीं है ऐसा नहीं है, किन्तु जिसरूप से नहीं है, उसरूप से नहीं है, और जिसरूप से है उस रूप से है। जिसरूप से नहीं है, उस रूप से अपने को माने तो मिथ्यादृष्टि है। यदि ऐसा माने कि मैं इसके (पर के) कारण हूँ, और यह न माने कि मैं अपने कारण हूँ, तो वह पर से पृथक्त्व नहीं कर सकता। अभी यह सम्यग्दृष्टि की बात चल रही है; यह धर्म की सर्व प्रथम इकाई है। आत्मा स्वतन्त्र और पर से निराला है, उसकी प्रतीति करने से मोक्ष होता है, अर्थात् विकार से अलग हो जाता है। शुभाशुभ परिणाम से अलग होना या शुभाशुभ के विकार से अलग होना सो इसका नाम मुक्ति है। मुक्ति कहीं अपने से अलग होनेरूप नहीं है, किन्तु अपने द्रव्य के अस्तित्व में से निर्मल पर्याय को प्रगट करना और विकार से अलग होना इसका नाम मुक्ति है। जो अपने को पर से भिन्न स्वीकार नहीं करता, वह अपनी मुक्ति नहीं करता।

४- अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रूप को नहीं देखता इसलिए अरूपी है।

क्षायोपशमिकज्ञान अपूर्ण अवस्था है, उसके द्वारा जितना जाने उतना ही आत्मस्वभाव नहीं है। आत्मा परिपूर्ण स्वभाव है, तीन काल और तीन लोक को जानने का आत्मा का स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जो न माने उसकी प्रतीति में सम्पूर्ण स्वभाव नहीं आया इसलिए उसकी प्रतीति सच्ची नहीं है, उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, उसका तर्क सच्चा नहीं है, और उसकी स्थिरता भी सच्ची नहीं है। यदि तू आत्मा को अपूर्ण अवस्था जितना ही मानेगा तो उसमें से पूर्णता का उदय नहीं होगा किन्तु पूरा मानने पर पूर्ण में से पूर्णता उदित होगी।

भावेन्द्रिय के आलम्बन से रूप को आत्मा देखे इतना ही आत्मा नहीं है। आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान किये बिना उसका उत्तर आत्मा से नहीं मिल सकता।

५- आत्मा का स्वभाव जगत के समस्त पदार्थों को अच्छे-बुरे का भेद किये बिना साधारणतया सबको समान और एक समय में जानने का है; एक को जानने और एक को न जानने का उसका स्वभाव नहीं है। रूप को जानते समय रूप को ही जानना, और उस रूप के राग का वेदन करना आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु उसका स्वभाव सबको एक

ही साथ और एक ही समान जानना है, यह अच्छा है, और यह बुरा है, ऐसा मानकर अटकने का स्वभाव नहीं है, किन्तु एक समान ही जानने का स्वभाव है। कहीं भी अच्छा-बुरा मानकर उसमें अटकने का स्वभाव नहीं है, सबको जानकर अपने स्वरूप का अनुभव और उसका वेदन करना आत्मा का स्वभाव है; वह रूप स्वरूप नहीं हो जाता।

जबकि सबको एक समान जानता है तब फिर अच्छा-बुरा कहाँ रहा। जैसे कोई किसी रानी को देखकर विचार करे कि यह रानी पहले कुत्ती थी और तब इसका शरीर सड़ रहा था, किन्तु अब यह रानी के रूप में है; लेकिन यह मद्य-माँस का सेवन करती है, इसलिए अब मरकर नरक में जाएगी; इस प्रकार यदि तीनों अवस्थाओं का सामान्यतया विचार करे तो राग न रहे। यदि खण्ड-खण्ड जाने तो राग हो सकता है, किन्तु अखण्डतया जानने पर उसके फलस्वरूप वीतरागता होती है। सभी में खण्ड न करके—भेद न करके एक ही प्रकार का सतत ज्ञान करे तो उसमें अच्छा-बुरापन नहीं आ सकता।

लोक रूप, रस, गन्ध को विषय कहते हैं, किन्तु वे तो जड़ द्रव्य के गुण पर्याय हैं, विषय नहीं। किन्तु उस ओर जो लक्ष्य जाता है, वह विषय है। आत्मा तो ज्ञायक है, यदि उसमें लक्ष्य करे तो अपना विषय हो और जो राग का—पर का विषय होता है, वह रुक जाए। वस्तु राग का विषय नहीं है, वह तो ज्ञान में ज्ञात होने योग्य-ज्ञेय है, किन्तु वहाँ राग करके अटकता है, इसलिए उसे विषय कहा जाता है। विषय न तो चैतन्य स्वभाव में है और न जड़ में है। मात्र पर की ओर राग का लक्ष्य जाता है, सो उसे विषय कहते हैं।

वस्तु के स्वभाव को जान ले तो यह यथार्थतया जाना जा सकता है कि जड़-चैतन्य का स्वभाव कैसा है ? बालक खेलते समय धूल में पानी मिलाकर उसके लड्डू बनाते हैं, किन्तु न तो वे खाने के काम में आ सकते हैं, और न उनसे भूख ही मिट सकती है, इसी प्रकार जगत के जीव अपने सत्त्व-तत्त्व को जाने बिना बाहर का चाहे जितना क्रियाकर्म करें किन्तु वह सब धूल में पानी डालकर लड्डू बनाने के समान हैं। बाहरी क्रिया और शुभ परिणाम आत्मा की भूख को नहीं मिटा सकते किन्तु आत्मस्वरूप को समझने से ही भूख मिट सकती है और शान्ति प्राप्त हो सकती है।

६- ज्ञायक और ज्ञेय (रूप) दोनों एक नहीं हो जाते। यद्यपि आत्मा रूप को जानता है, किन्तु रूप को जानते हुए वह रूप स्वरूप में परिणमित नहीं होता।

अब यहाँ छह प्रकार से गन्ध की बात करते हैं:—

१— गन्धरूप परमाणु द्रव्य से आत्मा अलग है, इसलिए अगन्ध है।

२— गन्ध परमाणु का गुण है, उस गन्ध के गुणरूप आत्मा नहीं है, इसलिए वह अगन्ध है।

३— घ्राण इन्द्रिय से आत्मा गन्ध को नहीं जानता, इसलिए वह अगन्ध है।

४— आत्मा गन्ध के ज्ञान बराबर, अपूर्ण ज्ञानवाला नहीं है, इसलिए वह अगन्ध है।

५— आत्मा गन्ध के भेद न करके एक ही प्रकार से ज्ञान करता है एक ही प्रकार से रहता है, इसलिए वह अगन्ध है।

६— गन्ध ज्ञेय है, उसे जाननेवाला ज्ञान गन्धरूप नहीं होता, इसलिए आत्मा अगन्ध है।

अब यहाँ स्पर्श की बात करते हैं:—

१— स्पर्श पुद्गल द्रव्य में है, इसलिए आत्मा पुद्गल द्रव्य से अलग है।

२— स्पर्श पुद्गल द्रव्य का गुण है इसलिए आत्मा स्पर्श गुण से अलग है।

३— स्पर्शेन्द्रिय पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, इसलिए आत्मा स्पर्शेन्द्रिय से अलग हैं। अत: अस्पर्शी है। यहाँ प्रथमोक्ति में आत्मा को द्रव्य से अलग किया, दूसरे में गुण से अलग किया और तीसरे में पर्याय से अलग किया है।

४— आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्पर्श को जाननेमात्र का ही नहीं है, इसलिए आत्मा अस्पर्शी है।

५— स्पर्श में अच्छे-बुरे का भेद न करके, सतत एक ही प्रकार का ज्ञान करता है, इसलिए आत्मा अस्पर्श है।

६— स्पर्श ज्ञेय है, उसे जाननेवाला ज्ञान स्पर्शरूप नहीं होता, इसलिए आत्मा अस्पर्श है।

स्पर्श गुण एक है, किन्तु उसकी आठ अवस्थायें हैं—हल्का, भारी कठोर, नर्म, रूखा, चिकना, ठण्डा, गर्म। स्पर्श गुण पुद्गल में सदा रहता है, और उसकी पर्याय

बदलती रहती है। अज्ञानी मानता है कि मैं स्पर्श से जानता हूँ; किन्तु भाई! जानने का स्वभाव तो तेरा है, किन्तु जिसका जानने का स्वभाव नहीं है, उस जड़ के द्वारा मैं जानता हूँ, यह मान्यता कितनी उल्टी है ? जो स्वयं ही नहीं जानता वह दूसरे को कैसे बतायेगा ? सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि आत्मा स्पर्श के द्वारा स्पर्श को नहीं जानता किन्तु ज्ञान से जानता है। अज्ञानी का आत्मा भी प्रत्येक रजकण से भिन्न है, इसलिए स्पर्श के द्वारा जान ही नहीं सकता।

कोई यहाँ कह सकता है कि आप यह कैसी विचित्र बात कह रहे हैं ? जो हमारे सामने अपनी आँखों से दिखायी देता है, उसका भी आप निषेध कर रहे हैं। किन्तु भाई! यदि आँख में पीलिया हो जाता है तो सब पीला ही पीला दिखायी देता है, किन्तु इससे कहीं उसका देखना यथार्थ नहीं कहला सकता। यदि आँख का नीचे का भाग ऊँगली से दबाकर देखें तो दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं, इसलिए दो चन्द्रमा नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार अज्ञानी की दृष्टि से देखा गया सच नहीं हो सकता। मोक्ष का मार्ग जगत की दृष्टि से भिन्न प्रकार का ही होता है और तभी वह मोक्ष का सच्चा मार्ग कहलाता है। जगत की दृष्टि और मोक्षमार्ग की दृष्टि में कहीं और कभी मेल नहीं खा सकता।

यदि मैं पर को लेकर हूँ ऐसा माने तो यह स्वीकार नहीं होता कि मैं स्व को लेकर हूँ और यदि यह स्वीकार किया कि मैं स्व को लेकर हूँ तो यह भी स्वीकार नहीं हो सकता कि मैं पर को लेकर हूँ।

स्व में और पर में दो जगह अस्तित्व स्वीकार नहीं हो सकता किन्तु एक ही जगह पर अस्तित्व स्वीकार किया जाएगा।

स्पर्शेन्द्रिय की जितनी ठण्डे-गर्म इत्यादि की अवस्था होती है, वह उसकी स्वतन्त्र ही है। आत्मा हल्का-भारी, कठोर-नर्म इत्यादि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जिसे भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं है, वह कहता है कि इस स्पर्श के अवलम्बन से मैं जानता हूँ किन्तु ज्ञानी समझता है कि एक वस्तु को दूसरी का अवलम्बन नहीं है। स्पर्श के ज्ञान की पर्याय के समय इन्द्रियों की उपस्थिति होती है, परन्तु ज्ञान तो ज्ञान के द्वारा ही जानता है। आत्मा के ज्ञान में पर का अवलम्बन नहीं होता। और फिर जानने को अपूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञान

की पर्याय भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो स्वभाव की शक्ति को नहीं जानता उसे आत्मा की श्रद्धा नहीं है।

जो विविध प्रकार की वेशभूषा करके सांसारिक राग-रंग में मत्त होकर आनन्द मान रहा है, उसे त्रैकालिक स्वभाव की प्रतीति नहीं है। तीन काल और तीन लोक में वस्तुस्वभाव का एक ही प्रकार है। जिसे हित करना हो उसे यह प्रकार समझना ही होगा। 'सत्य कभी असत्य नहीं होता' यह सत्य कभी बदल नहीं सकता। वस्तु स्वभाव की स्वीकृति ही सत्य की स्वीकृति है, इसके अतिरिक्त सब असत्य है।

आत्मा नित्य है, उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य से समझा जाता है वह सदा स्थिर रहता है। इन्द्रियाँ नाशवान हैं, इसलिए जो इन्द्रियज्ञान से ग्रहण किया जाता है, वह नष्ट हो जाता है। जो नाशवान इन्द्रियों और मन से जाना जाता है, वह ज्ञान सदा नहीं रहता। मन और इन्द्रियों की उपस्थिति हो तथापि उसका निषेध करके आत्मावलम्बन से आत्मा को समझा सो वह ज्ञान अविनाशी है।

आत्मा—स्थायी ध्रुव वस्तु है, वह कोई संयोगी वस्तु नहीं है। जो रजकण एकत्रित हुए हैं वह आत्मा नहीं है, क्योंकि रजकण एकत्रित होते हैं और पृथक् हो जाते हैं। जो यह मानता है कि मुझे इन्द्रियों और मन से ज्ञान होता है उसके इन्द्रियों और मन के छूट जाने पर वह ज्ञान भी बदल जाता है। निमित्त के अवलम्बन से में जानता हूँ, इस प्रकार परपदार्थ पर दृष्टि करके वैसी विपरीत मान्यता करके निमित्त पर राग करके जाना सो इसका यह अर्थ हुआ कि मैं निमित्त के बिना नहीं जान सकता; इसलिए नाशवान निमित्तों के छूट जाने पर अपना ज्ञान भी बदल जाता है।

जो पर के अवलम्बन से प्रगट होता है, वह परावलम्बी ज्ञान है, और जो स्वावलम्बन से ग्रहण होता है, वह स्वावलम्बी होता है। आत्मा स्वावलम्बी है और उसके अवलम्बन से होनेवाला ज्ञान भी स्वावलम्बी है। आत्मा के अवलम्बन से होनेवाले श्रद्धा और ज्ञान सदा स्थिर रहेंगे। इन्द्रियों और मन का निषेध करके स्वयं स्वावलम्बी वस्तु है उस पर दृष्टि डालकर होनेवाली श्रद्धा और ज्ञान सदा बने रहेंगे। पर पदार्थ मुझे श्रद्धा, ज्ञान करा देंगे इस प्रकार पर इन्द्रिय और मन से माने हुए ज्ञान की श्रद्धा सदा नहीं रहेगी। मैं पर के अवलम्बन से जानता हूँ ऐसा मानने से पर के छूटने पर वह जानना भी छूट जाएगा। अज्ञानी अपने को

परतन्त्र मानता है, किन्तु आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, और जड़ भी स्वतन्त्र वस्तु है, किसी के गुण-पर्याय प्रगट नहीं होते।

जो श्रद्धा अन्तरंग आत्मा में से उदित हुई सो हुई, उस श्रद्धा से ज्ञान की पर्याय निर्मल होती है, उस श्रद्धा से स्थिरता होकर फिर वह पूर्ण होता है। यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो बड़ी कठिन परीक्षा है। तब क्या कोई खोटा चढ़ाव करना है ? सत्य वस्तु का परिचय और उसका मूल्यांकन तो करता नहीं है और कहता है कि यह तो कठिन प्रतीत होता है। किन्तु भाई! यदि समझने में विलम्ब हो तो कोई हानि नहीं, किन्तु यदि उल्टा समझेगा तो कहीं भी अन्त नहीं आयेगा। यदि इस समय नहीं समझा तो फिर कब समझेगा ?

आत्मा शब्दरहित है इस सम्बन्ध में छह बातें संक्षेप में कही जा रही हैं। संस्कृत टीका में अरस शब्द है उसकी जगह यहाँ अशब्द लेना चाहिए।

आत्मा वास्तव में पुद्गल द्रव्य से सर्वथा भिन्न है, इसलिए उसमें शब्द नहीं है। शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, शब्द होने की शक्ति पुद्गल में है, आत्मा में नहीं।

पुद्गल द्रव्य के गुणों से भी आत्मा भिन्न है, इसलिए स्वयं शब्द पर्याय रूप नहीं है; अतः अशब्द है। जब तक आत्मा शरीर में होता है तब तक उसके पास कर्म के रजकण होते हैं, वे कर्म-रजकण भाषा के बोलने में निमित्त होते हैं। भाषा स्वतन्त्र है, वह परमाणुओं की अवस्था है; वह कानों में टक्कर लगाती है, इसलिए जड़ है। भाषा-शब्द संयोगजन्य हैं, और वह जिस संयोग से उत्पन्न होते हैं, वह आत्मा नहीं हो सकता, इसलिए शब्द में आत्मा नहीं है, अथवा आत्मा अशब्द है।

प्रश्नः—मन क्या है ?

उत्तरः—द्रव्यमन जड़ है, और भावमन ज्ञान है। ज्ञान अपने द्वारा जानता है, किन्तु साथ ही मन का निमित्त होता है। जिस ज्ञान के जानने में मन का निमित्त उपस्थिति रूप होता है, उसे भावमन कहते हैं, और द्रव्यमन जड़ है जो कि पुद्गल परमाणुओं से निर्मित भीतर हृदय में आठ पंखुड़ियों के कमल के आकार का है। जैसे आँख की कौड़ी देखने में निमित्त है उसी प्रकार विचार करने में द्रव्यमन मात्र उपस्थितिरूप होता है। यद्यपि आत्मा स्वयं विचार करता है, किन्तु उसमें द्रव्यमन निमित्तरूप है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, स्वतः स्वभावी ज्ञान क्रमशः नहीं जानता किन्तु सब एक साथ ही जानता है, लेकिन

छद्मस्थ का ज्ञान क्रमशः नहीं जानता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान के जानने में किसी पर का निमित्त है, पर के अवलम्बन की उपस्थिति है, और वह परवस्तु जड़-मन है, तथा वह द्रव्यमन आत्मा से भिन्न है।

अज्ञानी को भान नहीं है, इसलिए वह यह कहता है कि—भाषा हमारे द्वारा बोली जाती है, हम बोलें तो भाषा निकलती है, भाषा में हमारा स्वामित्व है। देखो न, मुर्दा कहीं बोलता है ? इसलिए मैं भाषा बोलता हूँ। इस प्रकार अज्ञानी जीवों ने ऐसा स्वामित्व मान लिया है। जब किसी गाड़ी के नीचे कुत्ता चला जाता है, तब वह यह समझता है कि यह गाड़ी मेरे द्वारा ही चल रही है, अर्थात् मैं ही इस गाड़ी को चला रहा हूँ, इसी प्रकार भाषा स्वतन्त्र रजकणों की रचना के कारण बोली जाती है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि भाषा मेरे द्वारा बोली जा रही है। आत्मा तो मात्र बोलने की इच्छा करता है, किन्तु उस इच्छा और भाषा के उदय का लगभग निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दिखायी देता है, इसलिए अज्ञानी मान लेता है कि मैं भाषा बोलता हूँ, किन्तु भाषा और इच्छा दोनों अलग वस्तुएँ हैं। भाषा पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, और इच्छा आत्मा की वैभाविक पर्याय है, इसलिए दोनों सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, जो इस दृढ़ता को भूल जाता है, वह पर का स्वामी बनने जाता है, और इसलिए बन्धन होता है जिससे कि संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

जीव या तो अज्ञानभाव से वाणी का अभिमान करता है, या ज्ञान स्वसन्मुख रहकर वाणी को जानता है; बाकी ज्ञानी उस जड़ वाणी का कर्ता-हर्ता कदापि नहीं है; इसी प्रकार अज्ञानी भी जड़ वाणी का कर्ता-हर्ता त्रिकाल में नहीं है, किन्तु वह अपने अज्ञानभाव का कर्ता है। जड़ का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। रजकण अनादि-अनन्त स्वतन्त्र वस्तु है, वे रजकण भाषापर्याप्ति रूप में बँधते हैं, और वे उस भाषापर्याप्ति का निमित्त पाकर नवीन रजकण शब्दपर्यायरूप परिणमित होते हैं, इसलिए भाषा जड़ है।

कोई यह कह सकता है कि यदि भाषा जड़ होकर भी बोल सकती है, तो मुर्दा क्यों नहीं बोलता ? उसका उत्तर यह है कि मुर्दे के पास कर्म नहीं होते। जब जीव शरीर में से निकल जाता है, तब कर्म उस जीव के साथ जाते हैं। कर्म का निमित्त प्राप्त करके रजकण भाषारूप परिणमित होते हैं। वे कर्म मुर्दे के पास नहीं हैं इसलिए मुर्दा नहीं बोलता। कर्म का निमित्त प्राप्त करके रजकण भाषारूप में परिवर्तित होकर निकलते हैं, इसलिए भाषा (शब्द)

जड़ है, किन्तु आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा अरूपी है इसलिए आत्मा नहीं बोलता।

यह भेदज्ञान की बात है। पर का अभिमान दूर हुए बिना यह आन्तरिक स्वरूप समझ में नहीं आता। मैं ज्ञाता-दृष्टा, चैतन्यमूर्ति ज्ञानघन हूँ, अपने ऐसे अस्तित्व की प्रतीति न करे तब तक उसमें स्थिर नहीं हो सकता, और जब तक स्थिर नहीं होता तब तक परमानन्द दशा प्रगट नहीं होती, और परमानन्द दशा प्रगट हुए बिना मुक्ति नहीं होती।

परमार्थत: श्रोत्रेन्द्रिय के अवलम्बन के बिना आत्मा शब्द को नहीं जानता; किन्तु आत्मा को वास्तव में कान का अवलम्बन नहीं है; कान जड़ है, कान का स्वामित्व आत्मा के नहीं है। कान के अवलम्बन से ज्ञान करने का स्वभाव आत्मा का नहीं है। श्रोत्रेन्द्रिय का अर्थ है कान के भीतर का पर्दा, किन्तु उस पर्दे के अवलम्बन से आत्मा नहीं सुनता इसलिए आत्मा अशब्द है।

आत्मा न तो बहरा है, न गूँगा है, न सुनता है, न बोलता है, वह तो मात्र ज्ञाता है। जो यह मानता है कि आत्मा कान के अवलम्बन से जानता है वह अपने को पराधीन मानता है उसे अपने स्वतन्त्र आत्मा के स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है। जैसे अग्नि उष्णता का पिण्ड है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान का पिण्ड है, उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। वह अनन्त स्वभावी आत्मा स्वत: अपने द्वारा जाननेवाला है; वह कान के द्वारा सुनता है, ऐसा मानना सो पराधीनता है। इसलिए आत्मा अशब्द है।

अब, अशब्द सम्बन्धी चौथी बात कही जाती है। शब्द की ओर उन्मुख होनेवाला जो ज्ञान अर्थात् जानने का अल्प विकास है, उसके द्वारा जो शब्द ज्ञात होता है, वह आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं है, शब्द को जानने मात्र का विकास हो इतना ही आत्मा नहीं है। जब आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होता है, तब इन्द्रियों के द्वारा जानना नहीं होता। केवलज्ञानी के जड़ इन्द्रियाँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं, तथापि उनके द्वारा जानने का काम नहीं होता। उस केवलज्ञान में एक-एक समय में अनन्त पदार्थ ज्ञात होते हैं, उन पदार्थों के अनन्तानन्त स्वभाव ज्ञात होते हैं, प्रत्येक स्वभाव की अनन्तानन्त पर्यायें ज्ञात होती हैं, अनन्त भूतकाल और भविष्यकाल ज्ञात होता है। ऐसे अनन्तानन्त भाव सीधे आत्मा से ज्ञात होते हैं। ऐसी आत्मा की अनन्त सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में स्वभावरूप से वर्तमान में भी पूर्ण

है, उससे कम ज्ञान के अवलम्बन द्वारा जाने इतना सा आत्मा नहीं है। आत्मा के पूर्ण स्वभाव को जानना सो धर्म है। आत्मा के स्वभाव को परावलम्बनवाला न मानना और स्वतन्त्र पूर्ण स्वभाव मानना सो धर्म है। उस पूर्ण स्वभाव में स्थिर होना सो धर्म है। धर्म मन से, वचन से, शरीर से या बाह्य वस्तु से नहीं होता किन्तु आत्मा का पूर्ण स्वभाव जैसा है, वैसा ही उसे जानने से, श्रद्धान करने से और उसमें स्थिर होने से पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, वह धर्म है। पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के बिना पूर्ण होने का पुरुषार्थ नहीं होगा। मैं नित्य निर्मल और ज्ञानानन्द स्वभाव से पूर्ण हूँ, ऐसी श्रद्धा होने से वह पूर्ण पर्याय तक पहुँच जाएगा। किन्तु जिसने पूर्ण सामर्थ्य को स्वीकार नहीं किया और अपूर्ण शक्ति को स्वीकार किया है उसके साधक पर्याय भी प्रगट नहीं होगी, और सिद्ध पर्याय भी प्रगट नहीं होगी।

कहीं नित्य स्वभाव अपूर्ण हो सकता है, अथवा परावलम्बी हो सकता है ? नहीं हो सकता। तीन काल और तीन लोक में भी यह स्वभाव पराधीन नहीं होता। परिपूर्ण स्वभाव साध्य है, उस साध्य को लक्ष्य में लिये बिना, ज्ञान किये बिना और उसका आन्तरिक आचरण किये बिना पूर्ण स्वभाव की शक्ति प्रगट नहीं होती।

यहाँ से पच्चीस मील की दूरी पर एक ग्राम है, और वहाँ जाना है, तो पहले यह सब निश्चित कर लेना होगा कि वह ग्राम कितनी दूर है और वहाँ किस मार्ग से पहुँचा जाता है; और इस निश्चय के बाद उधर चलने लगे तो अपने उद्दिष्ट ग्राम में पहुँच जाएगा। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करने से उस प्रकार का पुरुषार्थ होता है, आन्तरिक चारित्र प्रगट होता है और पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार इष्ट कार्य की सिद्धि हो जाती है। आत्मा में परिपूर्ण स्वभाव विद्यमान है वह साध्य है, और उसकी श्रद्धा-ज्ञान एवं चारित्र सो पूर्ण पर्याय के प्रगट करने का साधन है।

शब्द और रस को जानने मात्र की ही मेरे ज्ञान की शक्ति है, इस प्रकार जो मानता है वह परिपूर्ण अखण्डानन्द स्वभाव को नहीं मानता, और उसे माने बिना पुरुषार्थ उदित नहीं होता। अपने को हीन माना इसलिए पूर्ण पर्याय को प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं बनेगा, और इसलिए पूर्ण पर्याय भी प्रगट नहीं होगी। परन्तु शुभाशुभ परिणाम करके चारों गतियों में परिभ्रमण करेगा।

पुण्य पराश्रित भाव है। आत्मा का पुण्य-पाप रहित वीतराग स्वभाव है। उसे जाने

बिना किसी का स्वतन्त्र स्वभाव प्रगट नहीं होगा। वास्तविक ज्ञान के बिना वास्तविक स्थिरता नहीं होगी। 'पूर्णता के लक्ष्य से जो प्रारम्भ है सो वही वास्तविक प्रारम्भ है।' पूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लिया सो प्रारम्भ हुआ, तत्पश्चात् जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक ज्ञान और ध्यान में समय लगाता है, तथा स्वभाव की निर्मल पर्याय को बढ़ाता जाता है और फिर क्रमशः पूर्ण पर्याय हो जाता है।

जिसे आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव की रुचि नहीं है, और ज्ञान नहीं है, उसे त्रिकाल में भी धर्म नहीं होता। लोग कहते हैं कि चलो धर्म करें किन्तु धर्म कहाँ है यह जाने बिना धर्म नहीं होता। रुपये-पैसे से धर्म नहीं होता, दो-चार हजार रुपये दान देने से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि यह तो शुभ परिणाम है, धर्म आत्मा में है, वह रुपये-पैसे या शुभ परिणाम में नहीं है, इसलिए धर्म आत्मा से ही होता है, परन्तु जब तक परिपूर्ण स्वभाव को दृष्टि में न लिया जाए तब तक पुरुषार्थ का प्रारम्भ नहीं होगा। अपना स्वभाव क्या है, यह जाने बिना किसी का एक भी भव कम नहीं होता।

सोना स्वयं अपने आप ही पूर्णतया सौ टंच शुद्ध है, वह जब कुछ हीन होता है तब वह उसका स्वभाव नहीं है, किन्तु ताँबे के कारण उसमें कमी आयी है, सोने के कारण नहीं। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वभाव से तो परिपूर्ण ही है, उसमें जो कमी दिखायी देती है सो वह कर्म के निमित्त के कारण और अपने वर्तमान विपरीत वीर्य के कारण है। स्वभाव के कारण कमी नहीं है, क्योंकि स्वभाव तो परिपूर्ण ही है। वह स्वभाव सामर्थ्य की भूमिका में सहज ही स्व-पर को जानता है। वह राग-द्वेष रहित निर्मल स्वभाव है। स्व-पर को जाने तथापि राग के अवलम्बन से जाने ऐसा स्वभाव नहीं है, परन्तु राग के अवलम्बन के बिना स्व-पर को जाने ऐसा स्वभाव है। वैसे स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान किये बिना कभी भी किसी के धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

अब, पाँचवीं बात कही जाती है। सकल विषयों के विशेषों में साधारण एक ही संवेदन परिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल शब्द-वेदन के परिणाम को प्राप्त करके शब्द को नहीं सुनता, इसलिए आत्मा अशब्द है।

शब्द को सुनकर अर्थात् प्रशंसा सुनकर राग का वेदन करे, और निन्दा के शब्द सुनकर द्वेष का वेदन करे तो उतने मात्र राग-द्वेष का वेदन करने के लिये आत्मा नहीं है।

इसी प्रकार रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द इत्यादि जितने पदार्थ हैं, उन्हें जानने पर कहीं भी रुककर जानने मात्र के स्वभाववाला नहीं है। प्रत्येक पदार्थ को जानते हुए प्रत्येक में रुकने पर आकुलता का वेदन होता है, इसलिए आत्मा का वैसा स्वभाव नहीं है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जगत के जितने ज्ञेय हैं, उन सबको जानता है, किन्तु उनमें कहीं अटकता नहीं है। उनमें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करने की बात नहीं है। समस्त विषयों के विशेषों में एक ही प्रकार जानना रहा, किन्तु अच्छा-बुरा मानकर भेद करना नहीं रहा।

जहाँ बड़ा वेतन या उच्चपद मिलने पर कोई प्रशंसा करता है तो उसमें राग करके आनन्द मानता है, उसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा नहीं है, वह मूढ़ है। नाम तो शरीर का होता है, यदि कोई उस नाम की निन्दा या प्रशंसा करे तो उसे सुनकर आकुलित या प्रसन्न हो जाता है; किन्तु वह शरीर भी तेरा कहाँ है ? व्यर्थ ही क्यों हर्ष-विषाद करके आकुलित होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रभो ! जो तेरा अपना निज का स्वभाव है, उसके सामर्थ्य की तुझे खबर नहीं है, यह कैसी विचित्र बात है ! जैसे नमक की डली क्षार रस से भरी हुई है; उसी प्रकार तेरा आत्मा आनन्द-रस से परिपूर्ण है, वह चाहे जिस प्रकार के शब्द सुने तो भी उसमें राग-द्वेष, अच्छे-बुरे का भेद करके उसमें अटकनेवाला नहीं है, किन्तु अखण्डरूप से सबका एक ही प्रकार का ज्ञान करके एक ही प्रकार की शांति का वेदन करनेवाला है। भेद के विकल्प के बिना एक ही प्रकार शान्ति का वेदन करनेवाला भगवान आत्मा है।

अब यहाँ छट्ठी बात कहते हैं। शब्द ज्ञेय है, वह शब्द ज्ञान में ज्ञात होता है, इसलिए शब्द को जानने पर ज्ञान शब्दरूप नहीं हो जाता, ज्ञान ज्ञानरूप रहकर शब्द को जानता है। ज्ञान का स्वभाव यथार्थ है, इसलिए जैसी प्रस्तुत भाषा हो वैसा ही ज्ञान करता है, जैसा प्रस्तुत निमित्त होता है वैसा ही ज्ञान जानता है। यथार्थ जानना होता है, इसलिए ज्ञान शब्द में प्रविष्ट होकर जानता हो सो बात नहीं है, किन्तु ज्ञान पृथक् रहकर शब्द को जानता है। शब्द को और ज्ञान को एकमेक होने का निषेध है, इसलिए आत्मा भाषारूप नहीं होता, इसलिए भी वह अशब्द है। यह शब्द को लेकर छह बातें हुईं और इस प्रकार कुल ६×५=३० बातें हुईं।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस भेदज्ञान के बिना किसी का छुटकारा नहीं हो सकता।

इस स्वरूप को समझने पर ही यथार्थ विवेक प्रगट होता है। इस स्वरूप की प्रतीति के बिना कभी भी सत्य समझ में नहीं आ सकता। यदि सत्य का मार्ग कठिन प्रतीत हो तो भी उसी मार्ग से सफलता मिलेगी। असत्य का मार्ग सरल मालूम होता है, किन्तु उस मार्ग पर चार गतियाँ और चौरासी का चक्कर है, सत्य मार्ग के बिना किसी अन्य मार्ग से धर्म या मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अब आत्मा के परिचय करने का दूसरा विशेषण 'अनिर्दिष्टसंस्थान' समझाते हैं।

पुद्गल द्रव्य के द्वारा रचित शरीर के संस्थान से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता, इसलिए जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आत्मा शरीराकार है यह नहीं कहा जा सकता। वह शरीर के रूपी आकारवाला नहीं है, किन्तु अपने अरूपी आकार का है। वस्तु हो और उसका आकार न हो ऐसा नहीं हो सकता। जो निरंजन निराकार कहा जाता है सो वह शरीर का-जड़ का अपने में नास्तित्व है, अत: उस नास्ति की अपेक्षा से कहा जाता है। अस्ति की अपेक्षा से अपने आकारवाला है।

आत्मा वस्तु है जो कि शरीर प्रमाण है। जो वस्तु है उसका आकार न हो, तो वह अवस्तु कहलायेगी। जो वस्तु है उसका अपना आकार अवश्य होता है। इसलिए आत्मा भी एक वस्तु है, और वह स्वयं अपने असंख्यप्रदेशी अरूपी आकारवाला है, असंख्य अवयववाला है। यहाँ असंख्य कहा है—अर्थात् एक-एक टुकड़ा करके अलग होकर असंख्य नहीं है, परन्तु असंख्य प्रदेश का पिण्ड अखण्डरूप से है। जैसे गज से कपड़े का थान नाप जाता है, इसलिए वह थान खण्डरूप नहीं हो जाता किन्तु थान अखण्ड ही रहता है, इसी प्रकार आत्मा के प्रदेश को नापने का एक परमाणु-रजकण ही उसका नाप है। उस एक परमाणु जितना आत्मा का एक-एक प्रदेश है, उन असंख्य परमाणु जितना आत्मा क्षेत्र से है। इस प्रकार परमाणु से आत्मा के प्रदेशों का माप होता है, किन्तु इससे आत्मा कहीं खण्डरूप नहीं हो जाता, किन्तु असंख्य प्रदेशों का पिण्ड आत्मा अखण्ड है।

परमाणु एक रजकण है तथापि वह आकारवान है, उसकी अपनी लम्बाई-चौड़ाई है। जो यह कहते हैं कि छोटी से छोटी वस्तु की लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती वे वस्तु को बिल्कुल नहीं जानते। छोटी से छोटी वस्तु-परमाणु में यदि लम्बाई-चौड़ाई न हो तो बहुत से परमाणु मिलकर जो स्कन्ध होता है, उसमें लम्बाई-चौड़ाई कहाँ से आयेगी ? यदि एक

परमाणु में लम्बाई-चौड़ाई न हो तो नास्ति में अस्ति कहाँ से आयेगी ? अस्ति में से ही अस्ति आती है; एक परमाणु में लम्बाई-चौड़ाई है तो स्कन्ध में लम्बाई-चौड़ाई आती है।

परमाणु एक प्रदेशी है, यह केवलज्ञानी के ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। पुद्गल के स्थूल स्कन्ध के छोटे से छोटे टुकड़े किये जाएँ, और वह तब तक किये जाएँ जब तक कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म हथियार फिर कोई दूसरा टुकड़ा न कर सके, उसके बाद उस अति सूक्ष्म टुकड़े के भी ज्ञान से सूक्ष्मातिसूक्ष्म टुकड़े तब तक करते जाना चाहिए कि जब तक ज्ञान द्वारा भी उसके दो भाग न हो सकें वह परमाणु है। वह परमाणु भी लम्बाई-चौड़ाईवाली वस्तु है। वह परमाणुरूपी गज आत्म-प्रदेशों के नापने का एक माप है। आत्मा निराकार नहीं है, उसका भी अपना अरूपी आकार है, किन्तु जड़ का किसी भी प्रकार का आकार उसमें नहीं है, इसलिए वह निरंजन, निराकार कहलाता है।

जड़ के संस्थान से अर्थात् आकार से जीव को आकारवान नहीं कहा जा सकता। स्त्री-पुरुष के आकार पर दृष्टि न करके अखण्ड आत्मा पर दृष्टि कर! तू स्त्री-पुरुष के आकाररूप नहीं हो गया। शरीर तो रूपी है, जड़ है, और आत्मा अरूपी तथा जागृतज्योति चैतन्य है, उसमें जड़ का आकार नहीं होता। इसलिए आत्मा अनिर्दिष्ट संस्थानवाला है। अनिर्दिष्ट संस्थान के प्रथम कथन में पुद्गल द्रव्य से रचित आकार है, यह कहकर व्यवहार स्थापित किया है, और आत्मा उस शरीर के आकाररूप नहीं हुआ है, यह बतलाकर परमार्थ कहा है। पर्यायदृष्टि से आत्मप्रदेशों का आकार वर्तमान मात्र के लिये शरीराकार हुआ है सो व्यवहार है। परंतु द्रव्यदृष्टि से शरीराकार नहीं हुआ है।

अब संस्थान की दूसरी बात कहते हैं। आत्मा अपने नियत स्वभाव से अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीरों में रहता है, इसलिए अनिर्दिष्ट-संस्थान है।

आत्मा अपने नियत असंख्यप्रदेशी स्वभाववाला है, जिसकी सत्ता अनादि-अनन्त है। संसार और मोक्ष दोनों जगह आत्मा की अपनी भिन्न सत्ता होती है; मुक्ति में जाता है वहाँ भी उनकी सत्ता पर से भिन्न ही रहती है। किसी की सत्ता किसी में मिलकर एकमेक नहीं हो जाती। अनियत अर्थात् अनिश्चित आकार; असंख्यप्रदेशी नियत आकारवाला आत्मा अनियत आकारवाले अनन्त शरीरों में फिरा है, तथापि वह शरीराकार परिणत नहीं हुआ, इसलिए वह अनिर्दिष्टसंस्थानवाला है।

आत्मा ने कीड़े-मकोड़े, कुत्ते-बिल्ली आदि के अनन्त शरीर धारण किये जिनके आकार एक से नहीं होते, ऐसे अनिश्चित आकारवाले अनन्त शरीरों को धरकर भी आत्मा शरीराकार नहीं हुआ।

आत्मा अनन्त शरीरों में रहा इसलिए आत्मा में शरीर का आकार आ गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आत्मा चींटी के शरीर में और हाथी के शरीर में उतना का उतना रहता है। वह स्वक्षेत्र की अपेक्षा से जितना का तितना ही है। वह आकाश के अवगाहन की अपेक्षा से छोटा-बड़ा हुआ मालूम होता है, किन्तु ऐसा तो परक्षेत्र की अपेक्षा से लगता है; एक क्षेत्र की अपेक्षा से तो आत्मा जितना का तितना ही है। सौ गज के कपड़े को घड़ी करके रख दिया जाए तो भी वह सौ गज ही है, और यदि उसे खोल दिया जाए तो भी वह सौ गज ही है, आत्मा छोटा शरीर प्राप्त करे या बड़ा किन्तु उसका निश्चित आकार-असंख्य प्रदेशत्व नहीं मिटता, यह आकाश के अवगाहन से छोटा-बड़ा मालूम होता है, सो व्यवहार है। अनन्त शरीरों के धारण करने पर भी आत्मा कभी शरीराकार नहीं हुआ।

आत्मा ने जो वर्तमान शरीर धारण किया है, उस आकाररूप में वह परिणत नहीं हुआ; यदि आत्मा इसके आकाररूप में परिणत हो गया हो तो अन्य शरीर के आकारानुसार आत्मा के प्रदेशों का आकार नहीं होगा। जो वर्तमान शरीर के आकार में हुआ है सो व्यवहार है, इसलिए इस आत्मा का क्षेत्र वर्तमान में शरीर-प्रमाण है। वास्तविक दृष्टि से आत्मा शरीराकार नहीं हुआ है।

अनादि काल से जीवों ने अपने स्वक्षेत्र को नहीं जाना, स्वक्षेत्र की मान्यता में भूल हुई है, शरीर के क्षेत्रों को ही आत्मा का क्षेत्र मान लिया है, इसलिए उस भूल को दूर करने के लिये आचार्यदेव ने अनिर्दिष्ट-संस्थान की बात कही है, कि तू शरीराकार नहीं, किन्तु अपने असंख्य प्रदेश के आकारवाला है।

अब संस्थान की तीसरी बात कहते हैं। संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है (इसलिए उसके निमित्त से भी आकार नहीं है) इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आठ कर्मों में एक नामकर्म है, जिसकी ९३ प्रकृतियाँ हैं, उनमें से एक प्रकृति शरीर का आकार देती है। सबके शरीर एक से नहीं होते। किन्तु उनमें भेद दिखायी देता है, उस

कारणभेद से कार्य में भेद हुआ है। जैसे पहले परिणाम हुए हैं। उसी के अनुसार प्रकृति बँध जाती है, सबके परिणाम एक से नहीं होते, सबके परिणामों में अन्तर होता ही है, इसलिए प्रत्येक के परिणामानुसार प्रकृतिबन्ध होता है, और तद्नुसार उदय में आता है, इसलिए सबके शरीरों के आकार में अन्तर होता है। यह सब अन्तर होने का कारण नामकर्म की प्रकृति है। उस नामकर्म का फल पुद्गल में शरीर में होता है। संस्थान का अर्थ है आकार; वह आकाररूप फल शरीर में होता है।

शास्त्रों में छह प्रकार के आकार कहे गये हैं; वे छहों प्रकार पुद्गल के आकार के हैं, अर्थात् शरीर के छह प्रकार के आकार की वह बात है; किन्तु भगवान आत्मा में वह आकार नहीं आता, इसलिए आत्मा पुद्गल के आकार से रहित है, इसलिए वह निराकार कहलाता है, किन्तु अपने असंख्य प्रदेश के आकारवाला है इसलिए साकार भी है।

जिसे आत्महित करना है, उसे यह ज्ञान करना होगा कि किससे हित होता है, किससे नहीं। आत्मा का हित आत्मा से होता है, संयोगी वस्तु या संयोगी भाव से नहीं होता। स्त्री, कुटुम्ब, मकान, लक्ष्मी इत्यादि संयोगी वस्तु हैं, और जो शुभाशुभभाव होते हैं सो संयोगी भाव हैं, इसलिए संयोगी है सो पर है; पर से आत्महित नहीं होता। जैसे मिठास गुड़ में से मिलती है अफीम में से नहीं; इसी प्रकार हित करना हो तो वह अपने से ही होता है। किन्तु जो अपने से दूर हो, या अपने से पर हो, उससे नहीं होता। जो अपना स्वतः स्वभाव है, उसी से हित होता है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि क्या उस मार्ग का ऐसा कोई निश्चयपत्र है कि अपना स्वरूप जानने से ही हित होगा? उससे कहते हैं कि हाँ, ऐसा ही है। परवस्तु या परभाव से हित होने की बात तीन लोक और तीन काल में नहीं हो सकती। परभाव और परवस्तु अपने से अलग है, और जो अपने से अलग है, उससे हित नहीं होता। संयोगी वस्तु, संयोगी भाव और असंयोगी आत्मा क्या है? इसे जाने बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता, और सच्चे ज्ञान के बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती और सच्ची श्रद्धा के बिना स्थिर होने का पुरुषार्थ भी नहीं होता।

यहाँ संस्थान की बात चल रही है संस्थान का अर्थ है आकार। आत्मामें जड़ का आकार नहीं है, किन्तु अपना ही आकार है। जो वस्तु है उसका आकार तो होता ही है। जड़

के जड़ का, और आत्मा के आत्मा के आकार होता है। आत्मा ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अनियत अनन्त शरीर धारण किये तथापि आत्मा तदाकार नहीं हुआ। नामकर्म का फल-आकार शरीर में आता है, आत्मा में नहीं।

अब चौथी बात कहते हैं। भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (तदाकार) है, ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (सम्बन्ध से) रहित निर्मल अनुभूति हो रही है, और ऐसा होने से स्वयं आत्यन्तिक संस्थान रहित है, इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसके ज्ञान में जगत की समस्त वस्तुओं का जैसा आकार हो वैसा ही ज्ञात होता है। यदि सामने कोई वृक्ष हो और उस पर दृष्टि जाए तो उसी आकारवाला ज्ञान जाननेरूप में होता है, और यदि सामने कोई मकान हो और उस पर दृष्टि जाए तो उसी आकार का ज्ञान जाननेरूप से होता है।

प्रश्नः—सामने की वस्तु का प्रतिबिम्ब ज्ञान में पड़ता है या नहीं?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि चैतन्य अरूपी ज्ञानघन है, और परमाणुद्रव्य अरूपी है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं पड़ता। मात्र ज्ञान में परपदार्थ ज्ञात होते हैं इसलिए उपचार से ऐसा कहा जाता है कि प्रतिबिम्ब पड़ता है।

प्रत्येक वस्तु की वर्तमान में होनेवाली अवस्था, उसका गुण और वस्तु उस ज्ञान में ज्ञात होती है। भिन्न-भिन्न आकाररूप में परिणमित समस्त वस्तु ज्ञान में ज्ञात होती है, किन्तु ज्ञान उस वस्तुरूप नहीं हो जाता।

स्वाभाविक संवेदनशक्ति अर्थात् जैसी वस्तु सामने है, वैसी वह ज्ञान में ज्ञात हो जाती है। 'सम्बन्धित' का अर्थ है तदाकार; अर्थात् वस्तु जैसी छोटी-बड़ी हो वैसा ही ज्ञात होता है। पर का जैसा आकार है, वैसा ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञान पर के आकार का नहीं हो जाता।

स्वयं ऐसा होने पर भी समस्त वस्तुओं के मिलाप से रहित है, अर्थात् ज्ञान पर को जानता है, किन्तु पररूप नहीं हो जाता। परवस्तु के ज्ञान करने का मेल है, किन्तु परवस्तुरूप होने का मेल नहीं है। किसी चित्र में छोटे-छोटे अनेक हाथी चित्रित हों तो उन्हें जानने के

लिये ज्ञान को क्षेत्रापेक्षा से छोटा होना पड़े, और साक्षात् हाथी खड़े हों तो उन्हें जानने में क्षेत्रापेक्षा से बड़ा होना पड़े ऐसा नहीं है। चैतन्य के ज्ञानगुण में सामने की वस्तु का जितना बड़ा आकार हो उसे जानते समय आत्मा को भी उतना बड़ा होना पड़े—ऐसा नियम नहीं है। सभी छोटे-बड़े आकारों को जानने का आत्मा का स्वभाव है, किन्तु उस आकाररूप से छोटा-बड़ा होना पड़े ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा स्वयं छोटे क्षेत्र में हो तो भी बड़ी वस्तु को जान सकता है।

दूसरी बात यह है कि जानने के लिये राग-द्वेष या अच्छा-बुरा करे तभी ज्ञात हो, ऐसा स्वभाव नहीं है। कोई मनुष्य पर्वत के शिखर पर खड़ा हो तो वहाँ से बहुत विशाल क्षेत्र दिखायी देता है; और उसमें अनेक वस्तुएँ दिखायी देती हैं, किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह तत्सम्बन्धी राग-द्वेष करे तो ही वे वस्तुएँ ज्ञात हों, और उस विशाल क्षेत्र के बराबर स्वयं लम्बा-चौड़ा हो तभी वह ज्ञात हों।

जैसे कोई मनुष्य फोटो खिंचवाता है, तो उसके शरीर के रजकण उसे फोटो या प्लेट में नहीं पहुँचते। यदि फोटो में शरीर के रजकण पहुँचते हों तो यदि कोई मनुष्य दो-चार हजार फोटो खिंचवाय तो वह सूख जाना चाहिए या मर जाना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। उस मनुष्य के शरीर के रजकण उसके फोटो में नहीं जाते, तथापि वह मनुष्य जैसा होता है, वही आकार फोटो में आ जाता है। तात्पर्य यह है कि फोटो में सन्मुख वस्तु का आकार नहीं आता, किन्तु फोटो के परमाणु उस आकाररूप परिणमित होकर तदाकार हो जाते हैं।

इसी प्रकार ज्ञान प्रस्तुत पदार्थों को जानता है, तब वे पदार्थ ज्ञान में नहीं आते। प्रस्तुत पदार्थ छोटा हो तो ज्ञान को छोटा नहीं होना पड़ता और न पर को जानते हुए ज्ञान को पररूप ही होना पड़ता है। ज्ञान ज्ञान में ज्ञानाकार रहकर सबको जानता है। इस प्रकार समस्त लोक के मिलाप से रहित निर्मल अनुभूति हो रही है। जगत के सभी पदार्थ हैं, उनमें से अच्छा-बुरा किसे कहा जाए? बालक, युवक किसे कहा जाए? शरीर के अवयव कोमल हों तो बालक अवस्था है, कठिन और सुदृढ़ हों सो युवावस्था है, और शरीरशक्ति शिथिल हो जाए तथा चमड़ी में सिकुड़न आ जाए तो वृद्धावस्था है। ज्ञान उन समस्त आकारों को जानता है, किन्तु वह तदाकार नहीं होता।

आत्मा समस्त पदार्थों के आकारों को जानता है, तथापि उन पदार्थों के मिलाप से रहित है, इस प्रकार जो जानता है सो सम्यग्ज्ञान है, किन्तु पर को जानने पर मेरा ज्ञान पररूप होता है और पर को लेकर मैं जानता हूँ—ऐसा जो मानता है उसे स्वतन्त्र पन्थ की खबर नहीं है, वह मार्ग तो परतन्त्रता का लेता है और मानता है कि हम स्वतन्त्र हैं!

शरीर कोई स्थायी वस्तु नहीं है। यह सब प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि ७०-८० वर्ष की उम्र होने पर शरीर जर्जरित हो जाता है, परन्तु जब युवावस्था होती है। तब सुन्दर-सुदृढ़ शरीर होता है। जब युवक होता है तब वह जवानी के नशे में चूर होता है, और जब वृद्ध होता है, तब यह मानता है कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ, मेरे पराधीनता आ गयी है; परन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं शरीर के आकार से भिन्न स्वतन्त्र आत्मा हूँ। ऐसे अज्ञानी का भवभ्रमण नहीं छूट सकता।

आत्मा स्वयं स्वतन्त्र भिन्न वस्तु है। स्त्री का आत्मा और पुरुष का आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, मकान आदि सर्व वस्तुएँ अलग हैं, उन वस्तुओं को जानते हुए आत्मा उनके आकार का नहीं हो जाता। जगत के जीव बड़े-बड़े मकान बनवाकर और उन्हें विविध प्रकार से सजाकर उसकी शोभा में राग से लीन हो जाते हैं, किन्तु अरे! जीवों ने कहाँ से कहाँ शोभा मान रखी है? वे तो सब जड़ के आकार हैं। भगवान आत्मा उन्हें जाननेवाला है। स्त्री, कुटुम्ब के आकारों को जानने मात्र का सम्बन्ध होने पर भी आत्मा कभी पर के आकाररूप नहीं होता; जिसे ऐसी स्वतन्त्रता की खबर नहीं है, वह परतन्त्र है।

यहाँ प्रथम छह बातों में से पहली में पुद्गलद्रव्य स्थापित किया है, दूसरी में पुद्गल का गुण कहा है, तीसरी में पुद्गल की पर्याय कही है, चौथी में जीव की खण्ड-खण्डरूप पर्याय कही है, पाँचवीं में जीव का गुण और महानता कही है, और छट्ठी में जीव द्रव्य भी सदा स्वतन्त्र है ऐसा कहा है।

प्रथमोक्ति में पुद्गल द्रव्य को स्थापित करके यह बताया है कि—जगत में जड़ द्रव्य है। जैसे वेदान्त मत में एक ही वस्तु मानी गयी है ऐसा नहीं है। अन्धकार में रस्सी को सर्प मान लिया जाता है, इसलिए वेदान्त कहता है कि रस्सी सर्प नहीं है किन्तु भ्रम से सर्प मालूम होता है। वह यह मानता है कि भ्रम कोई वस्तु ही नहीं, किन्तु यह बात मिथ्या है। भले ही वह सर्प न सही किन्तु वस्तु तो है ही? भ्रम एक अवस्था है, सर्वथा अवस्तु

नहीं। भ्रमरूप अवस्था का अस्तित्व है और भ्रम में निमित्तरूप से प्रस्तुत वस्तु भी है, वह कर्म है, और बाह्य में रस्सी में जो सर्प मान लिया गया था सो वह सर्प नहीं किन्तु रस्सी तो थी ही ? इससे सिद्ध होता है, कि—पर वस्तु है, किन्तु वह आत्मा में नहीं है। जगत में पुद्गल द्रव्य है, ऐसा कहकर आचार्यदेव ने व्यवहार भी स्थापित किया है, और वह पुद्गल द्रव्य आत्मा में नहीं हैं ऐसा कहकर परमार्थ स्थापित किया है।

द्वितीय कथन में पुद्गल के गुणों को स्थापित किया है। कोई यह कहता है कि—पुद्गलद्रव्य भले हो किन्तु कहीं जड़ में भी गुण होते हैं ? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि पुद्गल में गुण बतलाकर आचार्यदेव ने व्यवहार बताया है, किन्तु उन पुद्गल के गुणों से चैतन्य के गुण अलग हैं ऐसा कहकर परमार्थ बताया है।

तृतीय कथन में—द्रव्येन्द्रिय से रस को नहीं चखता यह कहकर इन्द्रियाँ हैं, शरीर है, ऐसा व्यवहार बताया है; किन्तु वह शरीर और इन्द्रियाँ आत्मा में नहीं है, आत्मा उनसे भिन्न है, इस प्रकार परमार्थ बताया है।

चतुर्थ कथन में यह कहा है कि भावेन्द्रिय अर्थात् ज्ञान का अल्प विकास भी है, और अल्प विकास के साथ राग है, इसलिए बन्ध भी है, उस बन्ध को दूर करके मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, इस प्रकार ज्ञान की अपूर्ण अवस्था कहकर व्यवहार बताया है, क्षायोपशमिक ज्ञान कहकर चैतन्य की अपूर्ण पर्याय बतायी है। क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमशः परिणमित होता है, इस प्रकार व्यवहार कहा है किन्तु सहज स्वभाव की दृष्टि में उस क्रमरूप अपूर्ण पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, ऐसा दृष्टि का विषय कहकर परमार्थ बताया।

पाँचवें कथन में—सकल विषयों में स्वयं कहीं भी नहीं अटकता ऐसा कहकर यह बताया है कि समस्त विषय हैं, अर्थात् सभी पदार्थ हैं। किसी मत में एक ही द्रव्य माना गया है, किन्तु यहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल छहों द्रव्यों का कथन करके साथ ही व्यवहार भी बताया है। 'मात्र एक रस वेदना परिणाम को प्राप्त करके रस को नहीं चखता' इसमें यह कहा है कि ज्ञान मात्र एक रस को ही जाननेवाला नहीं है। परमार्थ दृष्टि से किसी भी ज्ञेय में अटक जाना आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, इस प्रकार परमार्थ बताया है।

छट्ठे कथन में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहकर जगत में ज्ञेय हैं पर ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते

हैं, इस प्रकार व्यवहार भी साथ में बताया है। ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होता है, किन्तु स्वयं ज्ञेयरूप नहीं होता—ऐसा कहकर परमार्थ बताया है।

अनिर्दिष्टसंस्थान अर्थात् जीव को किसी आकारवाला नहीं कहा जा सकता; जो आकार होता है वह तो चैतन्य की अवस्था का आकार है, और अवस्था की आदि होती है। सिद्ध की अवस्था में भी चैतन्य के प्रदेश का आकार सादि अनन्त है, इसलिए द्रव्यदृष्टि से अनादि-अनन्त आत्मा को किस आकार का कहना चाहिए यह कुछ नहीं कहा जा सकता। आत्मा का आकार असंख्य प्रदेशरूप है, किन्तु वह असंख्यप्रदेशी अनादि-अनन्त आत्मा किस आकार का है यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चार गति के शरीररूप आत्मा के प्रदेशों का आकार होता है, तथा सिद्धदशा में प्रदेशों का जो आकार होता है, वह सब पर्याय का है। इसलिए द्रव्यदृष्टि से आत्मा किस आकार का होता है, यह नहीं कहा जा सकता है, इसलिए उसे अनिर्दिष्टसंस्थानवाला कहा है।

यहाँ अव्यक्त विशेषण सिद्ध करते हैं। छह द्रव्यस्वरूप लोक जो कि ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है।

यह अव्यक्त विशेषण अलौकिक है। ज्ञेयभूत छह द्रव्यस्वरूप लोक व्यक्त है, और आत्मा अव्यक्त है। जानना, मानना और स्थिर होना इत्यादि अनन्त गुणों का तत्त्व आत्मा है। एक तरफ लोक है, और दूसरी तरफ स्वयं अकेला है। दूसरे अनन्त आत्मा जाति की अपेक्षा से एक हैं और संख्या की अपेक्षा से अलग हैं। एक ओर अनन्त आत्मा, और दूसरी और स्वयं अकेला है। अनन्त आत्माओं में स्वयं आ जाता है, छह द्रव्य में भी स्वयं आ जाता है, परन्तु आत्मा उनसे भिन्न है, इसलिए अव्यक्त है। छह द्रव्यस्वरूप लोक आत्मा से बाह्य है, इसलिए आत्मा अव्यक्त है।

समस्त जीवों से-आत्मा से परमाणुद्रव्य अनन्तगुने हैं। पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्ति अर्थात् हैं, और काय अर्थात् प्रदेशों का समूह; इस प्रकार जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय-पंचास्तिकाय हैं, छठवाँ द्रव्य काल है वह एक प्रदेशी है, काल द्रव्य स्वत:सिद्ध वस्तु है, वह औपचारिक नहीं है। कालाणु द्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं, वे काल द्रव्य असंख्य हैं, वे कालाणु द्रव्य, चौदहराजु लोक में विद्यमान हैं। पाँचों द्रव्यों में जो समय-समय पर पर्याय

बदलती है, उसमें काल द्रव्य निमित्त है। यद्यपि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वत: बदलती है, किन्तु काल द्रव्य मात्र निमित्त होता है।

आकाशास्तिकाय द्रव्य है, जो कि लोक में भी है और अलोक में भी। यह जीवादि द्रव्यों से भरा हुआ संग्रहात्मक लोक है, उसके बाद क्या होगा और फिर उसके बाद क्या होगा, इस प्रकार विचार करते-करते मात्र खाली स्थान लक्ष्य में आएगा, वह अलोकाकाश है। विचार करते-करते क्या फिर उस खाली स्थान का भी कहीं अन्त आ सकता है ? नहीं आ सकता। इसलिए वह अलोकाकाश अनन्त है। जो आकाश लोक में है, उसे लोकाकाश कहते हैं। और जो द्रव्य अलोक में है, उसे आलोकाकाश कहते हैं। वह आकाश द्रव्य लोक और अलोक में रहता हुआ अखण्ड एक है, और सर्व व्यापी है।

चौदह राजु लोक में, एक धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। वह जीव और पुद्गलों को गति करने में उदासीन निमित्त है। जैसे पानी में चलती हुई मछली को पानी उदासीन निमित्त होता है, अर्थात् जब मछली पानी में चलती है तब पानी उसे ढकेलता नहीं है, किन्तु मछली जब चलती है, तब पानी उपस्थित होता है, इसलिए उसे निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल की गति में धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

इसी प्रकार चौदह राजु लोक में एक अधर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। जब जड़ और चेतन गति करते हुए स्थिर हो जाते हैं, तब उनके स्थिर होने में अधर्मास्तिकाय उदासीन निमित्तकारण है। जैसे वृक्ष मुसाफिर को बलात् अपनी छाया में नहीं बैठाता, परन्तु जब मुसाफिर छाया लेने बैठता है, तब वृक्ष निमित्त कहलाता है। इसी प्रकार जड़ और चैतन्य चलते हुए स्थिर हो जाते हैं, तब अधर्मास्तिकाय उसमें उदासीन निमित्तकारण कहलाता है।

छह द्रव्यस्वरूप लोक युक्ति, आगम और सर्वज्ञ के द्वारा निश्चित किया गया है। सर्व आवरण दूर होने के बाद मात्र जो ज्ञान रह जाता है, वह सर्वज्ञज्ञान है। उस ज्ञान से लोक के समस्त पदार्थ और अलोक, तथा प्रत्येक पदार्थ के अनन्त गुण और गुणों की अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष ज्ञात होती हैं।

एक-एक वस्तु में अनन्त गुण और उसकी अनन्त पर्यायें विद्यमान हैं, वैसे अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु इत्यादि छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञान में जाननेयोग्य है। एक ओर समस्त द्रव्य हैं, और दूसरी ओर अकेला आत्मा, एक ओर सम्पूर्ण विश्व है, और एक ओर

अकेला स्वयं, एक ओर ग्राम है, और एक ओर राम—स्वयं, वह राम सबका ज्ञाता है। वे समस्त द्रव्य आत्मा से बाहर हैं, इसलिए व्यक्त हैं, और आत्मा उनसे अलग है, इसलिए अव्यक्त है।

यहाँ छह द्रव्यस्वरूप लोक कहा है, परन्तु उसमें अलोक भी आ जाता है। वह छह द्रव्य स्वरूप लोक ज्ञान में जाननेयोग्य है। वह ज्ञान में ज्ञात होता है, परन्तु वह आत्मा से बाहर है, इसलिए आत्मा उससे अव्यक्त है। छह द्रव्यस्वरूप लोक से आत्मा भिन्न है, इसलिए भी आत्मा अव्यक्त है। छह द्रव्य ज्ञेय हैं और आत्मा उनका ज्ञायक है इसलिए वह अव्यक्त है।

अज्ञान के द्वारा जो छह द्रव्यों में राग के विकल्प से भेद करके छह द्रव्य को जानता था, और अपने को नहीं जानता था, वह सम्यग्दर्शन होने पर राग के विकल्प को तोड़कर अन्तरंग स्वरूप में समा गया, सो उस अपेक्षा से भी आत्मा अव्यक्त है।

मैं छह द्रव्यों में हूँ और छह द्रव्यों में नहीं हूँ, ऐसा विकल्प राग है। मैं बन्धन युक्त हूँ या मुक्त, मैं छह द्रव्यों में हूँ या नहीं, ऐसा विकल्प अभेद दृष्टि में नहीं है, ऐसा भेद निर्विकल्प अनुभव में नहीं है। आत्मा जैसा है वैसा है, किन्तु उसमें यह विकल्प करना कि मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ सो राग है। ऐसे भेद के विकल्प निरपेक्ष निर्विकल्प अनुभव में नहीं है। छह द्रव्य के विकल्प के भेद मुझमें नहीं हैं, इसलिए मैं अव्यक्त हूँ।

लोक छह द्रव्यस्वरूप है, ऐसा कहकर छह द्रव्य बताये हैं, और छह द्रव्य कहकर यह बताया है, कि कम-बढ़ नहीं किन्तु छह ही हैं। जो इन छह द्रव्यों को नहीं मानता वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है और जो यह नहीं मानता है कि इन छह द्रव्यों में से मैं निरपेक्ष तत्त्व अलग हूँ, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आचार्यदेव ने छह ही द्रव्य हैं, ऐसा कहकर व्यवहार बताया है और छह द्रव्य हैं ऐसा स्थापित किया है, इसलिए जो छह द्रव्य नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है। और स्वयं छह द्रव्य स्वरूप नहीं है, ऐसा कहकर निश्चय स्वरूप बताया है—परमार्थस्वरूप बताया है।

आचार्यदेव ने छह द्रव्य, उनके विकल्प, और बन्ध-मोक्ष की पर्याय आदि सबको ज्ञेय कहा है। छह द्रव्य बाह्य हैं इसलिए व्यक्त हैं, और पर्याय प्रगट होती है इसलिए व्यक्त हैं, किन्तु आत्मा तो है और है इसलिए अव्यक्त है।

भंगदृष्टि और खण्डदृष्टि को तोड़कर, अखण्डदृष्टि से अखण्डतत्त्व की घोषणा ही मुक्ति का उपाय है। कोई कह सकता है कि जो यह दिखायी देता है, सो क्या उसे भूल जाना चाहिए, और जो नहीं दिखायी देता उसे देखना चाहिए? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि हाँ, अदृश्य को दृश्य करे और दृश्य को भूल जाए तब ही मुक्ति का मार्ग मिल सकता है। हे भाई! तुझे अपने स्वभावसामर्थ्य की भी खबर न पड़े तो फिर तरने का उपाय कहाँ से हाथ लगेगा। तेरे स्वभावसामर्थ्य में छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञात होता है, उसमें तेरी स्वतन्त्रशक्ति की घोषणा है। यदि तुझे वह ज्ञात हो जाए तो शान्ति और सुख मिले।

जिसने आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव नहीं जान पाया वह जगत के किसी भी कार्य से स्वतन्त्र नहीं हो सकता। किन्तु जिसने यह जान लिया कि मैं आत्मा स्वतन्त्र हूँ, वही उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा है। जिसने आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव जान लिया उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि परभाव की उपाधि से अलग कैसे हुआ जा सकता है।

जैसे दर्पण में सामने की वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तथापि दर्पण उस वस्तुरूप नहीं हो जाता, इसी प्रकार ज्ञानमूर्ति चैतन्य-दर्पण है, जिसका स्वभाव समस्त पदार्थों को जानना है। उन समस्त पदार्थों को जानने से आत्मा परपदार्थरूप नहीं हो जाता। इस प्रकार वस्तुस्वभाव को जानकर उसकी श्रद्धा करके उसमें स्थिर हो तभी आत्महित होता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी मार्ग से आत्महित हो ही नहीं सकता।

अब व्यक्त की दूसरी बात कहते हैं। कषाय का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है इसलिए अव्यक्त है।

कषाय शब्द के दो भाग हैं—एक कष और दूसरा आय। इनमें से कष का अर्थ है संसार और आय का अर्थ है लाभ। अर्थात् जिस भाव के द्वारा संसार के चौरासी के दु:खों को भोगने का लाभ मिले वह कषाय है। दूसरा अर्थ—कष अर्थात् कृषि, और कृषि अर्थात् खेती करके—क्रोध, मान, माया, लोभ की खेती करके चौरासी के अवतार को उगाये; दु:ख को उत्पन्न करे उसे कषाय कहते हैं। जैसे किसान खेती करके अन्न उत्पन्न करता है, इसी प्रकार अज्ञानी अज्ञान भाव से क्रोध, मान, माया, लोभ और शुभाशुभभाव की खेती करके चौरासी में अवतार ग्रहण करने की फसल उत्पन्न करता है।

राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति और वेद इत्यादि सब कषायों का समूह है।

भावक अर्थात् कर्म और उसके निमित्त से होनेवाला जो भाव है सो अव्यक्त है, अर्थात् प्रगट है, और आत्मा उन कषायों के समूह से अलग है, इसलिए अव्यक्त है।

कषायों की वृत्ति एक समय मात्र की प्रगट है, और आत्मा एक समय मात्र का नहीं किन्तु त्रिकाल है, इसलिए उस समयमात्र की पर्याय से आत्मा अन्य होने से अव्यक्त है। सम्पूर्ण आत्मा ध्रुव त्रिकाल स्वभाववाला अविनाशी है, और क्रोध, मान, माया, लोभ की पर्याय विकारी क्षणिक और नाशवान है, इसलिए आत्मा उससे अन्य है, इसलिए भी अव्यक्त है।

यहाँ कोई कह सकता है कि इसमें धर्म क्या हुआ? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि—इसमें धर्म यह है कि—क्रोध, मान, आदि जो शुभाशुभभाव होते हैं वे ज्ञेय हैं और मैं आत्मा उनका जाननेवाला ज्ञायक हूँ; इस प्रकार जानना, उसकी प्रतीति करना और उस ज्ञायकस्वभाव में स्थिर होना सो यही सच्चा धर्म है। जिसे आत्मा का धर्म करना हो उसे कषायों के समूह से जीव को अलग जानना होगा, शुभाशुभ विकारी अवस्था से अलग जानना होगा, और इस प्रकार अलग जानने पर ही धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके अतिरिक्त अन्य लाखों-करोड़ों उपायों से भी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

यह बात सर्वथा अज्ञानी को समझायी जा रही है। जिसे चौरासी में परिभ्रमण करते हुये थकान मालूम होने लगी हो उससे आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! अब बस कर, अब यह परिभ्रमण बन्द कर दे!

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—सरलता, मध्यस्थता, जितेन्द्रियता, और विशालबुद्धि, यह चारों जिसके अन्तरंग में प्रगट हुए हों, वह जीव तत्त्वप्राप्ति के लिये उत्तम पात्र हैं। उपरोक्त चारों बातें जिसके अन्तरंग में प्रगट हो गयी हों, और जिसे परिभ्रमण करते-करते थकान आ गयी हो उस जिज्ञासु जीव के लिये यह बात समझ में आती है। हे भाई! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ, ऐसा सत्-समागम प्राप्त हुआ, फिर भी ऐसे उत्तम सुअवसर पर भी न समझा तो फिर कब समझेगा? यदि बिना समझे ही यह मनुष्य आयु समाप्त हो गयी तो फिर कहाँ जाकर पार होगा? फिर तेरे अरण्यरोदन को कौन सुनेगा? चौरासी के परिभ्रमण में तेरे रुदन को कोई नहीं सुनेगा। इसलिए यदि सुखी होना हो तो आत्मस्वभाव

को पहिचानकर उसमें स्थिर हो, इसी से सुख और शान्ति मिलेगी। सुख और शान्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

आत्मा कषाय-समूह से भिन्न है, उसे पहिचानने से ही मुक्ति का मार्ग मिलता है। अव्यक्त के प्रथम कथन में आत्मा को छहों परद्रव्यों से अलग बताया है, और दूसरे में अपने में होनेवाली मलिन अवस्था से अलग बताया है।

अब अव्यक्त की तीसरी बात कहते हैं। चित्सामान्य में चैतन्य की सर्व व्यक्तियाँ निमग्न अंतर्भूत हैं इसलिए व्यक्त है।

चित्सामान्य का अर्थ है आत्मा का ज्ञानस्वभाव। जो त्रिकाल सदृश एकरूप और सदा एक सा रहनेवाला है; उसमें चैतन्य की सर्व व्यक्तियाँ निमग्न हैं अर्थात् जानने की पर्याय प्रतिक्षण कम-बढ़ निर्मल होती है, वह पर्याय भी सामान्य स्वभाव में समा जाती है। पर्याय का गुण में समावेश किया तो उसे अन्तरनिमग्न कहा है। अनन्त पर्यायें गुण में गुणरूप से अन्तरनिमग्न हैं।

सुवर्ण में चूड़ी, कंठी, अंगूठी इत्यादि जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं वे सब सुवर्ण में समाविष्ट हैं। इसी प्रकार चैतन्य के ज्ञान की मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय इत्यादि जो अपूर्ण या पूर्ण निर्मल अवस्थाएँ होती हैं, वह सब सामान्य ज्ञान में अन्तरभूत हैं। वे अवस्थाएँ सामान्य स्वभाव से भिन्न नहीं हैं, परन्तु उन पर्यायों के भेद की ओर से देखें तो उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिए अव्यक्त है, समस्त पर्यायें सामान्य में अन्तरभूत हैं अर्थात् सामान्यरूप हैं, इसलिए आत्मा भिन्न-भिन्न पर्याय जितना ही नहीं है, अत: वह अव्यक्त है।

जैसे पानी की छोटी-बड़ी तरंगें, पानी में-सामान्य में समा जाती हैं, वह सामान्यरूप है, इसी प्रकार आत्मा में जानना चाहिए। आत्मा में ज्ञायकस्वभाव स्थायी रहता है, उस त्रैकालिक ज्ञाता स्वभाव में प्रतिक्षण होनेवाली निर्मल पर्याय समा जाती है, वह प्रतिक्षण होनेवाली प्रगट निर्मल अवस्था सामान्य ज्ञानरूप एकत्रित है, इसलिए भिन्न-भिन्न पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिए वह अव्यक्त है।

प्रथमोक्ति में कहा गया है कि तू अपने को छहों द्रव्य से अलग देख तो अज्ञान और राग-द्वेष नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। दूसरी में कहा है कि कषायों का समूह जो क्रोध, मान

इत्यादि भाव है, उससे अपने को पृथक् देख, तो राग-द्वेष और अज्ञान नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। तीसरे कथन में बताया गया है कि सामान्य ज्ञान को देख, आत्मा को मत देख, तो राग-द्वेष और अज्ञान नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

द्वितीय कथन में मलिन पर्याय की बात कही गयी है कि तू अपने को मलिन पर्याय से अलग देख और तृतीय कथन में निर्मल पर्याय की बात है कि जो मति-श्रुत और अवधि की निर्मल पर्याय होती है, उतना मात्र ही अपने को मत मान और उस पर्याय पर दृष्टि मत रख। अब अव्यक्त की चतुर्थ बात करते हैं। क्षणिक व्यक्ति-मात्र नहीं है इसलिए अव्यक्त है।

तीसरे कथन में सर्व व्यक्तियों की बात कही है और यहाँ चतुर्थ कथन में क्षणिक व्यक्ति ली गयी है, अर्थात् एक समय की एक पर्याय ली है। आत्मा एक समय की एक पर्याय जितना नहीं है, इसलिए अव्यक्त है। जो एक समय की अवस्था होती है, उस समय भी अवस्था पर लक्ष्य न देकर अखण्ड ध्रुव स्वभाव पर लक्ष्य रखकर सम्पूर्ण ध्रुव स्वभाव को लक्ष्य में ले लेता है, इसलिए उस अवस्था जितना ही न होने से आत्मा अव्यक्त है।

अभेददृष्टि हुए बिना भेद का राग-द्वेष दूर नहीं होता। चैतन्य आत्मा एक समय की निर्मल पर्याय जितना ही नहीं है; किन्तु त्रिकाल ध्रुव है। कार्यकालरूप एक समय की अवस्था तो बदल जाती है और स्वयं आत्मा स्थिर रहता है, इसलिए आत्मा उस अवस्था जितना ही नहीं है, इसलिए वह अव्यक्त है।

क्षणिक व्यक्ति का अर्थ है एक समय की अवस्था। यदि आत्मा को उस अवस्था जितना ही माना गया तो इसका यह अर्थ हुआ कि जो ध्रुव स्वभाव है, उसे नहीं माना। यदि आत्मा एक अवस्था जितना ही हो तो फिर दूसरे समय दूसरी अवस्था और तीसरे समय तीसरी अवस्था की सामर्थ्य उस द्रव्य के बिना कहाँ से आयेगी ? एक अवस्था बदलकर दूसरी कहाँ से उत्पन्न होगी ? इसलिए समस्त अवस्थाओं की शक्ति का धारक त्रिकाल स्थायी द्रव्य का सामान्य स्वभाव है, और उसमें से प्रति समय पर्याय उत्पन्न होती है, किन्तु पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिए स्वयं अव्यक्त है। आत्मा का ऐसा स्वरूप है, यदि उसे इस प्रकार समझे तो स्वतन्त्रता प्रगट हो।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि गुरुकृपा हो तो वे हमें समझा दें, किन्तु गुरुकृपा किसी को कुछ नहीं दे सकती। अपनी योग्यता से स्वयं समझे तो गुरुकृपा निमित्त कही जाती है।

तू अपनी पात्रता से-तैयारी से समझे तो समझा जा सकता है; अन्यथा तेरी तैयारी के बिना तीर्थंकर भी तुझे समझाने को समर्थ नहीं हैं। तीर्थंकरदेव ने पूर्वभव में जब तीर्थंकरगोत्र का बन्ध किया था तब उन्हें आत्मा की पहिचान में ऐसा उत्कृष्ट प्रशस्तभाव उत्पन्न हुआ था कि सभी जीवों को आत्मा का परिचय करा दूँ; और इसी से तीर्थंकरगोत्र का बन्ध हुआ था। उस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया तथापि स्वयं जब तीर्थंकर-केवलज्ञानी थे तब कहीं वे सबको नहीं तार सके। जिनकी तैयारी थी वे जीव तर गये, तब उपचार से यह कहा गया कि वे तीर्थंकर भगवान के निमित्त से तरे हैं। तीर्थंकर भगवान तो सभी के तरने में निमित्त थे, तथापि जो अपने उपादान की तैयारी से तर गये उनके लिये वे निमित्त हुए कहलाये।

निमित्त का अर्थ उपस्थिति मात्र है। निमित्त किसी का कुछ कर नहीं देता। कार्य के होने में जो अनुकूल निमित्त होता है, वह उस कार्य का निमित्त हुआ कहलाता है। जैसे घड़े के बनने में कुम्हार अनुकूल निमित्त होता है। मोक्षपर्याय के प्रगट होने में देव-गुरु-शास्त्र अनुकूल निमित्त हैं। यदि निमित्त की दृष्टि से देखा जाए तो स्त्री-पुत्रादि रागी निमित्त उस राग के होने में निमित्त कहलाते हैं, और जो वीतरागी निमित्त है सो वीतरागता के होने में निमित्त कहलाता है, किन्तु यदि कोई रागी निमित्त को देखकर वीतराग भाव करे और वीतरागी निमित्त को देखकर अशुभ भाव करे तो उसमें अपने उपादान का गुण-दोष है, वीतरागी निमित्त को भी अपने राग का निमित्त बनाया सो यह अपने उपादान की दोष है। तीर्थंकर भगवान तो सबके लिये विद्यमान थे, किन्तु जो अपनी तैयारी से तर गये उनके लिये वे निमित्त कहलाये।

देव, गुरु और शास्त्र संसार-सागर से पार होने के लिये अनुकूल निमित्त हैं। ऐसा निमित्त-उपादान दोनों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान में आ जाता है। रागी निमित्त है या वीतरागी, इसका विवेक सम्यग्ज्ञानी के होता है। निमित्त तार नहीं देता किन्तु जब स्वतः स्वयं तरता है, तब निमित्त होता है। जब स्वयं तरता है, तब निमित्त का आरोप होता है।

आत्मा छह द्रव्यस्वरूप लोक से अलग है, इसलिए अव्यक्त है। यदि पृथक् स्वरूप की प्रतीति करे तो पृथक् में स्थिर हो, यही मोक्षमार्ग है। यदि अपना पृथक् स्वभाव न जाने तो अपने स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ न करे और स्थिर होने के पुरुषार्थ के बिना

कषायों का समूह राग-द्वेष इत्यादि दूर न हो। जो क्रोध, मान इत्यादि होते हैं, उतना मात्र आत्मा नहीं है; किन्तु वह उनके नाशक स्वभाव से परिपूर्ण है। इस प्रकार यह दो बातें हुईं।

तूतीय कथन में चित्सामान्य अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानगुण लिया है, उस सम्पूर्ण ज्ञानगुण में जो प्रतिक्षण निर्मल अवस्था होती है, वह ज्ञानगुण से अलग नहीं है, किन्तु वह ज्ञानगुण में अन्तरनिमग्न है, अर्थात् ज्ञानगुण में ज्ञान की निर्मल अवस्था समायी हुई है।

जैसे—सोने में ताँबा मिला दिया जाए और वह ताँबा सोने के साथ चाहे जितने समय तक रहे तो भी वह सोना नहीं होता। वह ताँबा सोने से अलग हो जाता है तब सोने की पीतता-निर्मल अवस्था प्रगट हो जाती है, वह सोने की ही अवस्था है, सुवर्णमय ही वह अवस्था है; सोने में उसकी निर्मल अवस्था एकरूप है, अलग नहीं है। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में कर्म के निमित्त से अपनी विपरीतता से विकारी अवस्था क्षण क्षण रहकर भले ही अनन्त काल से रह रही हो तथापि आत्मा विकारस्वरूप नहीं हो जाता। यह जो विकार है सो मैं नहीं हूँ, मैं आत्मा इस विकाररूप ताँबे से अलग हूँ, इस प्रकार ज्ञान में विवेक होने पर जो-जो निर्मल अवस्था होती है, वह उसमें अन्तरनिमग्न है। राग-द्वेषरहित जो निर्मल अवस्था होती है, वह भी चैतन्य सामान्य से अलग नहीं है, किन्तु सामान्य में एकरूप है।

चैतन्यमूर्ति का एकरूप जो सामान्य स्वभाव है, उस पर दृष्टि डालने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। सामान्य स्वभाव की दृष्टि के बल से निर्मल पर्याय उस भरे हुए सामान्य स्वभाव में से प्रगट होती है; परन्तु अवस्था पर लक्ष्य देने योग्य नहीं है, क्योंकि राग-द्वेष दूर होकर जो निर्मल पर्याय के भंग होते हैं, उन पर लक्ष्य देने से पर्याय निर्मल नहीं होती। निर्मल पर्याय भी भंगरूप और भेदरूप है, इसलिए उस भंगरूप पर्याय पर लक्ष्य देने से राग होता है और राग होने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। मैं क्षणिक पर्याय जितना ही नहीं हूँ, किन्तु सामान्य त्रिकाल एकरूप हूँ, ऐसी दृष्टि के बल से अस्थिरता को दूर करके स्थिरता प्रगट होती है, निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

यह बात बड़ी अलौकिक है। कुन्दकुन्दाचार्य के सभी ग्रन्थों में यह गाथा पायी जाती है। उसमें भी यह जो अव्यक्त का कथन है वह तो अत्यन्त सुन्दर है। यह एक प्रकार से चैतन्यलक्ष्मी की पूजा है, किन्तु लोग लक्ष्मी (धन) की पूजा करते हैं, जो कि धूल की

पूजा के समान है। लोग धन की पूजा करते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि वे यह चाहते हैं कि मैं सदा तेरा (लक्ष्मी का) दास बना रहूँ, और मुझे ऐसा ही बनाये रखना कि जिससे तेरे बिना मेरा काम ही न चले।

लोग कहा करते हैं कि हे भगवान! हमें नंगा-भूखा मत रखना, इसका अर्थ यह हुआ कि यह शरीर सदा बना रहे, और सदा भूख लगती रहे, तथा रोटियाँ मिलती रहें— इस प्रकार सदा परमुखापेक्षी-पराधीन बना रहूँ। यदि यह प्रतीति करे कि मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा पर से निराला हूँ, और मेरी वस्तु-मेरी स्वरूपलक्ष्मी मेरे ही पास है, परवस्तु मुझे सुखरूप नहीं है, मेरा सुख मुझमें ही है, सो ऐसा विवेक होने पर दूसरे की आधीनता मिट जाती है।

यहाँ अव्यक्त की बात चल रही है। यह बात आजकल समाज में नहीं चल सकती। आज तक कभी भी यह बात लोगों के कान में नहीं पहुँची, इसलिए उन्होंने कभी इस पर विचार नहीं किया। क्या कभी किसी को ऐसा स्वप्न भी आया कि मैं चिदानन्द आत्मा मुक्त हो गया हूँ? जिसे जिसका रंग लगा होता है, उसे उसी का स्वप्न होता है। व्यापारियों को व्यापार का रंग लगा है, इसलिए उन्हें व्यापार के स्वप्न आते हैं और जिसे आत्मा की लगन है, उसे ऐसे स्वप्न आते हैं कि मैं चिदानन्दस्वरूप में रमण करता हुआ मुक्त हो गया।

अेनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे,
तेनुं मन न चड़े बीजे भामे रे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे,
तेने न गमे बीजा केरो संग रे।

मैं आत्मा मुक्त हो गया, सिद्ध हो गया—ऐसा स्वप्न भी यदि आ गया तो फिर उसका मन राग-द्वेष और विषय-कषाय की ओर नहीं जाता। कृष्ण अर्थात् कर्म को कृष करनेवाला जो आत्मा है, उसका लेशमात्र प्रसंग अर्थात् आंशिक प्रगटता भी हो जाए तो फिर उसे दूसरे के संग की रुचि व प्रीति नहीं रहती। जो कर्म को कृष करे वह आत्मा स्वयं श्रीकृष्ण भगवान है। कर्मों को मारकर, जलाकर स्वयं जागृत हो सो स्वयं श्रीकृष्ण भगवान है। जैसे श्रीकृष्ण का अवतार कंस को मारने के लिये हुआ था, कहीं कंस से मरने के लिये नहीं हुआ था, इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा स्वयं पर से भिन्न है, ऐसा आत्मानुभव

हुआ सो मानो श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, वह कंस अर्थात् कर्म को नाश करने के लिये आत्मा का जन्म हुआ है।

अब अव्यक्त की पाँचवीं बात कहते हैं। व्यक्तता और अव्यक्तता दोनों एकत्रित-मिश्रितरूप से प्रतिभासित होते हुए भी वह मात्र व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता इसलिए अव्यक्त है।

प्रतिक्षण होनेवाली पर्याय व्यक्त और स्वयं सदा स्थायी ध्रुव आत्मा अव्यक्त है, वह क्षणिक अवस्था का भी ज्ञान करता है, और त्रैकालिक वस्तु का भी ज्ञान करता है। दोनों की साथ में मिश्रता अर्थात् दोनों का एक साथ ज्ञान होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता (नहीं जानता) इसलिए स्वयं अव्यक्त है।

ज्ञान त्रिकाल की अवस्थाओं को जानता है, और वस्तु को भी जानता है। दोनों के ज्ञान में प्रतिभासित होने पर भी मात्र व्यक्त अथवा अवस्था को ही स्पर्श करता है, ऐसा नहीं है। जिसे आत्मा की निर्मल पर्याय प्रगट करने की रुचि और पुरुषार्थ का बल है वह यह कहता है कि कल ही ज्ञान प्रगट करूँगा, कल ही वीतरागता प्रगट करूँगा इसका यह अर्थ है कि कल अर्थात् भविष्य में जो पर्याय प्रगट करनी है वह पर्याय मेरे द्रव्य में भरी पड़ी है। द्रव्य में पर्याय भरी हुई है, सो उसका ज्ञान और वर्तमान में होनेवाली अवस्था का ज्ञान इस प्रकार दोनों का ज्ञान हुआ। द्रव्य में पर्याय भरी हुई है, इसलिए द्रव्य का ज्ञान और वर्तमान पर्याय का ज्ञान दोनों का ज्ञान हुआ। मात्र अवस्था का ही ज्ञान हुआ हो सो बात नहीं है, किन्तु दोनों का ज्ञान हुआ।

एक लड़की आटे की लोई लेकर रोटी बनाना चाहती है, तब उसे पूर्व का ज्ञान होता है कि मेरी माँ ऐसी रोटी बनाती थी, और अब मुझे ऐसी रोटी करनी है, यह लक्ष्य में लेकर वर्तमान में वह लड़की आटे में से लोई लेती है। इस प्रकार उस लड़की को भी रोटी करते समय पहले का और भविष्य का—दोनों ज्ञान एक साथ विद्यमान है।

इसी प्रकार कुम्हार के भी घड़ा बनाने से पूर्व घड़े का ज्ञान होता है कि कल मिट्टी में से घड़ा बनाया था वैसा घड़ा भविष्य में बनाना है, अथवा यह घड़ा कल मिट्टी में से बना था अभी उसी प्रकार मिट्टी में से बन रहा है और भविष्य में भी दूसरी मिट्टी में से घड़ा इसी प्रकार बनेगा, इस प्रकार तीनों काल का ज्ञान एक ही साथ पाया जाता है। कुम्हार ने तो घड़े

का ज्ञान ही किया है, किन्तु घड़े का कर्ता कुम्हार नहीं है। जब मिट्टी का पिण्ड तैयार होता है तब कुम्हार यह जानता है कि इसमें से घड़ा बनेगा, और जब घड़ा बनता है तब वह यह जानता है कि यह घड़ा बन रहा है, किन्तु उसमें उसने कुछ किया नहीं है। मिट्टी के पिण्ड में से जब घड़ा बनने से पूर्व विविध आकृतियाँ बनती हैं तब कुम्हार मात्र उनका ज्ञाता होता है, वह उनका कर्ता नहीं होता। पहले मिट्टी के पिण्ड का ज्ञान क्रिया, अर्थात् उस कुम्हार ने पहले सामान्य का ज्ञान किया, फिर वर्तमान में होनेवाली पर्यायों का ज्ञान किया। ध्रौव्यत्व की सामर्थ्यता का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं।

इसी प्रकार जौहरी को हीरे का भाव पहले इतना था, वर्तमान में इतना है, और भविष्य में इतना बढ़ेगा, इस प्रकार त्रिकाल का ज्ञान एक ही साथ हो जाता है, इसी प्रकार द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान एक ही साथ हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा तीनों काल की पर्यायों की पिण्डभूत वस्तु को भी जानता है, तथा वर्तमान में होनेवाली पर्याय को भी जानता है। ऐसा उसका स्वभाव है, तथापि केवल वर्तमान में होनेवाली पर्याय को ही स्पर्श नहीं करता इसलिए वह अव्यक्त है।

ज्ञानी जानता है कि जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अवश्य होगा, इस शरीर का जन्म हुआ है सो वियोग जरूर होगा। इस प्रकार संयोग-वियोग का ज्ञान साथ ही होता है। संयोग के समय वियोग का ज्ञान एक ही साथ होता है, इसलिए उसे संयोग-वियोग के समय राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि जैसा जाना था वैसा ही हुआ है, फिर राग-द्वेष कैसा? इस प्रकार सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान में समाधि होती है, और वह समाधि को बढ़ाकर देहत्याग करता है।

ज्ञानी समझता है यह संयोगी वस्तु है इसलिए कभी न कभी अवश्य जाएगी, इसलिए वह जीवन के अन्तिम क्षणों में यह समझता है कि जो यह शरीर जा रहा है सो मेरा नहीं है; जो मेरा है वह जा नहीं सकता; इसलिए उसे संयोग में राग नहीं होता, और वियोग में द्वेष नहीं होता। इस प्रकार शान्ति की निर्मल पर्याय में बढ़ते-बढ़ते देह त्याग करता है।

जिसने यह मान रखा है कि जो शरीर है सो मैं हूँ, उसे वियोग के समय द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जिसे शरीर को रखने का राग है उसे मरण समय द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा। उसे आत्मप्रतीति तो है नहीं, और जो पर सम्बन्धी ज्ञान किया है सो वह सब परोन्मुख होकर

किया है, इसलिए परसंयोग के समय राग और वियोग के समय द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा।

जिसने अपने सामान्य चैतन्यस्वभाव का, अपनी अवस्था का और परपदार्थों का ज्ञान स्वोन्मुख होकर किया है, वह अकेली अवस्था को स्पर्श नहीं करता। अपने स्वभाव की प्रतीति में वर्तमान अवस्था का ज्ञान, अपने सामान्य का ज्ञान, सामान्य पदार्थ की वर्तमान अवस्था का ज्ञान, प्रस्तुत पदार्थ के भविष्य का ज्ञान अर्थात् उसके सामान्य का ज्ञान—ऐसा अखण्डित ज्ञान करनेवाला मात्र अवस्था को स्पर्श नहीं करता। जिसे यह प्रतीति है कि मेरा आत्मा सदा रहनेवाला ध्रुव है, वह वस्तु और वस्तु की अवस्था दोनों का ज्ञान करता है, किन्तु मात्र अवस्था का ज्ञान नहीं करता, मात्र अवस्था का स्पर्श नहीं करता। इसलिए आत्मा अव्यक्त है।

अब अव्यक्त की छट्ठी बात कही जाती है।

स्वयं अपने आपसे ही बाह्याभ्यन्तर स्पष्टतया अनुभूत होता हुआ भी व्यक्तता के प्रति उदासीन भाव से प्रद्योतमान (प्रकाशमान) है, इसलिए अव्यक्त है।

अभ्यन्तर अर्थात् स्वयं द्रव्य और बाह्य अर्थात् सर्व बाह्य पदार्थ ज्ञेय हैं। वे सब स्वयं अपने से ही प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष पर भार दिया है। मन और इन्द्रियों के अवलम्बन के बिना, स्वयं अपने से ही प्रत्यक्ष जानता है। अकेले अन्तःतत्त्व को परिपूर्ण द्रव्य कहा है; उसमें संयोग, निमित्त, विकार, अपूर्ण पर्याय नहीं और निर्मल पर्याय जितना ही द्रव्य नहीं है, मात्र त्रैकालिक सामान्य अंश को द्रव्य कहा है, मात्र पर्यायरूप द्रव्य नहीं है; इसलिए व्यक्तता के प्रति उदासीन है। स्व और पर दोनों का ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। पर का ज्ञान करता है, ऐसा कहना सो व्यवहार है, किन्तु पर को जानता है, इसलिए ज्ञान में परोक्षता नहीं आ जाती, अन्तरंग का और बाहर का ज्ञान स्वयं अपने से प्रत्यक्ष ही करता है, उसमें पर का निमित्त या परोक्षता नहीं आती। केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है तब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है सो बात नहीं है, किन्तु ज्ञान स्वयं स्वतः ही स्वरूपप्रत्यक्ष है, स्वयं स्वतः द्रव्य से, गुण से, पर्याय से स्वरूपप्रत्यक्ष ही है। स्व-परप्रकाशता से स्वयं प्रत्यक्ष ही है तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीन है। बाह्य ज्ञेय और अभ्यन्तर में स्वयं स्पष्ट ज्ञात होता हुआ भी पर्याय के प्रति उदासीन रहता है। यहाँ अनुभव का अर्थ ज्ञान है।

आत्मा में प्रस्तुत वस्तु का और उसकी पर्याय का ज्ञान होता है, इसी प्रकार अपने

आत्मा का और पर्याय का ज्ञान होता है। उन सबका प्रत्यक्षरूप से स्पष्ट ज्ञान होता है तो भी मात्र पर्याय की व्यक्तता को आत्मा स्पर्श नहीं करता इसलिए वह अव्यक्त है। इस प्रकार छह हेतुओं से अव्यक्तता सिद्ध की है।

आत्मा पर्याय के प्रति उदासीन प्रकाशमान है। सिद्ध भगवान भी एक समय में तीनों काल का आनन्द भोग लेते हों तो दूसरे समय में दूसरी पर्याय का आनन्द कहाँ से भोगेंगे? इसलिए एक समय में आनन्द गुण की एक पर्याय का उपभोग होता है, और आनन्द की जाति एक ही रहकर प्रति समय नयी-नयी पर्याय का उपभोग होता है; वह प्रत्येक पर्याय प्रतिसमय आत्मा में से आती है, अर्थात् प्रत्येक पर्याय द्रव्यरूप है, इसलिए उसमें से आती है, इसलिए एक पर्याय में सम्पूर्ण आत्मा नहीं आ जाता, इसलिए आत्मा पर्याय के प्रति उदासीन है।

आत्मा का मूल स्वभाव क्या है, मूल शक्ति क्या है, यह जानने से आत्मा का स्वभाव प्रगट हो जाता है। आत्मा का कोई भी गुण बाहर नहीं गया है, इसलिए बाहर दृष्टि डालने से आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता, किन्तु अन्तरंग में दृष्टि डालने से धर्म प्रगट होता है। आत्मा में जो प्रतिक्षण निर्मल अवस्था होती है, उसकी शक्ति द्रव्य में सदा विद्यमान है। जैसे सोने की मलिन अवस्था दूर होकर निर्मल-निर्मल अवस्था होती जाती है, उस एक के बाद एक निर्मल अवस्था होने की सम्पूर्ण शक्ति सुवर्ण में सदा विद्यमान है। एक अवस्था के बाद दूसरी होती है, यदि यह सब शक्ति स्वभाव में न हो तो प्रगट कहाँ से हो? यदि पर्याय होने की शक्ति वस्तु में न हो तो आये कहाँ से? एक के बाद दूसरी अवस्था होने की सम्पूर्ण शक्ति सामान्य स्वभाव में सदा विद्यमान है।

स्थूल दृष्टिवालों को हीरे का प्रकाश एकरूप ही मालूम होता है, किन्तु उसमें प्रतिक्षण पर्याय बदला करती है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शनादि की मूर्ति है, उसमें भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। जब मोक्षमार्ग प्रगट होता है, तब अमुक अंश में निर्मल पर्याय प्रगट होती है, और जब मोक्ष होता है तब सम्पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

मलिन पर्याय को नाश करने का स्वभाव त्रिकाल ध्रुवरूप से भीतर आत्मा में विद्यमान है। यदि विकार को दूर करने का स्वभाव आत्मा में न हो तो उसे दूर करने का विकल्प ही न आये, किन्तु उसे दूर करने का भाव होता है और वह दूर हो जाता है, इसलिए

उसे टालने का स्वभाव आत्मा में है। सुख इत्यादि अनन्त स्वभाव आत्मा में भरे हैं, पुण्य-पाप के क्षणिक विकार में सम्पूर्ण द्रव्य समा नहीं जाता, उसे दूर करने का स्वभाव भीतर आत्मा में भरा पड़ा है। राग-द्वेष विकार यद्यपि नहीं चाहिए, तथापि वह आता है, क्योंकि भीतर जो राग-द्वेष रहित वीतराग, निर्विकार स्वभाव भरा हुआ है, उसकी ओर न देखकर उल्टी कुलाँट खायी है, इसलिए राग-द्वेष की अवस्था होती है, और यही पराधीनता है।

लोग कहते हैं कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' किन्तु पराधीनता किसे कहते हैं ? क्या नौकरी करना या माँ-बाप की आज्ञा में रहना पराधीनता है ? पराधीनता की इतनी तो परिभाषा है नहीं, किन्तु आत्मा जो कि ज्ञानानन्द की मूर्ति है, उसमें जो राग-द्वेष पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वही सच्ची पराधीनता है। उस पराधीनता में सुख नहीं है, इसलिए उसे दूर करूँ और सुख प्रगट करूँ—स्वाधीनता प्रगट करूँ, ऐसे भाव हुआ करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भीतर आत्मा में स्वाधीन स्वभाव भरा हुआ है, उसमें से स्वाधीनता प्रगट करूँ।

कुछ लोग कहा करते हैं कि क्या हम पराधीन रहेंगे ? इस कथन में दो बातें हैं, एक तो वह पराधीन है, और दूसरे पराधीनता दूर करने की शक्ति भीतर विद्यमान है।

जैसे किसी प्रतिष्ठित परिवार के व्यक्ति के मन में अनीति का कोई विकल्प आता है तो उसे ऐसा विचार आता है कि अरे! मुझे ऐसा विकल्प आया ? मैं कौन हूँ, मेरा कुटुम्ब-परिवार कैसा प्रतिष्ठित है, मुझ जैसे प्रतिष्ठित परिवार के व्यक्ति को ऐसा विकल्प नहीं उठना चाहिए, मुझे यह विकल्प शोभा नहीं देता, भले ही प्राण चले जाएँ किन्तु पारिवारिक प्रतिष्ठा को देखते हुए मैं ऐसा नहीं करूँगा। अब यहाँ यह देखना है कि—उसके अनीति का भाव उठा तो है किन्तु साथ ही उसे दूर करने का भाव भी विद्यमान है, वह अनीति के भाव को दूर करके नीति का भाव सदा रखना चाहता है। अनीति के भाव के समय भी नीति का भाव विद्यमान है, और अनीति का भाव दूर करते समय तथा उसके दूर होने के बाद भी नीति का भाव विद्यमान है।

इसी प्रकार जिसे अपनी आत्मिक प्रतिष्ठा के स्वभाव का जोश चढ़ गया है, उसे भी ऐसा लगता है कि अरे! मैं कौन हूँ ? मैं सिद्ध भगवान की जाति का-उनके परिवार का हूँ, मुझमें जो यह राग-द्वेष और पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं वे मुझे शोभा नहीं देते। मैं तो अशरीरी परमात्मा के समान हूँ, जैसे सिद्ध भगवान में राग-द्वेष नहीं है, वैसे ही मेरे आत्मा

में राग-द्वेष नहीं हैं, तथापि इस अवस्था में यह क्या है ? अरे मुझे यह शोभा देता है ? क्या मेरे भीतर यह सब होना चाहिए ? इत्यादि।

अब यहाँ यह देखना है कि—उसके राग-द्वेष होते तो हैं तथापि वह कहता है कि मुझे यह शोभा नहीं देता, अर्थात् राग-द्वेष के होते समय ही उसे दूर कर देने का स्वभाव है, उसे दूर करने का स्वभाव जो सदा स्थायी विद्यमान है, उस ओर जाने पर राग-द्वेष दूर होते हैं। राग-द्वेष होते समय भी उन्हें दूर करने का स्वभाव विद्यमान है, और राग-द्वेष के दूर हो जाने के बाद भी वह स्वभाव बना हुआ है। अर्थात् राग-द्वेष को नाश करने का स्वभाव त्रिकाल विद्यमान है। क्योंकि वह स्वभाव त्रिकाल विद्यमान है, इसलिए यह राग-द्वेष नहीं चाहिए, यह मुझे शोभा नहीं देते, इन्हें दूर कर दूँ—ऐसे भाव त्रिकालस्वभाव के अस्तित्व के कारण होते रहते हैं। उस ध्रुव स्वभाव—सामान्य स्वभाव पर दृष्टि डालने से स्वभावपर्याय प्रगट होती है, किन्तु पर्याय पर दृष्टि डालने से स्वभावपर्याय प्रगट नहीं होती। पर्याय पर दृष्टि डालने से राग होते हैं, किन्तु राग-द्वेष कम नहीं होते, किन्तु सामान्य त्रिकाल एकरूप स्वभाव पर दृष्टि डालने से, राग-द्वेष कम होते हैं, और निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

सत् वस्तु के भीतर जो बन्धनभाव होता है, वह आत्मभाव नहीं है। तत्त्व ऐसा नहीं होता जिसमें पर पदार्थ की आवश्यकता पड़े। जिसमें पर पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती उसी का नाम जीवन है। परमुखापेक्षी जीवन भी कोई जीवन है ? स्वतन्त्र जीवन ही सच्चा जीवन है। तब स्वतन्त्र जीवन किसे कहा जाए ? जिसमें राग-द्वेष की पराश्रयता का अंश भी न हो, और जो अपने निजानन्द में स्थिर रहे वही सच्चा स्वतन्त्र जीवन कहलाता है। इसलिए पर पदार्थ से स्वयं सर्वथा भिन्न है, ऐसे पृथक् तत्त्व की श्रद्धा और ज्ञान करे तो उसमें स्थिरता हो और तभी वह स्वतन्त्र सुखी होगा।

प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, किसी पदार्थ की क्रिया दूसरे किसी पदार्थ के आधीन नहीं है। किन्तु अज्ञानी को यह अभिमान हो जाता है कि यह कार्य मैंने किया है। किन्तु यदि विचार करे तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाए कि तूने पर का क्या किया है ? मात्र जो होता है उसे जाना ही तो है। कलम का लिखने का स्वभाव है, उसे जाना, और फिर जब उसकी क्रिया होने लगे तब भी जानता है कि इसका यह स्वभाव है, उसी प्रकार क्रिया हो रही है।

बढ़ई जानता है कि कील लकड़ी में ठुक सकती है, पत्थर में नहीं; सो जिस प्रकार वह जानता है, उसी प्रकार क्रिया होती है, सो वह लकड़ी के स्वभावानुसार क्रिया हुई, उसमें बढ़ई ने क्या किया ? आठ वर्ष की बालिका भी जानती है कि आटे से रोटी बनती है, इस प्रकार पहले से जाना है, और फिर जब वह रोटी बनी तब भी जाना कि इस आटे में रोटी बनने का स्वभाव था इसलिए उसमें से रोटी बनी है। इस प्रकार जो पहले जाना था वही क्रिया होने के बाद भी जाना, तो उसमें उसने क्या किया ? यहाँ विचार यह करना है कि जो पहले जाना था उसी प्रकार क्रिया होती है, इस प्रकार जाननेवाले के ज्ञान में जानने की क्रिया होती है। किन्तु संयोगी वस्तु से मैं अलग हूँ, मेरी क्रिया मुझमें और पर की पर में होती रहती है; जिसे इसका भान नहीं होता वह यह मानता है कि जो पर के कार्य होते हैं उन्हें मैं करता हूँ अथवा वे मेरे द्वारा होते हैं। इस प्रकार वह अभिमानी होकर फिरता रहता है। किन्तु हे भाई ! इस यथार्थ बात को भी समझ, अनन्त काल की भूख को मिटानेवाली यह बात है। तूने अभी तक इस बात को नहीं समझा इसलिए पराधीनता के ऐसे दु:ख सहन करना पड़े हैं कि जिन्हें देखकर देखनेवालों को भी रोना आ गया। इसलिए अब भी समझ ले ! समझने का यह उत्तम सुयोग प्राप्त हुआ है।

अव्यक्त की छह बातें कहने के बाद अब, यह कहते हैं कि आत्मा को पहिचानने का कोई बाह्य चिह्न नहीं है।

इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमान-गोचरमात्रता के अभाव के कारण जीव को अलिंगग्रहण कहा जाता है।

आत्मा रूप, रस, गन्ध और शब्द इत्यादि से ज्ञात नहीं होता, क्योंकि आत्मा में वे भाव नहीं हैं। आत्मा में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, वाणी और किसी प्रकार से जड़ का आकार भी नहीं है।

प्रश्न:—जबकि आप आत्मा में इन सबका अभाव बतलाते हैं, तब फिर आत्मा में है क्या ? और आत्मा किससे पकड़ा जाता है ?

उत्तर:—आत्मा स्वसंवेदन के बल से सदा प्रत्यक्ष है, इसलिए वह उसमें चेतनागुण के द्वारा स्वसंवेदन के बल से जाना जा सकता है, और उसी से पकड़ा जा सकता है।

आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों से भरा हुआ है। वह अलिंगग्रहण है अर्थात् किसी बाह्य चिह्न से नहीं पकड़ा जा सकता।

धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है, परन्तु आत्मा मात्र अनुमान से नहीं पकड़ा जा सकता। आत्मा स्वयं स्वत: अपने द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। आत्मा यथार्थतया अनुमान से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से पकड़ा जा सकता है, किन्तु वह विकल्प है, इसलिए परोक्ष है।

आत्मा में संस्थान नहीं है, अर्थात् आत्मा में जड़ का कोई आकार नहीं है, किन्तु अपना ही अरूपी आकार है। शरीरादि जड़ के आकार से आत्मा की पहिचान नहीं करायी जा सकती, और वह मन, वाणी या विकल्प से पकड़ा या पहिचाना नहीं जा सकता।

मति-श्रुतज्ञान के भेद आत्मा को जानने के लिये होते हैं, परन्तु ऐसे भेद ज्ञान के मात्र सामान्य स्वभाव में नहीं हैं, इसलिए ऐसे पर्याय के भेदों पर लक्ष्य देने से भी आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता। यहाँ तो मात्र सामान्य स्वभाव की बात कही है, अन्तरंग में आत्मा के अकेले स्वानुभव की बात कही है।

मति-श्रुत ज्ञान के द्वारा आत्मा यथार्थ नि:शंकतया जाना जा सकता है, किन्तु वह विकल्प सहित है सो परोक्ष है; और स्वानुभव है, सो प्रत्यक्ष है। स्वानुभव के समय मति-श्रुत ज्ञान के पर्याय-भेद विकल्प सहित नहीं होते। मात्र सामान्य ज्ञान में ऐसे भेद लागू नहीं पड़ते। जो स्वानुभव है सो एकदेश-प्रत्यक्ष है, परन्तु केवलज्ञानी के ज्ञान में तो सब सम्पूर्णतया प्रत्यक्ष है।

आत्मा अपने अनुभव के निज-रस के बल से त्रिकाल प्रत्यक्ष है। वह स्वयं अपने स्वसंवेदन के बल से ज्ञात होता है। वह शब्द इत्यादि किसी बाह्य चिह्न से नहीं पकड़ा जा सकता, परन्तु अपने अनुभव के वेदन के बल से पकड़ा जाता है।

आत्मा को जानने के लिये मति-श्रुत ज्ञान के द्वारा अनुमान हो सकता है, किन्तु वह अनुमान परोक्ष है, अपूर्ण है, अधूरा है। सम्यग्ज्ञान के द्वारा किया गया अनुमान अटकल नहीं किन्तु यथातथ्य है, परन्तु वह परोक्ष है और स्वानुभव प्रत्यक्ष है। चैतन्य भगवान की अद्‌भुत निधि स्वयं स्वत: अपने में पहिचानकर स्थिर होने से प्रत्यक्ष ज्ञात होती है। यदि हर्ष-शोक के विकारी वेदन को दूर कर दिया जाए तो आत्मा अपने वेदन से प्रत्यक्ष है।

अखण्डानन्द प्रभु स्वयं अपने से जाना जा सकता है, पकड़ा जा सकता है, और अनुभव में आ सकता है। अन्य किसी से आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता इसलिए वह अलिंगग्रहण है।

जो जीव अपने को हर्ष-शोक में सुखी-दुःखी मानते हैं, और उसमें अपनेपन की कल्पना करते हैं, वे अपने को निर्माल्य वस्तु मानते हैं। जिसे परवस्तु को देखकर हर्ष होता है, उसने यह मान रखा है, कि मेरे आत्मा में कोई शक्ति नहीं है, शान्ति नहीं है, इसलिए मुझे पर के आधार से सुख प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। कुछ यह भी तो विचार करना चाहिए कि पराश्रय विकार है या अविकार ? सुख है या दुःख ? वास्तव में पराश्रयता दुःख है, विकार है। पराश्रयभाव तीन काल-तीन लोक में भी सुख नहीं हो सकता।

जो परवशता सो दुख लक्षण,
निज वश सो सुख लहिये;
यातें ही आतम गुण प्रगटे,
वह सुख क्योंकर कहिये ?
भविजन वीर वचन अवलोको।

वीर भगवान सर्वज्ञ प्रभु देवाधिदेव त्रिकाल का ज्ञान करके अपनी दिव्यध्वनि द्वारा कहते हैं कि—जो सब परवश है सो दुःख का लक्षण है, पराधीनता से सुख प्राप्त करने की बात सब दुःख है, पराधीनता दुःख का त्रिकाल अबाधित लक्षण है। जो आत्मा की शान्ति को भूलकर यह मानता है कि मैं सुख का वेदन करता हूँ, वह सब वास्तव में दुःख ही है।

स्वयं अपने को भूलकर बाहरी सोने-चाँदी, रुपया-पैसा, स्त्री-पुत्र इत्यादि में सुख मान रहा है, और उसमें सन्तोष की साँस लेकर आनन्दानुभव कर रहा है, किन्तु वास्तव में यह सब दुःख है, उसमें किंचित्मात्र भी सुख नहीं है। जो पराधीनता है सो दुःख है, दुःख का लक्षण है, और जो निजवश है सो सुख है। आत्मा को पर से निराला जानकर मन का अवलम्बन छोड़कर स्वाधीनता से आतमा का जो आंशिक वेदन होता है, सो स्वसंवेदन है, वही आत्मा का सुख है, निजवशता में ही सुख है। शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभ परिणाम इत्यादि किसी भी प्रकार के परावलंबन से सुख नहीं होता किन्तु वह पराधीनता है। ऐसी दृष्टि से स्वरूप में स्थिर होने से स्वभाव-सुख प्रगट होता है। जो कि वचनातीत है, ऐसा श्री वीर भगवान ने कहा है।

विकार में सुख नहीं है, वह तो पराधीनता है। संसार का शोक और हर्ष दोनों एक ही जाति के हैं, दोनों चण्डालिनी के पुत्र हैं। विभावरूप विकाररूप चण्डालिनी के पुण्य, पाप दो पुत्र हैं। शुभभाव में कषाय मन्द होती है और अशुभभाव में तीव्र। जैसे चण्डालिनी के दो पुत्रों में से एक को जन्म से ही ब्राह्मण के घर रख दिया जाए और एक अपने ही घर रहे, तो उन दोनों में अंतर मालूम होने लगता है, यद्यपि वे दोनों चण्डालिनी के ही पुत्र हैं। इसी प्रकार शुभभाव में कषाय मन्द, और अशुभभाव में तीव्र होती है, किन्तु वे दोनों विकार हैं, चण्डालिनी के ही पुत्र हैं। उनमें से शुभ सुखरूप और अशुभ दुःखरूप कैसे हो सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों में विकार का ही वेदन है। पुण्य और पाप दोनों का वेदन पराश्रय वेदन है, वह वेदन भगवान आत्मा के घर का नहीं है, इसलिए वे चण्डालिनी के पुत्र हैं।

ऐसे पुण्य-पापरहित आत्मा का स्वसंवेदन-अनुभव हो सकता है। ऐसा आत्मानुभव चतुर्थ-पंचम गुणस्थान में गृहस्थाश्रम में भी हो सकता है। अकेले आत्मा का स्वानुभव के द्वारा चौथे-पाँचवें गुणस्थान में अनुभव किया जा सकता है; अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है। जिसके छह खण्ड का राज्य हो, छियानवे हजार स्त्रियाँ हों, ९६ करोड़ सेना हो, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिस पर चँवर ढोरते हों, और सोलह हजार देव जिसकी सेवा में रहते हों ऐसे ऋद्धिवान चक्रवर्ती राजा को भी आत्मानुभव हो सकता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मन, वाणी, देह और पुण्य-पाप के छिलकों से भी भिन्न आत्मा स्वयं अपने बल से जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, किन्तु वह क्षण-क्षण में नवीन होनेवाले पुण्य-पाप के विकल्पों से नहीं जाना जा सकता। जैसे सौ टंची सोने की आभा देखनी हो तो उसमें से ताँबे का भाग निकाल देना चाहिए, इसी प्रकार आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव करना हो तो उसमें से पुण्य-पाप के विकल्पों को दूर कर देना चाहिए; उसके बाद अनुभव करे तो हो सकता है।

जिन जीवों की परमार्थ पर दृष्टि है, वे आत्मस्वभाव को भला नहीं मानते और पर में भले-बुरे की कल्पना किया करते हैं कि काली चमड़ी अच्छी नहीं है, और गोरी चमड़ी अच्छी लगती है; किन्तु शरीर की चमड़ी को जरा उतारकर देख तो पता लगेगा कि भीतर क्या भरा हुआ है ? तू ऐसी चमड़ी से अपने को शोभायमान मान रहा है, सो यह तेरी बहुत

बड़ी मूढ़ता है। तुझे जब रुपया-पैसा मिलता है तो तू उसमें भला मानकर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु जो अभी रुपया, पैसा मिला है सो वह तो तेरे पूर्वकृत पुण्य का नोट भँज चुका है, उससे बाह्य में रुपया-पैसा दिखायी दे रहा है। अज्ञानी मानता है कि मुझे रुपया मिला और ज्ञानी समझता है कि यह मेरा पूर्वकृत पुण्य भँज गया है। एक तो कहता है कि मिला और दूसरा कहता है कि समाप्त हो गया। यदि वर्तमान सम्पत्ति से तृष्णा कम करे तो पुण्य हो, और रुपये-पैसे के खर्च करने में शुभभाव हों तो पुण्यबन्ध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि बारम्बार पुण्य करते रहेंगे तो अच्छा भव मिलता रहेगा; किन्तु ऐसा नहीं होता। एक के बाद दूसरा पुण्य लगातार नहीं होता। जैसे चक्की का पाट घूमता रहता है, उसी प्रकार पुण्य का चक्र घूमकर पापचक्र हो जाता है। भगवान आत्मा पुण्य से शोभित नहीं होता, किन्तु स्वयं अपने स्वभाव से शोभित होता है। पुण्य ये आत्मा नहीं जाना जा सकता, किन्तु यदि अपने निराले स्वभाव की श्रद्धा करे तो जाना जा सकता है।

भगवान आत्मा स्वयं अपने से शोभित हो रहा है। अपनी शोभा के लिये परवस्तु की किंचित्मात्र आवश्यकता नहीं होती। व्यवहारीजन वस्त्राभूषण पहिनकर अपनी शोभा मानते हैं किन्तु इससे चैतन्य आत्मा की शोभा नहीं होती। प्रभो! तेरा ऐसा परावलम्बी स्वभाव नहीं है, तू अपने को पहिचान! स्वसंवेदन के बल से तेरा स्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। वह किसी बाह्य चिह्न से ज्ञात नहीं होता, इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है। वह मन से या राग से ज्ञात नहीं हो सकता किन्तु अपने स्वसंवेदन के बल से ज्ञात होता है।

अपने अनुभव में आने पर चैतन्यगुण के द्वारा सदा अन्तरंग में प्रकाशमान है इसलिए जीव चेतनागुणवाला है। स्वसंवेदन में जो मैं-मैं प्रतीत हो रहा है वह अन्तरंग में प्रकाशमान निराली, चैतन्य जागृत-ज्योति है, वह स्वयं अनादि-अनंत स्वतःसिद्ध वस्तु है, वह स्वयं ही है, इसलिए अपनी ध्वनि आती है, परन्तु अज्ञानी की दृष्टि परपदार्थ पर है, इसलिए वह राग में मैं—मैं का अनुभव करता है। हे प्रभु! तू स्वयं ही त्रिलोकीनाथ है। ऐसे स्वभाव को भूलकर जहाँ-तहाँ दृष्टि डालकर भीख माँगता फिरे सो यह तो ऐसा है कि कोई चक्रवर्ती महाराजा भिखारी के घर भीख माँगने जाए।

चैतन्य भगवान आत्मा स्वयं अन्तर में सदा प्रकाशमान है, उसका भरोसा छोड़कर यत्रतत्र सुख की याचना करना भिखारी के यहाँ जाकर माँगने के समान है। दूसरे को अपना

न मानकर जो चैतन्य जागृत-ज्योति है, वही मैं हूँ, ऐसे स्वतन्त्र स्वभाव का परिचय करके उसमें स्थिर होना ही मुक्ति का उपाय है।

वह चेतनागुण कैसा है? समस्त विप्रतिपत्तियों का (जीव को अन्य प्रकार से माननेरूप झगड़ों का) नाश करनेवाला है। पहले सदा प्रकाशमान कहकर अस्ति की दृष्टि से बताया और अब नाश करनेवाला कहकर नास्ति की दृष्टि से बात कही है।

आत्मा का चेतनागुण सभी झगड़ों का नाश करनेवाला है, सर्व विभावों का नाश करनेवाला है। कुछ लोग कहते हैं कि मोक्षमार्ग में राग की सहायता है या नहीं? पुण्य की सहायता है या नहीं, देह की सहायता है या नहीं, और कषाय की मन्दता से धर्म होता है या नहीं ऐसे मोक्षमार्ग को अन्य प्रकार से मानने के सभी झगड़ों का चेतनागुण नाश करनेवाला है। जानने-देखने के अतिरिक्त जो भाव दिखायी देते हैं, उनका चैतन्यस्वभाव नाश करनेवाला है। चेतनागुण पर का अवलम्बन करनेवाला नहीं है, किन्तु अपना अवलम्बन करनेवाला है। यह धर्म की जीत और पद्धति है। यह मोक्षमार्ग की पद्धति है।

चेतनागुण सर्व विकारों का नाशक है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, अर्थात् धर्मी जीव को ऐसी प्रतीति है कि यह ज्ञायक है सो वही मैं हूँ, अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ, इस प्रकार अपने भेदविज्ञान को अपना सर्वस्व सौंप दिया है। आनन्दकन्द चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि जाने पर मैं उस स्वरूप हूँ, और अन्य भाव मुझमें नहीं हैं, इस प्रकार भेदज्ञान के द्वारा अपना सर्वस्व अपने को सौंप दिया है। अन्तरंग भेदज्ञान के विवेक के अतिरिक्त दूसरे को यह खबर नहीं हो सकती। इस प्रकार भेदज्ञानी को अपना सर्वस्व सौंप दिया है। चेतना-गुण कैसा है यह भेदविज्ञानी के अतिरिक्त अन्य किसी को मालूम नहीं हो सकता। चैतन्य का निज स्वभाव अनादि-अनन्त है। चैतन्य प्रकाश अनादि-अनन्त ध्रुवस्वरूप है, उस स्वरूप का निर्णय करे कि जो यह स्वरूप है सो मैं हूँ, और राग-द्वेष हर्ष-शोक इत्यादि जो आकुलितभाव हैं सो मैं नहीं हूँ। इस प्रकार स्वयं स्व-पर का विवेक करके अपना स्वयं सर्वस्व अपने सम्यग्ज्ञान को सौंप दिया है। इस गाथा का भाव अपूर्व है। भगवान त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की निकली हुई दिव्यध्वनि है, अर्थात् परम्परा से समागत आगम में भगवान की दिव्यध्वनि है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अद्भुत रचना की है, और उस पर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है।

और वह चेतनागुण समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानो अत्यन्त तृप्त (सुखी) हो इस प्रकार कभी भी किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता, और इस प्रकार कभी भी न चलने तथा अन्य द्रव्यसे असाधारणता होने से वह (असाधारण) स्वभावभूत है।

समस्त लोकालोक आत्मा के स्वभाव में ज्ञात हों ऐसा आत्मस्वभाव है। आत्मा के ज्ञान में समस्त लोकालोक समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् ज्ञात हो जाता है। यहाँ ग्रासीभूत का अर्थ यह है कि ज्ञान में वह लोकालोक ग्रास (कौर) हो जाता है। जीव अनन्त भव से अनन्त भव के भावों को जानता आ रहा है, इसलिए उसका ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त भवों में आत्मा नित्यरूप से जहाँ-जहाँ गया वहाँ अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, भव, भाव को जाना, तथापि ज्ञान का अभाव नहीं हुआ। जैसे—इस भव के बचपन से अभी तक के समस्त भावों को जानता आ रहा है, तथापि कोई भार नहीं हुआ; इसी प्रकार अनन्त भव के भावों को जानता आ रहा है, तो भी कोई भार नहीं हुआ, और ज्ञान का अभाव नहीं हुआ; इसी प्रकार ज्ञान के बिल्कुल निर्मल होने पर समस्त लोकालोक को एक ही समय में जान लेने का उसका स्वभाव है, समस्त लोकालोक ज्ञान में ग्रासीभूत हो जाता है। अनन्त जानता हुआ भी ज्ञान का अभाव नहीं होता।

मेरा ज्ञानस्वभाव है, ऐसी प्रतीति करे तो पूर्ण अवस्था प्रगट हो; राग-द्वेष में न अटके तो पूर्ण अवस्था प्रगट हो, और यदि यह अच्छा है, यह बुरा है—ऐसा मानकर पर में अटक जाए तो समस्त पदार्थों को नहीं जान सकेगा। किन्तु मैं तो मात्र ज्ञाता हूँ, जानना ही मेरा स्वभाव है। मैं त्रिकाल का ज्ञाता राग-द्वेष रहित हूँ वर्तमान में भी मैं ऐसा ही हूँ—ऐसी दृष्टि करके स्वभाव में स्थिर हुआ कि वहाँ स्वभाव में अत्यंत तृप्तरूप से सुख का रंग चढ़ गया। जहाँ परावलम्बी भाव छूटकर स्वावलम्बी भाव प्रगट हुआ कि वहाँ अत्यन्त तृप्त हो गया।

हे भाई! तेरे आत्मा का यह काल अच्छा और यह काल बुरा है, ऐसा स्वभाव नहीं है, किन्तु तू मात्र ज्ञाता ही है। तीन काल और तीन लोक को जानने का तेरा स्वभाव शक्तिवान है। जानने-देखने में तृप्त होने पर कभी भी अंशमात्र भी चलायमान नहीं होता, ऐसा तेरा स्वभाव है, त्रिकाल को जाननेवाला ज्ञान अत्यन्त तृप्त है, वह अपने स्वभाव से कभी भी चलायमान नहीं होता।

जहाँ मनुष्य खा-पीकर तृप्त होकर बैठे हों उन्हें जगत के जीव तृप्त मानते हैं। चारों

ओर की अनुकूलताओं को देखकर लोग तृप्ति का अनुभव करते हैं, और पर्व-पावन पर सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर तथा विविध प्रकार के व्यंजन उड़ाकर सुख और तृप्ति मानते हैं, परन्तु वह सच्ची तृप्ति नहीं है।

आत्मा का जानने-देखने का स्वभाव है, यदि उसमें स्थिर हो जाए तो ऐसी तृप्ति हो कि फिर कभी चलायमान न हो, और सुख का ऐसा रंग चढ़े कि फिर कभी न उतरे। मोह का रंग तो आकुलतामय है, और यह स्वभाव का रंग परम सुखमय है। मोह का रंग नाशवान है, और चैतन्य स्वभाव का रंग अविनाशी है। ज्ञाता-दृष्टा में ऐसा तृप्त हो जाता है कि फिर कदापि चलायमान नहीं होता। इस प्रकार चलायमान न होने से अन्य पदार्थों के साथ साधारणतया विभक्त नहीं है; परन्तु अन्य पदार्थों से असाधारण अर्थात् विशेष है। अन्य पदार्थ से चलायमान नहीं होता, अन्य पदार्थ से साधारण नहीं है, अन्य पदार्थ में विभक्त नहीं है, इसलिए असाधारण है, और इसलिए स्वभावभूत है। जब तक ऐसे आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा न हो तब तक सत्समागम करके समझने का प्रयास करना चाहिए। वस्तुस्वभाव अचलायमान है, ऐसे वस्तुस्वभाव की श्रद्धा हो तो फिर स्थिरता का प्रयत्न अवश्य हो, और पूर्ण स्थिरता होने पर अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त हो जाए।

जीव ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप है; जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा वह भगवान आत्मा इस लोक में एक टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

इस लोक में आत्मा शक्ति से भगवान है। सम्यग्दर्शन होने पर अमुक अंश में भगवान होता है, और केवलज्ञान होने पर सम्पूर्ण भगवान हो जाता है। शुद्ध द्रव्यदृष्टि में शक्ति, व्यक्ति का भेद नहीं है, स्वयं प्रगटरूप से भगवान ही है, जिसका प्रकाश, तेज और ज्योति सदा निर्मल है, ऐसा भगवान आत्मा इस लोक में जगत के समस्त जड़ द्रव्यों से, अन्य समस्त जीवों से और अपनी अवस्था में होनेवाले राग-द्वेष के विभावों से भिन्न स्वयं एक है। वह ऐसा टंकोत्कीर्ण है कि—जो पर द्रव्यों से नहीं मिटाया जा सकता। सबसे भिन्न स्वयं अपने स्वभाव में विराजमान है, और वह अपने स्वभाव में शोभित हो रहा है। ऐसे स्वभाव को जानना, उसकी रुचि करना और उसमें स्थिर होना चाहिए, ऐसा होने से दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर अपने में एक प्रकार से विराजमान हो जाते हैं, ऐसा कहा है।

अब, इसी अर्थ का द्योतक कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्मानुभव की प्रेरणा करते हैं:—

(मालिनी)

सकल-मपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इम-मुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ।।३५।।

अर्थः—चित्शक्ति से रहित अन्य सकल भावों को मूल से छोड़कर और प्रगटतया अपने चित्शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके, समस्त पदार्थ समूहरूप लोक के ऊपर प्रवर्तमान एकमात्र केवल अविनाशी आत्मा का आत्मा में ही अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अद्भुत रचना की है, उसमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अलौकिक घाट घड़े हैं, टीका द्वारा अलौकिक भाव प्रगट किये हैं।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप से स्वरसयुक्त अनन्त वीर्य से परिपूर्ण भीतर विराजमान है। पुण्य-पाप के विकल्प छोड़कर अन्तरंग स्वभाव में डुबकी लगाकर ऐसे आत्मा को एक बार तो देख! अपने चैतन्य स्वभाव में एक बार तो प्रवेश कर। बाहर के छोटे-बड़े होने के भावों को छोड़कर, राग-द्वेष को मूल से नष्ट कर, भगवान आत्मा में एक बार तो प्रवेश कर। अभी तक पर में लगा हुआ था, और पर में अवगाहन कर रहा था सो उसे छोड़कर ज्ञानमात्र आत्मा में अवगाहन कर। जगत के ऊपर प्रवर्तमान अर्थात् तीन लोक के समस्त पदार्थों के समूह से भिन्न तरता हुआ ज्ञान करनेवाला, अविनाशी भगवान आत्मा है, उसका अभ्यास करो! जैसे पानी में डाला हुआ तेल उसके ऊपर ही ऊपर तैरता है, इसी प्रकार तेरा आत्मस्वभाव राग-द्वेष और जगत के समस्त पदार्थों के ऊपर तैर रहा है। वह सबका ज्ञान करनेवाला (ज्ञाता) है; किन्तु किसी में मिल जानेवाला नहीं है। ऐसे एक अविनाशी चैतन्य का चैतन्य में ही अभ्यास करो, अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव करो। यही सुख का उपाय है। तभी भव्यात्मा इस सुखस्वभाव और पर से भिन्न भगवान आत्मा का ही अनुभव करो! ऐसा अनुभव-अभ्यास करने का ही उपदेश है।

चित्शक्ति से अन्य जो भाव हैं, वे अपने नहीं, किन्तु पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी हैं। संसारी जीवों ने परद्रव्य को अपना मानकर व्यर्थ ही घूरों को उखेड़ा है। जैसे कोई साँड घूरे पर जाकर उसे अपने मस्तक से छिन्न-भिन्न करता है; यदि वह दीवार में अपना मस्तक मारे तो दीवार नहीं टूट नहीं सकती इसलिए घूरे में मस्तक मारता है, और मानता है कि मैं जीत गया; इसी प्रकार जगत के प्राणी अपने अन्तरंग में विद्यमान अनन्त वीर्य को न पहिचानकर जगत के नाशवान पदार्थों में ममत्व करके हर्ष मानते हैं कि मैं जीत गया। किन्तु हे भाई! तू उसमें क्या जीता? तूने तो मात्र घूरे को ही उखेड़ा है, सांसारिक वैभव सब पुण्य-पाप के घूरे हैं, उनमें व्यर्थ ही मस्तक मारकर बड़प्पन मान रहा है, किन्तु वह तेरा स्वरूप नहीं है वह तो पुद्गल द्रव्य का स्वरूप है।

अब आगे छह गाथाओं में २९ बातें कही गयी हैं। आत्मा उन सबसे अलग बताया गया है। उन २९ बातों का जो घूरा है, वह आत्मा में नहीं है, यह आगे कहा जाएगा। उन गाथाओं के सूचकरूप में यह कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ता: सर्वेऽपि भावा: पौद्गलिका अमी।।३६।।

अर्थ:—चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है, ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है; इस चित्शक्ति से शून्य जो यह भाव हैं सो सब पुद्गलजन्य हैं—पुद्गल के ही है।

भीतर एक चैतन्यशक्ति त्रिकाल ध्रुव है, उस चैतन्यशक्ति से व्याप्त अर्थात् प्रसरित जिसका सर्वस्व सार है, उसमें होनेवाले पुण्य-पाप और अच्छे-बुरे इत्यादि के भाव विकार के घूरे हैं, वह आत्मस्वभाव नहीं हैं, आत्मा चैतन्य-बिम्ब ज्ञानानन्द की मूर्ति है। उस चैतन्य में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि अनन्त गुण हैं, वे अनन्त गुण आत्मा में व्याप्त हैं, और उतना ही आत्मा है, यही आत्मा का सर्वस्व सार है। चैतन्यशक्ति से शून्य जितने भाव हैं, वे चैतन्य के नहीं हैं। मात्र आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त जितने परभाव दिखायी देते हैं, वे सब पुद्गल के भाव हैं। यह सब आगामी छह गाथाओं में कहा जाएगा। इनमें मात्र परम पारिणामिक भाव का कथन है, भगवान आत्मा कैसा है यह बताने के लिये २९ बातें कही जाएँगी, जिससे अन्य सैकड़ों बातों का समावेश किया गया है।

यहाँ आत्मा का अधिकार चल रहा है। आत्मा का चेतना स्वभाव है। चेतना का अर्थ है जानना और देखना, उसमें जितने संयोगी भाव होते हैं, वे परापेक्षा के हैं। जब तक चैतन्य के शुद्ध स्वभाव की दृष्टि नहीं होती तब तक आन्तरिक विकास होकर स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती अर्थात् मोक्षदशा प्रगट नहीं होती।

काँच के हजारों टुकड़ों के बीच यदि एक हीरा पड़ा हो (जो कि संयोग में पड़ा हुआ है), जो उस हीरे के मूल्य को जानता है, वह संयोग में पड़े हुए हीरे की परीक्षा करके उस काँच से अलग करके ले लेता है, इसी प्रकार कर्म-संयोग के बीच में अनादिकालीन चैतन्यमूर्ति ज्ञानज्योति निराला हीरा पड़ा हुआ है, ऐसे चैतन्यस्वरूप हीरे को जिसे प्राप्त करना है, वह सत्समागम का निमित्त प्राप्त करके चैतन्यमूर्ति आत्मा का यथावत् परिचय करके, श्रद्धा करके उस स्वरूप में स्थिर होकर मोक्षदशा प्रगट करता है। इस प्रकार वह चैतन्यमूर्ति हीरे को श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के द्वारा अलग कर लेता है।

आज मांगलिक दिवस है।* महावीर भगवान के निर्वाण कल्याणक का दिन है। आज से २४७० वर्ष पूर्व भरतक्षेत्र में भगवान महावीर विराजमान थे, उनका जन्म-कल्याणक चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। वे बहत्तर वर्ष की आयु पूर्ण करके निर्वाण को प्राप्त हुए थे। आज उनका यह निर्वाण कल्याणक का दिन है।

जैसे यह सब आत्मा हैं वैसा ही महावीर भगवान का आत्मा था। वैसे भी पहले चार गतियों में भ्रमण करते थे, उनमें से वे उन्नति-क्रम में चढ़ते-चढ़ते तीर्थंकर हो गये। भगवान का आत्मा चार गतियों में था, वहाँ से सत्समागम प्राप्त करके क्रमशः आत्म-प्रतीति हुई। जैसे चौसठपुटी पीपल को पीसते-पीसते वह अधिक चरपरी होती जाती है, वैसे ही आत्मा में परमानन्द भरा हुआ है, वह प्रयास द्वारा प्रगट होता है। भगवान महावीर के आत्मा में स्वाभाविक परमानन्द तो भरा ही था, उसे क्रमशः प्रयास करके प्रगट कर लिया, और यह प्रतीति कर ली कि मैं मन, वाणी, देह इत्यादि से पृथक् आनन्दमूर्ति हूँ।

भगवान महावीर इस भव से पूर्व १०वें स्वर्ग में थे और उससे पूर्व नन्द नामक राजा के भव में आत्म-प्रतीति पूर्वक चारित्र का पालन किया था। वे नग्न दिगम्बर मुनि होकर

* भगवान महावीर के निर्वाण दिवस पर यह प्रासंगिक विवेचन (संवत् १९९९ की कार्तिक कृष्णा अमावस्या को) किया गया था।

स्वरूपरमणता में लीन थे, वहाँ उस भव में उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया था। वे उस समय ऐसी प्रतीतिपूर्वक आत्म-स्वरूप में रमण कर रहे थे कि पुण्य का एक रजकण या शुभराग का एक अंश भी मेरा स्वरूप नहीं है। इसी भूमिका में शुभ विकल्प उत्पन्न हुआ कि अरे! जीवों को ऐसे स्वरूप का भान नहीं है। स्वरूपरमणता से बाहर आकर उनको विकल्प उठा कि इस चैतन्यस्वभाव को सभी जीव क्यों कर प्राप्त करें? 'सर्व जीव करूँ शासनरसी, ऐसी भावदया मन उलसी' और यह विकल्प उठा कि सभी जीव ऐसा स्वभाव प्राप्त कर लें। किन्तु इसका वास्तविक अर्थ यह है कि अहा! ऐसा मेरा चैतन्यस्वभाव कब पूर्ण हो? मैं कब पूर्ण होऊँ? मेरी भावना की प्रबलता हुई और बाहर से ऐसा विकल्प उठा कि सभी जीव ऐसा स्वभाव क्यों कर प्राप्त करें? बस, ऐसे उत्कृष्ट शुभभाव से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो गया।

जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ वह भाव भी आत्मा को लाभ नहीं करता, उस शुभराग के टूटने पर ही भविष्य में केवलज्ञान होता है। तीर्थंकर की जो वाणी खिरती है, उस वाणी के रजकण स्वरूप-प्रतीति की भूमिका में बँधते हैं। भगवान के आत्मा में यह भान था कि यह राग मेरा कर्तव्य नहीं है, और वे स्वरूप में रमण कर रहे थे, ऐसी भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ था। जहाँ राग को लाभरूप माना जाता है, उस भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता, परन्तु राग मुझे लाभरूप नहीं है, मैं राग का कर्ता नहीं हूँ—ऐसी प्रतीति की भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

महावीर भगवान ने नन्द राजा के भव में ऐसी वाणी का बन्ध किया था कि भविष्य में पात्र जीवों को लाभ दे सके, और भव को पार करने में निमित्त हो, तथा अन्य जीवों को पार होने के लिये सर्वोत्कृष्ट निमित्त हो। उनने ऐसी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया, और तीर्थंकर पद से उनकी जो दिव्यध्वनि खिरी वह अनेक जीवों के उद्धार में निमित्त हुई।

महावीर भगवान के जीव ने नन्द राजा के भव में चारित्र पालन किया और फिर अनुक्रम पूर्वक आयु पूर्ण करके वहाँ से दसवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए, वहाँ दसवें स्वर्ग में जब भगवान की आयु छह माह की और शेष रह गयी तब छह मास पूर्व से ही अन्य देवों को यह ज्ञात हो गया कि—इस भरतक्षेत्र में छह मास बाद त्रिशला रानी की कूख में दसवें स्वर्ग से तीर्थंकर आयेंगे। इसलिए वे देव छह मास पूर्व से ही माता के पास आकर माता की सेवा

करने लगे। देवगण माता के पास आकर कहने लगे कि हे रत्नकूखधारिणी माता, धन्य हो! तुम्हारी कूख में छह मास बाद जगत के तारक, अनेक जीवों के उद्धारक त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर आनेवाले हैं। देवगण छह मास पूर्व से ही माता-पिता के घर रत्नों की वर्षा करने लगे।

यहाँ इन रत्नों का कोई मूल्य नहीं है, रत्न तो धूल समान हैं, जहाँ अन्न पकता है, वहाँ उसके साथ भूसा तो होता ही है। तीर्थंकर भगवान के साथ ही धान्य का पाक आता है, और पुण्य तो उसका भूसा है, जिसका कोई मूल्य नहीं है। किसान भूसे के नहीं किन्तु अन्न के लिये खेती करता है। इसी प्रकार जहाँ मोक्षमार्ग का धान्य उत्पन्न होता है, वहाँ उसके साथ ही शुभ परिणाम से तीर्थंकर और चक्रवर्ती इत्यादि पदरूपी भूसा तो सहज ही होता है।

जिसके पूर्ण परमानन्द दशा प्रगट हो गयी है, ऐसे परमात्मा फिर अवतार नहीं लेते, किन्तु जगत के जीवों में से ही एक जीव उन्नति-क्रम से चढ़ते-चढ़ते जगद्गुरु तीर्थंकर होता है। जगत के जीवों की जब ऐसी योग्यता तैयार होती है, तब ऐसा उत्कृष्ट निमित्त भी तैयार होता है।

महावीर भगवान के गर्भ में आने के सवा नौ महीने पश्चात् उनका जन्म हुआ, तब सौधर्म इन्द्र और देवों ने आकर भगवान का जनमकल्याणक महोत्सव किया। सौधर्मेन्द्र के साथ उनकी शची इन्द्राणी भी आती है, और वह माता के पास जाकर कहती है कि हे रत्नकूखधारिणी माता! हे जननी! तुम्हें धन्य है! और इस प्रकार स्तुति करके भगवान को उठाकर सौधर्म इन्द्र को देती है। सौधर्म इन्द्र भगवान को सहस्र नेत्र से देखता है फिर तृप्त नहीं होता। फिर वह भगवान को मेरु पर्वत पर ले गया और वहाँ भगवान का जन्माभिषेक किया। इस प्रकार इन्द्रों और देवों ने भक्तिपूर्वक भगवान का जन्म-कल्याणक महोत्सव किया।

भगवान महावीर तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे और उसके बाद दीक्षा ग्रहण की। देवों ने आकर दीक्षा कल्याणक महोत्सव किया। भगवान दीक्षा ग्रहण करके बारह वर्ष तक स्वरूप-रमणता में लीन रहे। उनका यह काल इच्छा-निरोधरूप से स्वरूप-रमणता में व्यतीत हुआ; तत्पश्चात् वैशाख शुक्ला दशमी के दिन उन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ।

केवलज्ञान में तीन काल, तीन लोक हस्तामलकवत् ज्ञात होते हैं, और स्व-पर पदार्थों के अनन्त भाव ज्ञात होते हैं। तीर्थंकरदेव को केवलज्ञान होने बाद तत्काल ही दिव्यध्वनि खिरती है। अन्य सामान्य केवलियों के लिये ऐसा नियम नहीं हैं, किन्तु तीर्थंकर भगवान के तो नियम से ही दिव्यध्वनि खिरती है, किन्तु महावीर भगवान को केवलज्ञान प्रगट हो गया, समवसरण रचा गया, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी। तब इन्द्र को विचार आया कि भगवान की दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती? और फिर उसने अपने अवधिज्ञान से ज्ञात किया कि सभा में उत्कृष्ट पात्र जीव नहीं है; तत्पश्चात् उसे यह ज्ञात हुआ कि उसके लिये एक मात्र गौतम ही पात्र हैं, इसलिए इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके गौतम के पास गया; गौतम चारों वेदों में प्रवीण था और उसे शास्त्रार्थ की बहुत रुचि थी, ब्राह्मणरूप धारी इन्द्र की बातचीत से उत्तेजित होकर गौतम भगवान महावीर के पास जाने को तैयार हो गया, और भगवान के समवसरण के निकट जब मानस्तम्भ के पास पहुँचा तब उसका अभिमान गलित हो गया, वह भगवान महावीर के दर्शन करके धर्म को प्राप्त हुआ और मुनि हो गया।

इस प्रकार भगवान की वाणी को झेलने के लिये सर्वोत्कृष्ट पात्र गौतमस्वामी के आने से भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। गौतमस्वामी चार ज्ञानधारी हो गये और उन्हें गणधर पद प्राप्त हुआ। इस प्रकार भगवान महावीर के केवलज्ञान होने के बाद ६६वें दिन दिव्यध्वनि खिरी, वह शुभ दिन श्रावण कृष्णा अमावस्या है, जो कि वीरशासन जयन्ती का दिन है, शास्त्रप्ररूपणा का दिन है। केवलज्ञान में अनन्त भाव ज्ञात होते हैं, इसलिए उनकी दिव्यध्वनि में भी अनन्त रहस्य प्रगट होते हैं। ज्ञान में भाव पूरा होने से वाणी में भी पूरा भाव आता है।

भगवान महावीर की आयु ७२ वर्ष की थी। वर्तमान महा विदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान चैतन्यमूर्ति परमात्मा समवसरण में इन्द्र और गणधरादि की सभा में विराजमान हैं, उनकी आयु एक कोटि पूर्व की है। जीवन्मुक्तरूप से वे तेरहवीं भूमिका में विराज रहे हैं; उनकी आयु बड़ी है।

महावीरस्वामी को केवलज्ञान प्रगट हुआ अर्थात् ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातिया कर्मों का नाश हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने केवली—जीवन्मुक्तदशा में तेरहवें गुणस्थान में रहकर तीस वर्ष तक विहार किया, और उसके बाद

वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चारों अघातिया कर्मों का नाश करके पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया। चौदहवें गुणस्थान में रहने का इतना ही अल्प समय होता है जितने समय में अ. इ. उ. ऋ. लृ. शब्दों का उच्चारण होता है। चौदहवें गुणस्थान में प्रदेशों का कम्पन मिटकर अकम्प हो जाता है, तत्पश्चात् शरीर छूटता है, और भगवान का आत्मा मुक्त होता है। पारिणामिक भाव सम्पूर्ण निर्मलरूप से प्रगट हो जाता है। जैसे एरंडे का बीज फल में से छूटकर ऊपर को जाता है, उसी प्रकार आत्मा अलग होकर ऊर्ध्वश्रेणी से ऊपर को जाता है। ऊर्ध्वगमन चैतन्य का स्वभाव है, इसलिए ऊपर सिद्धक्षेत्र को जाता है।

भगवान महावीर की आनन्ददशा, पूर्णानन्द मुक्तदशा तो यहीं प्रगट हो गयी थी परन्तु प्रदेशों का कम्पन दूर हो जाने से अकम्प होकर देह के छूट जाने पर वे पूर्णानन्द महावीर भगवान आज के दिन मुक्त हुए थे। पावापुरी नामक जो क्षेत्र है, वहाँ से समश्रेणी से ठीक ऊपर सिद्ध क्षेत्र में भगवान महावीर परमात्मा विराजमान हैं। आत्मा का देह से सर्वथा छूट जाना सो मुक्ति है। अपना ज्ञानानन्दमूर्ति स्वभाव रह जाए, और दूसरा सब छूट जाए सो इसका नाम मुक्ति है। भगवान महावीर के विरह से भव्य जीवों के प्रशस्त राग के कारण आँखों से अश्रुधारा बह निकली थी, और वे कह रहे थे कि आज भारतवर्ष का सूर्य अस्त हो गया! किन्तु भगवान महावीर का आत्मा मुक्त हुआ था इसलिए इन्द्रादि ने उनका निर्वाण-कल्याणक-महोत्सव मनाया था।

जब भगवान मोक्ष पधारे तब पावापुरी में इन्द्रों और देवों ने आकर रत्न-दीपकों इत्यादि से महा मांगलिक महोत्सव किया था, इसलिए आज का दिन दीपावली या दीपोत्सव के नाम से पुकारा जाता है।

आजकल लोग बहीखाते आदि की पूजन इत्यादि करके सांसारिक हेतुओं से दीपावली मानते हैं, किन्तु वास्तव में तो आज का दिन पूर्णानन्द स्वभाव को प्रगट करने की भावना का है। जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है, ऐसा विचार कर स्वभाव की प्रतीति करके विभाव-परिणामों को स्वरूप-स्थिरता के द्वारा तोड़ दूँ, इस प्रकार आत्मवीर्य को जागृत करने का आज का दिन है।

जब जगत के जीव मरते हैं, तब शोक मनाया जाता है, किन्तु भगवान की मुक्ति का महोत्सव होता है; क्योंकि वह मरण नहीं किन्तु सहजानन्द स्वरूप में विराजमान रहने का

आत्मा का जीवन है, इसलिए उनका महोत्सव होता है। पूर्णानन्द सहजानन्द स्वभाव में रहने का नाम मुक्ति है।

महावीर भगवान ने अपनी वाणी द्वारा जो स्वरूप कहा उसे गणधरों ने झेला, और वही वाणी आचार्य-परम्परा से आज तक चली आ रही है। इस भरतक्षेत्र में परम गुरुदेव श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शास्त्रों की स्थापना की है, और श्रुत की प्रतिष्ठा करके अपूर्व उपकार किया है। यह बात जैसी है, वैसी ही लोगों के मन में जमना कठिन प्रतीत होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह समयसार शास्त्र सर्वोत्कृष्ट योग से समझाया है, इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है।

लोग कहेंगे कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात है, परन्तु अग्नि को बालक छुए या बड़ा, किन्तु दोनों को उसकी उष्णता का समान अनुभव होगा। छह महीने का बालक अग्नि के स्वभाव को जैसा जानता है, वैसा ही वयोवृद्ध पण्डित और विज्ञानी जानता है। दोनों के अनुभव में कोई अन्तर नहीं होता। हाँ, बालक अग्नि का विशेष कथन नहीं कर सकता और बड़ा आदमी विशेष कथन कर सकता है, इसलिए कथन में अन्तर हो सकता है, किन्तु दोनों के अनुभव में अन्तर नहीं होता।

इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव तीन काल और तीन लोक के विज्ञान के महा पण्डित हैं; उन्होंने जैसा वस्तुस्वरूप जाना है, वैसा ही अविरति सम्यग्दृष्टि बालक भी जानता है, केवली और अविरति सम्यग्दृष्टि की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं होता। जैसी स्वभाव की प्रतीति केवलज्ञानी की होती है, वैसी ही प्रतीति गृहस्थाश्रमी राज्य और युद्ध में स्थित चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की होती है, दोनों की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं होता। एक भी राग का अंश मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसी प्रतीति चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वी के होने पर भी वह दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि में युक्त होता है और शुभभावों से युक्त भी होता है, तथापि उसकी ओर केवली तथा सिद्ध भगवान की स्वभाव की प्रतीति एक-सी ही होती है, मात्र ज्ञान और चारित्र में अन्तर होता है।

निचली दशावाला व्यक्ति वीतराग नहीं है इसलिए उसे राग होता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के पुण्य-पाप के भाव होते हैं किन्तु वह समझता है कि मेरी पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण यह भाव होते हैं जो कि मेरा त्रैकालिक स्वभाव नहीं है। उन्हें अपना

स्वभाव नहीं मानता इसलिए शुभाशुभ भाव को अपना कर्तव्य नहीं मानता, वह आत्मस्वरूप में स्थिर होने को ही कर्तव्य मानता है। इसलिए उसका पुरुषार्थ भी उसी प्रकार का होता है और जब वह अविरति सम्यग्दृष्टि स्वरूप में स्थिर होता है, तब अंशत: सिद्ध समान अनुभव करता है।

महावीर भगवान के बाद गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बूस्वामी तीन केवलज्ञानी हो गये हैं। उनके पश्चात् एकावतारी जीव हुए हैं, वर्तमान में भी एकावतारी पुरुष होते हैं, और पंचम काल के अन्त तक एकावतारी जीव होंगे। यह पंचम काल २१ हजार वर्ष का है, जिसमें से अभी ढाई हजार वर्ष समाप्त हुए, और साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष हैं। पंचम काल के अन्त में साधु आर्यिका श्रावक और श्राविका यह चार जीव एकावतारी होंगे, वे देव का एक भव धारण करके, फिर मनुष्य होकर मुक्त होंगे।

जम्बूस्वामी के बाद भी कई सन्त मुनियों के चौदह पूर्व का ज्ञान था, और वे एकावतारी हुए, और पंचम काल के अन्त में यद्यपि चौदह पूर्व का ज्ञान नहीं होगा—अल्प ज्ञान ही होगा, तथापि उनमें से भी एकावतारी होंगे; दोनों के एकावतारीपन में कोई अन्तर नहीं है।

भगवान महावीर ने समवसरण में दिव्यध्वनि द्वारा यह प्रगट किया था कि पंचम काल के अन्त तक एकावतारी जीव होंगे। केवलज्ञानी के जैसी स्वभाव की प्रतीति होती है, वैसी ही प्रतीति चतुर्थ गुणस्थानवालों के होती है। जैसा एकावतारीपन पंचम काल के प्रारम्भ के चौदह पूर्व धारी मुनियों के था, वैसा ही पंचम काल के अन्त के जीवों के भी होगा। वे जीव भी आत्मप्रतीति करके स्थिरता के बल की भावना से एक भव में मुक्त होंगे। इस प्रकार दोनों की मुक्ति के फल में कोई अन्तर नहीं है। प्रारम्भ और अन्त दोनों एक से हैं। यद्यपि ज्ञान की न्यूनाधिकता है, किन्तु मुक्ति के फल में कोई अन्तर नहीं है; श्रद्धा और मुक्ति के फल में दोनों में कोई अन्तर नहीं है। भगवान महावीर कह गये हैं कि २१ हजार वर्ष तक लाखों-करोड़ों में से कोई-कोई जीव आत्म-प्रतीति करके इस शासन में एकावतारी हुआ करेंगे। सम्यक्त्वी और केवलज्ञानी की श्रद्धा में समानता होती है, और भगवान महावीर के बाद होनेवाले मुनियों तथा पंचम काल के अन्त में होनेवाले सम्यक्त्वी जीव एकावतारी होंगे उनकी मुक्ति के फल में दोनों ही समान हैं। पहली श्रद्धा और दूसरा मुक्ति के फल का अन्त दोनों समान हो गये। प्रारम्भ और मुक्ति का फल दोनों एक हो गये।

महावीर भगवान आज के दिन मोक्ष पधारे थे, उनकी वाणी परम्परा से अभी तक चली आ रही है। यह समयसार की वाणी भी उसी परम्परा में से है। जगत के मन में यह जमे या न जमे किन्तु यह वही वाणी है।

जबकि पंचम काल के अन्त में भी चार जीव आत्म-प्रतीति करके एकावतारीपन प्राप्त करेंगे तब फिर इस समय भी क्यों न हो सकेगा? बालक-बालिका भी आत्म-प्रतीति कर सकते हैं। सभी आत्मा त्रिलोकीनाथ हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं, मात्र शरीर में अन्तर है। बालिका भी जैसा आत्मस्वरूप पर से भिन्न कहा गया है, वैसी श्रद्धा कर सकती है। जबकि पंचम काल के अन्त में भी आत्म-प्रतीति हो सकती है, तो इस समय भी अवश्य हो सकती है।

इस समय आत्मप्रतीति की जा सकती है, परन्तु पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं की जा सकती; क्योंकि पहले स्वयं आत्मवीर्य को विपरीत कर रखा है, उसे अब सीधा करने में अत्यन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है। वर्तमान में उतना पुरुषार्थ स्वयं नहीं कर सकता, इसलिए इस समय पूर्ण वीतरागता नहीं हो सकती। इसमें मात्र अपनी पुरुषार्थ की अशक्ति का ही कारण है।

आत्मा में अखण्डानन्द स्वभाव भरा हुआ है, जैसे दियासलाई को घिसने से तत्क्षण अग्नि प्रगट होती है, उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा में अनन्त स्वभाव भरा हुआ है, ऐसे आत्मा की श्रद्धा करे कि मैं अखण्ड पूर्णानन्द स्वरूप हूँ, और इस प्रकार श्रद्धा को प्रज्वलित किया कि उसमें से केवलज्ञान की सम्पूर्ण प्रकाशमान ज्वाला अवश्य प्रगट होगी। वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की प्रतीति करके समझे कि मेरे पुरुषार्थ की कमी के कारण एक-दो भव और होंगे। वह अपनी अशक्ति को समझता है, इसलिए पुरुषार्थ जागृत करके अवश्य केवलज्ञान प्रगट करेगा।

यथार्थ तत्त्व का श्रवण करके यथार्थ प्रतीति करे, और उसमें जो शुभ परिणाम हों, अर्थात् तत्त्व की सन्मुखता में जो विकल्प हों, और उन विकल्पों से जो पुण्यबन्ध हो उस पुण्य का प्रवाह प्रगट होगा। ऐसी पुण्य-प्रवाह की प्राप्ति अन्यत्र नहीं हो सकती। तत्त्व-श्रद्धालु को ऐसे पुण्य की भी इच्छा नहीं होती। वह श्रद्धा के बल से पुण्य का नाश करके अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

ऐसा नहीं मानना चाहिए कि यह बात हमारी समझ में नहीं आ सकती, और यह भी नहीं मानना चाहिए कि अमुक जीव ने पूर्व काल में बहुत पाप किये थे इसलिए वह यह बात नहीं समझ सकता। अरे! कल का पापी आज आत्मप्रतीति करना चाहे तो हो सकती है। सत्-समागम करके सरल बने और सीधे-सच्चे परिणाम कर ले तो क्षणभर में केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। ऐसे अनन्त उदाहरण मौजूद हैं कि कल के लकड़हारे आज केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गये हैं, इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि कल का पापी आज धर्मात्मा नहीं हो सकता।

प्राय: लोग पापी को देखकर तिरस्कार करते हैं, किन्तु हे भाई! ऐसा मत करो, क्योंकि वे भी आत्मा हैं, प्रभु हैं। उनका अपराध जानकर क्षमा करो, समता धारण करो। वह भी सीधे होकर अपराध को दूर करके कल आराधक हो जाएँगे, उनकी आराधकता उनके हाथ है, वे करेंगे तब स्वयं स्वत: ही करेंगे। तुम अपनी आराधकता करो। तुम्हारी आराधकता तुम्हीं से होगी।

यहाँ तो भगवान महावीर की बात कही गयी है, सो वैसे स्वरूप को जो प्रगट करेगा वह मुक्ति प्राप्त करेगा। जैसे भगवान महावीर के आत्मा का स्वरूप है वैसा ही सब आत्माओं का है। आज महावीर भगवान के जो गीत गाये हैं, सो वे आत्मस्वरूप को प्रगट करने के लिये हैं। यदि उस स्वरूप को समझ ले तो अभी भी एकावतारीपन प्रगट किया जा सकता है ॥४९॥

अब यहाँ समयसार की प्रासंगिक बात को लेते हैं। इससे पूर्व यह कहा जा रहा था कि चैतन्यशक्ति के अतिरिक्त जो भाव हैं, वे सब अन्य हैं, उनका स्वरूप निम्नलिखित छह गाथाओं में कहा गया है:—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्प-ट्ठाणा णेव य अणुभाग-ठाणाणि।।५२।।

जीवस्स णत्थि केई जोय-ट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदय-ट्ठाणा ण मग्गण-ट्ठाणया केई।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहि-ट्ठाणा णो संजम-लद्धि-ठाणा वा।।५४।।
णेव य जीव-ट्ठाणा ण गुण-ट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गल-दव्वस्स परिणामा।।५५।।

अर्थः—जीव में वर्ण नहीं है, गन्ध भी नहीं है, रस भी नहीं है, स्पर्श भी नहीं है, रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं है, संहनन भी नहीं है; जीव के राग भी नहीं है, द्वेष भी नहीं है, मोह भी विद्यमान नहीं है, प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं हैं, कर्म भी नहीं हैं, और नोकर्म भी उसके नहीं हैं। जीव के वर्ग नहीं हैं, वर्गणा नहीं हैं, कोई स्पर्द्धक भी नहीं हैं, अध्यात्मस्थान भी नहीं हैं, और अनुभागस्थान भी नहीं हैं; जीव के कोई योगस्थान भी नहीं हैं अथवा बन्धस्थान भी नहीं हैं, और उदयस्थान भी नहीं हैं, कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं, जीव के स्थितिबन्धस्थान भी नहीं हैं, अथवा संक्लेशस्थान भी नहीं हैं, विशुद्धस्थान भी नहीं हैं, अथवा संयमलब्धिस्थान भी नहीं हैं; और जीव के जीवस्थान भी नहीं हैं, अथवा गुणस्थान भी नहीं हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।

जो काला, पीला, हरा, लाल, सफेद वर्ण है, सो सब जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। भगवान आत्मा में किसी भी प्रकार का काला, पीला, हरा, सफेद और लाल रंग नहीं है, रंग आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह सब पुद्गल की अवस्थाएँ हैं, उन रंगस्वरूप आत्मा नहीं है। आत्मा अग्नि की ज्योति जैसा नहीं है; अग्नि तो रूपी है, रंगवाली है, और आत्मा अरूपी है, अरंगी है। जो बाह्य प्रकाश होता है, उसे लोग आत्मज्योति कहते हैं, किन्तु वह आत्मा की ज्योति नहीं है। आत्मा की तो ज्ञानज्योति है, किन्तु स्वयं कल्पना करके भूल करता है कि मैं ऐसे रंग का हूँ, किन्तु आत्मा वैसा नहीं है। वे पाँचों रंग आत्मानुभूति से भिन्न हैं, अलग हैं। भगवान आत्मा किसी भी काल में रंगवाला नहीं है—पाँचों रंग पुद्गल की पर्याय होने से जड़ हैं। उनसे आत्मा की अनुभूति भिन्न है, इसलिए रंग आत्मा में नहीं हैं।

आचार्यदेव ने जो यह बातें कही हैं, सो ये सब व्यावहारिक हैं, वह सब व्यवहार है अवश्य। पहली बात में-पुद्गलद्रव्य है, उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सब हैं, किन्तु वे आत्मा में नहीं हैं, लेकिन वे सब जगत में हैं। यदि कोई यह माने कि वे सब वस्तुएँ जगत में ही नहीं हैं तो वह महामिथ्यात्वी है। आचार्यदेव ने यहाँ पुद्गलपरिणाम कहे हैं सो उसमें पुद्गल में परिणमन स्थापित किया है, और यह बताया है कि पुद्गल कूटस्थ नहीं है। जीव कहकर जीव और आत्मा अलग नहीं, किन्तु एक हैं, यह सिद्ध किया है, क्योंकि एक मत जीव और आत्मा को भिन्न मानता है। पुद्गल है अवश्य किन्तु जीव उससे भिन्न है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

सुरभि अर्थात् सुगन्ध और दुरभि अर्थात् दुर्गन्ध भी आत्मा के नहीं है, क्योंकि गन्ध परमाणुओं की अवस्था है, इसलिए वह आत्मानुभूति से भिन्न है। सुगन्ध या दुर्गन्ध पुद्गल की पर्यायें हैं, आत्मा में सुगन्ध-दुर्गन्ध कुछ भी नहीं है। आत्मा रंग और गन्ध से अलग है, ऐसे आत्मा की अनुभूति करो! ऐसे आत्मस्वभाव में रमणता करो! जैसे भगवान महावीर का आत्मा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शयुक्त शरीर से रहित है, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव को पहिचानकर उसमें स्थिर होकर तू भी वैसा ही हो जा।

पुद्गल द्रव्य में पाँच प्रकार के रस हैं—कडुवा, कषैला, चरपरा, खट्टा और मीठा। यह पाँचों रस आत्मा में नहीं हैं, क्योंकि वे रजकण की पर्याय है। खट्टा-मीठा आदि रस पुद्गल द्रव्य में होता है, वह रूपी है और जड़ है, तथा आत्मा अरूपी और चैतन्य है; जानना उसका स्वभाव है। पुद्गल का किसी भी प्रकार का रस आत्मा में नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल का रस आत्मानुभूति से भिन्न है, अज्ञानी जड़ के रस को अपना मानता है, किन्तु वह रस आत्मा के रस से सर्वथा भिन्न है, विलक्षण है; वह पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। आत्मा का अनुभव उससे सर्वथा भिन्न है।

वैक्रियक शरीर आत्मा के नहीं, किन्तु देवों और नारकियों के होता है। जो जीव पहले घोर पाप करता है वह नरक में जाता है, वहाँ उसके शरीर के हजारों टुकड़े करे तो भी वह नहीं मरता, क्योंकि वह वैक्रियक शरीर पारे की भाँति अलग होकर फिर मिल जाता है। देवों के भी वैक्रियक शरीर होता है। वैक्रियक अर्थात् जो विक्रिया करे, भिन्न-भिन्न शरीर बना सके। देवों के वैक्रियक शरीर सुन्दर और नारकियों के वैक्रियक शरीर असुन्दर

काले-कुबड़े होते हैं। देव के वैक्रियक शरीर की परछाईं नहीं पड़ती—जैसे काँच की पुतली की परछाई नहीं पड़ती। वैक्रियक शरीर से भी आत्मा भिन्न है, जड़-चेतन दोनों द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं। इस शरीर में चैतन्यज्योति शरीर से भिन्न विराजमान है, ऐसे स्वरूप की श्रद्धा करे तो आनन्द और सुख प्रगट हो, यह बात यहाँ कही जा रही है।

आत्मा आहारक शरीर से भी भिन्न है। छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए किसी-किसी नग्न-दिगम्बर मुनि के उस आहारक शरीर की लब्धि प्रगट होती है। यदि उन सन्त मुनि को कोई सैद्धान्तिक शंका होती है, तो उसके समाधानार्थ मस्तक में से एक हाथ प्रमाण अत्यन्त सुन्दर पुतला निकलता है, वह जहाँ भगवान विराजमान होते हैं वहाँ जाता है, वहाँ जाकर भगवान के दर्शनमात्र से उसका समाधान हो जाता है, और फिर वह पुतला वापिस आकर मुनिराज के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, उस शरीर को आहारक कहते हैं।

ऐसे आहारक शरीर वर्तमान में इस क्षेत्र में नहीं होता। महाविदेह क्षेत्र में सन्त-मुनियों के कैसी लब्धि होती है। जो मुनि समवसरण में बैठे होते हैं, उन्हें ऐसी शंका नहीं होती, किन्तु कोई मुनि बहुत दूर विराजमान हों और उन्हें वस्तुस्वरूप की श्रद्धा एवं ज्ञान होने पर भी यदि तत्त्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन करते हुए कोई शंका उपस्थित हो जाए और समाधान न हो, तथा प्रश्न पूछने की इच्छा हो, तब उनके मस्तक में से वह आहारक शरीर का पुतला निकलता है, और वह जहाँ श्रुतकेवली अथवा केवली विराजमान हों वहाँ जाता है, वहाँ जाकर उसे कुछ पूछना नहीं पड़ता, किन्तु उनके देखने से ही समाधान हो जाता है। आहारक शरीर पुद्गल द्रव्य रचित होता है, और पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने से वह आत्मानुभव से भिन्न है, जड़ है, और आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिए दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं। स्मरण रहे कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह क्षेत्र में आहारक लब्धि से नहीं, किन्तु अन्य प्रकार से गये थे।

तैजस शरीर से भी आत्मा भिन्न है। तैजस शरीर अनन्त रजकणों का पिण्ड है—जड़ है। वह तैजस शरीर में उष्णता और कान्ति का कारण है; वह आत्मा से भिन्न है। वह पुद्गल की अवस्था है, उससे आत्मा का अनुभव भिन्न है।

कार्माण शरीर भी आत्मा के नहीं हैं। कार्माण शरीर सम्पूर्ण शरीर-प्रमाण सूक्ष्म अष्ट कर्मों के रजकणों की रूपी मूर्ति है, वह जड़ है। कार्माण अर्थात् कर्म के रजकणों का समूह, वह निमित्तरूप से आत्मा के साथ है, आत्मस्वभाव में वह नहीं है; आत्मा तो आत्मा में है,

आत्मा में अष्ट कर्म नहीं हैं। जो आत्मा में नहीं है, वह आत्मा को कैसे हानि पहुँचा सकता है ? यद्यपि वह साथ में रहता है किन्तु आत्मा में नहीं है।

कोई कहता है कि शरीर अच्छा हो तो धर्म हो, शरीर निरोग हो तो धर्म हो, किन्तु जो आत्मा का है ही नहीं उससे आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है ?

लोग कहते हैं कि—पहला सुख शरीर का निरोग होना है, दूसरा सुख बाल बच्चों का होना है, तीसरा सुख घर में अन्न भरा हो, चौथा सुख सुशील स्त्री हो।

किन्तु इन चारों प्रकारों में से किसी में भी सुख नहीं है, सुख तो आत्मा में है, उस सुख की पहिचान कर! पर में जो सुख माना है, वह कल्पित सुख है, जड़ की अवस्था जैसी होनी हो, वह वैसी ही होती है, वह तेरे आधीन नहीं है, पर के झगड़ों से निवृत्त हो, शरीर की कार्यवाही तुझसे नहीं हो सकती। शरीर आत्मा में नहीं है; जो तेरे आत्मा में नहीं है उससे तुझे किंचित्मात्र भी सुख नहीं हो सकता। तेरा सुख तुझमें ही स्वतन्त्ररूप से विद्यमान है, उसकी पहिचान कर। कार्माण शरीर जगत की वस्तु है। वह कोई वस्तु ही नहीं अर्थात् अवस्तु है ऐसा नहीं है। परन्तु वे कर्म तेरे आत्मा में नहीं हैं; ऐसे आत्मा की श्रद्धा कर। उस श्रद्धा के बल से चारित्र प्रगट होगा, और उस चारित्र से केवलज्ञान प्रगट होगा। औदारिक, तैजस और कार्माण शरीर मनुष्य और पशुओं के होते हैं। वैक्रियक, तैजस और कार्माण शरीर देवों और नारकियों के होते हैं, पाँचों शरीरों का कर्ता आत्मा नहीं है। शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म हो ऐसा नहीं है। शरीर त्रिकाल में भी आत्मा की सहायता नहीं करता। तेरी मुक्ति का मार्ग तुझमें ही विद्यमान है, किसी बाह्य या पर की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। उसकी ही श्रद्धा कर, यही मुक्ति का मार्ग है।

आज नूतनवर्ष प्रारम्भ हो रहा है। अब समयसार का सुप्रभात नामक कलश कहते हैं:—

(वसंततिलका)

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६८॥

अर्थः—जो चैतन्यपिण्ड के निरर्गल विलास के विकासरूप से खिलता है, (चैतन्यपुंज के अत्यन्त विकास का होना ही जिसका विकसित होना है,) जो शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण सुप्रभात समान है, जिसका सदा आनन्द में सुस्थित, अस्खलित एकरूप है और जिसकी अचल ज्योति है—ऐसा यह आत्मा उसी के उदित होता है—जो पुरुष पूर्वोक्त रीति से इस भूमिका का आश्रय लेता है।

सुप्रभात अर्थात् केवलज्ञान का प्रकाश। जो केवलज्ञान का प्रकाश आत्मा में उदित हुआ वह कभी अस्त नहीं होता उसे सुप्रभात कहते हैं। प्रभात तो बहुत से उदित होते हैं, किन्तु जिस प्रभात के उदित होने से आत्मा का प्रकाश हो और वह कभी अस्त न हो, वही वास्तविक सुप्रभात है। संसार का सूर्य तो प्रातःकाल उदय होता है, और सायंकाल अस्त हो जाता है, किन्तु इस आत्मा का केवलज्ञान सूर्य उदय हुआ सो हुआ फिर वह कभी अस्त नहीं होता, उसको सुप्रभात कहते हैं, इसी का नाम सच्चा प्रभात उदित हुआ कहलाता है।

जो आत्मप्रतीति से अपने पुरुषार्थ के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कराये सो सुमंगल है। निर्मल सम्यग्दर्शन, निर्मल सम्यग्ज्ञान और निर्मल सम्यक्चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हो सो पवित्र पर्याय है, पवित्र भाव है। उस पवित्र पर्याय के प्रगट होने पर राग-द्वेष की अपवित्र पर्याय का नाश होता है सो मंगल है। आत्मा में तीन काल और तीन लोक में भी राग का एक अंशमात्र भी नहीं है, ऐसी प्रतीति केवलज्ञान प्राप्त कराती है। जो राग-द्वेष को गला दे और केवलज्ञान प्राप्त कराये सो ऐसा सम्यग्ज्ञान स्वयं मांगलिक है।

इस कलश में आचार्यदेव ने सुप्रभात का वर्णन किया है। इसमें चार बातें कही हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य—यह अनन्त चतुष्टय प्रगट हो, सो यही सुप्रभात मंगल है।

जब भगवान के अनन्त चतुष्टय प्रगट होता है, तब समस्त लोक में प्रकाश होता है, नारकी जीवों को भी दो घड़ी के लिये शान्ति हो जाती है। जब तीर्थंकरदेव केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय जगत के जीवों के साता का उदय होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अनन्त चतुष्टय स्वयं प्रगट करते हैं और अपने पुरुषार्थ के द्वारा स्वयं ही कल्याण पद को प्राप्त करते हैं उसी के साथ तीर्थंकरदेव के ऐसे सर्वोत्कृष्ट पुण्य का योग होता है, कि जिससे जिन्हें आत्मस्वभाव की खबर नहीं है, उन जीवों के भी असाता दूर

होकर दो घड़ी के लिये साता हो जाती है, उन जीवों के पुण्योदय का और तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञान के साथ के सर्वोत्कृष्ट पुण्यातिशय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। समस्त लोक में प्रकाश होने की परमाणुओं की योग्यता का और भगवान के केवलज्ञान के समय के पुण्यातिशय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान से परिपूर्ण है, स्वयं ही अनन्त ज्ञान से परिपूर्ण है।—ऐसे आत्मा की स्वयं प्रतीति करे और ज्ञान करे तो उसे अनुक्रम से स्वरूपस्थिरता (चारित्र) होकर राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होता है। ज्ञान स्वयं समाधानस्वरूप है। ज्ञान चाहे जैसे संयोगों का समाधान करता है और निष्कर्ष निकालता है। वह ज्ञान स्वरूप में स्थिर हुआ कि राग नष्ट हो जाता है, यह चारित्र अन्तरंग की क्रिया है।

अनुकूलता या प्रतिकूलता के संयोग तो ज्यों के त्यों बने रहते हैं किन्तु ज्ञाता ऐसा समाधान करता है मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, जानना ही मेरा स्वभाव है, यह संयोग मुझ ज्ञायक को कोई सुख-दुःख नहीं दे सकते। ऐसा करने से राग-द्वेष का अभाव और शान्ति होती है, क्योंकि ज्ञान स्वयं ही शान्तिस्वरूप है। ज्ञान ज्ञान में रहकर समाधान करता है, तब शान्ति साथ में ही आती है।

यदि ज्ञान समाधान न करे तो राग-द्वेष की कल्पना करता है कि यह संयोग मुझे दुःख या सुख देते हैं, इस प्रकार अन्य पर दृष्टि रखकर सुख-दुःख की कल्पना किया करता है। ज्ञान या तो समाधान करता है या राग-द्वेष की कल्पना करता है; इसके अतिरिक्त ज्ञान दूसरा कुछ भी नहीं करता।

ज्ञान समाधान करके अपने में स्थिर हो सो यही ज्ञान की क्रिया है, ज्ञान पर की क्रिया नहीं कर सकता। वह स्वयं समझता है कि मैं एक ज्ञातास्वरूप ही हूँ। जाननेवाले का अर्थ है ज्ञान; ज्ञान स्वयं दुःख स्वरूप नहीं होता। यदि ज्ञान स्वयं दुःखरूप हो तो फिर दुःख को दूर करने का उपाय ही कहाँ रहा। अर्थात् ज्ञान स्वयं समाधान पूर्वक राग-द्वेष में युक्त न हो सो यही चारित्र है, और यही ज्ञान की क्रिया है, तथा यही ज्ञान और क्रिया का समन्वय (मेल) है; यही स्याद्वाद है।

अन्तर ज्ञान की स्थिरता रूप क्रिया ही चारित्र है, जड़ की क्रिया से चारित्र नहीं होता। चारित्र आत्मा का गुण है, इसलिए आत्मा का गुण चैतन्य की क्रिया से प्रगट होगा

कि जड़ की क्रिया से ? जड़ की क्रिया से आत्मा का चारित्र तीन काल-तीन लोक में प्रगट नहीं हो सकता।

जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेते हैं, और जो उपरोक्तानुसार ज्ञान तथा चारित्र की मैत्री जैसी कही गयी है, उसे यथावत् समझते हैं, उन्हीं के चैतन्यपिण्ड का निरर्गल विलसित, विकास होता है।

वस्तु, वस्तु का गुण और वस्तु की कारणरूप पर्याय—जो तीनों काल अप्रगट शक्तिरूप है, वह अनादि-अनन्त निर्मल है; तीनों मिलकर अखण्ड एक वस्तु है। इस प्रकार दृष्टि का विषय पहले किया था, जिसके फलस्वरूप केवलज्ञानी के अनन्त दर्शन प्रगट हुआ। इस कलश में पहले दर्शन की बात कही है, इसी में केवली भगवान के अनन्त चतुष्टय का भी समावेश है।

धर्मास्तिकाय उसका गुण, और उसकी पर्याय, त्रिकाल निर्मल हैं। इसी प्रकार मैं भी द्रव्य-गुण-पर्याय से परिपूर्ण वस्तु हूँ। आत्मा वस्तु, उसके ज्ञानादि गुण, और उसकी कारणपर्याय, त्रिकाल निर्मल है। आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय से अनादि अनन्त परिपूर्ण वस्तु है; उसमें विकार नहीं है, शरीर नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा पवित्र है, उसकी श्रद्धा के बल से अनन्त दर्शन प्रगट होता है।

यह सुप्रभात मांगलिक है; श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि रात्रि व्यतीत हो गयी प्रभात हुआ निद्रा से जागृत हुए, अब मोह-निद्रा टालने का प्रयत्न करो। निद्रा से मुक्त होने के लिये भाव-निद्रा को दूर करने का प्रयत्न करो। भाव रात्रि दूर होकर आत्मा का प्रकाश हो ऐसा प्रयत्न करो।

आचार्यदेव कहते हैं कि पहले आत्मा का विश्वास जमना चाहिए। जैसे पर में विश्वास जमा रखा है, उसीप्रकार प्रतीति के विषय में आनेवाले अखण्ड आत्मा का विश्वास करे तो उसके फलस्वरूप अनन्त दर्शन प्राप्त हो।

इस कलश में आचार्यदेव ने कहा है कि—चैतन्य पिण्ड के निरर्गल, विलसित, विकासरूप जो खिलता है, अर्थात् जिसने अखण्ड चैतन्य को प्रतीति में लिया, उसे निरर्गल अर्थात् बीच में कोई रुकावट या विघ्न नहीं है; जिस स्वरूप को प्रतीति में लिया है, ज्ञान में लिया है, उस स्वरूप को अब निर्विघ्नतया पूर्ण करेगा, केवलज्ञान प्रगट करेगा,

उसे बीच में कहीं कोई विघ्न है ही नहीं। अनन्त काल से जो परावलम्बी दृष्टि थी उसे स्वावलम्बी किया, स्वाश्रय किया, उससे अनन्त दर्शन का प्रकाश प्रगट होगा।

जैसे सूर्य के प्रकाश से कमल की कली खिल उठती है, उसी प्रकार सम्यक् प्रतीति से अखण्ड आत्मा का विषय किया सो उस प्रतीति के बल से अनन्त दर्शन विकसित होता है—खिल उठता है। प्रतीति होने के पश्चात् आत्मा की अनन्त शक्ति प्रगट होते-होते पूर्णतया प्रकाशित हो जाती है। वह आत्मा का सादि-अनन्त सम्पूर्ण विकास है।

इसके बाद कहा है कि शुद्ध प्रकाश की अतिशयता को लेकर वह सुप्रभात समान है। पहले दर्शन को लिया है, और फिर ज्ञान को लिया है। चैतन्यप्रकाश जगमग-जगमग करता हुआ प्रकाशित होता है। सूर्य को न तो अपने प्रकाश की खबर होती है, और न दूसरे के प्रकाश की। किन्तु चैतन्य ज्ञान प्रकाश को जानता है और अन्य-सूर्यादि के प्रकाश को जानता है। सर्व प्रकाश का प्रकाशक आत्मा स्वयं है।

जिसने सत्समागम से सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मा की भूमिका का आश्रय लिया है। उसके निर्मल केवलज्ञान प्रकाश का सुप्रभात खिल उठता है। जहाँ सम्यग्ज्ञान ने आत्मभूमिका का आश्रय लिया वहाँ सुप्रभात विकसित हो गया, और क्रमशः उसमें पुरुषार्थ से बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रकाश विस्तरित हो जाता है, वह सादि-अनन्त सुप्रभात है। उस सुप्रभात का कभी भी नाश नहीं होता। आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने इस सुप्रभात कलश की रचना की थी।

जिसका आनन्द में सुस्थित सदा अस्खलित एकरूप है ऐसे आनन्दस्वरूप आत्मा को लक्ष्य में लिया, उसकी प्रतीति की और उसमें स्थिर हुआ कि केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

आत्मस्वरूप की श्रद्धा की, ज्ञान किया और उसमें स्थिर हुआ, सो अनन्त आनन्द प्रगट हो गया, अनन्त स्वचतुष्टय प्रगट हो गया, उसमें कोई किसी प्रकार का विघ्न नहीं कर सकता। जहाँ अपने स्व-स्वभाव का आश्रय किया कि वहाँ अनन्त आनन्द प्रगट हो गया। वह आनन्द सदा अस्खलित है, एकरूप है। बाह्यानन्द सदा एकरूप नहीं है, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है, नष्ट हो जाता है, विकारी है, और आकुलतामय है।

चैतन्य के अखण्ड स्वभाव का अवलम्बन करके जो आनन्द प्रगट हुआ वह अनन्त काल तक रहनेवाला है, वह कभी न बदलनेवाला सदा एकरूप है, निराकुल,

निर्विकार, अस्खलित है, जो अन्तरंग स्वभाव में था वही प्रगट हुआ है, और जो अस्खलित आनन्द प्रगट हुआ है, वही सच्चा सुप्रभात है।

जो आत्मज्योति प्रगट हुई है, वह अचल है, उस केवलज्ञान ज्योति का कभी नाश नहीं होता। जैसे रत्नदीपक की ज्योति पवन के झोंके से कभी नहीं हिलती उसी प्रकार जो आत्मज्योति प्रगट हुई है, वह सदा अकम्प रहती है। अग्नि, दीपक की ज्योति हवा से बुझ जाती हैं, परन्तु आत्मज्योति प्रगट होने पर न तो हिलती है, न बुझती है, वह सदा अचल है।

महासंवर्तक वायु से भी मेरुपर्वत नहीं हिलता, इसी प्रकार जिसने आत्मा का आश्रय ग्रहण करके मेरु की भाँति अचल केवलज्ञान-ज्योति प्रगट की है, वह किसी भी प्रबलतम कारण से चलायमान नहीं होती क्योंकि वह अनन्त बल को लेकर प्रगट हुई है। इस कथन में बल का निरूपण किया है।

आत्मा का आश्रय लेने से अचल ज्योति प्रगट होती है—उदय को प्राप्त होती है। वह आत्मा उदित हुआ सो हुआ, वह फिर अस्त नहीं होता। आत्म-प्रतीति करके उदित होनेवाला सुप्रभात है। आत्म-प्रतीति के प्रगट होने पर उसमें से केवलज्ञान अवश्य प्रगट होता है। जहाँ वह केवलज्योति प्रगट हुई सो वह सुप्रभात है।

सम्यग्दर्शन होने पर आनन्द गुण की आंशिक पर्याय प्रगट होती है, और चारित्र के होने पर विशेष प्रगट होती है। आनन्द गुण तो सुखगुणरूप ही है, किंतु वह सुखगुण की पर्याय सम्यग्दर्शन होने पर भी प्रगट होती है और चारित्र के होने पर भी प्रगट होती है। आत्मा का यथार्थ परिचय करके, उसकी प्रतीति करके, स्थिर होने से अनन्तानुबन्धी कषाय के दूर होने पर आंशिक स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है उसमें बारम्बार लक्ष्य करके स्थिर होने से विशेष स्वरूपरमणता के प्रगट होने से, पाँचवाँ, छट्ठा और सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है, और क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान ज्योति प्रगट होती है, उस समय आत्मा की पर्याय में जो संपूर्णतया आनन्द प्रगट होता है, सो वही सच्चा सुप्रभात है।

केवलज्ञान की ज्योति को लेकर आत्मा उदित होता है, वह केवलज्ञानज्योति आत्मा की प्रतीति से प्रगट होती है। सत्-समागम के बिना और आत्मविचार के बिना

केवलज्ञान का उदय नहीं हो सकता; और आत्मप्रतीति के बिना केवलज्ञान का उदय नहीं होता। और जब केवलज्ञान का उदय होता है सो वह सुप्रभात है। पद्मनन्दि पंचविंशतिका में भी सुप्रभात का एक अधिकार है, उसकी पहली गाथा इस प्रकार है—

निश्शेषावरणद्वयस्थिति निशाप्रान्तेन्तरायक्षयो।
धोते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरतः।
सम्यग्ज्ञानदृक्षियुग्ममभितो विस्फारितं यत्र त
ल्लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥१॥

अर्थः—दोनों निःशेषावरण, अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण की जो स्थिति है, सो वह रात्रि है, उसका तथा अन्तरायकर्म का नाश होने पर प्रकाश होने से और मोहनीय कर्म के द्वारा होनेवाली निद्रा के भार से शीघ्र ही दूर होने से, जो सुप्रभात में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी दोनों नेत्र उन्मीलित हुए (खुले) उस अचल सुप्रभात को जिन मुनियों ने प्राप्त कर लिया है, उन मुनियों के प्रति हमारा नमस्कार है।

रात्रि का अन्त होने पर प्रभात उदित होता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा निर्मल ज्ञान-दर्शनमय है, उसमें दर्शनावरण, ज्ञानावरणरूपी रात्रि के अन्धकार का जिसने अन्त किया है, और स्वयं चैतन्यज्ञान स्वभाव को प्रगट करके उस आवरण को हटाकर सूर्योदय किया है, वह सुप्रभात है।

जैसे एक ओर से जलते हुए कण्डे को किसी टोकरी से ढँक दिया जाए तो वास्तव में वह अग्नि ढँकी नहीं है, किन्तु उस टोकरी तक उसकी लौ नहीं पहुँचती, इसलिए वह धीरे-धीरे बढ़ती जाती है, और सारा कण्डा प्रज्वलित होकर वह टोकरी भी जल जाती है। इसी प्रकार आत्मा का सम्पूर्ण स्वभाव प्रगट नहीं हुआ, किन्तु सम्पूर्ण स्वभाव की प्रतीति हुई है, जिससे उसका एक कोना प्रगट हुआ कहलाता है। इस प्रकार चैतन्य का अल्प प्रकाश प्रगट होने पर उसमें एकाग्रता करके सम्पूर्ण प्रकाश या ज्वाला प्रगट होने पर ज्ञानावरणीय आदि कर्म भस्म हो जाते हैं।

जब तक आत्मा जागृत नहीं हुआ, तब तक निमित्तरूप से आवरण कहलाता है, वास्तव में कर्मों ने उसे हीन नहीं किया है किन्तु स्वयं अपनी शक्ति को स्वीकार नहीं किया इसलिए स्वयं अपना परिणमन कम कर रखा है, किन्तु जब चैतन्य का जाज्वल्यमान

प्रकाश प्रगट होता है, तब ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयरूपी रात्रि का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपी सूर्य उदित होता है। केवलज्ञान का सुप्रभात प्रगट होता है।

अनन्त बल के प्रगट होने से अन्तराय कर्म का नाश हुआ, और मोहनीय कर्म के नाश होने से दोनों नेत्र खुल गये; जिस प्रकार रात्रि का अन्त होने पर सोते हुए जाग उठते हैं, और उनकी दोनों आँखें खुल जाती हैं, उसी प्रकार मोहरूपी निद्रा का नाश करके, जिनके सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनरूपी नेत्र खुल गये हैं ऐसे मुनियों को हमारा नमस्कार हो।

जैसे लड़का लड़की किसी दूसरे गाँव जा रहे हों किन्तु उन्हें विदा करने में कोई बुरा दिन या अशुभ मुहूर्त आता हो तो माता-पिता प्रस्थान-विधि कर देते हैं, इसी प्रकार पद्मनन्दि आचार्यदेव ने केवलज्ञान को नमस्कार करके वह केवलज्ञान मुझे चाहिए है इस भावनारूपी अग्रिम प्रस्थान-विधि की है।

महावीरस्वामी मोक्ष पधारे, और सन्तों के नायक गौतम गणधर ने केवलज्ञान प्रगट किया। ज्ञानावरणीय आदि रात्रि का नाश करके केवलज्ञानरूपी प्रभात प्रगट किया। ऐसे केवलज्ञानियों को हमारा नमस्कार हो।

यत्ससच्चक्रसुखप्रदं यदमलं ज्ञानप्रभाभासुरं
लोकालोकपद प्रकाशनविधिप्रौढ़ प्रकृष्टं सकृत्।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्तं परं प्राणिभिः
त्रैलोक्याधिपतेर्जिनस्य सततं तत्सुप्रभातं स्तुवे ॥२॥

अर्थः—त्रिलोकीनाथ श्री जिनेन्द्र भगवान के इस सुप्रभात स्तोत्र को मैं नमस्कार करता हूँ, जो समस्त जीवों को सुखदाता है, तथा सर्व प्रकार के मलों के रहित होने से अमल है, और ज्ञान की प्रभा से दैदीप्यमान है तथा समस्त लोकालोक को प्रकाश करनेवाला है, और जो अत्यंत महान है, तथा जिसके एक बार उदित होने पर प्राणियों को ऐसा मालूम होता है कि उन्हें उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति हुई है अर्थात् वे अपने जीवन को धन्य मानते हैं।

त्रिलोकीनाथ श्री जिनेन्द्र भगवान हैं। त्रिलोकनाथ का अर्थ रक्षक नहीं किन्तु त्रिलोक का ज्ञाता है। वे सब प्राणियों को सुख देनेवाले हैं। जिन श्री जिनेन्द्र भगवान ने सुप्रभातरूप आत्मदशा प्रगट की है उन्हें मेरा नमस्कार हो। श्री जिनेन्द्र भगवान ने सर्व

विकारों से रहित वीतरागदशा प्रगट की है, उनका स्मरण करना सो आत्मस्वभाव का स्मरण है। स्वभाव की सम्पदा का स्मरण समस्त आपदाओं को दूर करनेवाला है। समस्त लोक का प्रकाशक केवलज्ञान जहाँ प्रगट हुआ कि वहाँ समस्त लोक के जीव अपने को धन्य-धन्य समझते हैं वही सुप्रभात है। जब सम्यग्ज्ञानी जीवों को आत्मप्रतीति होती है, तब वे अपने को धन्य-धन्य समझते हैं।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि:—

अहो! अहो! हुँ मुजने कहुँ, नमो, मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातारनी, जेहथी भेट थई तुज रे॥

स्वयं अपने ही आत्मा को वन्दन करता है। अहो! धन्यकाल! अहो! धन्यभाव! मुझे केवलज्ञान प्रगट होगा, ऐसा प्रभात हो चुका है, उसका क्या वर्णन करूँ? मेरे आत्मा को नमस्कार हो! नमस्कार हो! गृहस्थाश्रम में रहनेवाले आत्मप्रतीति को प्राप्त जीव तथा सन्त आचार्य भी ऐसी भावना भाते हैं, स्वयं अपने को नमस्कार करते हैं।

कोई कह सकता है कि क्या कोई अपने को भी नमस्कार करता है? परन्तु जो देव, गुरु, शास्त्र को नमस्कार करता है वह कहीं दूसरे को नमस्कार नहीं करता, परन्तु सब अपने अनुकूल को ही नमस्कार करते हैं, उसमें देव-गुर-शास्त्र बीच में आ जाते हैं। जहाँ परिपूर्ण आत्मा की प्रतीति हुई, वहाँ अपने आत्मा की अपूर्व महिमा होती है।

जहाँ आत्मप्रतीति होती है वहाँ अमित फल दान दातार अर्थात् अपार फल के दान की भेंट निज को ही होती है। लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मर्यादित हैं, और यह तो मर्यादारहित-अपार स्वरूप प्रगट हुआ है। आत्मप्रतीति होने पर अमित फल दान दातार की भेंट हुई। मोतियों से स्वयं अपना स्वागत करता है। यदि सांसारिक धनवान किसी को कुछ देते हैं तो वह दस, पाँच वर्ष तक चल सकता है, किन्तु यह तो मुझे अनादि त्रिकाल अमर्यादित स्वरूप की भेंट हुई है, जो कि सादि-अनन्त काल रहनेवाली है। जिस भाव से आत्मा का परिचय हुआ है, उसी भाव से केवलज्ञान दशा प्रगट होगी—इस प्रकार अपने भाव को नमस्कार करता है, और अपने को धन्य-धन्य मानता है। इसमें अभिमान नहीं, किन्तु अपने आत्मा के स्वभाव का अपूर्व महात्म्य है, और पूर्ण दशा प्रगट करने की भावना

है, इसलिए स्वाभाविक नमस्कार हो जाता है। अपने स्वभाव की पर्याय प्रगट हुई सो उसे धन्य-धन्य कहता है।

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग शुं,
भंग न पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,
बीजो मनमन्दिर आणुं नहिं,
अे अम कुलवट रीत जिनेश्वर ॥धर्म० ॥

आनन्दघनजी महाराज धर्म जिनेश्वर भगवान के गुणगान करते हुए अपने आतमा के ही गुणगान कर रहे हैं, अपने आत्मस्वभाव का ही स्तवन कर रहे हैं। बाहर से तो धर्मनाथ भगवान की स्तुति कर रहे हैं किन्तु भीतर से धर्ममूर्ति-स्वयं अपने आत्मा की स्तुति करते हैं।

हे धर्ममूर्ति! जिसमें अपार गुण भरे हुए हैं, ऐसे आत्मा के गुणगान रुचि रंगपूर्वक गाने के लिये तत्पर हुआ हूँ, हे वीतराग! हे आत्मन्! तेरी प्रीत, तेरी रुचि और तेरी प्रतीति में जो मैं आत्मा के गुणगान करने निकला हूँ उसमें भंग न पड़े-विघ्न न आये, त्रिकाल में भी कोई बाधा न आये, हे जिनेन्द्र! चिदानन्द आत्मा! तेरी जो प्रीति हुई है, उसमें भंग न पड़े।

यहाँ मात्र प्रीति-भंग की भावना ही नहीं की है, किन्तु साथ ही महान उत्तरदायित्व स्वीकार किया है कि—'बीजो मन मंदिर आणुं नहिं' अर्थात् अपने मनन्दिर में किसी दूसरे-कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को नहीं आने दूँगा। अर्थात् अपने स्वभाव की प्रतीति में उनका आदर नहीं होने दूँगा, वह गुण की प्रीति में जागृत होकर उठा है, और कहता है कि मात्र चैतन्य के अतिरिक्त पुण्य-पाप, स्त्री-कुटुम्बादि के पर भावों को अपने में नहीं आने दूँगा, पर पदार्थ का आदर नहीं होने दूँगा। इस सम्पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कहता हूँ कि हे जिनेन्द्र! आपकी प्रीति में और मेरे आत्मस्वभाव में कोई भंग न पड़े। हे भगवान! आत्मा के अनुमोदन में दूसरे का आदर नहीं हो सकता। हे नाथ! जो आन्तरिक प्रीति जागृत हुई है, उसमें आज से लेकर अनन्त काल में भी भंग न पड़े। मैं इस शपथ पूर्वक यह उत्तरदायित्व स्वीकार करता हूँ; कि अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य पुण्य-पापादि के भाव का आदर नहीं होने दूँगा।

सती स्त्री अथवा ब्रह्मचारी पुरुष के हदय में अन्य पुरुष या स्त्री नहीं आती, इसी

प्रकार धर्मात्मा पुरुष कहता है कि हे चैतन्य! तेरे स्वभाव से प्रीति हो गयी है, मैं जागृत हो गया हूँ, अब अपने में दूसरे का आदर नहीं होने दूँगा। दूसरे का आदर न होने देना हमारे कुल की रीति है। हे नाथ! हम तीर्थंकर की जाति और कुल के हैं। तीर्थंकर भगवान जिस भाव से आगे बढ़े सो बढ़े, वे कभी पीछे नहीं हटते। सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ सो केवलज्ञान होकर ही रहता है। हमारे कुल की यह रीति है कि बीच में दूसरा भाव नहीं आने दूँगा, जो भाव लेकर आगे बढ़ा है, उससे अब केवलज्ञान लेकर ही रहूँगा। हे नाथ! हमारे कुल की यह रीति है कि हमने जो प्रयाण किया है सो अब पीछे नहीं देखेंगे। वे तीर्थंकर हमारे कुल के हैं। वे जिस मार्ग से गये हैं, वह मार्ग हमारा है; इसलिए उसमें भंग नहीं हो सकता। शुभाशुभभाव का आदर नहीं होने दूँगा। इस उत्तरदायित्व के साथ कह रहा हूँ कि इसमें अब भंग नहीं पड़ने दूँगा। वीतराग भगवान ने दूसरे भाव को नहीं आने दिया। इसलिए मैं भी परभाव को नहीं आने दूँगा यह हमारे कुल की रीति है।

लोग अपने कुल की टेक के लिये मरते फिरते हैं; तो हे आत्मन्! तेरा कुल तो तीर्थंकरों की टेक पर चल रहा है, इसलिए अब जागृत हुआ सो हुआ, अब पुनः असावधान नहीं हो सकता। महा पुरुषों के मुख से जो वचन दन्तवाक्य निकलते हैं उन्हें वे पूर्ण करके ही रहते हैं; इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष कहते हैं कि हमने जो कुछ कह दिया सो वह भी होकर रहेगा। हमने तीर्थंकर देव की टेक पकड़ी है, अब हम जागृत हो चुके हैं इसलिए असावधान नहीं रहेंगे। अब, आगे कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(वसन्ततिलका)

स्याद्वाददीपितलसत्महसि प्रकाशे,
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः॥२६९॥

अर्थः—जिसका तेज स्याद्वाद के द्वारा जगमग-जगमग करता हुआ प्रदीप्त हुआ है, और जो शुद्ध स्वभावरूप महिमामय ज्ञानप्रकाश मुझमें उदित हुआ है, वहाँ बन्ध मोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या प्रयोजन है? जिसका नित्योदय रहता है, ऐसा यह (अनन्त चतुष्टयरूप) केवल स्वभाव ही मुझमें स्फुरायमान हो।

स्याद्वाद के द्वारा अर्थात् आत्मा अपनी अपेक्षा से है और पर की अपेक्षा से (शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप के भावरूप से) नहीं है, ऐसी प्रतीति करके अपने स्वरूप में स्थिर होने से जिसका तेज प्रकाशमान हो रहा है, ऐसा ज्ञानप्रकाश उदय को प्राप्त होता है।

चैतन्यप्रकाश झिलमिल करता हुआ प्रगट होता है, आत्मा में इन जड़रूपी द्रव्यों का तेज नहीं है, परन्तु ज्ञानप्रकाश तेज है। जहाँ आत्म-स्वभाव की प्रतीति करके स्थिर हुआ कि वहाँ ज्ञानप्रकाश प्रगट हो जाता है। उस शुद्धस्वभाव की महिमा अपूर्व है। शुभाशुभ आदि अन्य भावों की महिमा नहीं किन्तु शुद्ध स्वभाव की ही महिमा है। जहाँ शुद्ध प्रकाश होता है, वहाँ मानों प्रकाशमान सूर्य ही उदय होता है, या स्वर्ण-प्रभात ही होता है।

चैतन्यमूर्ति के अतिरिक्त समस्त बाह्य सुख आपदारूप हैं, वे सुख नहीं हैं, दुःख हैं, कल्पनामात्र हैं। चैतन्यमूर्ति का अवलम्बन लेने से जो सुख प्रगट होता है और जो आनन्द होता है वही सुख और आनन्द हमें प्राप्त हो, अन्य कुछ नहीं चाहिए। जिसके शुद्ध स्वभाव की अपूर्व महिमा है वही ज्ञानप्रकाश मुझमें प्रगट हुआ है, तब फिर बन्ध और मोक्ष के विकल्पों का मुझे क्या काम है? बन्ध ऐसा था और मोक्ष यों होगा, ऐसे विकल्पों से मुझे क्या काम है। पुण्य का परिणाम ऐसा होता है, और मोक्ष का परिणाम ऐसा होता है, ऐसे राग में रुकने से मुझे क्या प्रयोजन है? ऐसे विकल्पों से उलझने से विकल्प टूटकर निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती इसलिए ऐसे विकल्पों से मुझे क्या प्रयोजन है? जिसका उदय नित्य बना रहता है, वैसा स्वभाव ही मुझमें स्फुरायमान रहे! स्वभाव की प्रतीति में अप्रतिहत भाव प्रगट हुआ है, वह सदा स्फुरायमान रहे! केवलज्ञानादि अनन्त स्वचतुष्टय मेरे स्वरूप में सादि अनन्त काल तक स्फुरायमान रहें! इस प्रकार आचार्यदेव ने अपने स्वभाव में स्वचतुष्टय प्रगट हों ऐसी भावना भायी है। यह सुप्रभात मांगलिक है।

आत्मा के वास्तविक स्वभाव में पर संयोग से जो भाव दिखायी देते हैं, वह आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है, जो स्वभाव आत्मा में त्रिकाल रहता है, वह आत्मा का स्वभाव कहलाता है, परन्तु संयोगी भाव नित्यस्थायी नहीं है, इसलिए वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जिसे कल्याण करना हो उसे भलीभाँति यह समझना होगा कि कल्याणस्वरूप

आत्मा कैसा है। यदि समझने में समय लगे तो कोई हानि नहीं है। किन्तु यदि उसे अपनी दृष्टि से मान लेगा तो समझ में नहीं आयेगा। जिज्ञासाभाव से ही समझ में आ सकता है, किन्तु आकुलता और खेद करना तो मात्र कषाय है। यदि निराकुलता से उत्साहपूर्वक पुरुषार्थ करके समझना चाहे तो अवश्य समझ में आ जाएगा।

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो उसे वस्तुस्वरूप को यथावत् समझना होगा। जो यह मानता है कि यह शरीर, वाणी और मन मेरा है वह उनके ममत्व को दूर करने का प्रयत्न कैसे करेगा ? और आत्मा में होनेवाले विकारी भावों को जो अपने भाव मानता है वह उन्हें छोड़ने का क्यों प्रयत्न करेगा ?

यह मेरा पुत्र है, यह मेरी सम्पत्ति की रक्षा करेगा, यह जानकर उसका रक्षण करता है, किन्तु यदि कोई शत्रु पुत्र या डाकू घर में घुस जाए तो उसे भगाने का प्रयत्न करता है। यदि डाकू को स्वयं अकेले ही भगाने की हिम्मत न हो तो दूसरों को बुलाकर उसे निकाल भगायेगा। यदि इसमें कुछ विलम्ब हो जाए तो उसे रखने की रुचि नहीं है। इसी प्रकार मैं कौन हूँ ? मेरी सम्पत्ति मुझमें ही किस उपाय से रह सकेगी ? मैं आत्मा क्या वस्तु हूँ ? और यह क्षणिक वस्तु क्या है ? इसके विवेक के बिना अपनी वस्तु की रक्षा नहीं हो सकती और परभाव को छोड़ने का प्रयत्न नहीं हो सकता।

विकार क्या है और निर्विकार क्या है ?—यह विचार कर। जगत में जो शब्द हैं वे या तो द्रव्य हैं, या गुण हैं, या पर्याय हैं, ऐसा वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। वाचक तो शब्द हैं और वाच्य पदार्थ हैं।

ऐसा मनुष्य भव प्राप्त करके आत्मा का निर्णय न किया तो फिर यह आयु पूर्ण होने के बाद कहाँ जाएगा ? पर से भिन्न आत्मा का निर्णय किये बिना चौरासी का चक्कर नहीं मिट सकता। मरण समय कौन शरण होता है ? चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी आत्मा का निर्णय हो सकता है। बाह्य प्रतिकूलता या अनुकूलता के उदय के संयोग को आत्मा नहीं टाल सकता, किन्तु मोहनीय आदि घातियाकर्मों के उदय में स्वयं युक्त होता है, सो उसे आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा दूर कर सकता है। आत्मा की पर्याय में जो राग-द्वेष और भ्रान्तिरूप विपरीत मान्यता होती है, उसे आत्मा पुरुषार्थ के द्वारा दूर कर सकता है। बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आत्मा को लाभ-हानि नहीं करते, किन्तु आत्मा की पर्याय में

विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा होनेवाली विपरीत मान्यता और राग-द्वेष ही हानिकारक हैं। इसलिए वस्तुस्वरूप को यथावत् समझने का प्रयत्न कर, चारों पहलुओं से विचार कर, स्वोन्मुख होकर निज बल से निर्णय कर। मन का अवलम्बन बीच में उपस्थित रहता है, किन्तु यहाँ अपनी ओर के अवलम्बन के वीर्य का बल है, इसलिए उसने आत्मा से ही निर्णय किया है। मन से-पर से निर्णय नहीं किया किन्तु अपने ही द्वारा निर्णय किया है। मन का अवलम्बन होने पर भी मन का निषेध करके स्वोन्मुख होकर आत्मबल से निर्णय किया है। आत्मा को पहिचानकर प्रतीति किये बिना कहाँ स्थिर होगा, तत्त्व को जाने बिना तत्त्व में कैसे स्थिर होगा? आत्मा को पहिचानकर, उसकी प्रतीति करके उसमें स्थिर होने से बुद्धिपुरस्सर मन का अवलम्बन भी छूट जाता है—बुद्धि पूर्वकता के विकल्प छूट जाते हैं, राग से अलग होकर अपने स्वरूप का अनुभव करता है, और फिर स्थिरता के बढ़ने पर चारित्र प्रगट होता है, और चारित्र के बढ़ने पर केवलज्ञान प्रगट होता है।

पहले पाँच शरीरों की व्याख्या करके यह बताया जा चुका है कि इनमें से कोई शरीर आत्मा के नहीं हैं, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। शरीर केवल जड़ पिण्ड है। शरीर की कोई भी क्रिया आत्मा के हितरूप नहीं है।

जो यह मानता है कि मुझे पर से लाभ होता है, वह मानों यह मानता है कि मुझमें कोई सत्त्व नहीं है; और दूसरे ने मेरी सहायता की, इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि हम दोनों मिलकर एक हो गये। तीन काल और तीन लोक में भी एक वस्तु दूसरी वस्तु की सहायता नहीं कर सकती। पर पदार्थों का आत्मा में अभाव है इसलिए वह आत्मा का हानि-लाभ नहीं कर सकते। यह मार्ग संसार से सर्वथा निराला है।

अपनी वस्तु पर से भिन्न होकर रहती है इसलिए अलग है। जो पररूप नहीं होती वह निजरूप होती है, किन्तु जो पररूप नहीं होती वह अपने रूप से भी न हो ऐसा नहीं हो सकता, और अपने रूप से हो तथा पररूप से भी हो ऐसा नहीं हो सकता, इसलिए जो अपने रूप से होती है, वह पररूप से नहीं होती, यह अबाधित सिद्धान्त है।

जैसे हाथ में ली हुई कलम हाथ से भिन्न है, यह बात ज्ञान करनेवाले को बतलाती है, और मैं लकड़ीरूप हूँ किन्तु हाथरूप नहीं हूँ, इस प्रकार लकड़ी स्वयं ही अपने को दूसरे से भिन्न बतला रही है; इस प्रकार आत्मा निजरूप से है, ऐसा पृथक् अस्तित्व

स्वीकार करने पर साथ में यह भी आ जाता है कि वह पररूप नहीं है। अस्ति का स्वीकार करने पर साथ में नास्ति भी आ जाती है। मैं स्वत: स्वभाव से परिपूर्ण वस्तु हूँ। मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय दूसरे में और किसी के द्रव्य-गुण-पर्याय मुझमें प्रविष्ट नहीं होते।

शरीर आत्मारूप नहीं है, शरीर के रजकण शरीर में हैं, आत्मा में नहीं, आत्मा आत्मा में है, वह शरीररूप नहीं है। जो निजरूप से नहीं है वह अपनी सहायता कैसे कर सकता है ? यह कोई सूक्ष्म या गहन बात नहीं है किन्तु सबसे पहली इकाई है। मनुष्य भव प्राप्त करके यदि इसे न समझ सका तो यहाँ से जाकर फिर चौरासी के चक्कर में जा गिरेगा। मनुष्य भव में जो पुण्य फलित हुआ है, वह सब सूख जानेवाला है, वह सदा स्थायी नहीं है। पर की क्रिया से मुझे लाभ होगा अथवा पर की सहायता से मुझे धर्म प्राप्त होगा ऐसा माननेवाला आत्मा की त्रैकालिक स्वतन्त्रता की हत्या करनेवाला, और स्वतन्त्र न्याय के प्रति अन्याय करनेवाला है।

प्रश्न:—पूर्ण वीतराग होने पर भले ही दूसरे की सहायता की आवश्यकता न हो, किन्तु उससे पूर्व तो होती ही है ?

उत्तर:—न तो पूर्णता में किसी की सहायता होती है और न अपूर्णता में ही। क्योंकि जो पूर्णता में होता है वही प्रारम्भ में ही होता है। पूर्णता में स्वाधीन धर्म हो और अपूर्णता में पराधीन धर्म हो ऐसा स्वरूप नहीं हो सकता। जो पूर्णता में होता है उसी प्रकार का अंश यदि प्रारम्भ में हो तभी उसे प्रारम्भ कहा जाता है, अन्यथा वह प्रारम्भ ही नहीं है, पहले स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा होती है, और फिर स्थिरता होती है।

सम्पूर्ण वस्तुएँ अपने रूप से हैं और पररूप से नहीं हैं। जबकि दो वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं तब फिर एक-दूसरे की सहायता कहाँ रही ? शरीर शरीर में है, आत्मा में नहीं। इसी प्रकार आत्मा शरीर में नहीं किन्तु आत्मा में है। यदि शरीर और आत्मा एकत्रित हो जाएँ तो फिर वे अलग नहीं हो सकते। शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहकर भी परमार्थ: अलग हैं।

जिसे यह प्रतीति है कि अपना चैतन्यदल पर से सर्वथा भिन्न है, वह किसी महायुद्ध में संलग्न हो या राजकाज में पड़ा हो तथापि उसे अल्प बन्ध होता है। पर से अपना स्वरूप भिन्न मानने और पर का स्वामित्व अन्तरंग से छूट जाने की प्रतीति होने पर भी भरत चक्रवर्ती

ने छह खण्ड का राज्य किया, किन्तु उनके ऐसा विवेक बना हुआ था कि अन्तरंग में अपना सम्पूर्ण चैतन्यदल अलग ही विद्यमान है; और इस प्रकार पृथक् प्रतीति थी कि न तो पर पदार्थ मेरी सहायता कर सकते हैं और न मैं उनकी ही सहायता कर सकता हूँ। इस प्रकार ज्ञायक की प्रतीति में ज्ञातारूप से रहकर सम्यग्दर्शन सहित करोड़ों वर्ष राजकाज में व्यतीत किये, तथापि उनका एक भी भव नहीं बढ़ा। यह आन्तरिक प्रतीति की अपूर्व महिमा है।

ज्ञानी गृहस्थाश्रम में रहता हुआा व्यापार, राज-पाट इत्यादि की क्रिया में लगा रहे, तथापि वह उनका कर्ता नहीं होता, वह भलीभाँति जानता है कि एक रजकण भी उसके अपने कारण परिवर्तित होता है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण शुभभाव या अशुभ भाव में युक्त हो जाता है। वह दान देने के कार्य में भी प्रवृत्त होता है, और शारीरिक उपचार भी करता है, किन्तु वह पर की क्रिया का या विकल्प का कर्ता नहीं होता। मात्र पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण वैसे भाव हो जाते हैं।

अज्ञानी जीव अपने को जड़ की क्रिया का कर्ता मानता है, विकल्प का भी कर्ता मानता है। रुपये-पैसे का मिलना, प्रतिकूलता का दूर होना, निरोगता का होना—यह सब पुण्योदय पर निर्भर है। इन सब अनुकूलताओं के होने में पुण्योदय हो तो उस उदय के अनुकूल निमित्त स्वतन्त्रतया अपने-अपने कारण से विद्यमान होते हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

दूसरों को दानादि देने के जो भाव होते हैं सो वह स्वतन्त्र कारण से होते हैं, और दूसरों को जो दान इत्यादि मिलता है सो वह भी स्वतन्त्र कारण से मिलता है। दूसरे को दान देने के भाव जब होते हैं तब तृष्णा कम करके पुरुषार्थ के द्वारा स्वयं शुभभाव में प्रवृत्त होता है और प्रस्तुत जीव को उस प्रकार की अनुकूलता उसके अघातिय कर्म के उदयानुसार होती है। दोनों कार्य स्वतन्त्र होते हैं तथापि दोनों का कभी-कभी मेल हो जाता है, इसलिए अज्ञानी जीव पर का कर्ता बनता है कि मैंने इसे दान दिया, मैंने इसे सुखी किया है। शरीर के हलन-चलन और बोलने इत्यादि की क्रिया स्वतन्त्र होती है तथापि उस इच्छा के अनुकूल उदय के कारण इच्छानुसार होता हुआ देखकर अज्ञानी जीव मानता है कि यह क्रिया मेरे द्वारा होती है परन्तु इच्छा करने में आत्मा स्वयं प्रवृत्त होता है, इसलिए अपनी पर्याय में विकार होता है और शरीर की जो अनुकूल क्रिया होती है, सो वह भिन्न कारण

से होती है। अनुकूल उदय के कारण इच्छा और शरीर की हलन-चलनादि क्रिया का- दोनों का लगभग सम्बन्ध होता है, इसलिए अज्ञानी मानता है कि जड़ की क्रिया मेरे द्वारा होती है। किन्तु यदि हो सकता हो तो जब लकवा मार जाता है तब इच्छित क्रिया क्यों नहीं कर सकता ? जो एक समय कर सकता है वह सर्वदा कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि कोई किसी की क्रिया नहीं कर सकता, जड़-चैतन्य दोनों त्रिकाल स्वतन्त्र और पृथक् पदार्थ हैं, इसलिये दोनों की क्रिया भी स्वतन्त्र अलग-अलग हैं। जड़ की क्रिया ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी कर ही नहीं सकता, किन्तु अज्ञानी जीव अज्ञान अवस्था में शुभाशुभ परिणाम का कर्ता होता है।

ज्ञानी शुभाशुभ परिणाम के भी कर्ता नहीं होते, तथापि वे अशुभभाव को दूर करने के लिये दान-पूजादि के शुभभावों में युक्त होते हैं। चारित्र दोष में—वीर्य की मन्दता को लेकर ज्ञानी का वीर्य अस्थिरता में प्रवृत्त होता है, इसलिए वह बाहर से कर्ता मालूम होता है, किन्तु वास्तव में तो वह मात्र ज्ञाता है, कर्ता नहीं। ज्ञानी के यदि व्यापार या राजकाज करने के विकल्प होते हैं तो भी व उन विकल्पों का मात्र ज्ञाता होता है। जिस समय राग-द्वेष इत्यादि के भाव होते हैं उसी समय ज्ञानी उन्हें जानता है। भूमिकानुसार निरन्तर वह उनका ज्ञाता है, किन्तु कर्ता नहीं। वीर्य की मन्दता के कारण वह युक्त हो जाता है, उससे राग-द्वेष भी हो जाता है, किन्तु उसके स्वामित्वबुद्धि नहीं होती। ज्ञानी के बाह्य शरीरादि की क्रिया और आन्तरिक विकल्प होते हैं किन्तु स्वामित्वबुद्धि नहीं होती। राग-द्वेष हो जाता है किन्तु कर्तृत्व-बुद्धि नहीं होती। ज्ञानी के पर से भिन्न निराली आत्मप्रतीति सहज ही वर्तमान रहा करती है। वह समझता है कि यह राग पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण है, और वह राजसिंहासन पर बैठा हुआ अपने को विष्टा के ढेर पर बैठा हुआ मानता है। यदि इसी क्षण पुरुषार्थ प्रगट करके वीतराग हुआ जा सकता हो तो ज्ञानी ऐसी भावना भाता कि यह मुझे कुछ नहीं चाहिए। ऐसे आन्तरिक प्रतीतिवान धर्मात्मा संसार में थे, किन्तु वे एकावतारी हो गये हैं।

अज्ञानी पुरुष ऐसी प्रतीति के बिना त्यागी हुआ, नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, राजपाट छोड़ा, रानियों का त्याग किया और त्यागी होकर अरबों वर्ष तक जंगल में रहा, और वह इतना विरक्त रहा कि उसे यह भी ध्यान न हुआ कि मेरी कौन वन्दना कर रहा है, एक-

एक वर्ष के उपवास किये तथा ऐसे विविध पुण्य-परिणाम किये, किन्तु साथ ही वह यह मानता रहा कि पर में मेरा गुण प्रगट होता है, और उसने यह नहीं माना कि मुझमें अनन्त गुण भरे हुए हैं, उसमें से गुणों की पर्याय आती है। और इस प्रकार यह मानकर कि पर से मुझे गुण-लाभ होता है, ऐसी शल्यपूर्वक त्यागी हुआ, तथापि वह एकरहित शून्य के समान ही रहा। स्वरूप-प्रतीति के न होने से उसका एक भी भव कम नहीं हुआ।

जबकि पहले धर्मात्मा अज्ञानी था तब निर्धन था और फिर ज्ञानी होने के बाद बाह्य संयोग अच्छे हो गये हों तथा राजकाज में संलग्न हो, तथापि उसे यह प्रतीति होती है कि मैं अपने आत्मा में दृष्टि डालने से बढ़ता हूँ, बाह्य संयोगों के बढ़ने से मैं नहीं बढ़ता और न उनसे मेरे आत्मा में कोई हानि ही होती है। बाह्य संयोगों के बढ़ जाने पर भी ज्ञानी को यह प्रतीति होती है कि एक रजकण भी मेरी वस्तु नहीं है, पर पदार्थ से मुझे कोई सहायता नहीं मिलती, मैं पर से निराला चिदानन्द आत्मा हूँ, जो ऐसे आत्मा की प्रतीति में विराजमान है वह मुक्ति के मार्ग में जा पहुँचा है, और वह अल्प काल में ही मुक्ति प्राप्त करेगा। ज्ञानी के बाह्य संयोग बढ़ गये हों और अज्ञानी सब कुछ छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि हो गया हो किन्तु उसके भीतर यह शल्य विद्यमान है कि मैंने इन बाह्य पदार्थों का त्याग किया है, इसलिए मुझे गुण-लाभ होगा, और यह प्रतीति नहीं है कि मुझमें अनन्त गुण विद्यमान हैं, उन गुणों पर दृष्टि डालने से गुण-पर्याय प्रगट होगी; इसलिए उसका एक भी भव कम नहीं होता।

श्रेणिक राजा को मात्र आत्मप्रतीति थी, स्थिरता विशेषरूप प्रगट नहीं हुई थी तथापि वे एकावतारी हो गये हैं, यह सम्यग्दर्शन की महिमा है। श्रेणिक राजा का जीव आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होगा। सम्यग्दर्शन होने के बाद सम्यग्दर्शन की भूमिका में अपूर्णदशा है, इसलिए जो शुभराग विद्यमान हो उससे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। परवस्तु मेरी नहीं है, ऐसी प्रतीति हो कि तत्काल ही समस्त वस्तुएँ छूट जाएँ ऐसा नियम नहीं है। क्रमशः राग के छूटने पर परवस्तु भी छूट जाती हैं। ऐसा राग और परवस्तु का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

चतुर्थ गुणस्थान में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि को पर से भिन्न अपने पूर्ण आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है। जैसा अनुभव सिद्ध भगवान को होता है, वैसा आंशिक अनुभव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को होता है। और वह जब चौथे गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान में

आ जाता है, तब स्वरूपरमणता विशेष बढ़ती है। वहाँ जितने अंश में स्वरूपस्थिरता बढ़ती है, उतने अंश में राग छूट जाता है, और उतने ही प्रमाण में परवस्तु का सम्बन्ध भी छूट जाता है, तथा व्रत के शुभपरिणाम होते हैं, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। व्रत के परिणाम पुण्यबन्ध के कारण हैं, और अन्तरंग में जो पुरुषार्थ के द्वारा सहज दशा बढ़ी और आसक्ति छूटी सो वह निर्जरा का कारण है। पंचम गुणस्थान के बाद पुरुषार्थ के द्वारा सहजदशा के बढ़ने पर छट्ठा गुणस्थान होता है। छट्ठे गुणस्थान में पुरुषार्थ के द्वारा सहजदशा बहुत बढ़ जाती है, और राग बहुत कम हो जाता है, जिससे वहाँ वस्त्र भी छूट जाते हैं, और नग्न दिगम्बर मुनि हो जाता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

उस मुनित्व की भूमिका में स्वरूपरमणता अधिकाधिक बढ़ती जाती है, और वह मुनि अन्तर्मुहूर्त में छट्ठे और अन्तर्मुहूर्त में सातवें गुणस्थान में झूलते रहते हैं। जब वे छट्ठे गुणस्थान में होते हैं तब उपदेश स्वाध्याय, शास्त्र-रचना, भगवान के दर्शन, स्तुति और आहारादि के विकल्प होते हैं, तथापि वे छट्ठे गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहते। क्षणभर में चैतन्यपिण्ड राग से अलग होकर स्वयं में लीन होता है। जब मुनिराज आहार या विहार करते हों या उपदेश देते हों उस समय भी प्रतिक्षण चैतन्यपिण्ड पर से अलग होकर स्वरूप में लीन होता है, इस प्रकार मुनि छट्ठे, सातवें गुणस्थान में झूलते रहते हैं। उन उन के पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नहीं हुई है; इसलिए उपदेश इत्यादि के और पंच महाव्रत के जो शुभ परिणाम होते हैं, वे पुण्यबन्ध के कारण हैं और जो अन्तरंग दशा प्रगट हुई है, वह मोक्ष का कारण है।

आत्मप्रतीति के बिना किये जानेवाले व्रत, तप आदि बालव्रत और बालतप कहलाते हैं। तप दो प्रकार के हैं, एक पण्डिततप और दूसरा बालतप। जो तप आत्मप्रतीति के बिना किया जाता है, वह बालतप है और जो आत्मप्रतीति के बाद आन्तरिक एकाग्रता होने से वृत्ति छूट जाती है, सो पण्डिततप है, आनन्दमूर्ति आत्मा में स्थिर होने से इच्छा का टूट जाना या अतीन्द्रिय आनन्द-रस का स्वाद लेने से इच्छा का टूट जाना ज्ञानी का तप है, और आत्मप्रतीति रहित जो तप है, सो अज्ञानी का तप है।

अब सातवीं बात कहते हैं—समचतुरस्र संस्थान आत्मा में नहीं है, छह प्रकार के शरीर का आकार आत्मा में नहीं है।

१- समचतुरस्र संस्थान—पद्मासन स्थित मनुष्य के शरीर को नापा जाए और वह चारों ओर से एक समान ही आये—ऐसा जड़ का आकार आत्मा में नहीं है, आत्मा उससे भिन्न है, आत्मा में अपने असंख्यात प्रदेशों का अरूपी आकार है।

२- न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान—पेट से ऊपर का भाग वटवृक्ष की भाँति लम्बा-चौड़ा और नीचे का भाग छोटा हो। यह सब शरीर का आकार है, वह अरूपी आत्मा का आकार नहीं है।

३- स्वाति संस्थान—शरीर के नीचे का भाग स्थूल हो और ऊपर का भाग पतला या छोटा हो। यह सब जड़ का आकार है, आत्मा में ऐसी आकृति नहीं है।

४- कुब्जक संस्थान—शरीर कुबड़ा हो, कूबड़ निकल आयी हो! यह आकार भी शरीर का है, आत्मा का नहीं।

५- वामन संस्थान—शरीर अत्यन्त ठिगना हो। यह आकार भी शरीर का है, आत्मा का नहीं।

६- हुंडक संस्थान—शरीर का आकार और अंगोपांग बेडौल हों। यह भी आत्मा का आकार नहीं है।

यह छहों आकृतियाँ जड़ की हैं, आत्मा की नहीं। जो तुझमें नहीं है, उनका आश्रय या अवलम्बन मत मान, किन्तु आत्मा अखण्ड, पूर्ण स्वाधीन तत्त्व है, उस पर दृष्टि लगा तो आत्मस्वभाव प्रगट होगा।

अब यहाँ आठवीं बात संहनन के सम्बन्ध में कहते हैं। हड्डियों की सुदृढ़ता को संहनन कहते हैं, वह छह प्रकार का है।

वज्रवृषभनाराचसंहनन अत्यंत सुदृढ़ होता है। जब केवलज्ञान होता है, तब वह संहनन होता है। कोई कहता है कि धर्म साधन के लिये वज्रवृषभनाराचसंहनन आवश्यक है, उसके बिना न तो धर्म होता है और न केवलज्ञान ही प्रगट होता है। उसके समाधानार्थ कहते हैं कि—यह शरीर तो पुद्गल का पुतला है, जो कि आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकता। फिर वह आत्मा के लिये कैसे सहायक हो सकता है? जब केवलज्ञान होता है तब शरीर की हड्डियों की ऐसी सुदृढ़ता होती है। हड्डियों की वह सुदृढ़ता उस समय मात्र

विद्यमान होती है, वह आत्मा को धर्म नहीं करवा देती या वह केवलज्ञान प्रगट नहीं करवा देती। एक तत्त्व के भीतर दूसरा तत्त्व प्रविष्ट हो ही नहीं सकता, तब फिर वह आत्मा को लाभ या सहायता कैसे पहुँचा सकता है। जहाँ यह कहा कि केवलज्ञान के समय हड्डियों की ऐसी सुदृढ़ता होती है, वहाँ वह उन हड्डियों को ले बैठा है ? किन्तु मैं पर के आश्रय या आधार से रहित हूँ, मेरा कोई सहायक नहीं है, मेरी हानि-लाभ मुझसे ही होता है, ऐसे स्वतन्त्र तत्त्व की जिसे खबर नहीं है वह चौरासी के अवतार में खो जाएगा, और जहाँ मरण-समय आयेगा वहाँ हाहाकार करने लगेगा। करोड़ों रुपया हो तथा शरीर अच्छा, सुन्दर, सुदृढ़ हो तो भी मरण-समय आत्मप्रतीति के बिना कोई शरण नहीं हो सकता। इस प्रथम संहननवाले अनन्त जीव नरक में भी गये हैं। ऐसा संहनन अनन्त बार मिला तथापि आत्मा का कल्याण नहीं हो सका, आत्मकल्याण तो आत्म-प्रतीति से ही होता है। अनन्त बार ऐसा संहनन प्राप्त करके भी आत्मप्रतीति नहीं की इसलिए कोई लाभ नहीं हुआ। यदि संहनन ही लाभकारक हो तो वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले नरक में न जाएँ, सबको मोक्ष ही जाना चाहिए। किन्तु इस संहननवाले अनन्त जीव नरक में गये हैं ऐसे अनेक शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि संहनन आत्मा के लिय लाभकारक नहीं है, किन्तु अपने पुरुषार्थ के द्वारा आत्मप्रतीति और स्थिरता करे तो आत्मा को लाभ हो।

संहनन जड़ है और आत्मा चैतन्य है, इसलिए संहनन आत्मा का स्वरूप नहीं है, छहों संहनन अनुक्रम से एक-दूसरे से हीन हैं, संहनन के छह प्रकार हैं— वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन। इन संहननों से आत्मा भिन्न है, आत्मा ज्ञानज्योति है, उसकी श्रद्धा करके स्थिरता करे तो केवलज्ञान प्राप्त होता है। संहनन जड़-पुद्गल द्रव्य की रचना हैं, इसलिए वे आत्मानुभव से भिन्न हैं।

अब नववीं बात कहते हैं—राग आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो वीतराग स्वरूप है। जितने भी राग के प्रकार हैं, उसमें से कोई भी जीव के स्वभाव में नहीं हैं, अशुभराग को दूर करने के लिये देव, गुरु, धर्म का शुभराग हुए बिना नहीं रहता, किन्तु धर्मात्मा उस राग को अपना स्वरूप नहीं मानते। पुण्यराग या पापराग दोनों आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। जो प्रीतिरूप राग है सो आत्मा का स्वरूप नहीं है। अशुभराग से पापबन्ध

और शुभराग से पुण्यबन्ध अवश्य होता है, किन्तु त्रिकाल में उनसे धर्म नहीं होता। यदि राग से अलग न हो तो वीतराग नहीं हो सकता, और वीतराग हुए बिना स्वतन्त्र नहीं हो सकता। रागादि तथा क्षणिक भेद के ओर की रुचि छोड़कर चैतन्य की रुचि करना अविनाशी की ओर झुकाव है। राग को तोड़ने की शक्ति सत् की प्रतीति में आ जाती है। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा की पर्याय में अशुद्ध उपादान के कारण राग होता है किन्तु वह आस्रवतत्त्व है—जड़ है क्योंकि चैतन्य के अनुभव से राग का अनुभव भिन्न ही है।

जीवों को ऐसा लगता है कि जो राग है सो मैं हूँ, मैं रागरहित कैसे हो सकता हूँ? किन्तु अरे भाई! विकारी राग कहीं तेरा स्वरूप हो सकता है? यदि तेरा स्वरूप हो तो सदा तेरे साथ रहना चाहिए। किन्तु राग तो क्षणिक है, वह क्षण-क्षण में बदल जाता है। यदि कोई शत्रु आ जाए तो उस पर द्वेष होता है, और उसी समय यदि अपना मित्र आ जाए तो द्वेष मिटकर राग हो जाता है। इस प्रकार राग-द्वेष बदलते रहते हैं। यदि राग-द्वेष अपना स्वरूप हो तो चाहे जिस अवसर पर रागरूप ही बना रहना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए वह अपना स्वभाव नहीं है।

जो लड़की बीस वर्ष तक अपने माँ-बाप के घर रहकर वहीं राग को केन्द्रित किये हुए थी, वही विवाह के बाद ससुराल जाकर अपने ममत्व को—राग को उस ओर बदल देती है। इस प्रकार क्षणभर में वह परिवर्तन हो जाता है। राग पुण्य का हो या पाप का, किन्तु दोनों आत्मा के स्वरूप नहीं है। राग चिरकाल आत्मा के स्वरूप में है ही नहीं क्योंकि वह आत्मारूप नहीं रहता। जिसे ऐसे स्वरूप की खबर नहीं है, वह कौन सा मार्ग ग्रहण करेगा? यदि सच्चे मार्ग को न जानकर विपरीत मार्ग पर चल देगा तो सत्यमार्ग और भी दूर होता जाएगा। राग आत्मा की पर्याय में होता है किन्तु वह दुःखरूप है, इसलिए आत्मा का स्वरूप नहीं है, किन्तु जड़ है।

अब दसवीं बात कहते हैं—द्वेष भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह क्षणिक है। द्वेष बदलकर राग-द्वेष हो जाता है, यदि द्वेष आत्मा का स्वभाव हो तो वह एक सा ही बना रहना चाहिए; किन्तु वह एकरूप नहीं रहता। द्वेष दुःखरूप है, इसलिए वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। जब किसी व्यक्ति के साथ द्वेष हो जाता है, तब इतनी भारी अनबन हो जाती है

कि उसका मुँह देखना भी पाप समझने लगता है, किन्तु यदि वह नम्र होकर उसके पास आकर क्षमा-याचना करता है तो वह अपने परिणामों को बदलकर कहता है कि मुझे आपके साथ अब द्वेष नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि द्वेषभाव भी क्षणिक है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के स्व-स्वभाव की पर्याय भी समय-समय पर बदलती है, किन्तु उसकी जाति एकरूप रहकर बदलती है, लेकिन विकारी पर्याय आत्मा के स्वभाव की (जाति की) नहीं है, और प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न रूप में बदलती रहती है। वह एकरूप नहीं है, इसलिए आत्मा का स्वभाव नहीं है। यद्यपि द्वेष आत्मा की पर्याय में होता है, किन्तु वह आत्मा का असली स्वभाव नहीं है, उसमें जड़ का अवलम्बन है इसलिए वह जड़ है। धर्मी जीव समझता है कि राग-द्वेष की विकारी पर्याय मेरा स्वरूप नहीं है। मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण वह मेरी पर्याय में होती है।

अब ग्यारहवीं बात कहते हैं—यथार्थ तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप अर्थात् अप्राप्तिरूप मोह जीव के नहीं हैं, यथार्थतत्त्व के अनादररूप मोह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मतत्त्व नहीं किन्तु परतत्त्व मेरी सहायता करेगा, ऐसी मान्यता मोह है। आत्मा पर दृष्टि न जाकर पर पदार्थ पर दृष्टि लगाना मोह है। आत्मा पर से भिन्न ज्ञायकस्वरूप है, उस स्वरूप को भूल जाना और परस्वरूप का आश्रय लेना मोह है। जो पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख मानता है, उसे यथार्थ तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। यथार्थ तत्त्व आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसे दृष्टि में न लेना सो मोहभाव है। उस मोहभाव का फल संसार है। आचार्यदेव कहते हैं कि तुझे यथार्थ तत्त्व समझ में नहीं आता इसलिए तू आकुलित है। मिथ्याभावरूप मोह आत्मा का स्वरूप नहीं है। यद्यपि वह चैतन्य की अवस्था में होता है, किन्तु उसमें पर का निमित्त है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

लोग तमाम सांसारिक कार्यों में—डॉक्टरी और वकालत आदि में युक्ति लगाते हैं और तत्सम्बन्धी बातों को समझते हैं, किन्तु जहाँ तत्त्व की बात आती है, वहाँ कहते हैं कि आप यह क्या कह रहे हैं ? हमारी समझ में कुछ नहीं आता, और जो हम समझते हैं, उसे आप व्यर्थ कह रहे हैं ! इस प्रकार की मानसिक व्याकुलता ही मोह है। किन्तु हे भाई ! समझ में नहीं आता ऐसी व्याकुलता तेरे स्वरूप में नहीं है। अर्थात् तत्त्व के परिचय से तत्त्व की अप्राप्तिरूप मोह व्याकुलता दूर हो सकती है। इसलिए आकुलित मत हो भगवान

आत्मा आकुलता का नाश करनेवाला है, रक्षक नहीं। समझ में नहीं आता और तात्त्विक बात जमती नहीं यह सब मोहजनित आकुलता है, इसलिए आत्मतत्त्व की जिज्ञासा पूर्वक यथार्थ तत्त्व को पहिचान। फिर देख कि यह सब मोह के मुर्दे यों ही पड़े हुए हैं। मोह तेरे स्वरूप में नहीं है इसलिए आकुलित मत हो। यदि निराकुलता पूर्वक पुरुषार्थ करे तो यह सब समझ में आ सकता है, और सत्य के समझ लेने से मोह भी दूर हो सकता है, मोह तेरा स्वरूप नहीं है; किन्तु तू निराकुल अविनाशी चिदानन्दस्वरूप है। तेरी चैतन्य-अवस्था में अपने को भूलनेरूप मोह होता है, तथापि वह तेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु जड़ है।

अब बारहवीं बात कहते हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिनके लक्षण हैं, वे समस्त प्रत्यय जीव के नहीं; क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं इसलिए अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

आत्मा ज्ञान, सुख आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है, इसे भूलकर यह मानना कि—इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है अथवा पुण्य-पाप के परिणाम से मुझे सहायता मिलती है, सो मिथ्यात्व है। विपरीतदृष्टिवाला जीव स्वाश्रित ज्ञान का तिरस्कार और विषयों में सुख मानता है, और वह उन्हें स्थायी समझता है, इस प्रकार उसकी दृष्टि सदा विषयों पर रहती है। ज्ञानी को अस्थिरता के कारण राग हो जाता है किन्तु वह विषयों में जरा भी सुख नहीं मानता। वर्तमान विषयों के प्रति क्षणिक राग होकर छूट जाता है, उसकी दृष्टि त्रिकाल आत्मा पर रहती है। ज्ञानी के अल्प राग होता है, किन्तु उन्हें राग का राग नहीं होता। ज्ञानी को विषयों की प्रधानता नहीं है; किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा पर होती है, इसलिए आत्मा की ही प्रधानता है। अज्ञानी की दृष्टि पर पदार्थों पर होती है, इसलिए उसे विषयों की प्रधानता है, उसे विषयों के प्रति बहुमान है, और आत्मा के प्रति नहीं है। मिथ्यात्व भाव का अर्थ है भ्रान्ति का भाव। आत्मा का स्वभाव भूलकर संयोगी भाव को अपना मानना मिथ्यात्व है, वे सब पुद्गल के परिणाम हैं, आत्मस्वभाव नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्य की पर्याय में होते हैं, किन्तु चैतन्य के अविकारी अनुभव से उनका अनुभव भिन्न है, इसलिए वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु जड़ हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग—यह चारों प्रत्यय अर्थात् आस्रव जीव के नहीं

हैं। आत्मा में जो मलिन पर्याय होती है, वह और मलिनता का कारण प्राप्त करके जो नवीन कर्म आते हैं, सो आस्रव है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, इन्द्रपद, देवपद इत्यादि में सुख मानना, और अपने में जो सुख है उसे भूल जाना सो मिथ्यात्व है, अशुद्ध निश्चयनय से मिथ्यात्व अपने चैतन्य की अवस्था में होता है, और जड़ में वे भाव नहीं होते। किन्तु वह मिथ्याभाव आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए जो संयोगी भाव होता है, वह उसी का है अर्थात् जड़ का है। वह अपने चैतन्य का स्वभाव नहीं है ऐसा स्वसन्मुख होकर जानना, मानना और स्वरूप में स्थिर होना स्वतन्त्र सुख का उपाय है।

'ते नरा सुखमिच्छन्ति नेच्छन्ति सुख कारणं'

सर्व जीव सुख चाहते हैं किन्तु सुख के कारणों को ढूँढ़ने की इच्छा नहीं करते, सुख तो आत्मा के पवित्र स्वभाव में है किन्तु लोग पर में सुख की कल्पना करते हैं। आत्मा द्रव्य क्या है, उसकी पर्याय क्या है ? यह जानकर उसकी प्रतीति कर। जो द्रव्य है उसमें गुण और पर्याय भी होती है, तथा जो गुण होता है सो अपना प्रयोजनभूत कार्य किया करता है, जैसे—ज्ञानगुण जानने का, और चारित्रगुण रमणता का कार्य करता है, इसी प्रकार अनन्त गुण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं, वह पर्याय है। सिद्धों में भी अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें प्रति समय होती ही रहती हैं, प्रत्येक गुण अपना-अपना कार्य किया करता है, आत्मा ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है उसका परिचय कर, सुख तेरे आत्मा में है पर में नहीं। आत्मा टंकोत्कीर्ण सच्चिदानन्द मूर्ति है, इसका विश्वास न करके पर का विश्वास करना सो मिथ्यात्व है। देह में विराजमान चैतन्यप्रभु का अनादर करके पर का आदर करता है अर्थात् पिता के शत्रु से मेल रखकर पिता का अनादर करता है। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति परमात्मस्वभाव का अनादर करके विरोधी तत्त्व के साथ मेल रखना—उसे अपना मानना सो शत्रु से प्रीति करने के समान है; संयोगीभाव का अनादर करना सो पिता का अनादर करने के समान है।

अविरति का अर्थ है अत्याग भाव। ज्ञानी को विषयों की रुचि नहीं होती किन्तु रुचि के छूट जाने पर भी कुछ आसक्ति रह जाती है, वही अविरति भाव है। अज्ञानी को त्रिकाल पर वस्तु के प्रति रुचि रहती है और ज्ञानी को नहीं रहती, किन्तु अस्थिरता के कारण

वर्तमान में क्षणिक आसक्ति रहती है, उसे निरन्तर हेय समझते हैं।

ज्ञानी होने के साथ जब तक पूर्ण वीतराग नहीं होता तब तक बीच में साधक स्वभाव होता है। आत्मस्वभाव के समझ लेने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता, किन्तु पुरुषार्थ करना पड़ता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक को दूर करते हुए अस्थिरता के कारण कुछ लचक आ जाती है, कुछ आसक्ति रह जाती है। ज्ञानी समझता है कि संयोगजनित पुण्य-पापादि मुझे शरण नहीं हैं, किन्तु मेरा चैतन्यमूर्ति स्वभाव ही मुझे शरणभूत है। ऐसी प्रतीति होने पर भी अल्प आसक्ति रह जाती है। अनन्तानुबन्धी कषाय के दूर हो जाने से अल्प आसक्ति रह जाती है; वह अल्प आसक्ति क्रमशः स्थिरता के द्वारा दूर करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा। अत्यागभाव आत्मा की पर्याय में होता है, किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा का अनुभव अत्यागभाव से भिन्न है, इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नहीं है किन्तु जड़ है। आसक्ति में मेरा त्रिकाल स्वभाव नहीं है ऐसी दृष्टि के बल से वह छूट जाती है, इसलिए जड़ है।

आत्मा की पहिचान के बिना कोई शरणभूत नहीं है। मरते समय आँख की पलक भी नहीं हिला सकता, अर्थात् वह आँख भी शरणभूत नहीं होती, शरीर का कोई अंग शरणभूत नहीं होता, बड़े-बड़े वैद्य और डाक्टर भी शरणभूत नहीं होते, दवा-औषधोपचार भी शरणभूत नहीं होते, व्यर्थ ही कॉडलिवर जैसी अपवित्र औषधियाँ खाकर दुर्गति में चला जाएगा, किन्तु वे औषधियाँ तुझे नहीं बचा सकेंगी, कोई परवस्तु तुझे शरण नहीं हो सकती, मात्र भगवान आत्मा ही तुझे शरणभूत है। पर, पर के स्थान पर है, परमाणु, परमाणु के और चैतन्य, चैतन्य के घर है, इस प्रकार विभाजन करके स्वाश्रय द्वारा स्थिर होना ही शरणभूत है। मेरा आत्मा ही मुझे उत्तर देगा, इसके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी और श्वास आदि कोई भी शरणभूत नहीं है। भगवान आत्मा के अतिरिक्त कोई भी तुझे शरणभूत नहीं है, ऐसा जानना-मानना और उसमें स्थिर होना ही शरणभूत है।

कषाय के चार प्रकार हैं—क्रोध-मान-माया और लोभ। इनमें से क्रोध और मान द्वेष में, तथा माया और लोभ राग में समाविष्ट होते हैं। चारों कषाय आत्मा के नहीं हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। उनका अनुभव चैतन्य के अनुभव से भिन्न है। कषाय चैतन्य की अवस्था में होते हैं किन्तु चैतन्य का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह पुद्गल परिणाम हैं।

जब पिता पुत्र को साथ में रखना चाहता है तब बड़े प्यार से 'मेरा पुत्र, मेरा पुत्र' कहा करता है, और जब अलग करना चाहता है तब भाव बदल जाते हैं, मानों वह उसका पुत्र ही नहीं है। इसी प्रकार आत्मा अज्ञानावस्था में कषायों को अपना मानता है, किन्तु जहाँ ज्ञान हुआ कि भावों में भेद आ जाता है कि यह क्रोधादिक मेरे नहीं हैं।

अज्ञानी जीव अज्ञानवश यह मानता है कि यह मेरा ग्राम है, यह मेरा मुहल्ला, यह मेरी गली है, और यह मेरा मकान है; किन्तु हे भाई! क्या यह सब कभी किसी के हुए हैं? जैसे 'घी का घड़ा' मात्र बोलने की एक रीति है, कहीं घड़ा घी का नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा शरीरवान है यह भी एक बोलने की रीति है, आत्मा कभी शरीरी नहीं होता। क्रोधादि कषाय भी आत्मा के नहीं हैं क्योंकि वे सब पुद्गल के परिणाम हैं। यह द्रव्यदृष्टि से कथन है। वह आत्मा की पर्याय में होती है किन्तु द्रव्य के स्वभाव में नहीं होती इसलिए जड़ कहा है। क्रोधादि का विकार त्रिकाल मेरे स्वभाव में नहीं है ऐसी दृष्टि के बल से वह छूट जाता है, इसलिए उसे जड़ कहा है।

योग=आत्मप्रदेशों के कम्पन को योग कहते हैं। जहाँ प्रदेशों का कम्पन होता है, वहाँ कर्म के रजकण आत्मा में प्रवेश करते हैं। जब आत्मप्रदेश अस्थिर होते हैं, तब कर्म के रजकण आत्मप्रदेश में बँधते हैं। केवलज्ञानियों के भी आत्मप्रदेशों का कम्पन होता है, इसलिए वहाँ भी एक समय का आस्रव मात्र होता है।

जब घी में मैल होता है तब घी मलिन दिखायी देता है, किन्तु उसके दूर हो जाने पर निर्मल दिखायी देता है, उसी प्रकार आत्मा में जब आस्रव का मैल होता है तब मलिन दिखायी देता है, किन्तु उसे दूर करने पर निर्मलता प्रगट हो जाती है। वे सब मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योगरूप आस्रव पुद्गल के परिणाम हैं, वे आत्मानुभूति से भिन्न हैं। आत्मा के वेदन से वह वस्तु भिन्न है। आत्मानुभव के समय वे आस्रव छूट जाते हैं, अनुभव के समय उस आस्रव की कोई वस्तु साथ में नहीं आती, इसलिए आत्मा के वेदन से वे सब वस्तुएँ भिन्न हैं।

जब जन्म हुआ तब शरीर का कोई नाम नहीं था, किन्तु माँ-बाप ने शरीर का नाम रख दिया और उसे यह मालूम हो गया कि यह मेरा नाम है, फिर वह उस नाम का ऐसा अभ्यासी हो गया कि जहाँ उसे किसी ने बुलाया कि पन्नालाल! तो तत्काल दृढ़तापूर्वक

उत्तर देता है कि 'जी'! किन्तु यदि कोई उसके आत्मा को बुलाये कि हे आत्मन्! तो उसका कोई उत्तर नहीं देता, क्योंकि उसे यह खबर ही नहीं कि स्वयं कौन है। वह अपने को भूला हुआ है, और पर-शरीर के नाम का अभ्यासी हो गया है। किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू अपने को भूल गया सो क्या यह तेरा लक्षण है? जैसे यदि पुत्र के बुरे लक्षण हो गये हों तो उसे पिता समझाते हुए कहता है कि बेटा! तुझे ऐसे उल्टे लक्षण शोभा नहीं देते। इसी प्रकार आत्मा, यह शरीर मेरा है, प्रतिष्ठा मेरी है, राग मेरा है, इत्यादिरूप से पर को अपना मानकर विपरीत मान्यता, अविरति और कषाय इत्यादि के विपरीत लक्षण में रत हो रहा है, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि यह तेरे आत्मा का लक्षण नहीं है, भगवान आत्मा ज्ञानलक्षणयुक्त जागृतज्योति चैतन्यस्वरूप है, और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग यह चारों आस्रव पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिए जड़ हैं, यह आस्रव चैतन्य के अनुभव से भिन्न है, चैतन्य का अनुभव चैतन्यस्वरूप से शुद्ध है।

अब तेरहवीं बात कहते हैं—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप जो आठ कर्म हैं, सो वे भी जीव के नहीं हैं। आठों कर्म आत्मा से बाह्य हैं, वे आत्मा के भीतर प्रविष्ट नहीं हैं, परन्तु वे बाह्य निमित्तरूप अवश्य हैं। यदि बाह्य निमित्तरूप न हों और ज्ञान की हीनाधिक अवस्था न होती हो तो समस्त जीवों में ज्ञान के विकास का जो अन्तर दिखायी देता वह नहीं दिखना चाहिए।

ज्ञानावरणीय कर्मः—

किसी मनुष्य की बुद्धि ऐसी तीव्र होती है कि वह जो कुछ एक बार पढ़ लेता है, वह सबका सब याद हो जाता है, और किसी की बुद्धि इतनी मन्द होती है कि वह वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी अक्षर-ज्ञान नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि तीव्रबुद्धि-मनुष्य ने पहले कषाय कम की थी इसलिए उसके ज्ञानावरणीय कर्म का कम बन्ध हुआ, और इसी से वर्तमान में ज्ञान का विकास अधिक दिखायी देता है; और मन्दबुद्धि-मनुष्य ने पहले कषाय अधिक की थी इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का अधिक बन्ध हुआ था जिससे उसके ज्ञान का विकास बहुत कम दिखायी देता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी किसी भी पुस्तक को एक बार पढ़कर याद कर लेते थे; उन्होंने मात्र सोलह वर्ष की आयु में

'मोक्षमाला' आदि की ऐसी सुन्दर रचना की थी पचास वर्ष का साधु भी नहीं कर सकता। उनका ऐसा बहुत अच्छा ज्ञान का विकास था, इस प्रकार कम-बढ़ विकास होना पूर्वकृत ज्ञानावरणीय कर्म के अधिक या कम बन्ध पर आश्रित है। सम्यक् ज्ञान प्रगट करना अपने वर्तमान पुरुषार्थ के आधीन है। सम्यग्ज्ञान पूर्वकृत विकास के अनुसार नहीं होता, किन्तु अपने वर्तमान पुरुषार्थ से ही होता है।

सबके ज्ञान का विकास एक-सा नहीं, किन्तु कम-बढ़ दिखायी देता है, इससे ज्ञानावरणीय कर्म सिद्ध होता है। जब अपने ज्ञान की अवस्था हीन परिणमित होती है, तब ज्ञानावरणीय कर्म को निमित्त कहा जाता है, किन्तु वह कर्म आत्मा के स्वभाव में नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्म—

दर्शन सामान्य एकरूप देखता है। यह चैतन्य भिन्न है, और जड़ भिन्न है, ऐसे भेद करके अर्थात् विशेष करके न देखे किन्तु जड़ सामान्य एकरूप अभेद देखे सो दर्शन है। यह प्रतीतिरूप दर्शन की बात नहीं, किन्तु अवलोकनरूप दर्शन की बात है। ऐसा दर्शन का व्यापार ज्ञानी-अज्ञानी सबके होता है। छद्मस्थ दशा में प्रथम दर्शनोपयोग होता है। उसका काल अन्तर्मुहूर्त है। किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है, उसके पूर्व की दशा छद्मस्थ जीव का दर्शनोपयोग है।

(१) जब बालक का जन्म होता है, तब तत्काल ही उसे सब एकसा मालूम होता है, सामान्य भेद किये बिना सब एक समान मालूम होता है, किन्तु जब उसे पालने में सुलाते हैं, तब उसे उसके स्पर्श का अनुभव होता है, और वह रोने लगता है, इस प्रकार उसे भेद करके ज्ञान होता है।

(२) जब कोई अपने को नाम लेकर बुलाता है, तब उसे जानने से पूर्व उस ओर उपयोग उन्मुख होता है, वह सामान्य-दर्शन है, तत्पश्चात् यह जान लिया कि कौन बुला रहा है, सो यह विशेष ज्ञान है।

इन दृष्टान्तों से यह ज्ञात होता है कि एक वस्तु को जानते हुए उस ओर से दूसरी वस्तु को जानने की ओर जो उपयोग जाता है, उसमें उस दूसरी वस्तु को जानने से पूर्व होनेवाला उपयोग का व्यापार दर्शनोपयोग है। एक विचार में से दूसरे विचार की ओर उपयोग जाते हुए दूसरे विचार में उपयोग पहुँचने से पूर्व होनेवाला बीच का व्यापार दर्शनोपयोग है। पर

विषय से रहित मात्र आत्मा का सामान्य व्यापार दर्शनोपयोग है। सामान्य एकरूप चैतन्यव्यापार दर्शन है, और विशेष भेद करके जानना सो ज्ञान है। दर्शनगुण को आवरण करनेवाला दर्शनावरणीय कर्म है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

वेदनीय कर्मः—साता और असाता के भेद से वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं। पूर्वभव में हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि के अशुभ परिणाम हुए हों तो उनके निमित्त से असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है, और फिर जब असाता वेदनीय कर्म उदय में आता है तब द्वेष में युक्त होना या न होना आत्मा के हाथ की बात है। असाता वेदनीय कर्म ऐसी सामग्री का संयोग कराता है, किन्तु उस प्रतिकूलता का स्वीकार करना या न करना आत्मा के हाथ की बात है। उस प्रतिकूलता के संयोग को इन्द्र, नरेन्द्र या धरणेन्द्र कोई भी बदलने को समर्थ नहीं हैं।

पूर्वभव में दया, दान या सत्य इत्यादि के शुभभाव किये हों तो उसके निमित्त से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। साता वेदनीय कर्म साता का संयोग कराता है, किन्तु उसमें अनुकूलता मानना या न मानना आत्मा के हाथ की बात है। नींव खोदते हुए यदि सोने-चाँदी का भण्डार निकल आये तो वह पुण्य का संयोग है, किन्तु उसमें हर्ष मानना आत्मा के गुण का अनादर है। साता-असातारूप वेदनीय कर्म आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह तो पुद्गल का परिणाम है। धर्मात्मा को भी कभी बाहर से असाता का और कभी साता का संयोग होता है, किन्तु वह सब पूर्वकृत कर्मानुसार होता है। महापापी को भी रोग न हो, और धर्मात्मा को रोग हो, तो यह सब पूर्वकृत कर्मप्रकृति का संयोग है। सनतकुमार चक्रवर्ती को मुनि होने पर सात सौ वर्ष तक गलित कोढ़ का भयंकर रोग रहा था, किन्तु वे ऐसी प्रतीतिपूर्वक आत्मसमाधि में-आत्मानन्द में लीन रहे कि रोग मेरा स्वरूप नहीं है, यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं तो पर से भिन्न चिदानन्द आत्मा हूँ। ऐसे भानपूर्वक आत्मा की समाधि, आनन्द, लीनता को रोग नहीं रोक सकता। इस प्रकार धर्मात्मा चक्रवर्ती के शरीर में मुनि होते हुए भी ऐसा रोग था और उधर नित्य पशुवध करनेवाले कसाई का शरीर निरोग हो सकता है, यह पापानुबन्धी पुण्य का फल है। पूर्वभव में कषायों को कुछ मन्द किया और उसमें अभिमान किया था जिसके फलस्वरूप कषायों को मन्द करने से मनुष्य हुआ और निरोग शरीर मिला, किन्तु वह मरकर नरक में जानेवाला है सो यह पापानुबन्धी पुण्य

है। साता और असातावेदनीय कर्म आत्मा में नहीं है, वह संयोगी वस्तु है, आत्मा का स्वभाव नहीं है।

मोहनीय कर्मः—इस कर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं; जब आत्मा भ्रान्ति की अवस्था में प्रवृत्त होता है, तब यह कर्म निमित्त होता है। काम, क्रोधादि के भाव स्वयं करता है, तब यह कर्म निमित्त होता है, किन्तु वास्तव में मोहनीय कर्म आत्मा में नहीं है। और जो आत्मा में नहीं है, वह आत्मा को हानि कैसे करेगा ? आत्मा में मोहकर्म नहीं है, तथापि यह माने कि मुझे मोहकर्म हानि पहुँचाता है—तो ऐसी विपरीत मान्यता के लिये भी जीव स्वतन्त्र है। किन्तु त्रैकालिक अकषाय ज्ञानतत्त्व को देखो तो वास्तव में मोहनीय कर्म आत्मा में है ही नहीं, इस प्रकार मोह का विश्वास न करना और आत्मा का विश्वास करना ही आत्मा का स्वरूप है।

आयुकर्मः—शरीर की स्थिति का नाम आयु है। आयुकर्म भी आत्मा के नहीं हैं, वह तो अक्षयस्थितिस्वरूप है। शरीर की स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा उससे अलग हो जाता है, उसके बाद वह एक समय को भी नहीं रुक सकता। जितनी शारीरिक स्थिति (आयु) पहले से लेकर आया है, उसमें एक पलभर की भी घटा-बढ़ी कोई नहीं कर सकता। चाहे जितना उपाय किया जाए किन्तु शरीर की स्थिति तो बँध जाती है, उसी प्रकार रहती है, उसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता।

कुछ लोग कहा करते हैं कि पर्वत की अमुक गुफा में ५०० या ७०० वर्ष के योगी विद्यमान हैं, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है, वर्तमान में इतनी आयु नहीं होती। कुछ लोग कहा कहते हैं कि श्वासनिरोध करके बैठने से मरण नहीं होता, किन्तु यह भी व्यर्थ है। चाहे जितना श्वासनिरोध करे, किन्तु जब आयुस्थिति पूर्ण होना होगी, तब वह पूर्ण हुए बिना नहीं रहेगी। आयु कोई कम-बढ़ नहीं कर सकता। जब सर्प काटता है और मनुष्य मर जाता है तब लोग यह समझते हैं कि बेचारा बेमौत मर गया; किन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि जब आयु पूर्ण हो रही हो तो विष चढ़ जाता है और वह मर जाता है; यदि आयु शेष होती है तो विष उतर जाता है, और वह जीवित रहता है, इस प्रकार आयु की स्थिति के अनुसार ही सब कुछ होता है।

आयुकर्म के चार प्रकार हैं—मनुष्यायु, देवायु, तिर्यंचायु और नरकायु। यह आयुकम्र

भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गल का परिणाम है। ऐसे पृथक् आत्मा की श्रद्धा कर, यही तेरा स्वरूप है।

नामकर्मः—शारीरिक बाह्य संयोगों का मिलना, शरीरादि की रचना का होना, अच्छा कण्ठ मिलना, शरीर की हड्डियों का सुदृढ़ होना, यश-अपयश का होना, शरीर के विविध आकारों का होना, इत्यादि सब नामकर्म का फल है। नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ हैं। वह सब पुद्गल के परिणाम हैं, आत्मा का स्वरूप उनसे भिन्न है।

गोत्रकर्मः—ऊँच-नीच कुल में जन्म लेने में गोत्रकर्म कारण है। किसी का जन्म भंगी के यहाँ होता है, तो किसी का ब्राह्मण के यहाँ। वह गोत्रकर्म आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा भंगी या ब्राह्मण नहीं है। यह सब गोत्रकर्म के कारण प्राप्त बाह्य फल है, यह पुद्गल के परिणाम हैं, मैं आत्मा तो ज्ञानानन्द हूँ, ऐसा विश्वास कर। गोत्र तो अनन्त बार आये और गये, किन्तु आत्मप्रतीति के बिना गोत्र को अपना माना इसलिए चौरासी में भ्रमण करना पड़ा; इसलिए संयोगीदृष्टि का त्याग कर और चिदानन्द भगवान आत्मा पर ही दृष्टि रख तथा उसी की श्रद्धा कर।

अन्तरायकर्मः—जो कर्म दानादिक करने में विघ्न डालता है, सो वह अन्तराय कर्म है। इसके पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म। यह अन्तराय कर्म भी तुझमें नहीं है। तेरा स्वरूप आनन्दघन, अनन्त वीर्य से परिपूर्ण है, यह विचारकर पुरुषार्थ करके वीतरागता प्रगट कर। अन्तराय कर्म जड़ है, वह तुझमें नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि हमारे पास सम्पत्ति तो है, किन्तु दानान्तराय कर्म टूटे तो दान दिया जाए? किन्तु यह सब व्यर्थ है। यदि तू तृष्णा कम करे तो दानान्तराय कर्म बाधक नहीं हो सकता। स्वयं पुरुषार्थ करके आत्मा की यथार्थ प्रतीति करना सो स्वयं अपने को दान देता है, यह अभ्यन्तर दान है।

लाभान्तराय कर्म का उदय आत्मा में नहीं है, लाभान्तराय कर्म का उदय हो तो बाह्य वस्तु न मिले, किन्तु अन्तरंग-आत्मा में लाभ लेने में लाभान्तराय कर्म बाधक नहीं होता। किन्तु बाह्य में रुपया-पैसा न मिले, बाह्य अनुकूलता न मिले इष्त्यादि सब लाभान्तराय कर्म का उदय है। आत्मा का परिचय करके निजानन्द स्वरूप प्रगट करने में लाभान्तराय

कर्म बाधा नहीं देता। लाभान्तराय कर्म जड़ है, वह आत्मा में नहीं।

जिसका एक बार भोग किया जाए वह भोग है। भोगान्तराय कर्म आत्मा के पुरुषार्थ करने में बाधा नहीं देता, और वह आत्मा का आनन्द लेने में भी बाधक नहीं होता; किन्तु वह बाह्य संयोगों में बाधक होता है। महान सम्पत्तिशाली होने पर भी शारीरिक रोग के कारण दो रोटियाँ भी न खा सके तो यह भोगान्तराय कर्म का उदय है। उसके उदय के समय शान्ति रखने में भोगान्तराय कर्म बाधा नहीं डालता।

जो बारम्बार भोगा जा सके वह उपभोग है। आत्मा के एक गुण की अनन्त पर्यायें होती हैं, इस अपेक्षा से गुण बारम्बार भोगा जाता है। उपभोगान्तराय कर्म आत्मा के आनन्द को बारम्बार भोगने में बाधा नहीं देता, आत्मा के आनन्द का बारम्बार भोग करना सो उपभोग है। बाह्य वस्तु बारम्बार न भोगी जा सके सो उपभोगान्तराय कर्म का उदय है, किन्तु वह उपभोगान्तराय कर्म आत्मस्वरूप को बारम्बार भोगने से रोकता नहीं है। स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता तब उपभोगान्तराय कर्म को निमित्त कहा जाता है।

वीर्यान्तराय कर्म जड़ है। यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो वह बाधक नहीं होता, किन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ न करे तो वीर्यान्तराय कर्म को निमित्त कहा जाता है। अन्तराय कर्म तेरा स्वरूप नहीं है।

संसारी जीव के साथ आठ कर्म लगे हुए हैं, उनकी १४८ प्रकृतियाँ हैं, एक-एक प्रकृति अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। आत्मा के आवृत्त होने में आत्मा से विरुद्ध प्रकार के रजकण ही निमित्त होते हैं।

आचार्यदेव ने ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म कहकर, आठों कर्म हैं—ऐसा व्यवहार कहा है। यद्यपि वे सब कर्म हैं अवश्य, किन्तु वे आत्मा में नहीं हैं। और उन कर्मों के निमित्त से आत्मा में होनेवाली ज्ञानादिगुण की अपूर्ण अवस्था भी है, परन्तु वह आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

अब चौदहवीं बात कहते हैं—

जो पर्याप्ति, योग्य और तीन शरीर के योग्य वस्तु (पुद्गल स्कन्ध) रूप नोकर्म है सो सब जीव के नहीं हैं। क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से आत्मानुभूति से

भिन्न है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन यह छह पर्याप्तियाँ हैं। जब जीव माता के उदर में आता है तब पर्याप्ति बँधती हैं, इसलिए वह पुद्गल का स्वरूप है, आत्मा का स्वरूप नहीं। इस प्रकार शरीर, आहार ग्रहण, भाषा का बोलना इत्यादि सब आत्मा का स्वरूप नहीं है। भीतर जो आठ पँखुड़ियों के कमल के आकार मन है, वह भी पुद्गल की रचना है आत्मा की नहीं। आत्मा के अतिरिक्त बाहर का जो जो संयोग मिलता है, वह सब पुद्गल का स्वरूप है आत्मा का नहीं। इस प्रकार ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरता करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे।

आहार लेना, श्वासोच्छ्वास लेना, भाषा बोलना, इत्यादि छह पर्याप्तियाँ प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रिय के बँधती हैं, जो कि सब पुद्गल की रचना है, वे पर्याप्तियाँ आत्मा में नहीं हैं। आत्मा आहार नहीं लेता, श्वासादि को नहीं हिलाता, भाषा नहीं बोलता, आत्मा के लिये मन सहायक नहीं है, आत्मा के शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं। आत्मा का स्वरूप ऐसा निराला है, किन्तु जो अभिमान करता है कि—यह सब मेरा है, मैं इसका कर्ता हूँ, सो मिथ्यात्व है। मात्र जो वस्तु सम्बन्धरूप से पायी जाती है, उसे अपने रूप माने तब तक हित नहीं होता। संयोगी वस्तु के साथ आत्मा का वास्तव में सम्बन्ध है ही नहीं। परवस्तु स्वतन्त्र परिणामी द्रव्य है, उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिए अपने स्वाधीन तत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रमणता करना सो यही मोक्ष का कारण और हित का उपाय है।

पहले जो पाँच शरीरों की बात आयी थी, उसमें शरीर की बात कही गयी है, और इस पर्याप्ति के कथन में औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीर योग्य पुद्गलों को लिया है। छह पर्याप्ति योग्य और तीन शरीर योग्य, वस्तुरूप नोकर्म है, ऐसा कहा है। पहले माता के उदर में शरीर, इन्द्रिय इत्यादि के सूक्ष्म पुद्गल बँधते हैं। छह पर्याप्तियाँ और तीन शरीर बँधते हैं यह कहकर आचार्यदेव ने व्यवहार कहा है, और छह पर्याप्ति योग्य होने की चैतन्य की अवस्था भी है ही। इस प्रकार चैतन्य की अशुद्ध अवस्था का व्यवहार बताया है, परन्तु वह सब आत्मा के नहीं हैं, यह कहकर परमार्थ बताया है।

अब पन्द्रहवीं बात कहते हैं—जो कर्मों के रस की शक्तियों के (अविभाग प्रतिच्छेदों के) समूहरूप वर्ग है, वह सब जीव के नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से आत्मानुभूति से भिन्न है।

जब आत्मा शुभाशुभभाव करता है, तब कर्मबन्ध होता है। कर्म परमाणुओं में जो रस देने की (फल देने की) शक्ति बँधती है, उसे अनुभाग (रस) कहते हैं। प्रत्येक कर्म के रजकण में फल देने की शक्ति है। जिन रजकणों में समान फल देने की शक्ति होती है, उसे अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। उन अविभाग प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं। अनुकूलता का मिलना और प्रतिकूलता का दूर होना इत्यादि सब कर्मरस का फल है। कर्मों के रस की शक्ति परमाणु की अवस्था है, जड़ की अवस्था है। आत्मा इनसे भिन्न है, इस प्रकार की प्रतीति का होना हित और सुख का मार्ग है।

कर्मरस के अविभागी प्रतिच्छेदों में यह कहा गया है कि कर्मरस आत्मा को अनुभव रस लेने से रोकता नहीं है, किन्तु तू अपने पुरुषार्थ की मन्दता से अटक जाता है। यद्यपि कर्मरस के अविभाग-प्रतिच्छेद हैं अवश्य, किन्तु वे किसी को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकते। कर्म रस कहकर आचार्यदेव ने सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ व्यवहार बताया है। यह सारा कथन करके आचार्यदेव ने जैनदर्शन का सम्पूर्ण व्यवहार उपस्थित किया है। सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से विनिर्गत ऐसा व्यवहार जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

अब सोलहवें कथन में कहते हैं कि—उन वर्गों के समूहरूप वर्गणा जीव के नहीं है।

समान शक्तिवाले वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। भगवान आत्मा वर्गणा के समूहरूप नहीं है, वर्गणा पुद्गल द्रव्य की रचना है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्थिर होना सो मोक्ष का उपाय है।

सत्रहवें कथन में स्पर्धक की बात है। मन्द-तीव्र रसयुक्त कर्मदलों के विशिष्ट न्यासरूप (वर्गणाओं के समूहरूप) स्पर्धक जीव के नहीं हैं। यहाँ न्यास (जमाव) कहकर यह कहा है कि कोई तीव्र रस से कोई मन्द रस से या ऐसे ही अनेकानेक प्रकार से भिन्न-भिन्न काल में बाँधे गये कर्म सब एक साथ उदय में आ जाएँ, सो उसे न्यास कहते हैं। इन परमाणुओं के स्पर्धक रूपी हैं और भगवान आत्मा अरूपी है। वे स्पर्धक पुद्गलद्रव्य की रचना है। भगवान आत्मा में वे स्पर्धक नहीं हैं, वे सब पुद्गल के समूह आत्मा में नहीं हैं। आत्मा का अनुभव उससे भिन्न है।

अब अठारहवें कथन में अध्यात्मस्थान की बात है। जब स्व-पर का एकत्व अध्यास हो, तब विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से पृथक्त्व जिनका लक्षण है, ऐसे अध्यात्मस्थान जीव के नहीं हैं।

अध्यात्मस्थान अर्थात् अध्यवसाय और अध्यवसाय अर्थात् विकारीभाव है। मूल पाठ में जो विशुद्ध शब्द है, उसका अर्थ शुभ परिणाम नहीं है। किन्तु वहाँ शुद्ध स्वभाव की बात है। उस विशुद्ध परिणाम से भिन्न जो पुण्य, पाप, शरीर, वाणी और मन की क्रिया है उसे और अपने आत्मा को एकरूप मानने का अध्यवसाय विपरीत अध्यवसाय है।

शरीर, वाणी और बाह्य निमित्त मेरी सहायता करेंगे, ऐसा भाव अध्यवसाय है। जब तक वह भाव होता है, तब तक कर्मबन्ध करता है और संसार में परिभ्रमण करता है। स्व-पर के एकत्व का भाव अध्यवसाय है। निर्मल पवित्र स्वभाव को भूलकर पर को अपना मानना सो विपरीत पुरुषार्थ है, कृत्रिम भाव है। आत्मा आनन्दघन, टंकोत्कीर्ण अकृत्रिम स्वरूप है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता को भूलकर पर में एकत्वबुद्धि करना सो अध्यवसाय है, वह अध्यवसाय आत्मा के स्वभाव में नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं। अध्यवसाय अपनी चैतन्य की अवस्था में होती है, किन्तु वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है।

स्व-पर के एकत्व के अध्यासवाले विकारी परिणामों से चैतन्य के निर्मल परिणाम भिन्न हैं। विकारी परिणाम लक्ष्य है, और निर्मल चेतनापरिणाम से भिन्न उसका लक्षण है। आत्मा लक्ष्य है और निर्मल चेतनापर्याय उसका लक्षण है। चैतन्य के निर्मल परिणाम से अध्यवसाय का भिन्न लक्षण है। वे सभी अध्यवसायस्थान जीव के नहीं हैं। स्व-पर के एकत्व की बुद्धि को ही मुख्यतया अध्यवसाय कहते हैं। अस्थिरता के अध्यवसाय को मुख्यतया अध्यवसाय नहीं कहते। आचार्यदेव ने पृथक्त्व लक्षण बताकर यह बताया है कि यह अध्यवसानस्थान अवश्य है और इस प्रकार व्यवहार बताया है; किन्तु वे परिणाम आत्मा के निर्मल परिणामों से भिन्न है, यह कहकर परमार्थ बताया है। अध्यवसाय चैतन्य की अवस्था में होता है, पुद्गल के परिणामों में नहीं; किन्तु उस अध्यवसान का पुद्गल की ओर झुकाव है, इसलिए उसे पुद्गल परिणाम कहा है।

पर को अपने रूप माने और पर से अपने को लाभ-हानि होना माने सो यह

वीतरागमार्ग नहीं है। आत्मा अखण्ड ज्ञानमूर्ति स्वतन्त्र स्वभाव है; उसका पर से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध मानना सो भगवान सर्वज्ञ का परमार्थ मार्ग नहीं है, किन्तु वह अपनी स्वच्छन्दता से माना हुआ मार्ग है। भीतर एक भी पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न हो वह मेरी है, और मैं उसका हूँ इस प्रकार एकमेकरूप से मानना सो मिथ्या अध्यवसाय है, विपरीत शल्य है, वह भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं, और वह वीतरागमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर अपना स्वभाव ही अपना माना जाता है, और पर का स्वभाव पर ही माना जाता है। अपने स्वभाव को पररूप और पर के स्वभाव को अपनेरूप न माने सो ऐसी निर्मल श्रद्धा-ज्ञान ही मोक्ष का सर्व प्रथम उपाय है।

अब उन्नीसवीं बात कहते हैं—भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस का परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे अनुभागस्थान समस्त जीवों के नहीं हैं, अनुभाग अर्थात् फल देने की शक्ति। भिन्न प्रकृतियों में भिन्न-भिन्न रस होता है। किसी कार्य की स्थिति कम और रस अधिक होता है, किसी प्रकृति का रस कम और स्थिति अधिक होती है। जैसे—शरीर में कहीं छोटी सी फुन्सी हुई हो, और उसकी पीड़ा अधिक किन्तु स्थिति कम हो। और कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनकी स्थिति अधिक, और रस थोड़ा हो, वे सब प्रकृतियाँ विपरीत मान्यता के कारण कषायभाव से बँधती हैं, वे सब रजकण की अवस्था है, वह सम्पूर्ण राग पर्याय शरीर में होती है, आत्मा में नहीं। फल देने की शक्ति कर्म में होती है, आत्मा में नहीं। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध पुद्गल की रचना है, आत्मस्वभाव की नहीं। आत्मस्वभाव की रचना ज्ञान और आनन्द है। जैसे पुद्गल में अनुभाग है उसी प्रकार आत्मा में भी है। आत्मा का अनुभाग अर्थात् आत्मा में आनन्दरस है, वह रस पर से भिन्न अलौकिक है, वह पुद्गल के जड़ अनुभाग से सर्वथा भिन्न है। पुद्गल का अनुभाग जड़ है।

अब बीसवीं बात कहते हैं—कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाओं का कम्पन जिसका लक्षण है, ऐसे योगस्थान भी समस्त जीवों के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से आत्मानुभूति से भिन्न हैं।

आत्मा में योग के निमित्त से कम्पन होता है। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा का जो कम्पन कहा है सो निमित्त की ओर से कहा है, वास्तव में तो उन तीनों योग के

आलम्बन से आत्मप्रदेशों का कम्पन होता है। प्रदेशों का कम्पन होना भी आत्मा का स्वभाव नहीं, किन्तु विकारी भाव है।

चक्की के ऊपर का पाट घूमता है, तब उस पर बैठी हुई मक्खी भी घूमती हुई मालूम होती है, किन्तु वास्तव में मक्खी अपने क्षेत्र को नहीं बदलती, पाट के घूमने से ही वह घूमती हुई दिखायी देती है। इसी प्रकार आत्मा हिलता नहीं है, किन्तु मन, वचन, काय के योग का पाट फिरता है—काँपता है, इसलिए साथ ही आत्मा भी हिलता हुआ, काँपता हुआ प्रतीत होता है, और उसका क्षेत्रान्तर होता हुआ दिखायी देता है। कम्पन आत्मा का स्वरूप नहीं है। मन-वचन-काय का कम्पन पर है, उसके निमित्त से आत्मप्रदेशों का कम्पन होता है, वह आत्मा का मूल स्वरूप नहीं है, किन्तु परनिमित्त से होनेवाला योगगुण का विकार है। प्रदेशों का कम्पन आत्मा का स्वभाव नहीं, किन्तु जड़ के निमित्त से होनेवाला विकार है, इसलिए वह जड़ है, आत्मा के घर का नहीं है। जिसे निराला आत्मस्वरूप जानना हो, वह इस भिन्नता को जाने बिना सत् के मार्ग पर नहीं जा सकेगा।

अब इक्कीसवीं बात कहते हैं—भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम जिसका लक्षण है, ऐसा बन्धस्थान सभी जीवों के नहीं हैं, भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम होने का कारण जीव में होनेवाले विविध प्रकार के विकारी परिणाम हैं। जीव में जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम होते हैं, वैसे जड़ में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रकृति के परिणाम होते हैं, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई किसी का कर्ता नहीं सब अपने अपने कारण से स्वतन्त्र परिणमित होते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियाँ सब पुद्गलमय हैं और जीव के विकारी परिणाम भी पुद्गल की ओर के हैं; इसलिए वे भी पुद्गल के परिणाम कहे गये हैं।

प्रकृति का बन्ध पुद्गल में होता है। बन्ध आत्मा में नहीं होता। बन्ध होना पुद्गल का स्वभाव है, आत्मा का नहीं। बन्ध और आत्मा की विकारी पर्याय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध भी आत्मा की स्वभावदृष्टि से नहीं है। वह बन्ध पुद्गल का स्वभाव है, और भावबन्ध जीव पर्याय की योग्यता है। आत्म अनुभव उस बन्ध से अलग है।

बाईसवाँ कथन—अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ कर्म अवस्था जिनका लक्षण है, ऐसे उदयास्थान भी जीव के नहीं हैं, किन्तु वे रजकणों में फलते हैं, आत्मा में नहीं। वे कर्म अपने में फल उत्पन्न करने को समर्थ हैं पर में नहीं। उनकी शक्ति आत्मा में

फल उत्पन्न करने की नहीं है। कर्म स्वयं अपनी अवस्थाएँ उत्पन्न करते हैं आत्मा की नहीं। कर्मों के फल का आत्मा में कोई असर नहीं होता। एक तत्त्व का फल दूसरे तत्त्व में कभी नहीं हो सकता। कर्म की अवस्था न तो आत्मा में आ सकती है, और न आत्मा की कार्य में, यदि वस्तुदृष्टि से देखा जाए तो दोनों की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं। १४८ प्रकृतियों के उदय की अवस्था सब जड़ की है। अज्ञानी मान रहा है कि कर्म फल देते हैं, तब राग-द्वेष होता है, किन्तु कर्म का फल जड़ में होता है, और राग-द्वेष तेरे आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिए कर्मफल तुझे राग-द्वेष नहीं कराता, किन्तु तू ही विपरीत मान्यता में युक्त हो जाता है, तब राग-द्वेष होता है। जब राग-द्वेष आत्मा की अवस्था में होता है, तब कर्म फल मात्र निमित्तरूप से विद्यमान होता है इसलिए यदि वस्तुदृष्टि से देखा जाए तो कर्म का फल आत्मा में नहीं आता कर्म का फल आत्मा का लक्षण नहीं किन्तु ऐसे पृथक् तत्त्व का श्रद्धान-ज्ञान करना आत्मा का लक्षण है। आत्मा का ज्ञान-आनन्द-रमणता इत्यादि स्वरूप आत्मा में है, ऐसा भेदज्ञान करना ही मुक्ति का उपाय है।

तेईसवाँ कथन—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है, वे मार्गणास्थान भी समस्त जीवों के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं, इसलिए आत्मानुभूति से भिन्न हैं। इन चौदह मार्गणाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

गति का फल जड़ में होता है, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैं गतिवाला हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, तिर्यंच हूँ, नारकी हूँ। यह सारी मान्यता भ्रान्ति है, यह चतुर्गतियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं है, और गति के निमित्त से रागी को जो यह विकल्प होते हैं कि मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ सो वे भी आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि वे विकारी पर्यायें हैं; गति के निमित्त से होनेवाला विकल्प और चार गतियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं हैं।

जो गतियों को अपनी मानता है, वह चारों गतियों में रहना चाहता है, चारों गतियाँ मात्र ज्ञेय हैं, क्योंकि वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, मनुष्य-पशु-देव और नारकी इत्यादि होना मेरा स्वभाव नहीं है, इस प्रकार ज्ञान करना सो आत्मा का लक्षण है। गति आत्मा का लक्षण नहीं है। यह कहा जाता है कि मनुष्य गति के बिना चारित्र नहीं होता, केवलज्ञान नहीं होता और मनुष्य गति से ही मोक्ष होता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ज्ञान गति

में से नहीं, किन्तु स्वभाव से होता है। वैसे तो मनुष्य गति अनन्त बार मिल चुकी है तथापि मोक्ष नहीं हुआ इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य गति मोक्ष नहीं देती, किन्तु जब स्वयं जागृत होता है तब मोक्ष होता है। हाँ, इतना सम्बन्ध अवश्य है कि जब मोक्ष होता है, तब मनुष्य गति विद्यमान होती है; किन्तु गति मोक्ष नहीं देती, इसलिए चारों गतियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। यदि आत्मा गतिवान हो तो वह गति रहित नहीं हो सकेगा। गति जड़ है, और आत्मा से भिन्न है।

पंचेन्द्रियाँ भी जड़ हैं, जड़ का स्वभाव हैं। यह तो अपनी आँखों से ही दिखायी देता है कि इन्द्रियाँ जड़ हैं तथा उन्हें अपना मानना सो स्पष्ट भूल है। यह जो इन्द्रियाँ दिखायी देती हैं वे पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड हैं, चैतन्य का स्वभाव नहीं। जो वस्तु अपनी होती है, वह कभी छूटती नहीं है, किन्तु इन्द्रियाँ तो छूट जाती हैं, इसलिए वे अपनी नहीं किन्तु पर हैं, जड़ हैं, चैतन्य का अनुभव उनसे भिन्न है।

अनन्त काल से असत् के मार्ग में भटक रहा है, इसलिए चौरासी के चक्कर में फँस रहा है। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण, शरीर जड़ हैं। उन शरीरों को अपना मानना, विपरीत दृष्टि है आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसे न मानकर दूसरे को अपना मानना, संसार में परिभ्रमण करने का मार्ग है।

योग भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, और वह आत्मा में नहीं है। योग के पन्द्रह प्रकार हैं। उनका व्यापार आत्मा का धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें पर का निमित्त होता है। इसलिए योग जड़ है, वह आत्मानुभव से भिन्न है।

वेद आत्मा में नहीं है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। वेद के तीन प्रकार हैं:— स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद—यह तीनों आत्मा में नहीं हैं। आत्मा तो ज्ञायकमूर्ति है, उसकी श्रद्धा न करके जो स्त्री-पुरुष और नपुंसक वेद को अपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा वेद-विकार रहित है। यदि ऐसा न माने तो स्वतन्त्र होने का उपाय नहीं मिलेगा। निर्मल दृष्टि हुए बिना निर्मलता के पंथ पर नहीं जा सकता और इसलिए स्वरूप में लीन होकर निर्विकार स्वरूप प्रगट नहीं कर सकता। वेद आत्मा का स्वभाव नहीं है आत्मा के निर्मल अनुभव से वह भिन्न है, इसलिए जड़ है।

कषाय भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। कषाय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया

और लोभ। इनमें से क्रोध और मान का द्वेष में तथा माया और लोभ का राग में समावेश होता है। यह सब आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा अविनाशी ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है, और क्रोध-मानादि क्षणिक विकारी भाव हैं। वे पर संयोग जनित भाव हैं इसलिए पर के हैं अपने नहीं। मैं कषाय का नाशक हूँ इसलिए अकषाय स्वभाव हूँ। जो अपने को कषायवान मानता है, वह कषाय दूर करने का प्रयत्न क्यों करेगा? यदि यह लक्ष्य में ले कि मैं अकषाय स्वभाव हूँ, तो कषाय को दूर करने का प्रयत्न हो सकता है। यद्यपि कषाय आत्मा की पर्याय में होती है, तथापि वह दूर करने से दूर हो सकती है, इससे सिद्ध हुआ कि वह पर है, और आत्मा के निराकुल अनुभव से भिन्न है, इसलिए जड़ है।

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान—पाँचों ज्ञान के भेद भी आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। यहाँ यह बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा को कैसा मानता है। मात्र अपने पूर्णरूप अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में लेना जो सम्यग्दर्शन का विषय है। ज्ञान के पाँच प्रकारों को लक्ष्य में लेना सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, वे पाँचों प्रकार आत्मा में नहीं हैं। साधकदशा में एक पर्याय से दूसरी पर्याय निर्मलतया बढ़ती जाती है, सो वह कर्म की अपेक्षा रखती है। कर्म की अपेक्षा के बिना ज्ञान में भी भंग नहीं पड़ता। यद्यपि यह पाँचों भंग चैतन्य की पर्याय में होते हैं, किन्तु वे कर्म की अपेक्षा के बिना नहीं होते, इसलिए वे जड़ हैं। पाँच भेदों की ओर दृष्टि लगाने से रागोत्पत्ति होती है, रागादि पुद्गल कर्म के निमित्त से होता है। अत: ज्ञान के पाँच भेद को भी पुद्गल के परिणाम कहा है। अखण्ड आत्मा में वे पाँचों भंग नहीं हैं, इसलिए वे पुद्गल के हैं ऐसा भी कहा है।

केवलज्ञान की प्राप्ति में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान स्वसन्मुखता का कार्य करता है। बीच में किसी को अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान होता है और किसी के इन दोनों के हुए बिना ही सीधा केवलज्ञान हो जाता है।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा जानता है, श्रुतज्ञान में मन निमित्त है, अवधि और मन:पर्ययज्ञान मन और इन्द्रियों के बिना सीधे ही आत्मा के द्वारा मर्यादितरूप से पर पदार्थों को जानते हैं, और केवलज्ञान सीधा आत्मा से प्रत्यक्षरूप से समस्त लोकालोक को जानता है। ऐसे पाँच प्रकार के ज्ञान के भेद भी अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसा सम्यग्दर्शन का विषय है। अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में लेना ही सम्यग्दर्शन है। पाँचों ज्ञान,

ज्ञानगुण की पाँच अवस्थाएँ हैं। मोक्षमार्ग को सिद्ध करने में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की पर्याय बीच में आती है, परन्तु उन भंगों पर लक्ष्य देने से राग होता है। भंग दृष्टि का विषय नहीं है, किन्तु दृष्टि का विषय अभेद है।

मात्र ज्ञायक को लक्ष्य में लिया जाए तो उसमें भंग नहीं होता मात्र निरपेक्ष आत्मा को लक्ष्य में लेने की यह बात है। ज्ञान की पाँच पर्यायों में निमित्त के सद्भाव की और अभाव की अपेक्षा होती है। ज्ञान की उन पाँचों पर्यायों के भेद से रहित निरपेक्ष आत्मा को लक्ष्य में लेना, सम्यग्दर्शन का विषय है। पाँचों ज्ञान की पर्यायें आत्मा में न हों, सो बात नहीं है, क्योंकि पाँचों प्रकार की पर्यायें आत्मा में होती हैं। परन्तु उन पर लक्ष्य देने से राग होता है, अखण्ड आत्मा पर दृष्टि डालने से राग नष्ट हो जाता है। पाँच ज्ञान की पर्यायों को सम्यग्ज्ञान जानता है, किन्तु दृष्टि का विषय अखण्ड आत्मा ही है। दृष्टि उन पाँच प्रकार के पर्याय भेद को स्वीकार नहीं करती, पाँच पर्यायों के भेदों पर लक्ष्य देने से राग होता है और अखण्ड आत्मा पर जो दृष्टि होती है, उसके बल से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। पाँच प्रकार के भेद दृष्टि का विषय नहीं हैं और उनमें पर की अपेक्षा आती है, इसलिए वे आत्मा का स्वरूप नहीं किन्तु पुद्गल के परिणाम हैं। तीर्थंकरदेव ने आत्मा के स्वभाव की घोषणा करते हुए कहा है कि आत्मा का एक प्रकार है; उसमें पाँच ज्ञानगुण की अवस्थाओं पर लक्ष्य देना पर में लक्ष्य देने के समान है। अभेद एक प्रकार से आत्मा को लक्ष्य में लेने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, भेद पर लक्ष्य देने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती।

अखण्ड एक आत्मा में शरीर के रजकण, आठ कर्मों के प्रकार और राग-द्वेष की विकारी अवस्था तो क्या, किन्तु ज्ञानगुण के पाँच भेद भी नहीं हैं। यद्यपि पाँच प्रकार की पर्यायें आत्मा में होती हैं किन्तु वे दृष्टि का विषय नहीं हैं। उनमें पर की अपेक्षा होती है, इसलिए पाँच प्रकार के भेद आत्मा में नहीं हैं। अभेद अखण्ड आत्मा पर दृष्टि डालने से पाँचों ज्ञान की निर्मल अवस्था प्रगट होती हैं, किन्तु यदि पाँच प्रकार के भेदों पर लक्ष्य दिया जाए तो वह पाँच प्रकार की अवस्था प्रगट नहीं होती।

आत्मा में ज्ञानगुण सम्पूर्ण अनादि-अनन्त हैं, उसमें अवधिज्ञान इत्यादि पाँच प्रकार की दृष्टि करना सो भेददृष्टि, खण्डदृष्टि और पुद्गल के आश्रय की दृष्टि है, तथा अपने एकत्व को देखना वह अभेददृष्टि, स्वाश्रयी दृष्टि है।

मतिज्ञान के द्वारा पाँच इन्द्रियों और मन के निमित्त से विचार होता है। यद्यपि यह विचार अपने द्वारा होता है, किन्तु उसमें इन्द्रियों और मन का निमित्त होता है। मैं शान्त हूँ, समाधिस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, इत्यादि जानना सो श्रुतज्ञान है। अवधिज्ञान अमुक प्रकार से मर्यादा को लेकर इन्द्रिय और मन के बिना प्रत्यक्षरूप से पदार्थों को जानता है, परन्तु वह उपयोग के लगाने पर ही जानता है, एक ही साथ एब कुछ नहीं जानता। मन:पर्ययज्ञान भी इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना दूसरे की मनोगत पर्यायों को जानता है, किन्तु यह ज्ञान भी जब उपयोग डालता है तभी जानता है, एक साथ सबको नहीं जानता, क्रमश: ज्ञात होने से यह ज्ञान भी अपूर्ण है, पराधीन है, इसमें कर्म का निमित्त है। यह मन:पर्ययज्ञान छट्ठे-सातवें गुणस्थानों में झूलते हुए नग्न दिगम्बर मुनियों के ही होता है। केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान है। इस ज्ञान में समस्त स्वपर पदार्थ उपयोग के बिना सहज ही प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। इन पाँच प्रकार के भेदों पर लक्ष्य देने से केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह अखण्ड आत्मा पर लक्ष्य देने से प्रगट होती है।

मार्गणा का अर्थ है आत्मा को ढूँढ़ने के प्रकार; वे भेद जीव के नहीं हैं, ज्ञान की पाँच पर्यायों से आत्मा को ढूँढ़ना आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा एक अखण्ड ज्ञायक है, यदि उसे खण्ड में ढूँढ़ने जाए तो अखण्ड ज्ञायक नहीं मिलता, अखण्ड आत्मा का वास्तविक स्वरूप हाथ में नहीं आता, और इससे पूर्ण केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं होती। यदि आत्मा को ढूँढ़ना हो तो मति-श्रुत-ज्ञान आदि की पर्यायमात्ररूप से ढूँढ़ने से अखण्ड आत्मा का मूल स्वरूप नहीं मिलेगा, इसलिए भेद की दृष्टि से आत्मा को ढूँढ़ना छोड़कर अभेद—त्रैकालिक सामान्य को ग्रहण करनेवाली दृष्टि से आत्मा की प्रतीति कर। भेद पर दृष्टि न डालकर सामान्य पर दृष्टि डाल तो पूर्ण पर्याय प्रगट होगी।

आत्मा केवलज्ञानस्वरूप है, इस प्रकार केवलज्ञान पर्याय से आत्मा को ढूँढ़ने के जो परिणाम हैं, सो राग हैं, और जो राग है सो अपना स्वभाव नहीं, इसलिए वे पुद्गल के परिणाम हैं। केवलज्ञान पर्याय है, अखण्ड सामान्य गुण नहीं, उस पर्याय पर लक्ष्य देने से राग होता है, इसलिए केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, किन्तु अखण्ड आत्मा पर लक्ष्य देने से केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। आत्मा को पाँच प्रकार के भेदों में ढूँढ़ने के जो परिणाम हैं सो राग है, और जो राग है सो आत्मा का स्वभाव नहीं है। किन्तु वह पुद्गल के परिणाम

हैं, इसलिए ज्ञानमार्गणा भी पुद्गल का परिणाम है। मार्गणा अर्थात् ढूँढ़ना। ज्ञान के भेदों में आत्मा को ढूँढ़ने से राग के परिणाम होते हैं, और वे पर निमित्त से होनेवाले परिणाम हैं, इसलिए वे दूसरे के हैं।

जैसे बादल सूर्य के आड़े आ जाते हैं, और फिर वे ज्यों-ज्यों हटते जाते हैं, त्यों-त्यों सूर्य का प्रकाश प्रगट होता जाता है। इस प्रकार न्यूनाधिक प्रकाश में जैसे बादलों की अपेक्षा होती है, इसी प्रकार इस चैतन्यज्योति में पुरुषार्थ के द्वारा निर्मल-निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है, इसमें कर्म के बादल कम होते जाते हैं, इसलिए वह पर के अभाव की अपेक्षा रखती है। मात्र अखण्ड चैतन्यप्रकाश आत्मा निरपेक्ष तत्त्व हैं। उसमें जो न्यूनाधिक पर्याय होती है, उसमें पर की अपेक्षा होती है। पाँच प्रकार के भेदों पर लक्ष्य जाने से जो राग होता है, वह राग परमार्थ दृष्टि के विषय में स्वीकार्य नहीं है। शुद्धनय द्वारा देखा जाए तो चैतन्य भगवान स्वयं त्रैकालिक एकरूप सामान्य ज्ञान प्रकाश बिम्ब है, उसमें पाँच प्रकार के भेद परमार्थदृष्टि के विषय में नहीं होते। सातवीं गाथा में जैसी मात्र ज्ञायक की बात कही थी, वैसी ही यहाँ है। सातवीं गाथा में यह कहा है कि गुण के भेद आत्मा में नहीं हैं और यहाँ यह कहा है कि गुण की अवस्था आत्मा में नहीं है।

अनादि काल से तूने अपने स्वरूप का अभ्यास ही नहीं किया, और जितना अभ्यास किया है, वह सब बाहर की ही क्रिया है। यथार्थ तत्त्व की प्राप्ति की प्रीति नहीं की, और यह बात भी नहीं सुनी कि यथार्थ तत्त्व क्या है ? तब फिर सुने बिना विचार भी कहाँ से आ सकता है ? तथा विचार किये बिना ज्ञान कहाँ से हो सकता है। और ज्ञान के बिना उसमें लीनतारूप चारित्र कहाँ से हो सकता है। एवं चारित्र के बिना मुक्ति भी कहाँ से हो सकती है। मेरे ध्रुव स्वरूप में वेद-विकार या कषाय नहीं है, ऐसा जानने और मानने के बाद स्वरूप लीनता का प्रयत्न होता है। उस प्रयत्न को व्यवहार कहते हैं, किन्तु वह व्यवहार, जो कि यह अखण्ड स्वरूप—निश्चय स्वरूप कहलाता है, वह दृष्टि में आने के बाद होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पर्याय स्वयं ही व्यवहार है, किन्तु दृष्टि के विषय में अखण्डस्वरूप होने के बाद स्वरूपलीनतारूप चारित्र के प्रयत्न का व्यवहार होता है।

मान्यता के बदल जाने पर, राग-द्वेष को छोड़ने का इच्छुक होता हुआ वह यह

मानता है कि—मेरे स्वरूप में राग-द्वेष या शुभाशुभ भाव नहीं हैं। ऐसा समझने के बाद वह राग-द्वेष से नहीं चिपटता, किन्तु उससे मुक्त होता जाता है। जिसने अपने स्वभाव को नहीं जाना-माना, वह राग-द्वेष से चिपकता ही रहता है, जब कि शुभाशुभ भाव को अपना मान रखा है तब उनसे कैसे मुक्त हो सकता है ? मेरे स्वभाव की शक्ति ही अलग है, इस प्रकार अपने त्रैकाल अखण्ड स्वभाव की स्वीकृति बिना विकारी की स्वीकृति नहीं छूट सकती। में आनन्दकन्द हूँ ऐसे स्वभाव की शक्ति को जिसने स्वीकार किया, वह कहता है कि मेरे स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं है, जो पर्याय में होता है, उसका नाश करने के लिये मैं तैयार हूँ। वह नाश करने के लिये तैयार हुआ तब कहलाया जा सकता है; कि वह आत्मस्वरूप को स्वीकार करे। वह मन से नहीं, श्रवण से नहीं, शास्त्र से नहीं, किन्तु आत्मा से आत्मा को स्वीकार करे तब कहलाता है कि वह राग-द्वेष को—शुभाशुभ भाव को नाश करने के लिये, और गुणों को प्रगट करने के लिये तैयार हुआ है।

अपने ध्रुव और अविनाशी स्वभाव की सामर्थ्य देखकर उसके बल से कहे कि—मुझमें राग-द्वेष नहीं है, वह राग-द्वेष को दूर करने का इच्छुक है। किन्तु पहले जैसे राग-द्वेष के भाव करता हो, वैसे के वैसे ही करता रहे, किसी भी प्रकार की मन्दता न हो और कहे कि मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, तो ऐसा कहनेवाला सर्वथा मिथ्या है, वह स्वभाव को समझा ही नहीं है। इस प्रकार कह-कहकर क्या कुछ किसी को बताना है ? जिसे अपने स्वभाव की श्रद्धा जम गयी है, उसका राग-द्वेष कम हुए बिना नहीं रहता। मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, ऐसी श्रद्धा हुई कि उसके बल से वह राग-द्वेष का नाश अवश्य करेगा। ज्ञानी समझता है कि परोन्मुखता मुझे हितकारी नहीं है, परोन्मुखता में शुभाशुभ भाव होते हैं, इसलिए परोन्मुखता मुझे हितकारी नहीं है, किन्तु स्वसन्मुख का झुकाव ही हितकारी है क्योंकि उसमें से मात्र समाधि ही प्रवाहित होती है। सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट परिणमन ही मुक्ति है।

परोन्मुख जीवों को मात्र पर में ही रुचि हो रही है, उसमें कभी ऐसा स्वप्न तक नहीं आया कि आत्मा मुक्त हो गया है। वह भाव कहाँ से आ सकता है ? क्योंकि जितने गीत गाये हैं वे सब पर के ही गाये हैं। आत्मा के प्रेम के गीत नहीं गाये, उसकी रुचि नहीं की, श्रद्धा नहीं की, मैं निर्विकल्प वीतराग स्वरूप हूँ, इस प्रकार जाना-माना नहीं, और फिर

कहता है कि मेरे स्वप्न में विमान आया था, और मैं उसमें बैठा था इसलिए अब मेरी भी कोई गिनती होनी चाहिए। किन्तु भाई! तू अनन्त बार स्वर्ग में हो आया फिर भी कल्याण नहीं हुआ तब यदि स्वप्न में विमान आ गया तो क्या हो गया? तूने आत्मा के स्वभाव माहात्म्य की बात सुनने के भाव से नहीं सुनी इसलिए इन व्यर्थ की दूसरी बातों में महिमा मालूम होने लगती है, इसलिए आत्मा के स्वभाव की बात अन्तरंग से रुचि प्रगट करके समझ।

स्वयं आत्मा ज्ञायक स्वभाव से अखण्ड है, इस प्रकार लक्ष्य में ले लेना, श्रद्धा में ले लेना ही सम्यग्दर्शन का विषय है। आत्मा ज्ञानमूर्ति अखण्डानन्द सामान्य है, इस प्रकार श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है, यही मोक्ष का उपाय है और यही हित का मार्ग है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

आत्मा का स्वभाव एक रूप स्थिर रहता है, उसका विश्वास करना मोक्षदशा प्रगट करने का कारण है। शरीर-वाणी-मन और कर्म के निमित्त से जो भाव होता है, उसका विश्वास करने से आत्म-स्वभाव प्रगट नहीं होता, किन्तु देव-शास्त्र-गुरु ने जो आत्मस्वभाव कहा है, उसका विश्वास-श्रद्धा करने से आत्मस्वभाव प्रगट होता है। आत्मस्वभाव की श्रद्धा के साथ ही सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा होती है किन्तु आत्मस्वभाव की श्रद्धा के बिना मात्र देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा से आत्मस्वभाव प्रगट नहीं होता। देव-शास्त्र-गुरु से कहीं मोक्षदशा प्रगट नहीं होती, किन्तु उन्होंने जो मोक्षमार्ग बताया है उसका विश्वास, ज्ञान और तद्नुसार आचरण करने से आत्मा में से मोक्षपर्याय प्रगट होती है। मोक्षपर्याय के प्रगट होने में देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त होता है, किन्तु वे मोक्षपर्याय को प्रगट नहीं कर देते।

भीतर जो आकुलता हो रही है, वह दु:ख है, उस आकुलता को नाश करने का उपाय शरीर, वाणी, पुण्य-पाप के परिणाम अथवा देव-शास्त्र-गुरु में नहीं हैं, किन्तु भीतर जो निर्विकार अनाकुल पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव भरा पड़ा है, उसका विश्वास-श्रद्धा करने से आकुलता दूर होती है, और विकारी पर्याय दूर होकर निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उस निर्मल पर्याय पर दृष्टि रखने से भी मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती, क्योंकि वह सब निर्मल अवस्था, अवस्था में से नहीं आती किन्तु अन्तरंग में जो ध्रुवस्वभाव भरा हुआ है, उसी में से आती है; इसलिए पर्याय पर दृष्टि डालने से शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती किन्तु जो पूर्ण

ऐश्वर्यमय त्रिकाली सामान्य द्रव्य है उस पर अभेद दृष्टि डालने से शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

पहले कहा जा चुका है कि मार्गणा का अर्थ ढूंढ़ना है। मैं मतिज्ञानी हूँ, श्रुतज्ञानी हूँ, अवधिज्ञानी हूँ, मन:पर्ययज्ञानी हूँ और केवलज्ञानी हूँ, इस प्रकार ढूँढ़ना सो ज्ञानमार्गणा है, निश्चय से वह तो जीव का स्वरूप नहीं है। यह यथार्थ वस्तुदृष्टि की बात है। दृष्टि का विषय क्या है यह बात है। दृष्टि भेद को स्वीकार नहीं करती किन्तु ज्ञान में वे भेद ज्ञात अवश्य होते हैं, तथापि दृष्टि का विषय भेद नहीं है।

मोक्ष पर्याय के प्रगट करने में वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, पाँच शरीर, संस्थान, संहनन, अष्टकर्म, पर्याप्ति, तत्त्व की अप्राप्ति रूप मोह, योग का कम्पन, गति, इन्द्रियाँ, कषाय, शुभराग, देव-शास्त्र-गुरु और पूजा-भक्ति का शुभ विकल्प इत्यादि कोई भी धर्म का आधार नहीं है; इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञान के पाँच भेद भी धर्म के आधार नहीं हैं, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निर्मल अवस्था भी धर्म का आधार नहीं है, वह दृष्टि का विषय नहीं है। वह निर्मल अवस्था एकरूप सदा स्थायी पूर्ण सामर्थ्यवान द्रव्य में से आती है, प्रवाहित होती है। समस्त अवस्थाओं की सम्पूर्ण शक्तिवाला जो मैं हूँ, उसकी श्रद्धा करने से धर्म प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, जो कि धर्म का आधार नहीं है, किन्तु उस दृष्टि से किया गया सम्पूर्ण द्रव्य का जो विषय है, वह धर्म का आधार है।

आत्मा में जो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है, उस अवस्था की दृष्टि करने से भी निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती है, क्योंकि निर्मल अवस्था भी निर्मलारूप से प्रतिक्षण बदलती रहती है, और द्रव्य एकरूप ध्रुवस्वभाव है, सम्पूर्ण अवस्थाओं की शक्ति द्रव्य में भरी पड़ी है—इसलिए द्रव्य पर दृष्टिपात करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। जो निरन्तर बदलता रहे उस पर दृष्टि डालने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। इस प्रकार परिपूर्ण वस्तु का विषय करने से उस विषय के बल से प्रथम मोक्षमार्ग और अंतिम केवलज्ञान प्रगट होता है। धर्म के प्रारम्भ में भी दृष्टि का विषय है, और अन्त में केवलज्ञान को प्रगट करनेवाला भी वह है।

श्रद्धा का विषय स्थायी होता है, किन्तु श्रद्धा की और रमणतादि की पर्याय बदल जाती है। उस श्रद्धा और रमणता की जाति भले ही एक हो, किन्तु वह दूसरे क्षण बदल जाती है। जो बदलती है, अर्थात् जिसका उत्पाद-व्यय होता है, उसका आधार पर्याय नहीं

है। पर्याय का आधार पर्याय नहीं होती किन्तु वस्तु होती है। जो प्रतिक्षण बदल जाती है, उसमें यह शक्ति नहीं है, कि वह पूर्ण पर्याय को प्रगट कर सके। साधक अवस्था की अपूर्ण पर्याय में से पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह वस्तु में से प्रगट होती है। मैं एक शुद्ध ज्ञायक हूँ ऐसी दृष्टि के बल से पूर्ण पर्याय या निर्मल दशा प्रगट होती है।

विकारी अवस्था का नाश करके सम्पूर्ण निर्विकार अवस्था प्रगट करनी हो तो उसका कारण ढूँढ़ ! सम्पूर्ण अवस्था के प्रगट होने में कौन कारण है ? क्या शरीरादि उसके कारण हैं ? पुण्य-पाप के भाव उसके कारण हैं, अथवा अपूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय उसका कारण है ? अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्था के प्रगट करने में कदापि कारण नहीं हो सकती, अवस्था में से अवस्था कभी भी प्रगट नहीं होती, किन्तु भीतर जो पूर्ण स्वभाव विद्यमान है, उस पर दृष्टि का बल लगाने से पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अपूर्ण अवस्था केवलज्ञान की पूर्ण अवस्था का अनन्तवाँ भाग है। उस अनन्तवें भाग की पर्याय में शक्ति नहीं है कि वह अनन्त गुनी पर्याय को प्रगट कर सके। मोक्षमार्ग की अवस्था अनन्तवाँ भाग है, और केवलज्ञान की पूर्ण अवस्था उससे अनन्त गुनी है। अनन्तवें भाग की अवस्था में से अनन्त गुनी अवस्था प्रगट नहीं हो सकती। जब पूर्ण अवस्था प्रगट होती है, तब शरीर और विकारादि तो क्या किन्तु अपूर्ण अवस्था भी नहीं रहती, मात्र पूर्ण अवस्था चालू रहती है, जिसका नाम मोक्ष है। जब अपूर्ण अवस्था मिटती है, तब पूर्ण अवस्था उत्पन्न होती है, इसलिए अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्था का कारण नहीं है, किन्तु पूर्ण अवस्था प्रगट होने से पूर्व अपूर्ण अवस्था बीच में आती है। अपूर्ण अवस्था के बिना पूर्ण अवस्था प्रगट नहीं होती, इतना अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्था के साथ सम्बन्ध है, किन्तु अपूर्ण पर्याय पूर्ण पर्याय की साधक नहीं है, हाँ, वह बीच में आती है इसलिए अपूर्ण पर्याय को पूर्णता की साधक पर्याय कहा जाता है, वह व्यवहार है। परन्तु वास्तव में अन्तरंग में जो परिपूर्ण स्वभाव भरा हुआ है, उस पर दृष्टि का बल लगाने से सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होती है।

पर्याय प्रगट होती है, वस्तु नहीं; क्योंकि वस्तु तो अनादि अनन्त प्रगट ही है, उसे कोई प्रगट नहीं करना चाहता; किन्तु पर्याय को प्रगट करना चाहता है। लोग कहते हैं कि विकार नहीं चाहिए इसका अर्थ यह हुआ कि निर्विकार अवस्था चाहिए है। वस्तु अनादि-

अनन्त प्रगट है, जो है, उसका नाश नहीं होता, और जो नहीं है, वह नवीन नहीं होती। मात्र रूपान्तर होता है—पर्याय बदलती है।

जो पर्याय प्रगट होती है, वह वस्तु में से होती है, क्यों ? पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती। चतुर्थ गुणस्थान की दशा में तेरहवें गुणस्थान की दशा प्रगट करने की शक्ति नहीं है किन्तु सम्यक्श्रद्धा को (चतुर्थ गुणस्थान की) पर्याय से किये गये विषय में वह शक्ति है। सम्यक्श्रद्धा तो पर्याय है, उसने अखण्ड वस्तु का श्रद्धान किया है, इसलिए अखण्ड वस्तु सम्यक्श्रद्धा का विषय है, उस वस्तु के विषय में तेरहवें गुणस्थान प्रगट करने की शक्ति है, क्योंकि वस्तु में से पर्याय प्रगट होती है, इसलिए वस्तु का विषय करने पर उसमें से पर्याय प्रगट हो जाती है; पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती। सम्यक्श्रद्धा द्रव्य नहीं, गुण नहीं किन्तु पर्याय है, और द्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है। श्रद्धा-गुण अनादि-अनन्त है, उसकी दो अवस्थाएँ हैं—सम्यक्श्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा। इसलिए सम्यग्दर्शन पर्याय है, और पर्याय व्यवहार है। विपरीत मान्यता के नाश में से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, क्योंकि नाश में से उत्पाद नहीं होता। नाश को उत्पाद का कारण कहना व्यवहार है। किन्तु वास्तव में जो नित्य अस्ति स्वभाव भरा पड़ा है, उसमें से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सामान्य एकरूप स्वभाव पर दृष्टि डालने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, पाँचवें में श्रावकत्व और छट्ठे-सातवें गुणस्थान में मुनित्व होता है; सो वह भी गुण नहीं किन्तु पर्याय है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी गुण नहीं किन्तु पर्याय हैं, क्योंकि वह प्रगट होती है। पर्याय, पर्याय का कारण नहीं होती, नाश उत्पाद का कारण नहीं होता। चौथा गुण बदलकर पाँचवाँ होता है, इसलिए चौथा गुणस्थान पाँचवें गुणस्थान का कारण नहीं है, क्योंकि नाश उत्पत्ति का कारण नहीं होता, किन्तु उत्पत्ति का मूल कारण सामान्य स्वभाव है। केवलज्ञान का मूल कारण भी सामान्यरूप वस्तु है। सम्यग्दर्शन की पर्याय के बल से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता किन्तु वह सामान्यरूप वस्तु के बल से प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन की पर्याय भी मैं एक सम्पूर्ण पदार्थ वर्तमान में हूँ—इसका विषय करने से प्रगट होती है।

सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन की पर्याय नहीं किन्तु अखण्ड द्रव्य है। सम्यग्दर्शन का आश्रय भूतार्थ है। देव-शास्त्र-गुरु तो क्या किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि की निर्मल

पर्याय भी सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं है। निर्मल पर्याय पर भी लक्ष्य देने से राग होता है और अखण्ड द्रव्य पर लक्ष्य देने से राग छूटता है, इसलिए सम्यग्दर्शन का आश्रय अखण्ड द्रव्य है। एक गुण का लक्ष्य करना भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं, किन्तु अनन्त गुणों की पिण्ड रूप वस्तु सम्यग्दर्शन का विषय है।

जब हम क्षायिक पर्याय पर विचार करते हैं तो—क्षायिक पर्याय के प्रगट होने पर उस पर लक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं रहती, और उसके प्रगट होने से पूर्व, लक्ष्य कहाँ दिया जावे ? जिसका अस्तित्व ही प्रगट नहीं उस पर लक्ष्य देना कैसा ? इसलिए लक्ष्य देना द्रव्य पर ही सम्भव है। अभेद स्वभाव की अपेक्षा से भेद अभूतार्थ है। यहाँ अभूतार्थ का अर्थ यह नहीं है कि पर्याय के भेद सर्वथा हैं ही नहीं। पर्याय है अवश्य, किन्तु उस पर लक्ष्य देने से रागी जीव को राग होता है, इसलिए वह हेय है, और एक मात्र सम्यग्दर्शन का विषयभूत द्रव्य ही आदरणीय है।

दृष्टि का विषय त्रैकालिक एकरूप सामान्य है। वह दृष्टि प्रगट या अप्रगट के भेद को स्वीकार नहीं करती। उस दृष्टि के विषय में वस्तु प्रगट ही है। पर्याय दृष्टि के विषय में वस्तु की पर्याय प्रगट है या अप्रगट—ऐसा भेद-विकल्प होता है, किन्तु वस्तु दृष्टि का विषय पारिणामिक भाव है। अपेक्षित पर्याय पर्यायार्थिकनय का विषय है।

वस्तु दृष्टि पर्यायभेद को स्वीकार नहीं करती, इसलिए मति, श्रुत, केवलज्ञानादिक की पर्याय नहीं है, ऐसा नहीं; क्योंकि वह पर्याय है, और ज्ञान उसे जानता है। ज्ञान दृष्टि के विषय को जानता है, और पर्याय को भी जानता है, वह प्रमाणज्ञान है। द्रव्य स्वयं वर्तमान में ही परिपूर्ण है। ऐसे व्यक्त-अव्यक्त के भेद से रहित द्रव्य के परिपूर्ण अभेद को विषय न करे तो श्रद्धा मिथ्या है, और जो पर्याय प्रगट है, या त्रैकालिक शक्ति अप्रगट है, उसे न जाने तो ज्ञान मिथ्या है। जो ज्ञान श्रद्धा के अखण्ड विषय को जानता है, वह अपूर्ण पर्याय को भी जानता है, इसलिए पुरुषार्थ चालू रहता है। ज्ञान पूर्ण और अपूर्ण दोनों को जानता हैं। जानने के विषय में सब कुछ है, किन्तु आदरणीय में एक है।

मति, श्रुत या केवलज्ञान की पर्याय, दृष्टि के विषय में आदरणीय नहीं है किन्तु उसे जानता है। मति, श्रुतज्ञान की अखण्डरूप पर्याय को अपनी ओर उन्मुख किये बिना तत्त्व को नहीं समझा जा सकता। यद्यपि वस्तु के समझने में वह बीच में आती है, परन्तु वह वस्तु

दृष्टि का विषय नहीं है। मति-श्रुत-ज्ञान की अपूर्ण पर्याय है, परन्तु उस पर लक्ष्य देने से राग होता है। मति-श्रुत-अवधि इत्यादि की अपूर्ण पर्याय पर दृष्टि डालने से अथवा उसके ढूँढ़ने का विकल्प करने से मोक्ष प्रगट नहीं होता। मोक्षमार्ग भी व्यवहार है, इसलिए वह भी परमार्थत: मोक्ष का कारण नहीं है, किन्तु दृष्टि का विषय-द्रव्य ही मोक्ष का कारण है।

मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय और केवलज्ञान पर्याय हैं, इन पर दृष्टि रखने से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, किन्तु अखण्ड पिण्ड वस्तु पर दृष्टि रखने से प्रगट होता है। केवलज्ञान भी एक पर्याय है, और सामान्य अखण्ड पिण्डरूप वस्तु तीनों काल की पर्यायों का पिण्ड है, अत: पर्याय है वह व्यवहार है। सिद्धों में भी समय-समय पर पर्याय होती रहती है, इस प्रकार सिद्धों में भी व्यवहार है। सिद्ध परमात्मरूप पर्याय भी साधक जीवों के अखण्ड वस्तु पर एकाग्रता करने से प्रगट होती है।

सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्योंकि दर्शनगुण एकरूप अनादि अनन्त है, और सम्यक् तथा मिथ्यात्व उसकी पर्याय हैं। जो स्थिरता प्रगट होती है, वह भी एक पर्याय है, क्योंकि चारित्र-गुण अनादि-अनन्त एकरूप है, और उसकी स्थिर तथा अस्थिर दो पर्यायें होती हैं, इसलिए सामान्य स्वभाव में से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अनन्त गुणों की पिण्डरूप अभेद वस्तु पर दृष्टि डालने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती।

ज्ञायक स्वभाव की शक्ति और ऐश्वर्य एक समय में परिपूर्ण विद्यमान हैं, उस पर दृष्टि का भार देने से चतुर्थ, पंचम और छट्ठा आदि गुणस्थान तथा केवलज्ञान प्रगट होता है। यही एक मार्ग है। इसे चाहे आज समझे, कल समझे, इस भव में समझे, दूसरे भव में समझे या पाँच-दस भवों के बाद समझे, किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। 'एक होय त्रय काल में परमारथ को पंथ' अर्थात् त्रिकाल में परमार्थ का एक ही पंथ होता है, दो नहीं।

कुमति, कुश्रुत और विभंगवधि यह तीन अज्ञान और पाँच ज्ञान, यह आठ प्रकार की ज्ञान मार्गणा हैं, उन मार्गणाओं में आत्मा को ढूँढ़ने का प्रकार है, वह जीवों के नहीं है। मैं किस अवस्था में हूँ, इस प्रकार मति-श्रुत इत्यादि अवस्था के ढूँढ़ने की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि उसमें अपने कर्मों के आश्रय की अपेक्षा आती है, और आत्मा द्रव्य से, गुण से तथा पर्याय से निरपेक्ष है। स्वरूप अस्तित्व की निरपेक्षता सत् अहेतुक है।

जबकि द्रव्य स्वयं निरपेक्ष है, तब उसकी पर्याय भी निरपेक्ष होनी चाहिए। त्रैकालिक शुद्ध द्रव्य सामान्य है, उस सामान्य का विशेष भी होना चाहिए। त्रिकाल द्रव्य का विशेष, उस द्रव्य का वर्तमान है, और जो वर्तमान है, सो पर्याय है। इस प्रकार सामान्य-विशेष मिलकर सम्पूर्ण द्रव्य है। द्रव्य अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार द्रव्य का वर्तमान भी अनादि-अनन्त एकरूप द्रव्याकार है। वर्तमान के बिना द्रव्य नहीं होता, और द्रव्य का वर्तमान अपूर्ण नहीं होता। यदि पर्याय अपूर्ण हो तो वस्तु की पूर्णता नहीं होती, इसलिए द्रव्य पूर्ण है तथा उसको त्रैकालिक शक्तिरूप कारण शुद्ध पर्याय भी पूर्ण है। इस प्रकार द्रव्य में निरपेक्ष पर्याय अनादि-अनन्त है। यदि निरपेक्ष पर्याय न मानी जावे तो वस्तु परिपूर्ण सिद्ध नहीं होती।

यदि अपेक्षित पर्याय न मानी जाए तो संसार और मोक्ष सिद्ध नहीं होते। जो राग-द्वेषादि विकारी पर्याय होती है, वह अपेक्षित है और केवलज्ञान इत्यादि निर्मल पर्याय की उत्पत्ति ही अपेक्षित है, इसलिए द्रव्य में निरपेक्ष पर्याय अनादि-अनन्त है। द्रव्य, गुण और कारण-शुद्ध पर्याय तीनों शक्तिरूप से अनादि-अनन्त एकरूप हैं। यहाँ दृष्टि का विषय है, और दृष्टि सम्पूर्ण निरपेक्ष द्रव्य को लक्ष्य में लेती है। अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि का बल होने से निर्मल कार्य पर्याय प्रगट होती है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो एक पर्याय प्रगट होने का कारण दूसरी पर्याय नहीं, किन्तु उसका सच्चा साधन अखण्ड द्रव्य है। पर्याय पर दृष्टि डालना साधन नहीं, किन्तु आत्मा पर दृष्टि रखना साधन है—कारण है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम विकारी अवस्था का विश्वास न करे, अर्थात् उसे अपना न माने, तथा यह विश्वास भी न रखे कि—मैं निर्मल पर्याय जितना ही हूँ, किन्तु अखण्ड द्रव्य का ही विश्वास रखे। जिसने केवलज्ञान प्रगट किया है, उसने अखण्ड द्रव्य पर सुदृढ़ दृष्टि रखकर ही प्रगट किया है।

ज्ञानगुण त्रिकाल एकरूप है, और अवस्था एक समय में एक, दूसरे समय में दूसरी तथा तीसरे समय में तीसरी होती है। इस प्रकार क्रमशः अनन्त अवस्थाएँ होती हैं, वे सब एक अवस्था में नहीं, किन्तु सदा स्थायी गुण में होती हैं, इसलिए सदा स्थायी द्रव्य का आश्रय करने से सम्पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है। पूर्ण की शुद्ध श्रद्धा के बिना अपूर्ण पर्याय भी प्रगट नहीं होती।

लोग कहते हैं कि आप तो सारे दिन आत्मा ही आत्मा की बात करते हैं किन्तु ऐसा कहनेवालों से हम पूछते हैं कि तुम सब, सारे दिन क्या करते रहते हो ? खाना, पीना, व्यापार और नौकरी—इत्यादि ही तो सारे दिन किया करते हो ? जिसके आदि, मध्य और अवसान में दु:ख ही दु:ख पाया जाता है, उसमें तुम पचास-पचास वर्ष व्यतीत कर देते हो, फिर भी उसमें प्रीति बनी रहती है, और दु:ख को दु:ख भी नहीं माना। आत्मा की यह बात कभी भी प्रीति पूर्वक नहीं सुनी। यदि कोई एक बार भी आत्मा की बात प्रीति पूर्वक सुन ले तो वह मुक्ति का भाजन है, ऐसा पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है। तात्पर्य यह है कि यह तत्त्व की बात अन्तरंग से प्रीति और रुचिपूर्वक सुन ले तो मुक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहे। सत् श्रवण की भावना की प्रबलता में सत् के ही निमित्त विद्यमान होते हैं। आचार्य पद्मनन्दि ने यह कहा है कि तत्त्व की बात नहीं सुनी, किन्तु यह नहीं कहा कि तत्त्व की बात नहीं पढ़ी तात्पर्य है कि—यदि सत्समागम के बिना स्वयं ही पढ़े-स्वाध्याय करे तो उसे क्या समझेगा ? इसलिए सत्समागम के द्वारा पहले सत्स्वरूप की बात प्रीतिपूर्वक सुननी चाहिए। जो जीव प्रसन्नचित्त पूर्वक सुनता है, और फिर विचार करता है कि अहो ! मेरे गुण पराश्रय रहित हैं, मैं निरपेक्ष आत्मा हूँ, तो वह निकट भविष्य में ही मोक्ष का भाजन होता है। सुननेवाले की अमुक पात्रता तो होती ही है, तभी यह बात अन्तरंग में जमती है, और उस पात्रता के होने पर ही इस बात की आन्तरिक प्रीति जागृत होती है। ब्रह्मचर्य का रंग, अमुक प्रकार से कषायों की मन्दता तथा नीति-न्याय इत्यादि की पात्रता होनी ही चाहिए। यदि इतनी पात्रता न हो, तो यह बात सुनने के लिये भी योग्य नहीं है।

वर्तमान में होनेवाली अवस्था शरणभूत नहीं है किन्तु अखण्ड अनन्त गुणों से परिपूर्ण आत्मा ही एकमात्र शरण है। यह बात चैतन्य में अंकित कर लेनेयोग्य है। जिसके हृदय में यह बात अंकित हो जाती है, उसे केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता। केवलज्ञान भी गुण नहीं किन्तु पर्याय है, क्योंकि वह सादि अनन्त अवस्था है, और गुण अनादि-अनन्त एकरूप होता है। इसलिए समल, निर्मल पर्याय पर लक्ष्य देने से केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं होती किन्तु अखण्ड द्रव्य पर लक्ष्य देने से केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। यह सम्यग्दर्शन का ध्येय है, और सम्यग्दर्शन का विषय है। मोक्ष कैसे हो सकता है उसका उपाय बनानेवाली अन्तिम से अन्तिम बात कही गयी है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान सम्यक् होते हैं, यह उनकी अवस्था है। इन ज्ञानों की अवस्था न होती हो सो बात नहीं है, किन्तु उन पर दृष्टि रखने से यह अवस्थाएँ प्रगट नहीं होती। परन्तु सम्पूर्ण वस्तु पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त, ध्रुव, निश्चल विद्यमान है, इस दृष्टि के बल से मति, श्रुत और पूर्ण केवलज्ञान अवस्था प्रगट होती है।

जैसे—कोई मनुष्य गर्म पानी को ठण्डा कर रहा है, इस समय उसे यह ध्यान है कि पानी में सम्पूर्ण शीतल स्वभाव शक्तिरूप विद्यमान है, इसी विश्वास से वह गर्म पानी को ठण्डा कर रहा है, किन्तु वह ऐसे लक्ष्य के बल से पानी को ठण्डा नहीं कर रहा है कि थोड़ी-थोड़ी उष्णता चली गयी है, और थोड़ा-थोड़ा पानी ठण्डा हो गया है, किन्तु वह पानी में सम्पूर्ण शीतलता विद्यमान होने के विश्वासपूर्वक पानी ठण्डा कर रहा है। पानी के गर्म होने में अग्नि का निमित्त था, क्या वह इस विश्वास पर पानी ठण्डा कर रहा है ? अथवा थोड़ा-थोड़ा पानी ठण्डा होता जाता है, इस विश्वास पर पानी को ठण्डा कर रहा है ? या पानी में सम्पूर्ण शीतल स्वभाव भरा हुआ है, इस लक्ष्य के बल पर पानी को ठण्डा कर रहा है ? इनमें से तीसरी बात सही है, पानी में अखण्ड शीतलस्वभाव भरा है, उसके लक्ष्य के बल से वह पानी को ठण्डा कर रहा है। पानी में जो वर्तमान शीतल अवस्था है, उस वर्तमान अवस्था में सम्पूर्ण शीतल गुण भरा हुआ नहीं है, इसी प्रकार वर्तमान समय की अवस्था में त्रिकाल अवस्था की शक्ति नहीं है; कुछ शीतल अवस्था में सम्पूर्ण शीतलता नहीं है, अर्थात् उस अवस्था में सम्पूर्ण शीतल अवस्था नहीं है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य अभेदरूप से आत्मा के त्रिकाली सामान्य स्वभाव पर है, उस सामान्यरूप वस्तु की दृष्टि के बल से मति, श्रुत, केवल इत्यादि की पर्याय होती है। अमुक अंश में निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उस पर एकाग्रता करने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु सम्पूर्ण अवस्था की शक्ति द्रव्य में एक समय में, सम्पूर्ण विद्यमान है, उस पर दृष्टि के बल से पूर्णता प्रगट होती है। उसके बल से मोक्षमार्ग प्रगट होता है, उसके बल से मुक्ति प्रगट होती है। इस प्रकार अवस्था प्रगट होती है, द्रव्य नहीं, क्योंकि द्रव्य तो सदा प्रगट ही है; किन्तु जो अवस्था प्रगट होती है, क्या वह कर्म के निमित्त पर दृष्टि रखने से होती है ? अमुक अंश में निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, क्या उस पर दृष्टि रखने से प्रगट होती है ? अथवा जो अखण्ड स्वभाव भरा है, उस पर दृष्टि रखने से प्रगट होती है ? जिसे निर्मल

अवस्था प्रगट करनी है, उसे पूर्ण अखण्ड स्वभाव त्रिकाल अनन्त शक्ति से परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि जमाने से निर्मल अवस्था प्रगट होती है। यह सम्यक्श्रद्धा का विषय है, इसलिए अवस्था में से ढूँढ़ना छोड़ दे और वस्तु में दृष्टि डाल, तब ही अवस्था प्रगट होगी, अवस्था में ढूँढ़ने से राग होता है और राग विकार है, इसलिए ज्ञानमार्गणा पुद्गल का परिणाम है।

आचार्यदेव ने 'जिनके लक्षण हैं' कहकर ज्ञानमार्गणा और ज्ञान की पाँच पर्यायें हैं अवश्य—इस प्रकार बताया है; परन्तु साथ ही वे अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं हैं यह कहकर परमार्थ बताया है। इसी प्रकार सभी २९ कथनों में समझ लेना चाहिए। ज्ञानमार्गणा लक्ष्य है, और भेद उसका लक्षण है; यह सब आत्मा के नहीं हैं, क्योंकि अभेद आत्मा का वह लक्ष्य और लक्षण नहीं हैं, इसलिए ज्ञानमार्गणा भी जीव के नहीं हैं।

अब संयम मार्गणा के सम्बन्ध में कहते हैं। संयम के सात भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम। अविरतभाव को असंयम कहते हैं। आत्मा की प्रतीति न हो, और जो आसक्ति है सो मैं हूँ, वह मेरा भाव है, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि के होती है। आसक्ति तो है ही, और मान्यता भी विपरीत है, इसलिए वह मिथ्यात्व का असंयम है, और जिसे आत्मा की प्रतीति है, वह आसक्ति के परिणाम मेरा स्वरूप नहीं हैं ऐसा मानता है, उसे आसक्ति की रुचि नहीं है, तथापि आसक्ति के परिणाम छूटे नहीं हैं; यह चौथी भूमिका का असंयम है।

पाँचवें गुणस्थान में आसक्ति का आंशिक त्याग होता है और कुछ अंशों में आसक्ति रह जाती है, उसे संयमासंयम कहते हैं। सामायिक, चारित्र छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती नग्न दिगम्बर मुनि के होता है। वे सन्त-मुनि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रमणता में लीन होते हैं, वह सामायिक चारित्र है।

नग्न दिगम्बर मुनि स्वरूप-रमणता में अत्यन्त लीन रहते हैं, किन्तु कभी कहीं अल्प वृत्ति में कुछ शिथिलता हो जाए तो वे गुरु के पास से छेद अर्थात् प्रायश्चित्त लेते हैं, और स्वयं स्थिर हो जाते हैं—यह छेदोपस्थापना चारित्र है।

जिन सन्त-मुनियों को संयमलब्धि प्रगट हुई हो, जिससे कि वे वनस्पति और पानी इत्यादि पर चलते हैं, फिर भी उनके शरीर से हिंसा नहीं होती—यह उनका परिहारविशुद्धि चारित्र है, परिहारविशुद्धि चारित्र में ऐसी लब्धि होती है।

दसवें गुणस्थानवर्ती सन्त-मुनि के सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। चारित्र की विशेष निर्मल पर्याय हो गयी हो, और लोभ का अन्तिम से अन्तिम अत्यन्त अल्पांश रह गया हो, ऐसी विशेष चारित्र की दशा को सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहते हैं।

जैसा चारित्र का स्वरूप है, वैसा सम्पूर्ण प्रगट हो जाए सो यथाख्यातचारित्र है। इस चारित्र में कषाय का सर्वथा अभाव होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशम यथाख्यात होता है, और बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक यथाख्यात होता है।

आत्मा में चारित्रगुण सदा त्रिकाल विद्यमान है, उसमें से वह अवस्था प्रगट होती है, परन्तु संयम की अवस्था को ढूँढ़ने से या उस पर दृष्टि रखने से राग रहता है, इसलिए संयम के भेद में संयम को ढूँढ़ने से संयम की अवस्था प्रगट नहीं होती। किन्तु मैं आत्मा अभेदरूप से वीतरागस्वरूप हूँ। अनन्त गुणों का पिण्ड अभेद आत्मा है, ऐसी अभेददृष्टि के बल से वीतराग पर्याय प्रगट होती है। यदि असंयम का त्याग करूँ तो संयम प्रगट हो ऐसे विकल्प से संयम प्रगट नहीं होता, किन्तु मेरा ज्ञायक स्वभाव सदा स्थायी समस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है, ऐसी उस पर दृष्टि रखने से संयम प्रगट होता है। गुण-गुणी का भेद भी वस्तुदृष्टि का विषय नहीं है, किन्तु वास्तव में तो अनन्त गुणों की पिण्डरूप वस्तु ही दृष्टि का विषय है।

मैं परिपूर्ण हूँ, ऐसी आतमा की पहिचान हो, कि तत्काल ही संयम नहीं हो जाता। चतुर्थ गुणस्थान हो और गृहस्थाश्रम में राजपाट कर रहा हो, तत्पश्चात् पुरुषार्थ के बढ़ने पर पंचम गुणस्थान और मुनित्व आता है। पुरुषार्थ के बढ़ने पर राग के घटाते-घटाते और संयम में बढ़ते-बढ़ते आगे-आगे की पर्याय प्रगट होती जाती है। मैं अखण्ड हूँ ऐसी दृष्टि से बल से राग कम होता जाता है, और निर्मल चारित्र की अवस्था प्रगट होती है।

संयम के भेद आत्मा में नहीं हैं। संयम के भेदों में आत्मा को ढूँढ़ने से राग होता है और राग विकार है, तथा विकार अपना स्वभाव नहीं, इसलिए जड़ है, इस अपेक्षा से संयम मार्गणा भी पुद्गल का परिणाम है। संयम की पर्याय चैतन्य की अवस्था में होती है, कहीं जड़ में नहीं होती, किन्तु उस न्यूनाधिक पर्याय में पर की अपेक्षा होती है, इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। दृष्टि संयम के भेद को स्वीकार नहीं करती। दृष्टि का विषय अभेद है, ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, वह चैतन्य के अभेद स्वरूप को और

चैतन्य में होनेवाले संयम के भेदों को भलीभाँति जानता है, किन्तु दृष्टि उन भेदों को स्वीकार नहीं करती, और उसमें पर की अपेक्षा होती है, इसलिए संयममार्गणा पुद्गलपरिणाम है।

संयम को पर का आधार नहीं है। क्या संयम को शरीर का आधार है, या कर्म, विकारी पर्याय अथवा निर्मल पर्याय का आधार है ? किसी के आधार पर संयम नहीं है, किन्तु संयम अर्थात् आन्तरिक स्थिरतारूप चारित्रगुण भरा हुआ है, और चारित्रगुण अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा है, उसके आधार से वह प्रगट होता है। पंच महाव्रतों के शुभ परिणाम के आधार से भी संयम नहीं होता। जब संयम प्रगट होता है, तब शुभ परिणाम बीच में आते हैं, किन्तु उनके आधार से संयम नहीं होता, और संयम की प्रगट होनेवाली स्थिर पर्याय के आधार पर भी संयम प्रगट नहीं होता, किन्तु त्रिकाल स्थिरता के बिम्ब, आत्मा पर दृष्टि के बल से स्थिरता प्रगट होती है। संयम के प्रकार गुण नहीं किन्तु पर्याय हैं, क्योंकि वे भेद हैं, इसलिए जो त्रैकालिक द्रव्य विद्यमान है, उस पर दृष्टि डालने के बल से संयम प्रगट होता है। इसलिए संयममार्गणा के भेद आत्मा के नहीं हैं।

चन्द्रमा स्वयं सोलह कलाओं में परिपूर्ण है। उसमें नित्य राहु आड़े आता है, और वह ज्यों-ज्यों हटता जाता है त्यों-त्यों चन्द्रमा की एक-एक कला प्रगट होती जाती है। चन्द्रमा में द्वितीया, तृतीया और चतुर्थी की कला के भेद स्वत: नहीं हैं, क्योंकि चन्द्रमा तो सदा सम्पूर्ण है, किन्तु राहु उसके आड़े आता है, और वह क्रमश: हटता जाता है, इसलिए दूज, तीज, चौथ इत्यादि की कला प्रगट होने में निमित्त की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा सम्पूर्ण चन्द्रमा के समान है, उसमें जो पाँचवें, छट्ठे, सातवें इत्यादि गुणस्थान के भेदों की कलायें हैं, वे अखण्ड आत्मा की अपेक्षा से नहीं हैं, किन्तु कर्मरूपी राहु आड़े आता है जो पुरुषार्थ के द्वारा हटता जाता है, इसलिए संयम की कला के भेद हो जाते हैं, किन्तु अभेद आत्मा की अपेक्षा से वे भेद नहीं होते। उपरोक्त गुणस्थानों के संयम की जो कला प्रगट होती है, उस पर दृष्टि न डालकर सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखना ही सम्पूर्ण कलाओं के प्रगट होने का कारण है। इसलिए संयम के भेदों में आत्मा को ढूँढ़ना, विकल्प का कारण है। अत: मुझे सामायिक या छेदोपस्थापनादि चारित्र है, इस प्रकार संयम के भेदों में ढूँढ़ने से संयम पर्याय प्रगट नहीं होगी, किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य में दृष्टि डालने से संयम पर्याय प्रगट होती है इसलिए दृष्टि के विषय की अपेक्षा संयममार्गणा भी आत्मा के नहीं है।

आचार्यदेव ने संयममार्गणा को कहकर सर्वज्ञ भगवान कथित दर्शन का व्यवहार स्थिर रखा है, किन्तु वह अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है। ज्ञान और संयम के भेदों पर लक्ष्य देना आत्मा की एकता को तोड़नेवाला है। इसलिए भेद पर लक्ष्य की एकता पुद्गल की ओर जाती है, अतः पुद्गलमय है।

गतिमार्गणा से लेकर यहाँ पुनः कहा जा रहा है—

पहले चार गतियाँ कही गयीं हैं, उसमें सिद्ध गति मिलाकर कुल पाँच गतियाँ भी कही जाती हैं। इन पाँच प्रकारों में से ढूंढ़ना सो रागमिश्रित विचार है। अरागी को, अभेद की श्रद्धा के बिना राग दूर नहीं होता। सिद्ध गति भी एक पर्याय है। उस पर्याय में आत्मा को ढूंढ़ने से सिद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु परिपूर्ण अभेद आत्मा पर दृष्टि डालने से प्रगट होती है।

मद्य, माँसादिक भक्षक नरक में जाता है, मायाचार के परिणामों से तिर्यंचगति में जाता है, सरल और भद्र मध्यम परिणामवाला मनुष्यगति में जाता है, दया—दानादि के शुभ परिणामों की मुख्यतावाला देवगति में जाता है, और आत्मा की सम्पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करनेवाला सिद्धगति में जाता है।

पाँच गतियों के प्रकार से आत्मा को पाँच गतिवाला मानना यथार्थ दृष्टि नहीं है, आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। संसार अवस्था अनादि-सान्त है, और सिद्ध दशा का प्रगट होना सादि-अनन्त है, तथा आत्मा वस्तु अनादि-अनन्त है। अनादि-अनन्त वस्तुस्वभाव पर दृष्टि डालना सच्ची दृष्टि है, वह आत्मा का मूल स्वरूप है, आत्मा के भेद करना आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, अखण्ड स्वरूप नहीं है। आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, उस पर दृष्टि डालने से सम्पूर्ण मुक्त दशा प्रगट होती है।

एक आत्मा को पाँच प्रकार से ढूँढ़ना सो रागमिश्रित—कषायमिश्रित भाव है। उस राग में रुकने से रागभाव दूर नहीं होता, किन्तु सम्पूर्ण ऐश्वर्य से भरे हुए आत्मा पर दृष्टि रखने से राग दूर होता है।

आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप-अभेदरूप वस्तु है, उस आत्मा का पाँच गतियों से—पाँच प्रकार से विचार करना सो ऐसे भेद वास्तव में एकस्वरूप आत्मा में नहीं है। पाँच

प्रकार से विचार करने पर रागमिश्रित विचार नहीं छूटता। निर्विकार मोक्षपर्याय पर लक्ष्य जाए तो भी रागमिश्रित विचार के भेद होते हैं, इसलिए अनादि-अनन्त एकरूप पारिणामिकभाव से वर्तमान समय में जो आत्मा है, उस पर दृष्टि डालने से वीतरागदशा प्रगट होती है। आत्मा में सिद्धपर्याय तथा चारों प्रकार की गतियों की पर्याय होती है, किन्तु उस अवस्था पर लक्ष्य जाने से रागमिश्रित भेद होता है, और राग आत्मा का स्वरूप नहीं है। इसलिए गतिमार्गणा भी आत्मा के नहीं है।

आत्मा सबसे अधिक समय निगोद में रहता है, उससे कम समय देवगति में, उससे कम नरकगति में और उससे कम समय मनुष्यगति में तथा सबसे अधिक समय-अनन्त काल सिद्धगति में रहता है। जीव ने आज तक सबसे कम भव मनुष्य के धारण किये हैं, यद्यपि मनुष्य भव भी अनन्त बार धारण कर चुका है, फिर भी वह सबसे कम अनन्त हैं। उससे असंख्यातगुना समय नरकों में और उसमें भी असंख्यातगुना समय देवों में, तथा उससे भी अनन्त गुना समय तिर्यंच और निगोद में गया, एवं सबसे अधिक अनन्तानन्तगुना काल सिद्धों में है, और सबसे अनन्त गुना कम काल मनुष्यों में है।

पाँच प्रकार की गतियों के विचार में लगना सो कषाय-मिश्रित विचार है, इसलिए पाँचों प्रकार से रहित आतमा की श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है, जैसे सोने के भिन्न-भिन्न गहने बनकर अनेक भेद हो जाते हैं किन्तु उस भेददृष्टि को कुछ ढीला करके सोने के अभेद पिण्ड पर दृष्टि डालें तो एक मात्र अभेद शुद्ध सोना ही दिखायी देता है और भेद पर दृष्टि डालने से गहनों के भिन्न-भिन्न भेद दिखायी देते हैं, इसी प्रकार आत्मा को उपरोक्त पाँचों गतियों के भेद से देखने पर उसमें भेद दिखायी देते हैं, किन्तु अनन्त गुणों के पिण्ड-अभेद आत्मा पर दृष्टि डालने से अभेद आत्मा ही दिखायी देता है। पाँच प्रकार की गतियों के आकार के विचार में लगने से एक प्रकार की श्रद्धा नहीं होती। आत्मा पाँच प्रकार का है ऐसी मिथ्यादृष्टि के द्वारा अखण्ड सामान्य पर दृष्टि नहीं जाती। पाँचों प्रकार की गति मार्गणाएँ आत्मा के नहीं हैं। पाँच प्रकार के गतियों के परिणाम पुद्गल के परिणाम हैं, क्योंकि वे राग के परिणाम हैं, वे राग के परिणाम चैतन्य की अवस्था में होते हैं किन्तु वे अपना स्वभाव नहीं हैं, परोन्मुख भाव हैं, इसलिए वे पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिए गतिमार्गणा आत्मा के नहीं हैं।

भगवान आत्मा सामान्य एकरूप है, ऐसी श्रद्धा करना सो सर्व प्रथम धर्म की इकाई है। गति इत्यादि के विचार साधकदशा में बीच में आते हैं किन्तु उस भेदरूप आत्मा का स्वरूप मानने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती किन्तु परमपारिणामिक भावों पर दृष्टि रखने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, दृष्टि भेद को स्वीकार नहीं करती, इसलिए गतिमार्गणा आत्मा के नहीं है। यहाँ अखण्ड आत्मा की श्रद्धा करने की बात है।

एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रियता आत्मा में नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु केवलज्ञान होता है तब जो अतीन्द्रियता आत्मा में प्रगट होती है वह भी एक अवस्था है, भेद है। अभेद आत्मा में ऐसे भेदों पर दृष्टि करने से राग होता है, वह राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए इन्द्रियमार्गणा आत्मा के नहीं हैं। इन्द्रियों में अनिन्द्रियता का भेद भी आ जाता है। आत्मा अनिन्द्रिय केवलज्ञान अवस्था जितना ही नहीं है, इसलिए वह आत्मा में नहीं है, ऐसा कहा है। जो प्रगट होती है, सो अवस्था है, वह पर्यायदृष्टि का विषय है। द्रव्यदृष्टि में प्रगट-अप्रगट का भेद नहीं है। अनादि-अनन्त अभेद वस्तु द्रव्यदृष्टि का विषय है।

आत्मप्रतीति होने के बाद, स्वभाव में स्थिर होने पर केवलज्ञान हुआ और तब अनीन्द्रिय हुआ, उसके बाद वहाँ इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता। केवलज्ञानी अरहन्तों और सिद्धों में इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता, इसलिए वहाँ अनिन्द्रिय अवस्था होती है।

पंचेन्द्रियाँ और एक अनिन्द्रिय—इस प्रकार छह भेदों का आश्रय लेने पर एक प्रकार का आश्रय नहीं रहता, और एक प्रकार के अभेद के आश्रय के बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती। सच्ची श्रद्धा ही धर्म की सबसे पहली इकाई है; अपूर्ण दशा में भेद के विचार आते हैं, परन्तु यदि यथार्थ दृष्टि न करे और मात्र भेद में ही लगा रहे तो धर्म प्रगट नहीं होता। सच्ची दृष्टि के बल के बिना अनिन्द्रिय अवस्था प्रगट नहीं होती।

आचार्यदेव ने पाँच इन्द्रियों की बात कहकर व्यवहार बताया है। यदि कोई यह कहे कि एकेन्द्रियता और पंचेन्द्रियता नहीं है; उससे कहा है कि व्यवहार ऐसा ही होता है; किन्तु वे सब भेद तेरे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। ऐसा कहकर परमार्थ बताया है। इन्द्रियाँ लक्ष्य हैं और उनके छह भेद लक्षण हैं। वे अभेद आत्मा का लक्ष्य और लक्षण नहीं हैं, इसलिए इन्द्रियमार्गणा आत्मा के नहीं है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और अकाय— इन सात प्रकार के भेदों के राग में लगना दृष्टि का विषय नहीं है, परन्तु ज्ञान में वे भेद ज्ञात होते हैं, अपूर्ण दशा में उनके विचार भी आते हैं, परन्तु वस्तुदृष्टि उन भेदों को स्वीकार नहीं करती। उन भेदों पर लक्ष्य जाने से राग होता है यद्यपि राग चैतन्य की अवस्था में होता है, किन्तु वह अपना स्वभाव नहीं है। राग परोन्मुखभाव है, इसलिए वह पर का है, अत: कायमार्गणा आत्मा के नहीं है।

खाने में से तत्काल निकाले गये पत्थर के टुकड़ें में असंख्य जीव होते हैं, वे पृथ्वीकायिक है। तालाब, नदी इत्यादि के पानी की एक बूँद में असंख्य जीव होते हैं, वह जलकायिक है, अग्नि के एक कण में असंख्य जीव हैं, वह अग्निकायिक है। वायु में जीव है, और वनस्पति में भी जीव है, तथा त्रसकाय में भी जीव हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय को त्रसकाय कहते हैं। और छह काय रहित-अकाय मोक्ष है। मोक्ष में कोई काय नहीं है। उन सात प्रकार के कायों में भेद का विषय छोड़कर एक अभेद आत्मा को विषय करके उसमें लग जाना सम्यग्दर्शन है। पर की छह कायों से मेरा क्या प्रयोजन है ? आत्मा में प्रगट होनेवाली अकाय अवस्था के भेद पर लक्ष्य करके रुकने से मेरा क्या प्रयोजन है। चैतन्य में जो अवस्था होती है, उतना मात्र सम्पूर्ण चैतन्य का स्वरूप नहीं है। सात प्रकार के कायों का विचार राग-मिश्रित परिणाम है, और कायमार्गणा में आत्मा को ढूँढ़ना सो आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है।

पन्द्रह प्रकार के योग और अयोग मिलाकर सोलह प्रकार के भेद का राग आत्मा के एक प्रकार का विषय करने में सहायक नहीं होता, उन सोलह प्रकार के भेदों में लगने से आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। योग आत्मा की वैभाविक अवस्था है, और अयोग आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। योगों के भेद में लगने से राग होता है, और राग परोन्मुखता का भाव है, इसलिए वह पुद्गल का परिणाम है, अत: वे सोलह प्रकार की मार्गणाओं के विचार आत्मा के नहीं हैं।

स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद और अवेद, आत्मा के नहीं हैं। स्त्रीवेद और पुरुषवेद की वासना का होना सो वेद है। तीनों वेदों का नाश होने पर अवेद होता है। यह अवेद अवस्था नववें गुणस्थान में होती है। तीन प्रकार के वेद और चौथे अवेद में आत्मा को

ढूंढ़ना सो रागमिश्रित विचार है। चैतन्य भगवान सामान्यस्वरूप से ज्ञायकज्योति है। इसे चार प्रकार के भेदों में लगाने से अभेद अवस्था प्रगट नहीं होती। अवेद अवस्था पर लक्ष्य देने से भी अवेद अवस्था प्रगट नहीं होती, किन्तु उसमें रागमिश्रित परिणाम होते हैं। अखण्ड ज्ञायकबिम्ब पर दृष्टि डालने से अवेद अवस्था प्रगट होती है, इसलिए वेदमार्गणा आत्मा के नहीं है।

चार प्रकार की कषाय और अकषाय पाँचों भेद आत्मा के नहीं हैं। एकरूप स्वभाव में इन पाँचों प्रकार के भेदों के विषय का महत्त्व नहीं है, किन्तु वे गौण हैं। अवस्था पर दृष्टि डालने से अवस्था की अशुद्धता दूर नहीं होती किन्तु जो चैतन्य अखण्ड ज्ञायकबिम्ब है, उस पर दृष्टि डालने से अनन्त निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है।

स्वर्ण के एक पाट पर दृष्टि करने से उसके समस्त आभूषणों के भेदों का उसमें समावेश हो जाता है, उसी प्रकार एक ज्ञायक पर लक्ष्य करने से चैतन्य की समस्त पर्याय के भेद उसमें समा जाते हैं।

कषाय और अकषाय के भेद अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, वे सब पर्यायें चैतन्य की अवस्था में होती हैं, किन्तु एक समय एक पर्याय होती है। क्रोध के समय क्रोध, मान के समय मान, माया के समय माया, और लोभ के समय लोभ होता है, तथा अकषाय की अवस्था के समय कषाय की अवस्था नहीं होती। इन समस्त क्रमों के प्रकार में लगना आत्मा का धर्म नहीं है। अक्रम स्वभाव की दृष्टि करके उसमें स्थिर होना सो धर्म है। पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की बात है। सम्यग्दर्शन हुए बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, सम्यक्चारित्र के बिना, केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता।

आत्मप्रतीति होने के बाद अनादि-अनन्त अभेद आत्मा की श्रद्धा होने पर क्रमशः स्थिरता बढ़ती जाती है, और कषाय दूर होती जाती है। यह सब संयम की पर्याय पूर्णता प्राप्त होने से पूर्व बीच में होती है, परन्तु उस क्रम अवस्था पर लक्ष्य देने से संयमरूप स्थिर पर्याय प्रगट नहीं होती।

ज्ञान के पाँच भेदों में लगना भी राग है। राग में रुकने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। ज्ञान के सम्बन्ध में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है।

संयम-असंयम के सात भेदों के सम्बन्ध में भी पहले कहा जा चुका है, असंयम के भेद के अतिरिक्त छह प्रकार का संयम आत्मा की प्रतीति होने के बाद प्रगट होता है। अखण्ड एक आत्मा को लक्ष्य में लेने में वे सात प्रकार के भेद सहायक नहीं हैं। बीच में भेद आते अवश्य हैं, किन्तु वे सहायक नहीं होते। एक असंयम का भेद सम्यग्दर्शन होने से पूर्व मिथ्यात्वी के भी होता है। वह राग-द्वेष और विषय-कषाय को अपना मानता है, और उसकी विषय-कषाय की आसक्ति भी दूर नहीं हुई इसलिए उसके असंयम और मिथ्यात्व दोनों होते हैं।

सम्यग्दृष्टि को आत्मा की प्रतीति होती है, कि मैं चैतन्यमूर्ति अखण्ड आत्मा हूँ। सिद्ध भगवान को जैसा आत्मा का अनुभव होता है वैसा आंशिक अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है, तथापि राग-द्वेष विषय-कषाय उसकी अस्थिरता में से दूर नहीं हुए। राग-द्वेष और विषयों में उसकी रुचि नहीं है, किन्तु अस्थिरता के कारण अल्प आसक्ति विद्यमान है। यह चतुर्थ गुणस्थान की असंयमता है।

पाँचवें गुणस्थान में आंशिक आसक्ति का त्याग होता है। वहाँ पंचेन्द्रिय के विषयों की आसक्ति और छह काय की हिंसा की आसक्ति का आंशिक त्याग होता है। वहाँ जितना त्याग होता है, वह अन्तरंग से होता है।

छट्ठे गुणस्थान में पंचेन्द्रिय के विषयों की आसक्ति का, तथा छह काय के जीवों की हिंसा की आसक्ति का सर्वथा त्याग होता है। आन्तरिक आसक्ति छूटने पर बाहर से भी त्याग हो जाता है, और आन्तरिक स्वरूपरमणता बढ़ जाती है। संयम के भेद पर दृष्टि डालने से राग होता है। चैतन्य अखण्ड सामान्य अनन्त गुणों का पिण्डरूप चारित्रमूर्ति है, ऐसा एक प्रकार श्रद्धा में लेना सो सर्व प्रथम मोक्ष का उपाय है, यद्यपि भेद के विचार अपूर्णदशा में आते हैं, किन्तु वे अखण्ड श्रद्धा के विषय में नहीं हैं, इसलिए संयममार्गणा भी आत्मा के नहीं है।

दर्शन में सामान्य व्यापार है। दर्शनोपयोग के व्यापार में पर विषय का ग्रहण नहीं है। ज्ञानोपयोग एक विषय से दूसरे पर जाता है, वहाँ ज्ञान उपयोग एक विषय से छूटकर दूसरे विषय तक पहुँच नहीं पाया कि वह बीच का व्यापार दर्शन का व्यापार है। ज्ञानोपयोग वस्तु का भेद करके जानता है और दर्शनोपयोग भेद किये बिना सामान्यरूप से देखता है।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षुदर्शन अर्थात् आँख से देखने के पूर्व होनेवाला सामान्य व्यापार। अचक्षुदर्शन अर्थात् आँख के अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियों से देखने के पूर्व होनेवाला सामान्य व्यापार। अवधिदर्शन अर्थात् मन और इन्द्रियों के बिना मर्यादितरूप से पदार्थों को देखने के पूर्व होनेवाला सामान्य व्यापार। और केवलदर्शन अर्थात् आत्मा के सम्पूर्णतया-प्रत्यक्षरूप से पदार्थों को देखने का सामान्य व्यापार। चारों दर्शन के भेद अखण्ड आत्मा में नहीं हैं। वह भेददृष्टि एक प्रकार की श्रद्धा करने में विघ्नरूप है। दर्शन की यह चार अवस्थाएँ आत्मा में होती ही नहीं सो बात नहीं है, क्योंकि वह अवस्थाएँ चैतन्य में होती हैं, किन्तु उन अवस्थाओं के भंग-भेदवाला ही आत्मा को मानने से एक अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा नहीं होती, और एक अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा करने पर भंग-भेद की श्रद्धा छूट जाती है। यद्यपि यह अवस्थाएँ ज्ञान में मालूम होती हैं किन्तु वे श्रद्धा का विषय नहीं है। दृष्टागुण आत्मा में सदा त्रिकाल विद्यमान है, उसकी चार अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओं पर दृष्टि न रखकर सामान्य एकरूप आत्मा पर दृष्टि रखना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद एकरूप आत्मा है।

धर्म की पहली सीढ़ी कैसी होती है, यह जाने बिना यह मान ले कि मैं तो ऊपर की सीढ़ी पर पहुँच गया सो इससे कहीं ऊपर की सीढ़ी प्राप्त नहीं हो जाती।

जो अकेला स्वभावभाव है सो मैं हूँ, अनादि-अनन्त एक प्रकार मैं हूँ, दर्शन गुण मेरा एक अखण्ड परिपूर्ण है, इस प्रकार पूर्ण गुणों की प्रतीति के बिना गुणों की पूरी अवस्था प्रगट नहीं होती। पूर्ण आत्मा की प्रतीति के बिना पूर्ण को प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं होता, और ऐसे पुरुषार्थ के बिना चारित्र या केवलज्ञान नहीं होता।

इस गाथा में मात्र स्वभावभाव की अलौकिक बात कही है। यदि इसके सुनने में कुछ समय तक भलीभाँति ध्यान रखे तो ऐसा उच्च प्रकार का शुभभाव हो सकता है कि जो सामायिक, प्रतिक्रमण आदि की क्रिया में भी नहीं हो सकता। यदि इस पर ठीक ध्यान रखे तो उससे जो शुभभाव हो उससे उच्च पुण्यबन्ध होता है। यदि इसे अन्तरंग से समझकर स्वीकृति आये तो निर्जरा होती है। इसे सुनकर यथार्थ निर्णय करे कि अहो! यह तो अपूर्व बात है, चैतन्यस्वरूप तो भिन्न अद्‌भुत और अपूर्व है, बस मेरा स्वरूप ऐसा ही है, इसमें

स्थिर होने से मैं अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लूँगा—ऐसा स्वविषय लक्ष्य में आ जाए और अन्तरंग से स्वीकृति आये तो उसका फल अवश्य प्राप्त होता है।

इसे सुनते समय यदि इधर-उधर ध्यान चला जाता है तो आत्मा का स्वभाव अज्ञात-सा मालूम होता है, किन्तु यह तो तेरे आत्मा का ही विषय चल रहा है, यह सम्यग्दर्शन की बात चल रही है, और मुक्ति प्राप्त करने की पहली सीढ़ी की बात चल रही है। यह बात अक्षरज्ञान वालों की ही समझ में आये ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह अनक्षरीज्ञान है, इसलिए इसे अनपढ़ व्यक्ति भी समझ सकता है। भगवान के समवसरण में हिरन, शेर, चीता इत्यादि एक ही साथ बैठकर उपदेश सुनते हैं और वे भगवान की दिव्यध्वनि सुनते-सुनते जहाँ आत्मस्वरूप में एकाग्र हो जाते हैं, वहाँ उनमें से अनेकों को सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, अखण्ड स्वरूप की श्रद्धा हो जाती है, आत्मानुभव प्रगट हो जाता है, और अनेकों को जातिस्मरण हो जाता है। किसी किसी को अवधिज्ञान भी हो जाता है; इस प्रकार जब पशुओं के भी निर्मल अवस्था प्रगट हो जाती है, फिर मनुष्यों का तो कहना ही क्या उन्हें तो और भी विशेष प्रगट हो सकती है। उनमें से किसी के मुनित्व, किसी के मन:पर्ययज्ञान, किसी के विविध लब्धियाँ और किसी के चौदह पूर्व का ज्ञान, किसी के केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। भगवान के समवसरण में कितने ही जंघाचरण और विद्याचरण मुनि आकाश में उड़ते हुए भगवान की दिव्यध्वनि सुनने को आते हैं। और अनेक विद्याधर तथा देवगण भी आते हैं। जैसे बीन-नाद से साँप डोल उठते हैं, वैसे ही भगवान की दिव्यध्वनि सुनती हुई बारह सभाएँ डोल उठती हैं। वर्तमान में भी महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर भगवान के समवसरण में बारह प्रकार के जीव दिव्यध्वनि सुनते हैं।

शास्त्रकारों ने इस पंचम काल के शास्त्रों में जो बात लिखी है, वह इस काल के जीवों को समझ में आयेगी इसलिए लिखी है। इन २९ प्रकार की बातों में आचार्यदेव ने मानों रत्न ही भर दिये हैं, उसमें महा मणिरत्न विद्यमान हैं। यहाँ सामान्य पारिणामिक भाव की बात कही है, मात्र स्वभावभाव बताया है।

लेश्या के छह प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। यह छह प्रकार के परिणाम हैं, जो कि उसके योग्य सभी जीवों के न्यूनाधिक रूप से होते हैं, कई लोग अत्यन्त कषायवान होते हैं, और कई शान्त परिणामी होते हैं, जिनकी जैसी परिणामों

की तीव्रता और मन्दता होती है, तदनुसार उनके लेश्या होती है। सांसारिक अनुकूलता-प्रतिकूलता के प्रसंग में जैसे-जैसे भाव होते हैं, उसी प्रकार उनमें लेश्या होती है। यह छह लेश्यायें और सातवाँ अलेश्यापन का भेद आत्मा में नहीं है। अलेश्यापन चौदह गुणस्थान में और सिद्धों में होता है। तेरहवें गुणस्थान में उपचार से शुक्ललेश्या कही गयी है। उपरोक्त सात प्रकार के भेदों पर लक्ष्य देने से राग का विकल्प होता है, उस विकल्प से निर्विकल्प श्रद्धा नहीं होती। पहले श्रद्धा में सात प्रकार के भेदों का राग दूर करे तो निर्विकल्प अनुभव हो, किन्तु अस्थिरता का जो राग विद्यमान रहता है, उसे स्थिरता द्वारा दूर करे, स्वरूप की विशेष रमणता द्वारा टाल दे तो वीतराग हो जाए।

पहले अभेद अखण्ड आत्मा की यथार्थ प्रतीति करना सो मुक्ति की पहली सीढ़ी है। यदि पहले प्रतीति में सम्पूर्ण आत्मा को लक्ष्य में ले तो अस्थिरता का राग दूर करके वीतराग हो सकता है। यदि प्रथम प्रतीति में से ही भेद के लक्ष्य को दूर न कर सके तो फिर अस्थिरता को दूर करके वीतराग कहाँ से हो सकेगा ? इसलिए यहाँ पहले यथार्थ प्रतीति करने की बात कही है। यद्यपि उपरोक्त सात प्रकार के भेद होते हैं किन्तु वे अखण्डस्वभाव की प्रतीति में सहायक नहीं होते इसलिए लेश्यामार्गणा आत्मा के नहीं है। आत्मा में अवस्था भेद पर दृष्टि न रखकर एक सामान्य चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि रखी जाए तो वह अखण्ड स्वरूप है।

भव्यमार्गणा—भव्य अर्थात् योग्य और अभव्य अर्थात् अयोग्य। यह दोनों भेद दृष्टि के विषय में स्वीकार नहीं हैं, इसलिए यह भेद आत्मा के नहीं हैं।

अभव्य का अर्थ मोक्षप्राप्ति के लिये अयोग्य जीव है, ऐसे अभव्य जाति के जीव अनादि-अनन्त हैं। यद्यपि वे थोड़े ही हैं—भव्यों से अनन्तवें भाग हैं, तथापि वे अनन्त हैं, अर्थात् भव्य जीव अभव्यों से अनन्तानन्तगुने हैं। अभव्य जीव चार गतियों के दुःखों में पिसे जा रहे हैं, किन्तु उन पर सच्चे उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता उसी प्रकार अभव्य जीव के हृदय में सत् का उपदेश स्पर्श ही नहीं करता। अभव्य जीव आत्मस्वरूप को समझने के लिये अयोग्य होते हैं, और भव्य जीव उसके लिये योग्य होते हैं। अभव्य जीव विपरीत वीर्यवाले होते हैं, उनका परिणमन-चक्र कभी नहीं बदलता।

आचार्यदेव कहते हैं कि—भव्य-अभव्य के भेद का विचार छोड़, राग के विकल्प को छोड़, और अभेद आत्मा की श्रद्धा कर! जहाँ अभेद आत्मा की श्रद्धा हुई वहाँ तू योग्य ही है, भव्य ही है, इसलिए तू भेद-भंग में मत पड़। तू अन्तरंग से जिज्ञासु होकर, हमारा मार्ग समझने के लिये आया है, इसलिए तू अभव्य हो ही नहीं सकता। किन्तु तू भव्य ही है। अब तू दो प्रकार के राग के भेदों में मत पड़, और उनके राग को छोड़कर यह प्रतीति कर कि मैं ज्ञायक ही हूँ, यही मोक्ष का मार्ग है। तू भव्य-अभव्य की मार्गणाओं के भेद में अपने को ढूँढ़ना छोड़ दे क्योंकि उसमें राग है, और राग तेरा स्वरूप नहीं है। भव्य-अभव्य की मार्गणा आत्मा के नहीं है, एकमात्र अभेद आत्मा की श्रद्धा करके उसी में लीनता कर—यही मोक्ष का उपाय है।

इस देह में रहनेवाला आत्मा देह से भिन्न है। आत्मा का जिसे कल्याण करना हो उसे यह जानना चाहिए कि कल्याण का मुख्य उपाय क्या है, शरीर-वाणी इत्यादि परवस्तु है, वह परवस्तु आत्मा को सहायता दे या लाभ करे ऐसा त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। आत्मा आत्मारूप से है, और पररूप से नहीं है, तथा जो जिसरूप स्वयं नहीं है, वह अपनी सहायता कैसे करेगा? आत्मा की पर्याय में क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि जो विकारी भाव हैं, वे आत्मकल्याण में सहायता नहीं कर सकते, क्योंकि जो बन्धन में सहायक होते हैं, वे अबन्ध में सहायता कैसे कर सकते हैं? त्रैकालिक मुक्तस्वरूप द्रव्य है, उस पर दृष्टि रखे तो मुक्त अवस्था प्रगट हो।

दूध के रजकण मीठे होते हैं, उसी में से खट्टे हो जाते हैं, यह उनकी एक अवस्था है। आम खट्टा था, उसमें से मीठा हो गया, यह भी उसकी एक अवस्था है। खट्टी और मीठी—दोनों अवस्थाओं के समय रसगुण शक्तिरूप सदा बना रहता है। एक परमाणु में भी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। उसकी वर्तमान समय में एक पर्याय होती है, अन्य सब अनन्त पर्यायें द्रव्य में शक्तिरूप से भरी पड़ी हैं। पहले अनन्त पर्यायें हो चुकी हैं, और भविष्य में अनन्त पर्यायें होंगी, यह सब पर्यायें भरी पड़ी हैं। यह सब पुद्गल की क्षण-क्षण में होनेवाली अवस्थाएँ हैं। उन सब अवस्थाओं में गुण सदा विद्यमान होता है।

जैसे परमाणु अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसी प्रकार आत्मा भी अनन्त गुणों से

परिपूर्ण है। उन गुणों में से वर्तमान एक गुण की एक अवस्था होती है। वर्तमान समय में भी अनन्त गुणों की अनन्त अवस्थाएँ होती हैं। आत्मा की जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है, वह वर्तमान समय की होनेवाली पर्याय पर दृष्टि डालने से प्रगट नहीं होती, किन्तु अनन्त गुणों के पिण्डभूत आत्मा पर दृष्टि डालने से प्रगट होती है।

दूध में मिठास पर्याय का नाश होकर खटास की उत्पत्ति होती है, किन्तु खटास की उत्पत्ति उस नाश में से नहीं होती किन्तु भीतर जो रसगुण विद्यमान है, वह खटास की उत्पत्ति का कारण है। जिस समय खटास की पर्याय है, उस समय मिठास की नहीं है, तब जो नहीं है, वह उत्पत्ति का कारण कैसे हो सकता है। इसलिए सामान्य रसगुण ही उत्पत्ति का कारण है।

शरीर में जो यह रक्त की अवस्था है, वह पहले अपनी दूसरी पानी इत्यादि की अवस्था थी, वह बदलकर यह रक्त की अवस्था हुई है, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय पर्याय हुआ करती है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। उस पर्याय के प्रगट होने का कारण द्रव्य है क्योंकि पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती। आत्मा में भी प्रतिसमय पर्यायें होती रहती हैं। यदि पर्यायों में परिवर्तन न हो तो संसार अवस्था का नाश होकर मोक्षपर्याय न हो; अथवा विपरीत मान्यता का नाश होकर सच्ची मान्यता न हो। तात्पर्य यह है कि आत्मा में अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। किन्तु जो अवस्था नाश हो चुकी है, वह उत्पत्ति का कारण नहीं होती, किन्तु जो अखण्ड गुण है, वही उत्पत्ति का कारण होती है। पर्याय उत्पत्ति का कारण नहीं होती।

सम्यक्त्वमार्गणा—इसमें मिथ्यात्व, सासासदन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इत्यादि सब पर्यायें हैं—भेद हैं। दृष्टि का विषय इन भेदों को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि द्रव्य पर दृष्टि डालने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

मैं विकारी हूँ, यह विकार मेरा नहीं है, इस प्रकार अविकारी के बल से विकार का नाश होता है। यदि भीतर वीतराग सुखरूप स्वभाव सदा न हो तो विकार का नाश किसके आश्रय से होगा? अविकारी स्वभाव के अस्तित्व पर दृष्टि हो तब ही विकार का नाश होता है।

शरीरादि की सहायता स्वभाव की पर्याय प्रगट करने में काम नहीं आती। जो

शुभाशुभ विकल्प होते हैं—विकार होते हैं वे अविकार का कारण कहाँ से हो सकते हैं ? अब रही निर्मल अवस्था सो वह भी मोक्ष का कारण परमार्थ से नहीं होती, परन्तु मैं सदास्थायी गुणमूर्ति आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि करने से मोक्षमार्ग और फिर मोक्ष प्रगट होता है। ज्ञानी के प्रतिक्षण जो निर्मल पर्याय होती है, वह मोक्षमार्ग है, और जो पूर्ण निर्मल अवस्था होती है सो मोक्ष है।

सम्यग्दर्शन आदि गुण की पर्याय है, वह मेरे आधार से प्रगट होती हैं। मैं न तो शरीररूप हूँ, न शुभाशुभ विकाररूप हूँ। इतना ही नहीं किन्तु जो क्रमशः निर्मल अवस्था होती है उतना भी मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं तो अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ, इसकी श्रद्धा करने से पर्याय प्रगट होती है, गुण नहीं। गुण नया नहीं आता, किन्तु पर्याय नयी होती है।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकसम्यक्त्व—यह सब पर्यायें कर्म के सद्भाव और अभाव की अपेक्षा रखती हैं।

वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा न मानकर विपरीत मानना सो मिथ्यात्व है। शरीर-वाणी-मन और शुभाशुभ विकल्प जितना ही मैं हूँ—ऐसा मानना सो महा मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व अवस्था है।

मिथ्यात्वमोह अपरिमित मोह है, क्योंकि अपरिमित आत्मा के स्वभाव के लक्ष्य को चूक गया इसलिए पर विषय में अपरिमितता हो गयी है। शरीर मेरा है, पर पदार्थ मेरे हैं, वर्तमान में जितने परद्रव्य हैं, वे सब मेरे हैं, भूत-भविष्य में जितने परद्रव्य हैं वे सब मेरे हैं, इस प्रकार तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों को अपना मानकर मिथ्यात्वमोह से परद्रव्यों में और परभावों में अपरिमितता—अमर्यादितता की है, इस प्रकार मिथ्यात्व मोह अपरिमित मोह है, और सम्यग्दर्शन होने के बाद जो अल्प अस्थिरता रहती है,—चारित्र-मोह रहता है, सो वह परिमित मोह है। क्योंकि वह वर्तमान अस्थिरता पर्यन्त मर्यादा को लिये हुए युक्त होता है, इसलिए वह परिमित मोह है। सम्यग्दर्शन होने के बाद पदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं रहती, किन्तु पुरुषार्थ की मन्दता से राग-द्वेष हो जाता है। आत्मा अनन्त शक्ति से परिपूर्ण अनन्त गुणों का पिण्ड है, जो कि सम्यग्दर्शन का विषय है। सम्यग्दर्शन का विषय भी अपरिमित है। सम्यग्दृष्टि जीव वर्तमान अस्थिरता पर्यन्त मर्यादा को लिये हुए युक्त होता है, इसलिए उसके परिमित मोह है। मिथ्यादृष्टि जीव अपने

अनन्त गुणों की शक्ति की अनन्तता को चूककर पर में अनन्तता मानता है, इसलिए मिथ्यात्वमोह, अपरिमित मोह है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद यदि कोई जीव गिर जाए, तो गिरते-गिरते मिथ्यात्व अवस्था तक पहुँचने से पूर्व बीच की अवस्था को सासादन कहते हैं। वह बीच की अवस्था अत्यन्त अल्प समय की होती है।

अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी और मिथ्यात्वमोह की प्रकृतियाँ, जब जीव उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब उपशान्त हो जाती हैं, स्थिर हो जाती हैं, दब जाती हैं। जैसे पानी में मिट्टी आदि मिली हो, और वह जब पानी के नीचे बैठ जाती है, तब पानी की निर्मल अवस्था दिखायी देती है, इसी प्रकार जब आत्मा में उपशम सम्यग्दर्शन होता है, तब कर्म-कादव नीचे बैठ जाता है। उपशम सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्वमोह प्रकृति के तीन भाग हो जाते हैं—मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय। इनमें से मिथ्यात्वमोहनीय का प्रथम गुणस्थान में, मिश्रमोहनीय का तीसरे गुणस्थान में और सम्यक्त्वमोहनीय का चौथे गुणस्थान से क्षयोपशम सम्यक्त्व के समय उदय होता है। जब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है, तब एक सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति का किंचित् उदय रहता है, उसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी नीचे नहीं गिरता। चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहनीय की-कुल सात प्रकृतियों का क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। वह क्षायिक सम्यग्दर्शन भी एक अवस्था है।

आत्मा ध्रुवस्वरूप एकरूप है, उसमें अवस्था के भेदों में अपने को ढूँढ़ने जाए कि मैं उपशमसम्यक्त्वी हूँ या क्षायोपशम सम्यक्त्वी हूँ, अथवा क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ तो यह सब रागमिश्रित परिणाम हैं। अरागी आत्मा की पर्याय प्रगट करने में रागमिश्रित परिणाम सहायक नहीं होते। पूर्ण होने से पूर्व बीच में ऐसे विचार आते हैं किन्तु वे रागमिश्रित परिणाम हैं, वे आत्मा की निर्मल पर्याय प्रगट करने में सहायता नहीं करते, किन्तु अभेद आत्मा पर दृष्टि डालने से ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

क्षायिक सम्यक्त्व भी एक अवस्था है, जो कि सादि-अनन्त है, और आत्मा अनादि-अनन्त है। इसलिए उस पर्याय जितना ही आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व—यह सब पर्याय हैं, जो कि वर्तमान एक समय की हैं। एक-एक समय होकर लम्बा काल हो जाए यह बात अलग है, किन्तु वर्तमान पर्याय तो एक ही समय की होती है। इसलिए वह अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं है। उस पर्याय पर दृष्टि डालने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक पर्याय से द्रव्य पकड़ा जाता है, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष्य देने से राग होता है, उस राग से आत्मा का स्वरूप नहीं पकड़ा जाता। राग को वह स्वरूपगोचर नहीं है, इसलिए इस अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों से अगोचर है। उस पर्याय से आत्मा का स्वरूप पकड़ा जाता है, किन्तु उस पर्याय का विषय सम्पूर्ण द्रव्य है। पर्याय के भेद को सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वीकार नहीं करती, और द्रव्य पर दृष्टि डालने से राग का नाश होता है, पर्याय प्रति समय बदलती रहती है, और द्रव्य सदा सत् है, इसलिए उस पर दृष्टि डालने से निर्विकल्प ध्यान होता है।

वस्तु अभेद है और दृष्टि का विषय भी अभेद है। आत्मा अभेद है, उसमें इन छह प्रकार के रागों की सहायता नहीं है। आत्मा छह प्रकार से ढूँढ़े कि मैं क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ, उपशम सम्यक्त्वी हूँ, इत्यादि सो यह विचार अरागी स्वभाव के प्रगट करने में सहायक नहीं होते, प्रत्युत राग में अटक जाता है, और स्वभाव पर दृष्टि करे तो स्वभाव-पर्याय प्रगट होती है, वह छह प्रकार की अवस्था एक के बाद एक क्रमशः होती है। वह अवस्थाएँ अनादि-सान्त, सादि-सान्त और सादि-अनन्त हैं, तथा मैं अखण्ड ज्ञायकमूर्ति आत्मा अनादि-अनन्त हूँ। इसके विषय के बल से श्रद्धा-ज्ञान और रमणता होती है। उन छह प्रकार के रागों में अटक जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वे पुद्गल के परिणाम हैं, इस प्रकार छहों पर्यायों को पुद्गल का परिणाम कहा है। वे पर्यायें आत्मा की अवस्था में होती हैं—जड़ में नहीं, किन्तु उपरोक्तानुसार वे सब पौद्गलिक परिणाम हैं।

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय अखण्ड स्वभाव का आश्रय लेने पर प्रगट होती है। विकार का अथवा निर्मल पर्याय का आश्रय लेने पर मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती।

सम्यग्दर्शन की पर्याय भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, गुणों के भेद भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं हैं, किन्तु सम्पूर्ण आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है। मैं क्षायिक सम्यक्त्वी

हूँ या उपशमसम्यक्त्वी हूँ इस प्रकार ढूँढ़ना भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट करूँ, केवलज्ञान प्रगट करूँ या सिद्ध पर्याय प्रगट करूँ, इस प्रकार पर्याय के प्रगट करने का लक्ष्य भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। ज्ञान समस्त भेदों को जानता है, किन्तु सम्यग्दर्शन का तो सम्यग्दर्शन की पर्याय पर भी लक्ष्य नहीं है। अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें और अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मा का वर्तमान में अस्तित्व है, उस पर अभेददृष्टि करना सो सम्यग्दर्शन है, सिद्ध पर्याय का साधकदशा में प्रगट अस्तित्व ही नहीं, तब फिर जिसका अस्तित्व ही नहीं उसका आश्रय कैसे लिया जा सकता है ? इसी प्रकार केवलज्ञान पर्याय वर्तमान में प्रगट नहीं है, तब फिर उसका आश्रय भी कैसे लिया जा सकता है ? जो नहीं है, उस पर लक्ष्य नहीं दिया जा सकता, इसलिए एकाग्रता नहीं हो सकती। जो पर्याय नहीं है, अर्थात् जिस पर्याय का वर्तमान में अभाव है, उस पर लक्ष्य कहाँ से दिया जा सकता है ? एकाग्रता कैसे हो सकती है ? इसलिए परिपूर्ण द्रव्य का प्रति समय अस्तित्व है, उस पर लक्ष्य दिया जा सकता है, एकाग्रता हो सकती है, और निर्मल पर्याय प्रगट हो सकती है।

आम के पेड़ की प्रत्येक शाखा, प्रत्येक डाली, प्रत्येक टहनी और प्रत्येक गुच्छे को पानी देने से आम पैदा नहीं होते किन्तु उस वृक्ष की जड़ में पानी दिया जाता है, जिससे उस वृक्ष में उत्पन्न होनेवाले और उत्पन्न हुए समस्त आमों को पानी पहुँच जाता है, तथा प्रति वर्ष आम की अच्छी पैदावार होती है, इसी प्रकार आत्मा में जो निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, उन प्रत्येक पर्यायों पर दृष्टि डालने से आत्मा में केवलज्ञान इत्यादि की निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। उन भेदों पर लक्ष्य देने से प्रवृत्ति का पार नहीं रहेगा। समस्त पर्यायों का मूल या बीजभूत अनन्त गुणों का पिण्ड जो आत्मा है, उस पर लक्ष्य देने से निर्मल अवस्था प्रगट होती है—यही मुक्तिमार्ग का स्वरूप है।

आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शनमार्गणा कहकर सम्यग्दर्शन के समस्त प्रकार बताकर व्यवहार कहा है। जो इन छह प्रकारों को नहीं मानता, उसके गृहीत मिथ्यात्व भी नहीं छूटा और जो छह प्रकार के भेदों में ही अटक रहा है, उसके अगृहीत मिथ्यात्व भी नहीं छूटा। यहाँ सम्यग्दर्शन के प्रकार बताकर गृहीत मिथ्यात्व को छोड़ने की बात कही है, और इस प्रकार व्यवहार बताया है, किन्तु वे छह प्रकार अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं है, यह

कहकर परमार्थ बताया है और अगृहीत मिथ्यात्व को छोड़ने की बात कही है।

मार्गणा लक्ष्य है, और मार्गणा के भेद उसके लक्षण हैं। वे भेदरूप लक्ष्य-लक्षण आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा के लक्ष्य-लक्षण अभेद हैं। भेद पर लक्ष्य देने से आत्मा की एकता भंग होती है। भेद के लक्ष्य की एकता पुद्गल की ओर जाती है, इसलिए मार्गणा के भेद पुद्गल के परिणाम हैं। सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान इत्यादि की जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह चैतन्यद्रव्य में मिल जाती है—वह चैतन्यद्रव्य में एकमेक होकर अभेद हो जाती है, इसलिए उसे चैतन्य का परिणाम कहा है, किन्तु उन भेदों पर लक्ष्य जाने से राग होता है, जो कि पुद्गल के परिणाम हैं।

सैनी असैनी—मनसहित जीवों को सैनी, और मनरहित जीवों को असैनी कहते हैं, इनका दूसरा नाम संज्ञी, असंज्ञी यह दोनों प्रकार आत्मा में नहीं हैं, एकेन्द्रिय-दो इन्द्रिय-तीन इन्द्रिय-चार इन्द्रिय और कोई-कोई पंचेन्द्रिय जीव भी असैनी होते हैं, और मन सहित पंचेन्द्रिय जीव सैनी होते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा मनसहित है या मनरहित है—ऐसे भेद में अपने को ढूँढ़ने से राग होता है। उस राग से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह अखण्ड-आत्मा पर दृष्टि रखने से होती है।

आहारमार्गणा—आहारक और अनाहारक दोनों अवस्थाओं में कर्मों के निमित्त की अपेक्षा होती है, इसलिए वे भी आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं हैं। आहार के भाव और अनाहारक अवस्था आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है। दोनों पर्यायें आत्मा में होती हैं किन्तु उन पर लक्ष्य देने से राग होता है, और राग आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए आहारक और अनाहार का भेद आत्मा में नहीं है।

यह अपूर्व बात है! ऐसी अपूर्व बात जीवों ने अनन्त काल में अन्तरंग से कभी नहीं सुनी। अन्तरंग से सुने बिना आन्तरिक विचार जागृत नहीं होते, आन्तरिक विचार जागृत हुए बिना अपूर्व माहात्म्य प्रगट नहीं होता, अपूर्व माहात्म्य प्रगट हुए बिना यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता, यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान के बिना यथार्थ चारित्र और चारित्र के बिना केवलज्ञान तथा मोक्ष नहीं होता। इस मार्गणा के द्वारा परमपारिणामिकभाव का वर्णन किया है, और परमपारिणामिकभाव पर दृष्टि रखने को आचार्यदेव ने कहा है।

अब यहाँ २९ प्रकारों में से २४वाँ प्रकार कहते हैं—

भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का अमुक समय तक एक साथ रहना जिसका लक्षण है—ऐसे स्थितिबन्धस्थान समस्त जीवों के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से आत्मानुभूति से भिन्न हैं।

आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों की प्रकृतियाँ होती हैं। उन प्रकृतियों के फलस्वरूप शरीर में अकस्मात् रोग आ जाता है, मरण हो जाता है, रुपये-पैसे एकत्र हो जाते हैं, या चले जाते हैं; इसी प्रकार अन्य अनेक अनुकूल-प्रतिकूलताएँ हुआ करती हैं। यह सब होने का कारण तत्सम्बन्धी कर्मप्रकृति का उदय है। उसकी जितनी स्थिति होती है, उस प्रकार रहकर छूट जाती है। इस प्रकार कर्म-प्रकृतियों का अमुक समय तक आत्मा के साथ रहना सो स्थितिबन्ध है, जो कि आत्मा का स्वभाव नहीं है। उन कर्मप्रकृतियों की स्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम होती है। जिसका काल सात चौबीसियों के बराबर होता है। यह सब स्थितिबन्ध के प्रकार पुद्गल के परिणाम हैं, आत्मस्वभाव नहीं।

२५वाँ कथन—कषायों के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है—ऐसे संक्लेशस्थान जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं, इसलिए आत्मानुभूति से भिन्न हैं।

संक्लेश भाव अर्थात् अशुभभाव आत्मा का स्वभाव नहीं है। हिंसा, क्रोध, मान, विषय इत्यादि के अशुभ परिणाम आत्मा में नहीं हैं, ऐसे निराले आत्मा की श्रद्धा करने से अशुभ पर्याय छूटकर निर्मल पर्याय होती है। अशुभ परिणाम आत्मा की पर्याय में होते हैं, जड़ में नहीं, किन्तु वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं; इस अपेक्षा से उन्हें जड़ का कहा है। उन अशुभ आदि परिणामों पर लक्ष्य रखने से वे नहीं छूटते किन्तु त्रैकालिक अखण्ड आत्मस्वभाव की श्रद्धा करने से छूटते हैं। अशुभ परिणामों की शरण लेने से नहीं किन्तु अखण्ड आत्मा के शुद्ध स्वभाव की शरण लेने से हित होता है।

२६वाँ कथन—कषायों के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है, ऐसे सभी विशुद्धिस्थान जीवों के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं, इसलिए आत्मानुभूति से भिन्न हैं।

विशुद्धिस्थान अर्थात् कषायों की मन्दता, और कषायों की मन्दता अर्थात् शुभ परिणाम—दया-दान-पूजा-भक्ति इत्यादि। यह सब आत्मा के नहीं हैं, क्योंकि वे विकार हैं, और विकार आत्मा का स्वभाव नहीं होता, इसलिए शुभ परिणाम आत्मा के नहीं हैं। अशुभ परिणाम दूर करने के लिये शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु वे विकार हैं, उनसे आत्मा को लाभ नहीं होता। शुभ परिणाम का आश्रय विकार का आश्रय है, उससे आत्मा का हित नहीं होता, आत्मस्वरूप का आश्रय लेने से आत्मा को लाभ होता है। शुभभाव की पर्याय आत्मा में होती हैं, किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह पुद्गल का परिणाम है।

२७वाँ कथन—चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे सभी संयमलब्धिस्थान जीव के नहीं हैं।

आत्मा की प्रतीति होने के बाद अस्थिरता की क्रमशः निवृत्ति होकर स्थिरता बढ़े ऐसे समस्त प्रकार भी आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। क्रमशः स्थिरता की जो निर्मल पर्याय बढ़ती है, ऐसे क्रम के प्रकार आत्मा के अखण्ड स्वभाव में नहीं हैं। संयम की निर्मल पर्याय थोड़ी-थोड़ी बढ़ती है, उसमें कर्मों की अपेक्षा होती है, इसलिए वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। अस्थिरता को दूर करूँ और स्थिर होऊँ—ऐसे राग के विकल्प में अटक जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा के अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि डालने से संयम की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अवस्था के प्रगट करने में आत्मा के स्थायीपन का आश्रय होता है। संयम की पर्याय स्थिरता आदि अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मा के आश्रय से प्रगट होती है, परन्तु स्थिरता की पर्याय के आश्रय से भी स्थिरता की पर्याय प्रगट नहीं होती।

मैं अखण्ड स्वभाव से परिपूर्ण हूँ—ऐसी श्रद्धा करने से गुणों की निर्मल पर्याय प्रगट होगी किन्तु अवस्था पर लक्ष्य रखने से विकल्प किया करेगा तो अवस्था निर्मल नहीं होगी। निर्मल अवस्था प्रगट करने का आश्रय द्रव्य है। अस्थिरता को क्रमशः दूर करके स्थिरता हो सो वह भी आत्मा का अखण्ड स्वभाव नहीं है। भीतर थोड़ी-थोड़ी संयमपर्याय बढ़ती जाए उस पर लक्ष्य देने से संयम प्रगट नहीं होता, किन्तु अखण्ड द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है। संयम की क्रमशः पर्याय बढ़ती जाती है, उसमें कर्मों की निवृत्ति की अपेक्षा होती है, इसलिए वे संयमलब्धिस्थान आत्मा के नहीं हैं। इससे पूर्व मार्गणा के

कथन में संयम के छह भेद बताये गये हैं, और यहाँ संयमलब्धिस्थान में संयम के क्रमशः बढ़ते हुए परिणाम लिये गये हैं। संयम के स्थान असंख्यात भी हैं और अनन्त भी हैं। वे सब संयम के प्रकार चैतन्य की पर्याय में होते हैं, जड़ में नहीं; किन्तु उस पर्याय पर लक्ष्य देने से राग होता है, और राग विकार है, और विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए संयमलब्धिस्थान आत्मा के नहीं हैं।

सब अपनी-अपनी कल्पना से माने हुए धर्म को मानते हैं; किन्तु इससे वह सच्चा धर्म नहीं हो जाता। जैसे बालक मिट्टी के हाथी को सच्चा हाथी मानते हैं, इसलिए वह सच्चा हाथी नहीं हो जाता। वस्तु का स्वभाव जैसा है, वैसा जाने बिना ही मान ले तो उससे कहीं उसका फल यथार्थ नहीं होता, किन्तु वस्तु के स्वभाव को यथावत् माने तो उसका सच्चा फल होता है।

२८वाँ कथन—पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और सैनी तथा असैनी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे सभी जीवस्थान जीव के नहीं हैं।

पर्याप्ति के छह प्रकार हैं, उनके कारण आहार लिया जाता है, बोला जाता है। उपरोक्त छह प्रकार सबमें पूर्णतया बँधें सो पर्याप्ति और अपूर्णतया बँधें सो अपर्याप्ति है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—यह सब बादर और सूक्ष्म होते हैं। इनमें से जो सूक्ष्म हैं वे समस्त लोक में सर्वत्र भरे हुए हैं। ऐसे सूक्ष्म शरीर में तू अनन्त बार हो आया, जो कि तेरी ही भूल का कारण है, एकेन्द्रियादि समस्त जीवों में तू अनन्त बार हो आया है आत्मा ज्ञायकमूर्ति, निर्मल, ज्ञानघन है। उसके यह चौदह प्रकार के जीवस्थान नहीं हैं, वे जीवस्थान कर्म के संयोग को लेकर हैं। इसलिए वे पुद्गल के परिणाम हैं, वे आत्मा में नहीं हैं।

२९वाँ कथन—इसमें गुणस्थानों का स्वरूप कहा है। आत्मा की पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होने से पूर्व चौदह अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें चौदह गुणस्थान कहते हैं। इनमें से अन्तिम ध्येय तक पहुँचने की सच्ची सीढ़ी चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। उन १४ गुणस्थानों का संक्षिप्त स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है।

१- **मिथ्यात्व गुणस्थानः**—शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभभाव को करनेयोग्य

या अपना माने, तथा अपने स्वभाव को अपना न माने सो मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

२- **सासादनः**—सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के बाद जब पुनः गिरता है, तब मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँचने से पूर्व बीच की अवस्था को सासादन गुणस्थान कहते हैं। उन सासादन गुणस्थान में अत्यन्त अल्प समय की अवस्था होती है। जैसेः—पका हुआ आम डाल से गिरे और पृथ्वी को स्पर्श करने से पूर्व बीच में जितना समय लगता है, उतना बीच का अल्प काल है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से छूटकर मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँचने के पूर्व वृक्ष से छूटे आम की भाँति कुल समय लगता है, उतना काल सासादन-सम्यक्त्वी का है। सासादन गुणस्थान भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

३- **मिश्रः**—मिश्र गुणस्थान के भी अत्यन्त सूक्ष्म परिणाम होते हैं, इसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। वे मिश्र गुणस्थान परिणाम सम्यक् मिथ्यात्वरूप होते हैं—यह गुणस्थान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

४- **अविरत सम्यग्दृष्टिः**—आत्मा परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप एकरूप है, यह राग-द्वेषादि विकार मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा तो सम्पूर्ण चिदानन्दस्वरूप है—ऐसी प्रतीति चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को होती है; किन्तु ऐसी पृथक् प्रतीति होने पर भी पंचेन्द्रिय के विषयों की, हिंसादि की और कीर्ति-प्रतिष्ठा की आसक्ति नहीं हटती क्योंकि उनके इतनी स्वरूपस्थिरता प्रगट नहीं हुई है, इसलिए अभी वहाँ आसक्ति और अविरति विद्यमान है, इसलिए इस गुणस्थान को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। सम्यग्दर्शन भी एक अवस्था है, इसलिए उस अवस्था के आश्रय से पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट नहीं होता। पर्याय के आश्रय से नहीं किन्तु वस्तु के आश्रय से आगे बढ़ा जा सकता है। पर्याय जितना ही अखण्ड आत्मा नहीं है, इसलिए चौथा गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है।

५- **देशविरतः**—आत्मा चिदानन्दस्वरूप है—ऐसी प्रतीति होने पर चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय दूर हो जाती है, और यहाँ पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय की चौकड़ी दूर हो जाती है। आत्मा पर से भिन्न है—ऐसी प्रतीति होने के बाद स्वतत्त्व के आलम्बन के बल अनुसार पंचेन्द्रिय के विषयों का और हिंसादि का सहज ही एकदेश त्याग हो जाता है। आत्मस्वभाव का सहज स्वाद लेने पर विषय-कषाय और हिंसादि की

आसक्ति एकदेश कम हो जाती है। इसे पाँचवाँ देशव्रत गुणस्थान कहते हैं। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, जो कि द्रव्याश्रय से प्रगट होती है। अवस्था पर लक्ष्य देने से राग होता है और राग आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए गुणस्थान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। यद्यपि गुणस्थान की पर्याय आत्मा में होती है, जड़ में नहीं, किन्तु उस अवस्था जितना ही आत्मा नहीं है। उस अवस्था पर लक्ष्य देने से राग होता है और राग परोन्मुखभाव है, इसलिए पर का है, इस अपेक्षा से कहा है कि पाँचवाँ गुणस्थान भी आत्मा के नहीं है।

६-७- प्रमत्ताप्रमत्तविरतः—मुनिदशा प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत के भेद से दो प्रकार की होती है। मुनिदशा में ऐसी सम्पूर्ण बाह्य नग्नता होती है जैसी माता के उदर से तत्काल जन्मे हुए बालक की होती है। मुनिदशा में एक भी वस्त्र का ताना-बाना नहीं होता। जब मुनि छट्ठे गुणस्थान में होते हैं तब उनके शास्त्रस्वाध्याय, उपदेश और आहार-ग्रहण आदि का विकल्प होता है, और जब वे सातवें गुणस्थान में होते हैं तब आत्मा के निर्विकल्प अनुभव का स्वाद लेते हैं, तब चैतन्यपिण्ड पृथक् होकर अपने स्वभाव का अनुभव करता है। आत्मानन्द में बाहर का किसी भी प्रकार का विचार नहीं होता। इस प्रकार स्वरूप ध्यान में लीन मुनि के सातवाँ गुणस्थान होता है। मुनि क्षण में अप्रमत्त और क्षण में प्रमत्त गुणस्थान में हजारों बार आना-जाना करते रहते हैं। यह मुनित्व की आन्तरिक दशा है। जब वे प्रमत्तदशा में होते हैं, तब उपदेश देने, महाव्रतों को निर्दोष पालने और आहार ग्रहण करने इत्यादि के विकल्प उठते हैं, इसी प्रकार वे क्षणभर बाहर रहकर पुनः अप्रमत्तध्यान में लीन होकर निर्विकल्प आनन्द में झूलने लगते हैं।

इस प्रकार मुनिदशा में स्वरूपध्यान विशेष होता है, केवलज्ञान प्राप्त करने की निकटता का साक्षात् कारण भी यहाँ होता है। छट्ठे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणीय चौकड़ी का अभाव होता है। छट्ठा और सातवाँ गुणस्थान—दोनों अवस्थाएँ हैं, इसलिए वे आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं हैं। आत्मा पर दृष्टि डालने से अवस्था प्रगट नहीं होती किन्तु अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि डालने से प्रमत्त और अप्रमत्त मुनिदशा प्रगट होती है। उसके प्रगट होने पर उसमें कर्मों के अभाव की अपेक्षा आती है, इसलिए वह निरपेक्ष आतमा का स्वरूप नहीं है। मात्र निरपेक्ष दृष्टि के विषय में ऐसे परापेक्षा के भेद लागू नहीं होते, इसलिए गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है। केवलज्ञान की सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होने से मुनित्व

की साधकदशा बीच में आती है, गुणस्थान की सम्पूर्ण पर्याय आत्मा में होती है, और गुणस्थान चैतन्य की अवस्था में होते हैं जड़ में नहीं, तथापि उस अवस्था-भेद पर लक्ष्य देने से राग होता है, और राग विकार है, विकार परनिमित्त से चैतन्य की पर्याय में होता है, और इसीलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। चौदह गुणस्थान कहकर आचार्यदेव ने जैनशासन का सम्पूर्ण व्यवहार बनाये रखा है। सर्वज्ञ भगवान कथित ऐसा अपूर्व व्यवहार अन्यत्र कहीं नहीं है—यह बताया है। गुणस्थान की पर्याय बीच में आती है, यह कहकर व्यवहार बताया है, और वह पर्याय आत्मा की अखण्ड स्वरूप की दृष्टि के विषय में नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है। दृष्टि गुणस्थान के भेद को स्वीकार नहीं करती—इसलिए गुणस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है।

८- **अपूर्वकरणः**—इस गुणस्थान में अत्यन्त विशेष ध्यान होता है। वहाँ भी बाह्य लक्ष्य नहीं होता और परिणामों की निर्मल धारा बहती है, जो कि दो प्रकार की है—एक धारा कषाय का समूल क्षय करती है—जिसे क्षपकश्रेणी कहते हैं, और दूसरी धारा कषाय का उपशम करती है—उसे उपशमश्रेणी कहते हैं। इन दोनों श्रेणियों के जितना ही अखण्ड आत्मा नहीं है। यह गुणस्थान-भेद का लक्षण है, अभेद आत्मा का लक्षण नहीं है। गुणस्थान के भेदों पर लक्ष्य देने से राग होता है—इसलिए गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है।

९- **अनिवृत्तिकरणः**—निर्मल परिणामधारा पर चढ़ते-चढ़ते पीछे न गिरे सो अनिवृत्ति गुणस्थान है। यहाँ निर्मल परिणाम की दो धाराएँ होती हैं। जो कषाय को मूल में से दूर करती हैं सो क्षपकधारा है, और जो कषाय को शान्त करती है, वह उपशम धारा है। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, इसलिए आत्मा का अखण्डस्वरूप नहीं है।

१०-**सूक्ष्मसाम्परायः**—यहाँ सूक्ष्म लोभ का थोड़ा-सा उदय रहता है। इस गुणस्थान में वीतरागता की निर्मलता और ध्यान की विशेषता अधिक होती है, किन्तु सूक्ष्मसाम्पराय (कषाय) अबुद्धिपूर्वक होता है। यह गुणस्थान भी जीव की एक अवस्था है, जो कि अखण्ड वस्तु पर दृष्टि रखने से प्रगट होती है, किन्तु इसके आश्रय में राग होता है, और राग आत्मा का स्वरूप नहीं है। गुणस्थान भेद का लक्षण है, वह अभेद आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है।

११- उपशान्तमोहः—इस गुणस्थान में परिणाम में वीतरागता होती है, और कषाय सर्वथा उपशान्त होती है, वह उपशान्तमोह गुणस्थान भी एक अवस्था है, और जो अवस्था है सो भेदज्ञान का लक्षण है, अभेद आत्मा का नहीं, इसलिए गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है। गुणस्थान की पर्याय चैतन्य की अवस्था में होती है—जड़ में नहीं, किन्तु गुणस्थान के भंग में पर निमित्त की अपेक्षा होती है—इसलिए उसे अन्य कहा है।

१२- क्षीणमोहः—इस गुणस्थान में जैसी की तैसी निर्मल वीतराग दशा प्रगट होती है, और मोह का सर्वथा मूल में से क्षय होता है। इस गुणस्थान में पहुँचा हुआ जीव फिर नीचे नहीं जाता, वह तो अन्तर्मूहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहता है। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, इसलिए अभेद आत्मा का लक्षण नहीं है।

१३- सयोगकेवलीः—इस गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट होता है, जिससे समस्त तीन काल और तीन लोक हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। केवलज्ञानयुक्त देहधारी को सयोगकेवली कहते हैं। जब भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त करके यहाँ विहार कर रहे थे तब वे सयोगकेवली कहलाते थे, और वर्तमान में विदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान सयोगकेवली की अवस्था में विराजमान हैं। केवलज्ञान भी एक अवस्था है, उस केवलपर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, केवल पर्याय सादि-अनन्त है और आत्मा अनादि-अनन्त है, इसलिए केवलपर्याय भी भेद का लक्षण है, अभेद आत्मा का नहीं। अतः गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है। तेरहवाँ गुणस्थान योगों के कम्पन को लेकर होता है, और कम्पन विकार है, तथा विकार पुद्गल का परिणाम है, इस अपेक्षा से तेरहवें गुणस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है।

१४-अयोगकेवलीः—यहाँ मन, वचन, काय के योग का कम्पन रुक जाता है, और अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँचों अक्षरों के बोलने में जितना समय लगता है, मात्र उतने ही समय की देह की स्थिति रह जाती है, यह गुणस्थान भी एक विकारी अवस्था है। चौदहवें गुणस्थान में प्रतिजीवी गुण का परिणमन होता है, जो कि विकार है और विकार पौद्गलिक परिणाम हैं, इसलिए इस अपेक्षा से इस गुणस्थान को भी पुद्गलपरिणाम कहा है।

उपरोक्त सभी गुणस्थानों की अवस्था भेद का लक्षण है, अभेद आत्मा का नहीं। गुणस्थान चैतन्य की पर्याय में होते हैं, जड़ की पर्याय में नहीं, किन्तु उससे भेद पर लक्ष्य

देने से राग होता है, जो कि आत्मा की पर्याय में होता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। राग पर निमित्त से होनेवाला विकार है, परोन्मुखभाव है, इसलिए वह पर है, इसलिए गुणस्थान के पर्याय के भेदों को भी पुद्गल का परिणाम कहा है। अखण्ड वस्तुदृष्टि गुणस्थान के भेदों को स्वीकार नहीं करती, इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। आचर्यदेव ने 'गुणस्थान जिनका लक्षण है', कहकर यह सिद्ध किया है कि—गुणस्थान हैं, यदि कोई गुणस्थानों को सर्वथा न मानता हो तो उससे कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान कथित जैनशासन का गुणस्थान इत्यादि का व्यवहार है। ऐसा अपूर्व व्यवहार अन्यत्र कहीं नहीं है; यह सिद्ध करके व्यवहार बताया है। परन्तु उस भेद पर लक्ष्य देने से राग होता है, जो कि अभेद आत्मा का लक्षण नहीं है, इसलिए गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है, और भेद से दृष्टि हटाकर अभेद पर दृष्टि रखने को कहा है।

इन समस्त कथन में 'लक्षण' है, यह कहकर आचार्यदेव ने जैनशासन का समस्त व्यवहार बतलाया है। जो इस व्यवहार को नहीं मानता वह महा मिथ्यात्वी है। गुणस्थान इत्यादि लक्ष्य है, और उनके भेद लक्षण हैं। यद्यपि वे सब भेद हैं अवश्य, किन्तु अखण्ड वस्तु की दृष्टि उन्हें स्वीकार नहीं करती। उन भेदों पर दृष्टि डालने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। उन भेदों जितना ही अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

चौदह गुणस्थान मोह और योग के कारण उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे पुद्गल के परिणाम हैं, यह बात इस अध्यात्मशास्त्र में ही नहीं, किन्तु व्यवहारनय के शास्त्र श्री गोम्मटसार इत्यादि में भी यही कहा है। मोह और योग विकार हैं, विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए गुणस्थान पुद्गल के परिणाम हैं।

गुणस्थान में जो निर्मल पर्याय होती है, वह चैतन्य में मिल जाती है, स्व में अभेद होती है, उसे पुद्गल का परिणाम नहीं कहा है; किन्तु गुणस्थान मोह और योग के कारण उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है।

इस वस्तुतत्त्व को धैर्यपूर्वक समझना चाहिए। ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके भी यदि सत् की शरण न ली तो फिर अनन्त काल में यह मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है। यहाँ तेरा कोई शरणभूत नहीं है, एकमात्र अखण्ड पूर्ण स्वभाव ही शरणभूत है। आचार्यदेव ने २९

बातों में अद्‌भुत कथन किया है। त्रैकालिक एकरूप द्रव्य पर दृष्टि लगाने से अनन्त काल के परिभ्रमण को मिटाकर, अनन्त आनन्द प्रगट करने की अचिन्त्य बात कही है। सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि लगाने से ही सच्चा मार्ग प्राप्त होगा, इसके लिये कोई दूसरा प्रकार साधक नहीं हो सकता।

अब यहाँ उपरोक्त गाथाओं के अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुन्सः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।।३७।।

अर्थः—जो वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक भाव कहे हैं वे सब इस पुरुष से (आत्मा से) भिन्न हैं, इसलिए अन्तर्दृष्टि के द्वारा देखनेवाले को वे सब दिखायी नहीं देते और एकमात्र सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है।

धर्म, धर्मी आत्मा के साथ ही सम्बन्ध रखता है, बाह्य जड़ पदार्थों के साथ तथा विकारी भावों के साथ नहीं। आत्मा में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं हैं तथा विकारी भाव नहीं हैं। कोई यह कहता है कि धर्म आत्मा में नहीं है, इसलिए बाह्य में धर्म करने का मन होता है, किन्तु भाई धर्म तो आत्मा में ही है, इसीलिए धर्म करने का मन होता है, किन्तु तू अन्तर्दृष्टि को भूला है, इसलिए शरीर, वाणी इत्यादि जड़ पदार्थों में धर्म ढूँढ़ रहा है, किन्तु वहाँ धर्म नहीं है। यदि अन्तर्दृष्टि करे तो धर्म अन्तरंग में ही विद्यमान है।

समस्त विकारी भाव आत्मा के नहीं हैं। हिंसा, दया, पूजा-व्रतादि की व्यवहार की वृत्ति होती है इससे ज्ञान हिलता है—संक्रमण करता है, ज्ञान अस्थिर होता है, इसलिए राग आत्मा का मूल स्वभाव नहीं किन्तु विकारी भाव है, क्षणिक भाव है। हिंसा के भाव से दया का और कंजूसी के भाव से दान का अर्थात् अशुभभाव में से शुभ का भाव करता है, इसलिए वह भाव क्षणिक है। अशुभ में से शुभभाव पुरुषार्थ के द्वारा होता है, किन्तु वह तीव्र राग और मन्द राग आत्मा में भरा नहीं है, वह उसमें से नहीं आता, किन्तु पर निमित्त से होनेवाला विकारी भाव है। यद्यपि वह भाव चैतन्य की अवस्था में होता है, किन्तु वह अपना स्वरूप नहीं है, और वह परोन्मुखभाव है इसलिए पर का है। कोई भी विकारी भाव आत्मा पुरुष के नहीं है। यहाँ स्त्री, पुरुष, नपुसंक वेद की बात नहीं है, किन्तु भगवान आत्मा को ही पुरुष कहा है। यह वर्णादिक २९ बातें परमार्थतः भगवान आत्मा के नहीं हैं,

इन २९ बातों में अन्य सैकड़ों बातों का समावेश हो जाता है।

चतुर्थ गुणस्थान में अन्तर्दृष्टि से देखने पर वे वर्णादिक और मोहादिकभाव दिखायी नहीं देते, मात्र सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है। आत्मा आनन्दमूर्ति, अनन्त गुणों का रसकन्द है, ऐसी अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को पुण्य-पाप के भाव स्वभाव में दिखायी नहीं देते, किन्तु एकमात्र सर्वोपरि चैतन्यतत्त्व ही दिखायी देता है। विकारी भाव स्वभाव में नहीं हैं इसलिए दिखायी नहीं देते। वे अवस्था में क्षणभर के लिये होते हैं; इसलिए उनकी गिनती नहीं है। अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड अभेद आत्मा वर्तमान में ही पूर्ण है—ऐसी अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को एक चैतन्यतत्त्व ही दिखायी देता है।

बहिर्दृष्टिवाले को मात्र शुभाशुभभाव और शरीरादि ही दिखायी देते हैं, आत्मा नहीं। और अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को मात्र आत्मा ही मुख्य दिखायी देता है। सम्यग्दृष्टि को अस्थिरता के कारण अल्प राग-द्वेष होता है, किन्तु वह उनका कर्ता या स्वामी नहीं होता। विकारीभाव गौण हैं, वे अपने स्वभाव में नहीं हैं, इसलिए दिखायी नहीं देते। यह धर्म की सबसे पहली इकाई है। अशुभभाव दूर करके शुभभाव करे तो उससे पुण्यबन्ध होता है, स्वर्गादिक की शुभगति मिलती है, किन्तु अन्तरस्वभाव की प्रतीति के बिना जन्म-मरण दूर नहीं होता।

अन्तर्दृष्टि से देखने पर सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है, इसलिए शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वे अन्तरंग स्वभाव में एकमेक होते हुए दिखायी नहीं देते। वे विकारीभाव अपनी अवस्था में पुरुषार्थ की मन्दता से क्षणमात्र के लिये होते हुए दिखायी देते हैं। वे शुभाशुभ विकारीभाव चैतन्य के निर्विकार स्वभाव में से प्रगट नहीं होते, ये चैतन्य के स्वभाव में हैं ही नहीं। मैं केवलज्ञान अवस्था प्राप्त करूँगा, सिद्धअवस्था प्राप्त करूँगा—ऐसे राग मिश्रित विचार भी चैतन्यस्वभाव में नहीं हैं। इस प्रकार एक सर्वोपरि तत्त्व ही सम्यग्दृष्टि को दिखायी देता है। अखण्ड परिपूर्ण तत्त्व पर दृष्टि रखने से केवलज्ञान और सिद्ध पर्याय प्रगट होती है। किन्तु उस अवस्था पर लक्ष्य देने से निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती।

ज्ञानी अर्थात् भगवान के भक्त को एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है कि—अन्तरंग एकाकार स्वरूप ही मेरा ज्ञान है, यही मेरा दर्शन-चारित्र और सुख है। सम्यग्दृष्टि

को अन्तर्दृष्टि में देखने पर ज्ञानबिम्ब चैतन्य ही सर्वोपरि तत्त्व दिखायी देता है। जिसे साधक स्वभाव-आन्तरिक लीनता हो वही भगवान का भक्त है। जब अन्तरंग में सिथर नहीं हुआ जा सकता तब अशुभभाव दूर करने के लिये शुभभाव होने पर गुणों का बहुमान होता है, और तब वह देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति इत्यादि में लग जाता है। यद्यपि ज्ञानी इस प्रकार पूजा, व्रत, दयादि के शुभभावों में युक्त होता है, किन्तु उसकी यह आन्तरिक दृष्टि जागृत रहती है कि भीतर अकृत्रिम चैतन्यस्वरूप शाश्वत् विद्यमान है, उसमें जो नवीन-नवीन कृत्रिमभाव होते हैं, वे चैतन्य का स्वरूप नहीं हैं।

अन्तरंगदृष्टि से आत्मा को पहिचाने बिना यदि किसी को दान दे-दे तो भी धर्म नहीं होता। व्यक्त मानादिक का कोई भाव न हो और शुभभाव हो तो पुण्यबन्ध होता है, परन्तु आत्मप्रतीति के बिना यथार्थ तृष्णा नहीं छूटती। मैंने दूसरे को जो वस्तु दी है, उसका स्वामीभाव रखकर अर्थात् यह वस्तु मेरे अधिकार की है, मैं इसका स्वामी हूँ अर्थात् मैं और यह वस्तु एक है, ऐसी दृष्टि से यथार्थ तृष्णा नहीं छूटती। यथार्थ तृष्णा तो तब छूटती है, जब ऐसी प्रतीति हो जाए कि परवस्तु पर मेरा कोई अधिकार नहीं, मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, राग का एक अंश भी मेरा स्वभाव नहीं है, अनन्त सन्तोष मेरा स्वरूप है, जो पर है मैं नहीं हूँ, रागादिक भी मैं नहीं हूँ, मैं तो मात्र वीतराग स्वरूप हूँ, इत्यादि।

परमार्थनय अभेद ही है, इसलिए उस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दिखायी देता; उस नय की दृष्टि में पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखायी देता है, इसलिए वे सब वर्णादिक तथा रागादिकभाव पुरुष से भिन्न ही हैं।

आत्मा को रागयुक्त जानना सो व्यवहारनय है, मात्र त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव शुद्ध है—ऐसा जानना सो परमार्थनय है। आत्मा में शरीर, वाणी, मन नहीं हैं, और प्रतिक्षण जो राग-द्वेष की अवस्था होती है, उसे भी परमार्थदृष्टि स्वीकार नहीं करती। चैतन्य अभेद धातु है, उसमें राग-द्वेष नहीं है, और श्रावक, मुनि, केवली तथा सिद्ध की अवस्था के भेदों को भी परमार्थदृष्टि स्वीकार नहीं करती। चैतन्यधातु तो चैतन्य ही है, 'वह है सो है', इसमें परमार्थदृष्टि अवस्था के भेदों को स्वीकार नहीं करती।

जैसे सोना, सोना ही है, ऐसा लक्ष्य में लेने पर उसके आकार भी उसमें आ जाते हैं; इसी प्रकार अभेद चैतन्यधातु चैतन्य ही है, वह अपने अस्तित्वरूप से स्वतःसिद्ध जैसी

है सो वैसी है—ऐसा स्वीकार करने पर समस्त पर्याय के आकार उसमें अभेदरूप से समा जाते हैं। यह परमार्थदृष्टि का विषय है। तीर्थंकरदेव ने भेद-अभेद के स्वरूप का ज्यों का त्यों वर्णन किया है।

वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव हैं उनका विशेष स्वरूप जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से ज्ञात करना चाहिए।

शिष्य प्रश्न करता है कि—यदि यह वर्णादिकभाव जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों में ऐसा क्यों कहा है कि वे जीव के हैं?

समाधानः—जिन शास्त्रों में कर्मों के निमित्त की अपेक्षा का कथन मुख्यता से होता है, वे व्यवहारनय के शास्त्र कहलाते हैं और जिनमें मुख्यता से आत्मा के परमार्थ स्वरूप का कथन होता है वे निश्चयनय के शास्त्र कहलाते हैं। आत्मा की अवस्था तथा पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक इत्यादि को बतानेवाले व्यवहारनय के शास्त्र हैं। अशुद्ध अवस्था आत्मा में होती तो है किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए अभूतार्थ है। पर्याय को बतानेवाला नय व्यवहारनय है, और उसे बतानेवाले शास्त्र व्यवहारनय के शास्त्र हैं। पर निमित्त की अपेक्षा से जो भेद होते हैं, उन्हें गौण करके मात्र अभेद आत्मा का स्वरूप बतानेवाला नय परमार्थनय है, और उसे बतानेवाले शास्त्र परमार्थनय के शास्त्र हैं। परमार्थदृष्टि से निर्मल अवस्था प्रगट होती है, और मुक्ति प्राप्त होती है।

अब, यहाँ शिष्य के प्रश्न की उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं:—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।।५६।।

अर्थः—वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव कहे गये हैं, वे व्यवहारनय से तो जीव के हैं, परन्तु निश्चयनय के मत में उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

यह वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के भाव व्यवहारनय से आत्मा के हैं। जैसे पानी का घड़ा व्यवहार से कहा जाता है, क्योंकि पीतल के घड़े के साथ पानी का सम्बन्धरूप व्यवहार है, किन्तु वास्तव में घड़ा तो पीतल का ही है, वह पानी का नहीं होता; इसी प्रकार वर्णादिक और मोहादि भावों का आत्मा के साथ पर्यायमात्र का सम्बन्ध

है, उस अपेक्षा से वे भाव आत्मा के हैं, ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु यदि आत्मा के स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो वे कोई भाव आत्मा के नहीं हैं, अर्थात् निश्चयनय से वे भाव आत्मा के नहीं हैं।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, इसलिए जैसे सफेद रुई से निर्मित वस्त्र लाल रंग से रंगा गया हो तो वह लाल रंग उस वस्त्र का औपाधिकभाव कहलाता है; इसी प्रकार पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बन्ध पर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीव के औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन करके प्रवर्तमान होता हुआ (व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है।

सफेद वस्त्र को सफेद ही जानना सो सच्ची दृष्टि है किन्तु उसके रंगे जाने पर उसे रंगीन मानना व्यवहार है। क्योंकि सफेद वस्त्र को रंग की उपाधिवाला जाना इसलिए वह व्यवहारनय है। वास्तव में वह रंग वस्त्र का स्वरूप नहीं है इसलिए वह पर्यायाश्रित व्यवहार है। वस्त्र में जो लाल रंग है, सो औपाधिकभाव है, वह वस्तु का सहज स्वभाव नहीं है। लोग प्राय: निश्चय और व्यवहार में गड़बड़ा जाते हैं, किन्तु यदि उसका ज्ञान करे और जो अपेक्षा है, उसे भलीभाँति समझे तो सारी गड़बड़ी मिट जाए।

आत्मा का स्वभाव सफेद वस्त्र की भाँति स्वच्छ, निर्मल और परमात्मा की भाँति शुद्ध है। जेसे स्वच्छ-सफेद वस्त्र पर रंग चढ़ गया है, उसी प्रकार आत्मा में कर्मों की उपाधि का रंग चढ़ा हुआ है, किन्तु यह रंग क्षणिक है, स्थायी नहीं है, कृत्रिम है वर्तमान समय तक ही सीमित है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। अनादि संयोगवश यह बन्धपर्याय प्रसिद्ध है, इसका कारण यह है कि अज्ञानी की दृष्टि बन्ध पर ही है; इसलिए उसे प्रसिद्ध कहा है, किन्तु वह बन्धपर्याय संयोगवश है, आत्मा में मिली हुई-एकमेक नहीं है। सम्बनध के कारण प्रसिद्ध है आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं पशु हूँ, मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ इत्यादि संयोगवश होनेवाला औपाधिकभाव है। औपाधिकभाव के अवलम्बन से प्रवर्तमान व्यवहारनय दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है।

मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, इस प्रकार जड़ के संयोग से होनेवाला औपाधिकभाव प्रसिद्ध हैं, और इस प्रकार अनादि काल से बन्धपर्याय प्रसिद्ध है। वस्त्र के रंग में ओर आत्मा के कर्म संयोग में इतना अन्तर है कि—स्वच्छ वस्त्र पर नया रंग चढ़ाना पड़ता है, और आत्मा

के साथ कर्म का संयोग अनादि काल से चला आ रहा है। ऐसा नहीं है कि आत्मा पहले वस्त्र की भाँति सर्वथा स्वच्छ था और फिर उस पर कर्म का रंग चढ़ गया है। किन्तु जो यह शरीर है सो मैं हूँ, राग मैं हूँ, और मैं ही बोलता-चालता हूँ, इसके अतिरिक्त आत्मा और क्या हो सकता है? ऐसी भ्रान्ति अनादिकाल से संयोगवश बनी हुई है, अर्थात् स्वयं संयोगाधीन हो गया है, कहीं कर्म के संयोग ने आत्मा की पर्याय को बलात् अशुद्ध नहीं किया है। राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि करके अनादि काल से स्वयं संयोगवश हो रहा है, कहीं परवस्तु ने अपने अधीन नहीं किया है। जैसे वट और बीज में से पहले कौन था, ऐसा विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि—अनादि काल से दोनों एक साथ हैं, और खान में से सोना पत्थर दोनों एक ही साथ निकलते हैं इसी प्रकार अनादि काल से आत्मा और कर्मबन्ध का संयोग आदि चला आ रहा है।

आत्मा को पर की उपाधि के कारण व्यवहार से राग-द्वेष, शरीर-मन-वाणी वाला कहा जाता है। जैसे वस्त्र को रंगवाला कहना पर का उपाधिभाव है, वस्त्र का वास्तविक स्वभाव नहीं है, इसी प्रकार राग-द्वेषादि भाव को आत्मा का कहना पर की उपाधि के कारण होता है वह अपने स्वभाव के अवलम्बन से नहीं होता, इसलिए वह व्यवहार है, वह दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है, अर्थात् राग-द्वेष संयोगीभाव हैं, कर्मनिमित्तक भाव है, उसे दूसरे का अर्थात् आत्मा का कहना सो व्यवहार है। जो व्यवहारनय कहता है, वह वस्तु का सच्चा स्वरूप नहीं है।

शास्त्रों में व्यवहारिक दृष्टि से ऐसा कथन आता है कि—तूने ऐसे पाप किये इसलिए तू नरक में गया, चार गतियों में परिभ्रमण किया और वहाँ ऐसी प्रतिकूलता पायी कि तेरे दुःख देखकर दूसरों को भी रोना आ गया तथा कभी पुण्य के कारण बड़ा राजा हुआ, कभी लाखों-करोड़ों रुपये कमाये, कभी देवगति में गया, जहाँ अनेक अनुकूल सामग्री प्राप्त की इत्यादि। किन्तु यह सब निमित्त की ओर की बात है, वह आत्मा के मूल स्वभाव की बात नहीं है। रंग को वस्त्र का रंग कहना यथार्थ दृष्टि नहीं है, क्योंकि वास्तव में वह रंग वस्त्र का नहीं, किन्तु व्यवहार से उस पर्याय में रंग लगा हुआ है। व्यवहार सर्वथा मिथ्या नहीं होता। यदि आत्मा में व्यवहार से भी विकार न हो तो विकार का निषेध करके आत्मा को अलग बताने की बात ही न रहे; इसलिए व्यवहार है अवश्य। जैसे वस्त्र का रंग वस्त्र में

से उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु बाहर से आकर लगा है, उसी प्रकार विकार आत्मा में से उद्‌भूत नहीं हुआ किन्तु निमित्त के आश्रय से आया है। वह आत्मा का मूल स्वभाव नहीं किन्तु पर की उपाधि है। यदि पुण्य-पाप के भाव आत्मा में न हुए हों तो फिर यह कैसे कहा जाएगा कि यह भाव तेरे नहीं हैं ? इसलिए व्यवहार से वे भाव आत्मा में हुए हैं किन्तु वे उसका स्वभाव नहीं हैं; इसलिए उन्हें पर का कहा है। यद्यपि राग-द्वेष होते अवश्य हैं किन्तु वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं।

संसार आत्मा की पर्याय में हैं; स्त्री-पुत्रादि में नहीं। पर पदार्थों को अपना मानने की जो अरूपी विकारी अवस्था है, सो संसार है। अवस्थादृष्टि से आत्मा की पर्याय में संसार है, आत्मा के मूलस्वभाव में वस्तुदृष्टि से संसार नहीं है।

यदि ध्यान लगाकर इसे समझे तो बालक भी समझ सकता है, क्योंकि यह अपने ही घर की बात है, किन्तु धर्म के नाम पर लोग बहुत चक्कर में पड़ गये हैं तथापि यदि वे समझने का प्रयत्न करें तो यह अपनी ही-निज की बात है।

जैसे हाथी के दाँत दो प्रकार के होते हैं, उनमें से बाहर के बड़े-बड़े दाँत बाह्य दिखाव और बनाव-शृंगार के लिये होते हैं, तथा भीतर के दाँत चबाने के काम में आते हैं, इसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा में कर्मों के निमित्त से होनेवाले पुण्य-पाप के भाव जो कि बाहर से दिखायी देते हैं, आत्मा की शान्ति के काम नहीं आते, किन्तु वे बाह्य बातों के अथवा भव धारण करने के काम आते हैं, एवं अनुकूलता प्रतिकूलता तथा शरीर, मन, वाणी इत्यादि के काम आते हैं, किन्तु चैतन्यतत्त्व का मूल स्वरूप ऐसा नहीं है, यह सब पर की उपाधि है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हो सकता। जैसे हाथी के भीतर के दाँत चबाने के काम आते हैं, उसी प्रकार आत्मा के सम्पूर्ण अखण्ड स्वभाव की प्रतीति आत्मा की शान्ति प्रगट करने के काम आती है।

निश्चय अर्थात् सत्य, और व्यवहार अर्थात् आरोप। वास्तव में पराश्रयभाव को अपना कहना सो व्यवहार है। जो अपनी वस्तु है वह अपने से अलग नहीं हो सकती; जिस भाव से स्वर्ग मिलता है, जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी विकार है, वह तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए चैतन्य भगवान आत्मा को पहिचान।

जिसने पहले आत्मा को नहीं जाना उससे कहते हैं कि यह जो राग-द्वेष और हर्ष-

शोक के भाव होते हैं, सो वे तेरी अवस्था में होते हैं; और फिर तत्काल ही आत्मा का स्वरूप बताकर कहते हैं कि वे तेरे स्वभाव में नहीं है, किन्तु वे पर के हैं, जड़ के हैं।

पहले यह कहकर कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि के भाव तेरी अवस्था में होते हैं—आँगन में लाकर खड़ा कर दिया है, और फिर तत्काल ही समझाया है कि वास्तव में वे भाव तुझमें नहीं हैं।

अब निश्चयनय की बात करते हैं। निश्चयदृष्टि, यथार्थदृष्टि, नित्यदृष्टि, सत्यदृष्टि और परमार्थदृष्टि आदि एकार्थवाची हैं। निश्चयनय द्रव्याश्रय होने से मात्र एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन करके प्रवर्तमान होता हुआ दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है।

निश्चयनय अपने अखण्ड पूर्ण त्रिकाल स्वरूप को जानता है, अपने भाव को ही अपना भाव जानता है, पर के भाव को किंचित्मात्र भी अपना नहीं जानता। यह दृष्टि मात्र आत्मा के आश्रित है। उसमें पर का आश्रय किंचित्मात्र भी नहीं है। यह दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है; इसी से आत्मा का हित और लाभ है।

जैसे दूसरे से माँगकर पहने हुए गहने से अपनी शोभा मानता हुआ भी उस गहने को अपना नहीं मानता, इसी प्रकार आत्मा पुण्य-पाप, शरीर इत्यादि को अपना मान रहा है, किन्तु जिसे जड़ चैतन्य के पृथक्त्व का विवेक है, वह जीव समझता है कि यह पुण्य-पापादि के भाव मेरे नहीं, किन्तु दूसरे के हैं।

आत्मा में अपनी निज की सम्पत्ति भरी पड़ी है; किन्तु उसका भान न होने पर द्रव्य को अपनी सम्पत्ति मान रहा है, और व्यवहार से राग-द्वेष तथा शुभाशुभ विकल्पों को आत्मा का मान रहा है, किन्तु निश्चयदृष्टि से वे आत्मा के नहीं हैं।

आत्मा में जो चौदह गुणस्थान कहे गये हैं, वह भी व्यवहार है, क्योंकि उसमें पर निमित्त के सद्भाव-अभाव की अपेक्षा होती है, इसलिए वे गुणस्थान अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। यदि ऐसी सच्ची परमार्थदृष्टि करे तो आत्मसुख की प्राप्ति हो। वह परमार्थदृष्टि मात्र एक जीव के ही भाव का अवलम्बन करता हुआ दूसरे के भाव को दूसरे का किंचित्मात्र भी नहीं कहता, प्रत्युत निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेध करता है, किन्तु व्यवहारनय निश्चयनय का निषेध नहीं करता क्योंकि व्यवहार क्षणभर का होता है और जो

क्षणभर का होता है, वह किसका निषेध करेगा ? निश्चयनय का विषय तो त्रिकाल है, इसलिए वह व्यवहारनय का निषेध करता है। व्यवहारनय मात्र इतना बतलाता है कि वर्तमान पर्याय है।

प्रश्नः—अनादि काल से अकेला व्यवहारनय है, इसलिए उस व्यवहार के द्वारा अनादि काल से निश्चयनय का निषेध किया गया कहलाया या नहीं ?

उत्तरः—वास्तव में वह व्यवहारनय ही सच्चा कहाँ है ? निश्चयनय प्रगट होने के साथ ही सच्चा व्यवहारनय कहलाता है। जानने के अर्थ में दोनों नय उपादेय हैं किन्तु मोक्षमार्ग में निश्चयनय व्यवहारनय की अपेक्षा नहीं, किन्तु उपेक्षा करता है।

इस गाथा में व्यवहारनय और निश्चयनय की तुलना की है कि—व्यवहारनय पर्यायाश्रित है तो निश्चयनय द्रव्याश्रित है। व्यवहारनय औपाधिकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है तो निश्चयनय केवल एक जीव के स्वभावभाव का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है। व्यवहारनय दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है तो निश्चयनय दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, किन्तु वह उल्टा निषेध करता है। परमार्थदृष्टि आत्मा के अखण्ड स्वरूप को वर्तमान में बताती है। उसका विश्वास कर तो संसार-समुद्र से पार हो जाएगा।

वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो २९ बातें कही गयी हैं, वह सब व्यवहार से जीव की हैं, किन्तु निश्चय से जीव की नहीं हैं। इन कथनों में पर निमित्त के सद्भाव-अभाव की अपेक्षा होती है, इसलिए व्यवहारनय दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है—ऐसा कहा है। गुणस्थानों की पर्याय आत्मा की अवस्था में होती है जड़ में नहीं, किन्तु परमार्थदृष्टि से वह आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है, परमार्थदृष्टि उस भेद को स्वीकार नहीं करती। वर्णादिक भाव जीव के कहे हैं सो वे भी पर निमित्त की उपाधि से कहे हैं, वे निश्चय से जीव के नहीं हैं। इस प्रकार भगवान का स्याद्वाद कथन योग्य है।

जो पर की अपेक्षा से प्रवृत्त हो सो व्यवहार है, और स्व-अपेक्षा से प्रवृत्त हो सो निश्चय है, निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है, यह २९ कथन पर के कहे हैं, जो कि पर-निमित्त की अपेक्षा से पुद्गल के परिणाम हैं, और उस भंग पर लक्ष्य देने से राग होता है, इसलिए भी उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है, और इस प्रकार कहकर आचार्यदेव ने

परमपारिणामिकभाव बताया है। यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाए तो आत्मा अकेला चैतन्य, निर्मल, सहज, परमपारिणामिकभाव से परिपूर्ण, परापेक्षा से और प्रगट-अप्रगट की अपेक्षा से रहित सामान्य निरपेक्ष तत्त्व ज्ञात होता है। जो पर्याय होती है, उसे ज्ञान जानता है, ज्ञान सामान्य और विशेष दोनों को जानता है।

यदि सोने के किसी गहने में लाख या मोम भरा हो, और उसमें से यदि मात्र सोने की ही तौल करना हो तो काँटे के (तराजू के) जिस पलड़े में गहना रखा हो, उसे यदि पानी में रखकर तौला जाए तो लाख या मोम की तौल नहीं आती, किन्तु मात्र सोने की लगभग तौल आ जाती है, इसी प्रकार ज्ञानमूर्ति चैतन्य आत्मा को बाह्यदृष्टि से तौला जाए, अर्थात् व्यवहार से तौला जाए तो हिंसा-दयादि की जो शुभाशुभ वृत्तियाँ होती हैं वे आत्मा में होती हैं—ऐसा मालूम हो, अर्थात् ऐसी तौल आ जाए; किन्तु यदि परमार्थदृष्टि से तौला जाए तो मात्र निरपेक्ष चैतन्य-स्वभाव की ही तौल आयेगी। उसमें राग-द्वेषादि भंग-भेद की तौल नहीं आती। यदि आत्मा की अखण्ड तौल प्रतीति में आ गयी तो निर्मल अवस्था हुए बिना नहीं रहती। आत्मा अखण्ड त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, उसका मनन कर, अभ्यास कर, परिचय कर तो भवभ्रमण से छुटकारा मिल जाएगा और आत्मसुख की प्राप्ति होगी।

आत्मा निर्मल स्वभावी है, उसमें राग-द्वेष का औपाधिकभाव कहना सो व्यवहारनय है। व्यवहारनय यह बताता है कि—पर्याय है, परन्तु निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है। सम्यग्ज्ञान व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों के विषय को जानता है। जो ज्ञान श्रद्धा के विषय को और पर्याय को भलीभाँति जानता है, वह ज्ञान यथार्थ और प्रमाण ज्ञान कहलाता है।

आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव ही सम्यग्दर्शन का विषय है, उसके अतिरिक्त अपूर्ण या विकारी पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। श्रद्धा में विकारी पर्याय का ही नहीं किन्तु निर्मल पर्याय का भी आदर नहीं है, किन्तु जो पदार्थ अखण्ड परिपूर्ण है—वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

ऐसे परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान होने के बाद भी जहाँ तक साधकदशा की निम्न भूमिका है, वहाँ तक व्यवहार के भंग होते हैं। किन्तु उन्हें वह हेय मानता है, आदरणीय नहीं। उनसे अपने को लाभ होना नहीं मानता किन्तु यह जानता है कि अभी अवस्था अपूर्ण है। यदि व्यवहार को भी आदरणीय माने तो व्यवहार और निश्चय दोनों एक हो जाएँ,

क्योंकि दोनों को आदरणीय मानने से दोनों का स्वरूप एक हो गया, दोनों अलग नहीं रहे, इसलिए निश्चय व्यवहार का निषेध करता है। व्यवहार के स्वरूप को ज्ञान जैसा है वैसा जानता है। अपूर्ण अवस्था है, पूर्ण होना शेष है, इस प्रकार ज्ञान सब कुछ जानता है। यदि ज्ञान जैसे को तैसा न जाने तो वह मिथ्या कहलाता है। अपूर्ण अवस्था है ऐसा जाने तो उसे दूर करने का पुरुषार्थ जागृत हो; वास्तव में वीर्य को जागृत करनेवाली दृष्टि है। उस निश्चयदृष्टि के बल से अपूर्ण अवस्था दूर होकर पूर्ण अवस्था प्रगट होती है।

मैं अखण्ड परिपूर्ण हूँ, ऐसी दृष्टि का विषय साध्य है, जिसके बल से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होता है। श्रद्धा साधन है और श्रद्धा का लक्ष्य परिपूर्ण है साध्य है। साध्य को लक्ष्य में लेने से साधन प्रगट होता है, किन्तु साधन से साध्य प्रगट होता है, यह कहना सो व्यवहार है। पूर्ण अवस्था के प्रगट करने में लक्षबिन्दुरूप जो साध्य है वह निश्चयसाधन है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय व्यवहार-साधन है। क्योंकि अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्था की सहायक नहीं होती, इसलिए निश्चय साधन तो दृष्टि का विषय है।

वर्ण, गन्ध से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भेद कहे गये हैं, उन भेदों के विचार निम्नदशा में-मोक्षमार्ग में-साधकदशा में आते हैं, किन्तु वे विचार राग-मिश्रित हैं इसलिए उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है, क्योंकि आत्मा में वैसे भंग नहीं हैं। जो ऐसे स्वरूप को समझता है, वही सच्चा जैन है। जैन कोई गोल या परिकर नहीं है, किन्तु जिसे अज्ञान, राग-द्वेष जीतना है उसे ऐसे अखण्डस्वरूप की श्रद्धा अवश्य करनी होगी, इसी से राग-द्वेष जीते जाएँगे, उन्हें जीतनेवाला ही सच्चा जैन है और भगवान का सच्चा भक्त है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो! वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भेद कहे हैं, वे निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं? इसका कारण क्या है? उसके उत्तर स्वरूप आचार्यदेव कहते हैं कि:—

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा।।५७।।

अर्थः—इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का सम्बन्ध जल और दूध के एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग-सम्बन्ध की भाँति समझना चाहिए। वे जीव के नहीं हैं क्योंकि

जीव उनसे उपयोगगुण से अधिक है, अर्थात् वह उपयोगगुण के द्वारा अलग ज्ञात होता है।

वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त के जो भाव हैं, उन सब भावों का आत्मा के साथ दूध और पानी की भाँति एक ही स्थान में रहने का सम्बन्ध है। जैसे जल-मिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर एक ही क्षेत्र में रहने का सम्बन्ध है, तथापि दूध अपने स्वलक्षणभूत व्याप्त होने के कारण जल से अधिकरूप पृथक् प्रतीत होता है। दूध और पानी के एक ही क्षेत्र में एकत्रित रहने पर भी दोनों मूल स्वभाव से भिन्न हैं। उस जल-मिश्रित दूध को उबालने से पानी जल जाता है और दूध का मावा बन जाता है। दूध और पानी एक ही स्थान में रहने पर भी दूध का लक्षण दूध को बतलाता है, दूध का लक्षण दूध में व्याप्त है इसलिए दूध अपने दूध के गुण से टिका हुआ है। जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसा ही दूध का पानी के साथ सम्बन्ध न होने से निश्चय से पानी और दूध एक नहीं हैं।

इसी प्रकार वर्णादि के साथ जीव का एक ही स्थान पर रहनेरूप सम्बन्ध है तथापि उपयोगगुण द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से पृथक् प्रतीत होता है, वर्णादिक २९ कथनों को पुद्गल का परिणाम कहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, और गुणस्थान के भेद इत्यादि—सब अवस्था के भेद कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिए उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है, परन्तु वे मति-ज्ञानादिक सम्पूर्ण निर्मल अवस्थाएँ चैतन्य में होती हैं इसलिए उन्हें चैतन्य का परिणाम कहा है, वे पुद्गल के परिणाम नहीं हैं किन्तु उन भेदों पर लक्ष्य जाने से राग होता है, इसलिए उस राग को पुद्गल का परिणाम कहा है। आत्मा के अखण्ड स्वभाव में अवस्था के भेद नहीं होते परन्तु भेद उन पुद्गल कर्मों का आश्रय करने से होते हैं, अतः उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है।

आचार्यदेव ने टीका में कहा है कि स्वलक्षणभूत उपयोगगुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकतया प्रतीत होता है। यहाँ स्वलक्षणभूत उपयोगगुण कहकर त्रैकालिक उपयोग कहना चाहते हैं। आत्मा, उसके गुण और उसकी पर्याय तीनों अखण्ड हैं। स्वभावभूत उपयोग कहकर यह बताया है कि वह त्रिकाल में रहनेवाला है। द्रव्य, उसका गुण और उसकी वर्तमान पर्याय यह तीनों विद्यमान हैं, परिपूर्ण हैं, द्रव्य की शक्तिरूप-कारण शुद्ध उपयोगरूप पर्याय भी परिपूर्ण है, यदि द्रव्य का वर्तमान—द्रव्यरूप पर्याय परिपूर्ण न हो तो द्रव्य की अखण्डता सिद्ध नहीं होती, इसलिए द्रव्य की पर्याय

अनादि-अनन्त परिपूर्ण है, निरपेक्ष है। द्रव्य, गुण और उसकी पर्याय भी निरपेक्ष है। उन तीनों निरपेक्षों को लेकर द्रव्य अखण्ड सिद्ध होता है। अधिक अर्थात् जुदा—सभी द्रव्यों से अलग कहा है। वह समस्त परद्रव्यों की अवस्था से भी भिन्न है। जबकि अन्य द्रव्य से अधिक कहा है, तब अधिक पूरा होगा या अधूरा ? अधिक कहकर परिपूर्णता ही सिद्ध की है, वह द्रव्य-गुण और पर्याय सभी प्रकार से परिपूर्ण है। इस प्रकार उपयोग-गुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकतया प्रतीत होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने मूल पाठ में भी 'उवओगगुणाधिके' कहा है। इसमें अत्यन्त रहस्य भर दिया है।

आत्मा उपयोग-लक्षण से व्याप्त है, इसलिए वह कभी भी पर अवस्था के द्वारा व्याप्त नहीं हुआ। जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादिक के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए निश्चय से वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्मा के नहीं हैं। गुणस्थान और मार्गणास्थान जीव के नहीं हैं। सिद्धपर्याय या केवलपर्याय प्रगट होती है, सो वह आत्मा में अभेदरूप होती है, किन्तु उन पर्यायों पर लक्ष्य देने से राग होता है, अतः वे पुद्गल के परिणाम हैं। सिद्ध जीवों के सिद्धपर्याय प्रगट हो गयी है, इसलिए उन्हें किसी पर्याय पर लक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं रहती, निम्न भूमिकावालों को ही पर्याय पर लक्ष्य देना होता है, इसलिए उनके राग होता है, अतः उन्हें समझाते हैं कि पर्याय पर लक्ष्य देने से राग होता है, और राग पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिए पर्याय का लक्ष्य छोड़ो! सिद्ध जीवों की सिद्ध पर्याय द्रव्य में मिली हुई है, इसलिए वह चैतन्यपरिणाम है, और निम्न साधकदशावालों के भी अपने द्रव्य की ओर उन्मुख होने पर जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र के परिणाम होते हैं वे चैतन्यरूप ही हैं, उन्हें पुद्गल का परिणाम नहीं कहा। किन्तु भेद की ओर लक्ष्य जाने पर राग होता है, और राग पुद्गल की ओर उन्मुख होनेवाला भाव है, इसलिए गुणस्थान इत्यादि को पुद्गल का परिणाम कहा है, और इस प्रकार उन्हें आत्मानुभूति से भिन्न कहा है।

सम्यग्दर्शन पर्याय के भेदों को स्वीकार नहीं करता। यह बारहवें गुणस्थान की नहीं किन्तु चतुर्थ गुणस्थान की बात है, यहाँ सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया है, और यह बताया है कि सम्यग्दर्शन को किसका आधार होता है। सम्यग्दर्शन को परिपूर्ण चैतन्य भगवान का आधार है। सम्यग्दर्शन हुआ कि आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकरूप-विशिष्ट प्रतीत होता है।

अभी तो यह प्रतीति की बात है। स्थिरता तो पुरुषार्थ के द्वारा उसके बाद होती है।

सम्यग्दर्शन हुआ कि अंशत: परमात्मा हो गया, भगवान का लघुनन्दन हो गया। अपने स्वरूप को जाना, माना और उसमें अंशत: स्थिर हुआ कि आंशिक कृतकृत्य हो गया। सम्यग्दर्शन में समस्त निर्मल पर्यायों से भी द्रव्य अधिकरूप प्रतीत होता है। यह प्रतीति आनन्द का मार्ग है। यह श्रद्धा भी मोक्ष का उपाय है, यह त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की आराधना का मार्ग है। इस प्रतीति के बीज बहुत गहराई में हैं। लोग कहते हैं कि धर्म के बीज बहुत गहराई में हैं; इसी प्रकार यह प्रतीतिरूपी धर्म के बीज ऐसी गहराई में हैं कि जिनमें से मोक्ष अंकुरित होगा और पुण्य-पाप के भावों में धर्म मानना वह दीवार पर उत्पन्न हुए घास के समान है; वह बढ़ेगा तो नहीं किन्तु वहीं अल्प काल में सूख जाएगा। इसलिए त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव के मार्ग की या आत्मस्वरूप की प्रतीति की शरण लिये बिना कभी छुटकारा नहीं होगा।

सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जानो, आराध्य आराध्य प्रभाव मानो।
अनाथ एकान्त सनाथ होगा, इसके बिना को न सहाय होगा॥

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित धर्म ही शरणरूप है, उसको आराधना कर! आराधना कर! उस धर्म की शरण के अतिरिक्त तेरा हाथ पकड़ने को कोई भी समर्थ नहीं है। तेरी बाहर की चतुराई और कला काम नहीं आ सकती। इस वस्तु की प्रतीति बिना शुभाशुभभाव करके उसी में धर्म मानकर अनन्त काल व्यतीत कर दिया किन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ। आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसी प्रतीति करने पर अनन्त भव कम हो जाते हैं। आत्मा प्रत्येक रजकण और विकारी पर्याय से सर्वथा भिन्न है। निर्मल पर्याय जितना भी अखण्ड आत्मा का स्वरूप नहीं है। परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य है, ऐसी प्रतीति करने पर अनन्त भव नष्ट हो जाते हैं।

दूध और जल सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु वे बाह्य में एक से प्रतीत होते हैं। यदि दूध और पानी एक होता तो जैसे दूध के उबालने पर पानी भाप बनकर उड़ जाता है, उसी प्रकार उसके साथ ही दूध भी उड़ जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा राग-द्वेष के भावों से सर्वथा भिन्न है। यदि उन भावों के साथ आत्मा एकमेक होता तो राग-द्वेष के भावों का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता; किन्तु ऐसा नहीं होता, प्रत्युत आत्मा

प्रतीति करके पुरुषार्थ से स्थिर हुआ कि स्वरूप को प्राप्ति हो जाती है और राग-द्वेष की मलिन पर्याय का नाश हो जाता है। वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के भंग-भेद के राग का नाश होता है और निर्मल पर्याय प्रगट होती है। इसलिए आत्मा और राग-द्वेषरूप विकारी पर्याय दूध और जल की भाँति एकक्षेत्र में रहने पर भी सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। यदि वे भिन्न न हों तो अलग नहीं हो सकतीं—नष्ट नहीं हो सकतीं।

यहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो! इस प्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनय में विरोध आता है सो अविरोध क्यों कर होगा? क्योंकि व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों सर्वज्ञ कथित शास्त्रों में पाये जाते हैं, इसलिए दोनों नय में अविरोध कैसे हैं? इसका उत्तर निम्नलिखित तीन गाथाओं में दृष्टान्त द्वारा कहते हैं:—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।५९।।
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

अर्थः—जैसे मार्ग में चलनेवाले को लुटता हुआ देखकर व्यवहारीजन कहते हैं कि यह मार्ग लुट रहा है; किन्तु यदि परमार्थ से देखा जाए तो मार्ग नहीं लुटता मात्र मार्ग में चलनेवाला मनुष्य ही लुटता है, इसी प्रकार जीव में कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार से यह कहा है कि 'यह जीव का वर्ण है'। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदि सब व्यवहार से निश्चय के देखनेवाले कहे गये हैं।

आचार्यदेव दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि—मार्ग में चलनेवाले-पथिक को लुटता हुआ देखकर व्यवहारीजन कहने लगते हैं कि मार्ग लुट रहा है। अर्थात् जिस मार्ग में मनुष्य लुटते हों उसे ऐसा कहा जाता है कि—यह मार्ग अच्छा नहीं है, यह मार्ग लुटता है, किन्तु वास्तव में मार्ग नहीं लुटता मनुष्य लुटता हैं। मार्ग में जाता हुआ संघ घड़ी-दो घड़ी को मार्ग में रुक गया, उसे लुटता देखकर व्यवहारीजन यह कहने लगते हैं कि यह मार्ग लुट रहा है, किन्तु वास्तव में मार्ग तो जैसा का तैसा है, मार्ग कहीं लुटता नहीं है, किन्तु संघ कुछ

समय के लिये वहाँ रुक गया इसलिए उस पर यह आरोप आता है कि मार्ग लुट रहा है। वैसे मार्ग तो आकाश का भाग है, वह कहीं लुट नहीं सकता।

इसी प्रकार जीव में अल्प काल की स्थिति प्राप्त कर्म-नोकर्म, पुण्य-पाप के भाव इत्यादि को देखकर अरहन्तदेव ने कहा है कि—'यह वर्ण इस जीव का है'। आत्मा अनादि-अनन्त विद्यमान है, उसमें अल्प काल के लिये यदि शरीर, वाणी, मन और राग-द्वेष इत्यादि रहे तो इससे क्या हो गया ? पुण्य-पाप के भाव भी क्षणिक हैं, उन्हें आत्मा का कहना सो व्यवहार है वह उपाधिभाव की दृष्टि से कहा गया है, किन्तु परमार्थ-दृष्टि से तो आत्मा जैसा है, वैसा ही है, जैसे कि मार्ग जैसा है वैसा ही है, किन्तु व्यवहार से कथन में अन्तर आ जाता है।

शिष्य ने पूछा था कि निश्चय और व्यवहारनय अविरोध कैसे हैं ? उसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि शरीर, मन, वाणी अल्पकाल के लिये एकक्षेत्रावगाह रूप से रहते हैं, और अल्प समय के लिये विकार की पर्याय होती है, इसलिए वह व्यवहार है किन्तु चैतन्य के एक अविचल स्वभाव में पर्याय के जो भंग-भेद होते हैं, उन्हें निश्चयदृष्टि स्वीकार नहीं करती। व्यवहारनय की अपेक्षा भिन्न है, और निश्चयनय की अपेक्षा भिन्न है, इसलिए दोनों नय अविरोध हैं। प्रमाणज्ञान दोनों नयों का स्वरूप यथावत् जानता है। जैसा वस्तुस्वभाव है, उसे वैसा ही लक्ष्य में लेना सो यही हित और मोक्षमार्ग है।

यहाँ व्यवहारनय और निश्चयनय का स्वरूप कहा गया है। आत्मा अनादि-अनन्त नित्य शुद्ध स्वरूप है। उसमें जो पुण्य-पाप के संयोगीभाव दिखायी देते हैं, वे व्यवहारनय से कहे जाते हैं। व्यवहारनय है अवश्य, यदि वह न हो तो आत्मा में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनका भी निषेध नहीं हो सकेगा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि—जब निश्चयनय व्यवहारनय का निषेध करता है, तो फिर व्यवहारनय क्यों कहा गया है ?

समाधान—आत्मा की पर्याय में पुण्य-पाप के भाव होते हैं। पाप के भाव करके जीव नरक में जाता है, और वहाँ से पुण्य के भाव करके मनुष्य होता है, फिर वहाँ से स्वर्ग में जाता है। इस प्रकार अल्प काल के लिये चैतन्य की पर्याय में विकारीभाव होते हैं, इसलिए भगवान ने व्यवहार कहा है। किन्तु उस व्यवहार के आश्रय से आत्मा की निर्मल

पर्याय प्रगट नहीं होती, इसलिए निश्चयनय उसका निषेध करता है। अनन्त गुणों की पिण्डरूप वस्तु वर्तमान में ही परिपूर्ण है, वह परमार्थदृष्टि का विषय है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग और सम्पूर्ण मोक्षपर्याय दोनों प्रगट होते हैं। निश्चय और व्यवहारनय को सम्यग्ज्ञान यथावत् अविरोधरूप से जानता है। जिस अपेक्षा से व्यवहारनय है, उस अपेक्षा से निश्चयनय नहीं, और जिस अपेक्षा से निश्चयनय है, उस अपेक्षा से व्यवहारनय नहीं है। दोनों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, इसलिए दोनों नय अविरोध हैं, और दोनों को अविरोध से जाननेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है। व्यवहारनय से आत्मा की पर्याय में अशुद्धता होती है, गुणस्थान इत्यादि भेद हैं—ऐसा वह कहता है। उस व्यवहारनय को यथावत् न जाने तो भी साधकदशा का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। सम्यग्ज्ञान-प्रमाणज्ञान दोनों नयों का स्वरूप यथावत् जानता है, इसलिए साधकता यथार्थतया सिद्ध होती है।

जैसे व्यवहार से कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, उसी प्रकार भगवान अरहन्तदेव जीवों में बन्धपर्याय से स्थिति को प्राप्त कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्म की जीव में स्थिति होने से उसका उपचार करके व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि 'जीव का यह वर्ण है' तथापि निश्चय से सदा जिसका अमूर्तस्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है, ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है।

आत्मा एकरूप नित्यस्थायी है, उसमें पर का संयोग क्षणमात्र रहता है, नित्यस्थायी आत्मा में विकारी पर्याय की एक समय की स्थिति है; इसलिए वह विकारी पर्याय जीव की है, पर संयोग से होनेवाले भाव जीव के हैं, यह उपचार से कहा जाता है, आत्मा के स्वभाव में से उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे मार्ग में से मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु मार्ग में मनुष्यों की स्थिति उतने समय मात्र की है, इसलिए उतने सम्बन्ध से मनुष्य लुटते हैं, तथापि उपचार से यह कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो एक ही समय की पर्याय में है, आत्मा की पर्याय में पर संयोग से होनेवाले भावों की एक समय की स्थिति होने से उतने सम्बन्ध से वे भाव उपचार से जीव के हैं ऐसा कहा जाता है, किन्तु उन भावों की उत्पत्ति जीव के स्वभाव में से नहीं होती। जैसे मार्ग पर मनुष्य आते-जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष का उत्पाद-व्यय होता है, उसकी एक समयमात्र की स्थिति है, इसलिए वे आत्मा के हैं—ऐसा व्यवहार से कहा

जाता है, किन्तु वे आत्मा के त्रिकाल अविचल स्वभाव में नहीं हैं। आत्मा का सदा अमूर्त स्वभाव है, और वह उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है। अमूर्त कहकर वर्ण-गन्ध इत्यादि से अलग किया है, और सदा उपयोगगुण से अधिक है, यह कहकर यह बताया है कि—वह अपूर्ण या विकारी नहीं किन्तु परिपूर्ण है। आचार्यदेव ने उपयोगगुण से अधिक कहकर आत्मा को पर से भिन्न बताया है। जो पर से भिन्न होता है वह परिपूर्ण ही होता है, अपूर्ण नहीं। आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से परिपूर्ण है। और आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण है, इसलिए वह गुणस्थान और मार्गणास्थान की पर्याय जितना नहीं है। आत्मा एक समय की वर्तमान में होनेवाली समल-निर्मल सापेक्षपर्याय से भिन्न है, वर्तमान में होनेवाली सापेक्षपर्याय को भी अलग करता है। वर्तमान में आत्मा की निरपेक्ष पर्याय परिपूर्ण है, इसलिए परनिमित्त के सद्भाव-अभाव की अपेक्षा से होनेवाली वर्तमान पर्यायों को भी अलग करता है, यह द्रव्यदृष्टि का विषय है।

आचार्यदेव ने कहा है कि—'ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है,' इसमें जो 'कोई भी' शब्द है, उसका अर्थ यह है कि सर्वार्थसिद्धि या तीर्थंकर-प्रकृति बाँधने का राग किसी भी आत्मा में नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। और इसी प्रकार यह 'कोई भी' शब्द सर्वत्र लगाना चाहिए, अर्थात् गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि कोई भी आत्मा में नहीं हैं—ऐसा समझना चाहिए।

आचार्यदेव ने यह कहकर कि तू उपयोगगुण से अधिक है, यह बताया है कि तू इस स्वरूप है, अर्थात् यहाँ अस्ति की बात कही है। और मार्गणास्थान इत्यादि तुझमें नहीं हैं, यह कहकर नास्ति की बात कही है। एक समयमात्र का भाव तुझमें आये और जाए ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो द्रव्य-गुण-पर्याय से परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप है। यह द्रव्यदृष्टि का विषय है, और सत् का शरण हैं। यह स्वरूप रागोन्मुखी ज्ञान के प्रकाश से समझ में नहीं आता, किन्तु स्वसन्मुख ज्ञान के झुकाव से समझ में आता है।

जीव में ज्ञान का जो विकास दिखायी देता है वह पूर्वभव में से लेकर आया है। उस विकार के अनुकूल निमित्त जहाँ-जहाँ मिलते हैं वहाँ-वहाँ अज्ञानी जीवों को ऐसा मालूम होता है कि उन निमित्तों से ज्ञान विकसित हुआ है। अज्ञानी जीवों के उस विकास का झुकाव राग की ओर होता है। जैसे अध्यापक पढ़ाता है तब राग की ओर लक्ष्य होता है,

पुस्तक पढ़कर उत्तीर्ण होना है, इस लक्ष्य से पुस्तक पढ़ता है, तब भी ज्ञान का लक्ष्य राग की ओर होता है, उस समय जो ज्ञान की कला विकसित होती हुई दिखायी देती है, वह पूर्व का विकास विद्यमान है उसमें से उपयोगरूप होती है, किन्तु अज्ञानी जीवों को ऐसा मालूम होता है कि जो यह पुस्तक पढ़ी है, उसमें से ज्ञान की कला प्रगट हुई है, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि पहले का जो विकास या प्रकाश लेकर आया है, उसमें से उस ज्ञान की कला प्रगट हुई है, वह कहीं वर्तमान चतुराई से प्रगट नहीं हुई। संसार में कोई नयी बात सुनानेवाला मिलता है, तब उस समय जो ज्ञान होता है, उसका विकास था सो बाहर उपयोगरूप अथवा उपचाररूप दिखायी देता है, इसलिए उसे भ्रम हो जाता है कि मेरा यह नया ज्ञान प्रगट हुआ है। किन्तु ज्ञान का लक्ष्य अशुभराग की ओर है, इसलिए वह ज्ञान पराश्रित है, और पराश्रय से न तो ज्ञान प्रगट होता है और न सदा टिक ही सकता है। पराश्रयोन्मुख ज्ञान और राग तथा निमित्त सब नाशवान हैं। राग अनित्य है, इसलिए अनित्योन्मुख ज्ञान भी अनित्य है, अनित्योन्मुख ज्ञान का प्रकाश नित्य नहीं रह सकता, इसलिए वह प्रगट हुआ ज्ञान पुनः ढँक जाएगा। संसार के ज्ञान का प्रकार ऐसा है, अब धार्मिक ज्ञान की ओर देखना चाहिए।

कोई धार्मिक ज्ञान पूर्वभव से लेकर नहीं आता, किन्तु नवीन प्रगट होता है। देव, गुरु, शास्त्र का योग पूर्वपुण्य के कारण मिलता है। देव और गुरु धर्मोपदेश या शास्त्र सुनाते हैं किन्तु स्वयं निमित्त के आश्रय की दृष्टि से सुनता है, राग के आश्रय से सुनता है, और उसका लक्ष्य राग में है, इसलिए नित्य ज्ञान की पर्याय प्रगट नहीं होती। किन्तु जहाँ अन्तरंग में अपनी ओर विचार करता है कि अरे! यह पराश्रयता तो राग है, और मैं ध्रुवस्वरूप वस्तु हूँ, मैं स्वयं ही स्वतः ज्ञायक हूँ, वहाँ दृष्टि में से राग का अवलम्बन छूट जाता है, राग के साथ के अनित्य विकास का अवलम्बन छूट जाता है, देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त का अवलम्बन छूट जाता है, और जो नया ज्ञान प्रगट होता है, वह टिकता है। यही सच्चा धर्म है। अनन्त काल से जीवों ने धर्म की इस रीति को नहीं पकड़ पाया और जो जितनी रीति पकड़ी है, वह सब पाप की रीति है।

पर के ऊपर दृष्टि रखकर सुनता है, इसलिए वह ज्ञान अविनाशी लक्ष्यपूर्वक नहीं है, इसलिए वह ध्रुव में से प्रगट हुआ ज्ञान नहीं है; फिर चाहे भले ही त्रिलोकीनाथ

तीर्थंकरदेव सुनाने बैठे हों किन्तु अविनाशी आत्मा के लक्ष्य के बिना यदि राग का आश्रय लेकर सुने तो उस अनित्य की ओर के झुकाव से नित्य ज्ञानपर्याय प्रगट नहीं होगी। और स्वाश्रयोन्मुख होकर पुरुषार्थ से जो ज्ञानपर्याय प्रगट होती है, वह नित्य के लक्ष्य से प्रगट होती है और वह प्रगट ज्ञान नित्य है।

धर्म-कला वर्तमान पुरुषार्थ का फल है। मैं ध्रुव हूँ, अखण्ड हूँ, मेरे ज्ञानघन स्वरूप को किसी का अवलम्बन नहीं है, इस प्रकार स्वाश्रयोन्मुखी पुरुषार्थ अपूर्व है, और ध्रुव के लक्ष्य से ध्रुव में से होनेवाला ज्ञान भी अपूर्व है। धर्म स्व-उपयोगरूप से काम करता है। प्रभो! तेरे ज्ञान की बात का क्या कहना? जबकि स्वाश्रय से प्रगट हुए थोड़े से प्रकाश की महिमा ऐसे अपूर्व प्रकार की होती है, तब फिर तेरे अखण्ड स्वभाव की और उसमें से प्रगट होनेवाली पूर्ण ज्ञानपर्याय की तो बात ही क्या कहना है? श्रवण तक का भाव पराश्रयभाव है, अनित्य है, किन्तु जहाँ उपयोग को अपनी ओर झुकाया कि 'मैं' ऐसा त्रिकालरूप अखण्ड हूँ, मैं अपने से ही पूर्ण हूँ, वहाँ ऐसी श्रद्धा ही धर्म का प्रारम्भ है; और धर्म का प्रारम्भ होने के बाद अभी अपूर्ण है, इसलिए राग रहता है, और उस राग में देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त होता है, अर्थात् श्रद्धा होने के बाद देव, गुरु, शास्त्र को निमित्त कहा जाता है, क्योंकि देव, गुरु, शास्त्र को जो कहना है, वह स्वयं समझा तब देव, गुरु, शास्त्र को निमित्त कहा जाता है।

वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के भेदों पर लक्ष्य देने से राग होता है, इसलिए उन सब भेदों से आत्मा अधिक है, ऐसी प्रतीति होने पर स्वावलम्बन का भाव अंशतः प्रगट होता है, और वहीं से मुक्ति का मार्ग प्रारम्भ होता है। प्रतीति में अपने स्वावलम्बन स्वभाव की श्रद्धा होने से परोन्मुखता के प्रकार, राग और राग के निमित्तादिक को पर कहा है, यह अपूर्व बात है, इसे सुनने की ओर शुभ विकल्प होगा तो भी उच्च पुण्यबन्ध होगा।

भगवान अरहन्तदेव ने वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के भाव व्यवहार से जीव के कहे हैं, तथापि उपयोगगुण के द्वारा स्वयं अधिक है, ऐसे स्वभाव में पूर्ण या अपूर्ण का आश्रय नहीं है, पूर्ण के आश्रय से वह निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस भंग-भेद के लक्षण से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती।

व्यवहारनय के शास्त्रों में मुख्यतया व्यवहार का कथन होता है, और निश्चयनय के

शास्त्रों में मुख्यतया से निश्चय का कथन होता है तथा निश्चय के कथन में व्यवहार का और व्यवहार के कथन में निश्चय का कथन गौणरूप से होता है। यहाँ गौण कहा है, सर्वथा अभाव नहीं कहा। जहाँ निश्चय की अपेक्षा से बात चल रही हो वहाँ कोई व्यवहार की बात लाकर रखे, और शास्त्रों में जो स्वाश्रय की अपेक्षा से बात चल रही हो उसे लक्ष्य में न ले तो वह परमार्थ का स्वरूप समझे बिना व्यवहार को भी कुछ नहीं समझा है। क्योंकि परमार्थ स्वरूप समझने के बाद ही व्यवहार यथार्थतया समझा जा सकता है। परमार्थ के बिना समझा गया व्यवहार, व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास है।

भावार्थकार ने दोनों की सन्धि की है कि—पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु उसे कथंचित् असत्यार्थ समझना चाहिए। आत्मा में राग-द्वेष है ही नहीं या गुणस्थान है ही नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु वे एक समयमात्र के लिये हैं, और वे त्रिकाल के अखण्ड शक्ति से परिपूर्ण द्रव्य में नहीं हैं, इसलिए यह कहा है कि गुणस्थान इत्यादि आत्मा में नहीं हैं। जब अभेद स्वरूप को मुख्य करके कहा जाता है, तब अवस्थाभेद गौण हो जाता है। द्रव्य में जो निर्मल पर्याय होती हैं, उनसे द्रव्य अभेदरूप है, किन्तु उनके भेदों पर लक्ष्य देने से राग होता है, इसलिए यह कहा है कि—उन पर्यायों के भेद आत्मा में नहीं हैं, और आत्मा अपने अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों से अभिन्न एक पिण्डरूप है, ऐसी अभेद द्रव्यदृष्टि में कोई भी भेद प्रतिभासित नहीं होते, इसलिए किसी प्रकार के भेद द्रव्य में नहीं हैं, इस प्रकार निषेध किया जाता है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यवहार के कोई भेद हैं ही नहीं, वे हैं अवश्य किन्तु वे द्रव्यदृष्टि में प्रतिभासित नहीं होते।

सुवर्णकार की दृष्टि मात्र सुवर्ण पर ही होती है कि यह सौटंची है या नहीं, इसके बाद ही वह सोने की कारीगरी पर ध्यान देता है; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य सम्पूर्ण वस्तु पर होता है, उस वस्तु पर दृष्टि डालने के बाद पर्याय की कारीगरी का पुरुषार्थ तो होता ही रहता है। अवस्था कितनी प्रगट होती है, इसे स्व-परप्रकाशक ज्ञान जानता है। देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त की ओर का लक्ष्य या राग का लक्ष्य छूट जाता है, तब यथार्थ स्वरूपाधीन प्रतीति होती है, किन्तु यथार्थ प्रतीति पूर्वक का स्व-परप्रकाशक ज्ञान, निमित्त को, राग को और सबको जानता है।

निश्चयदृष्टि का विषय त्रैकालिक सामान्य है। स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला ज्ञान सामान्य-विशेष दोनों को विषय करता है।

पहले संसार था और फिर मोक्ष की उत्पत्ति-प्राप्ति हुई, इस प्रकार के अवस्था-भेद द्रव्यदृष्टि में प्रतिभासित नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विकारी, अपूर्ण या निर्मल अवस्था का अस्तित्व ही नहीं है। यदि सर्वथा अवस्था न हो तो अभेददृष्टि की पर्याय प्रगट करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। विकार अल्प काल के लिये ही है। और केवलज्ञान की पर्याय भी अवश्य है, वह कहीं सर्वथा नास्तिरूप नहीं है। वस्तुदृष्टि का विषय अवस्था नहीं है, इसलिए यदि तू यह समझे कि अवस्था है ही नहीं, विकार है ही नहीं, और केवलज्ञान इत्यादि पर्याय है ही नहीं, तो तेरी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यदि सर्वथा कुछ भी न हो तो संसार-अवस्था का नाश और मोक्ष-अवस्था की प्राप्ति इत्यादि की कोई बात ही नहीं रहेगी। और तू यह जान कि—विकार अवस्था है, निर्मल अवस्था है, इसलिए यदि अवस्था के राग में अटक गया तो भी मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होगी। यथार्थ वस्तुदृष्टि ही मोक्ष का बीज है। व्यवहार का कथन करनेवाले शास्त्र अधिक और निश्चय का कथन करनेवाले बहुत कम हैं, क्योंकि स्वरूप बहुत सूक्ष्म और गूढ़ है।

अपूर्ण अवस्था, विकारी अवस्था और बाह्य संग से रहित आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा करे तो निर्मल पर्याय प्रगट हो। अपूर्ण अवस्था में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय—तीनों कर्म भी निमित्तरूप से आ जाते हैं। विकारी अवस्था में मोहनीयकर्म निमित्तरूप से आ जाता है, और बाह्य संग में चार अघातिया कर्म आ जाते हैं। अपूर्ण अवस्था से रहित अपने परिपूर्ण स्वभाव की ओर विकाररहित स्वभाव को तथा संग रहित पदार्थ की श्रद्धा करे तो धर्म हो।

यदि सर्वथा व्यवहार न हो तो देव-शास्त्र-गुरु को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। देव-शास्त्र-गुरु को मानना, और उनका विश्वास करना सो व्यवहार है। उनके प्रति शुभभाव करना और स्त्री-कुटुम्बादि का अशुभभाव दूर करना भी व्यवहार है। यदि व्यवहार न हो तो यह सब कुछ नहीं रह जाता।

यदि व्यवहार न हो तो परमार्थ से तो सभी आत्मा भगवान ही हैं। तब फिर गायों को काटनेवाले कसाई और वीतराग भगवान दोनों की वन्दना करनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं

हो सकता। वन्दना तो उसी की होती है जिसकी निर्मल पर्याय प्रगट हो चुकी है। वैसे यदि मात्र द्रव्यदृष्टि से देखा जाए तो निगोद से लेकर सिद्धों तक सभी जीव अनादि-अनन्त शुद्ध ही हैं। परन्तु द्रव्य को वन्दन करने का व्यवहार नहीं है, लेकिन जिसकी शुद्ध पर्याय प्रगट हो गई है, उसी की वन्दना की जाती है। मुनियों को और वीतराग भगवान को वन्दन करने का व्यवहार है। यद्यपि वाणी सबके होती है, किन्तु सर्वज्ञ भगवान की वाणी पूज्य है, यह भी व्यवहार है। समयसार के पृष्ठ और यह लकड़ी दोनों पुद्गल हैं, किन्तु उनमें से समयसार की ही वन्दना की जाती है, इसका कारण यह है कि समयसार में आत्मा के भाव कथंचित् मुद्रित हैं, और यह आत्मस्वरूप को पहिचानने में निमित्त है। यदि व्यवहार न हो तो इस प्रकार व्यवहार का विवेक भी कैसे होगा? भगवान की वाणी में ऐसे अनेक प्रकार के व्यवहार का कथन हुआ है, इसलिए व्यवहार अवश्य है। मिर्च को हरा या लाल, आम को पीला और जामुन को काला कहना भी व्यवहार है। यदि व्यवहार न हो तो वस्तुओं को अलग-अलग नहीं कहा जा सकेगा, इसलिए व्यवहार अवश्य है; व्यवहार, व्यवहार से है, और व्यवहार हेयबुद्धि से उपादेय है।

देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, बहुमान और पूज्यत्व आदि सब व्यवहार, व्यवहार से आदरणीय है, व्यवहार हेयबुद्धि से आदरणीय है। यद्यपि सभी पुद्गल समान हैं तथापि भगवान की प्रतिमा की वन्दना की जाती है, और पत्थर की नहीं। इसका कारण यह है कि भगवान की प्रतिमा में तीर्थंकरदेव के शरीर की आकृति बनी हुई है, और उसकी भगवान के रूप में स्थापना की गई है, तथा वीतरागमुद्रा, वीतरागभाव के स्मरण में निमित्त है इसलिए वह पूज्य है, और इस प्रकार व्यवहार है।

इतना ही नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन की पर्याय भी व्यवहार है। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य है, जो कि निश्चय है। सम्यग्दृष्टि कहता है कि अवस्थादृष्टि से, केवलज्ञान की अपेक्षा मेरी पर्याय अनन्तवें भाग है, अर्थात् अनन्तगुनी अल्प है। बारहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट नहीं होता और तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, इसलिए तेरहवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान की पर्याय अनन्तगुनी अल्प है। यह सब व्यवहार है।

वस्तु कथंचित् वचनगोचर है। यदि वह सर्वथा वचनगोचर न हो तो सर्वज्ञदेव और

आचार्यों का उपदेश व्यर्थ सिद्ध होगा। वस्तुस्वरूप वचन में कुछ कहा जा सकता है, इसलिए उपदेश दिया जाता है। यदि सर्वथा वचनगोचर हो तो फिर कुछ भी कहना ही नहीं रह जाता। इसलिए व्यवहार अवश्य है।

सर्वज्ञ भगवान की वाणी में अनेकानेक प्रकार का व्यवहार आता है। यदि उस व्यवहार को न माने तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है, और यदि निश्चय स्वरूप को न माने तो श्रद्धा मिथ्या सिद्ध होती है। वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसी ही श्रद्धा-ज्ञान और आचरण करने से मोक्षपर्याय प्रगट होती है।

यहाँ जो २९ बातें कही गई हैं, वे शुद्धनय की दृष्टि से कही गई हैं, और व्यवहार-शास्त्रों में उन्हें जीव का भी कहा है। यदि निमित्त-नैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाए तो उस व्यवहार को कथंचित् सत्यार्थ भी कह सकते हैं। यदि उसे सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाए, तो सर्व व्यवहार का लोप हो जाए, और सर्व व्यवहार का लोप होने पर परमार्थ का भी लोप हो जाए। इसलिए जिनेन्द्रदेव का स्याद्वादरूप उपदेश समझने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है। सर्वथा एकान्त मिथ्यात्व है।

यदि व्यवहार न हो तो निषेध किसका किया जाए और यदि आत्मा का स्वरूप क्षणिक पर्याय जितना ही हो, नित्य न हो तो धर्म किसमें किया जाये! जो यह कहा गया है कि आत्मा सर्वथा निर्विकार निरपेक्ष है, सो यह श्रद्धा का स्वरूप बताने को कहा है, परन्तु यदि निमित्त, विकार और प्रकार व्यवहारदृष्टि से भी न हों तो वीतरागता होनी चाहिए। चैतन्य की पर्याय में राग होता है, यदि इसे भूल जाए या उस राग को सर्वथा न माने तो वह ज्ञान मिथ्या है। यदि विकारी पर्याय को न माने तो अशुभ परिणाम को दूर करके शुभ परिणाम दया, पूजा, भक्ति इत्यादि में रहना नहीं हो सकेगा। जब महामुनि भी अप्रमत्तध्यान से हटकर बाहर आते हैं, तब पठनपाठन और उपदेश इत्यादि के शुभ परिणामों में लग जाते हैं। चार ज्ञान के धारी गणधरदेव जैसे महापुरुष भी बारम्बार भगवान का उपदेश सुनते हैं। यदि पर्यायदृष्टि से भी शुभभाव परिणाम न होते हों तो किसी भी प्रकार का व्यवहार सिद्ध नहीं होगा।

अशुभ परिणाम से बचने के लिये साधकदशा में बीच में शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु वे शुभभाव साधक को आदरणीय नहीं हैं। भगवान के दर्शन इत्यादि में ज्ञानी का

प्रयोजन वीतरागभाव को बढ़ाने का होता है, बीच में जो रागभाव होता है, उस रागभाव का प्रयोजन नहीं है किन्तु धर्मी का प्रयोजन शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना है। शुभराग वीतरागभाव को नहीं बढ़ा देता किन्तु धर्मी का प्रयोजन वीतरागभाव को बढ़ाना है, इसलिए भगवान के निमित्त को शुद्ध का निमित्त भी कहा जाता है। ज्ञानी के व्रतादि का शुभविकल्प हो तो भी उसे उस राग का प्रयोजन नहीं है, किन्तु स्वरूप में स्थिर होने का प्रयोजन है। जहाँ ज्ञानी के व्रतादि का शुभविकल्प उठता है, वहाँ उसके साथ ही स्वरूप में स्थिर होने का वीर्य भी जागृत होता है। छट्ठे गुणस्थान की स्थिरता के साथ मुनित्व के शुभ परिणाम होते हैं; इस प्रकार स्थिरता के साथ शुभपरिणाम का सम्बन्ध है। अशुभ परिणाम से बचने के लिये भी शुभपरिणाम होते हैं। शास्त्र-स्वाध्याय, श्रवण-मनन, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति और अणुव्रत-महाव्रतादि के परिणाम साधकदशा में होते हैं ऐसा व्यवहार है।

आत्मा की पर्याय में यदि सर्वथा विकार न हो तो वीतरागता ही होनी चाहिए, किन्तु सर्वत्र वीतरागता दिखाई नहीं देती, इसलिए राग है यह सिद्ध होता है। और त्रैकालिक वीतरागस्वभाव है उसकी श्रद्धा न करे तो वीतरागपर्याय प्रगट नहीं होगी। वस्तुस्वभाव में विकार नहीं है, किन्तु यदि अवस्था में भी सर्वथा विकार न हो तो सुनना, समझना, मनन करना और समझाना इत्यादि कुछ भी न रहे।

आत्मा की पर्याय में अच्छे-बुरे के भाव और स्वर्ग-नरक के भव इत्यादि सब हैं अवश्य, अर्थात् यह सब अवस्थाएँ हैं, यह व्यवहार-कथन के समय जानना चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा सर्वथा विकारमय और अवस्था जितना ही है। तथा निर्विकार निरपेक्ष शुद्ध वस्तु का कथन करते समय पर्याय का भार न हो इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि पर्याय नहीं है। विकारमात्र पर्याय में होता है, इसे न जाने तो परमार्थ कहाँ रहा? विकारपर्याय मुझमें नहीं है, यह कहने की अपेक्षा ही कहाँ रही? जब विकाररूप होगा तभी तो निश्चयदृष्टि से विकाररूप नहीं है, यह अपेक्षा होगी न? यदि अवस्था में विकार हो तभी तो निश्चयदृष्टि में नहीं है, यह अपेक्षा होगी न?

आत्मा में मोक्षमार्ग प्रगट होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अवस्था प्रगट होती है। यदि अवस्था न होती हो तो सर्वथा कूटस्थ हो जाए, इसलिए अवस्था आत्मा में होती है। क्षणिक अवस्था होती है, उसे जानना सो व्यवहार और त्रिकाल पूर्ण द्रव्य को जानना सो निश्चय है। उन दोनों नयों का एकसाथ ज्ञान हो सो प्रमाण है।

दर्शन के साथ रहनेवाले ज्ञान के दो पहलू हैं। एक तरफ सामान्य की ओर जाता हुआ ज्ञान का अंश है और दूसरी ओर अपूर्ण, पूर्ण निर्मल और विकारी पर्याय को जानता हुआ ज्ञान का अंश है। यथा 'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।

यदि क्रोध-मान-माया और लोभ आत्मा की अवस्था में न हों तो संसार ही न हो। यदि विकार सर्वथा न हो तो सर्वत्र प्रगट पूर्णानन्द दशा हो, किन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए विकार अवस्था है। यह लक्ष्य में से नहीं जाना चाहिए। व्यवहारदृष्टि से विकार का अंश है, ऐसा ज्ञान में जानना चाहिए। जो 'है' उसे न माने तो एकान्त हो जाए। जो 'है' उसे जान लेना चाहिए और जानने को स्वीकार करना चाहिए, किन्तु विकार अंगीकार करनेयोग्य नहीं है; अंगीकार करनेयोग्य तो एक एकमात्र स्वभाव ही है, और निश्चयदृष्टि का विषय ही आदरणीय है, तथा व्यवहार जाननेयोग्य है। जो जाननेयोग्य है उसे जाननेयोग्य से अधिक महत्व देनेवाला मिथ्यादृष्टि है, और जो 'है' उसे 'नहीं है' कहे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। यदि पर्याय में विकार न हो तो परमार्थ का भी नाश हो जाए। जो विकार है, उसे न माने तो विकार को दूर करना और मोक्षमार्ग की साधकदशा को प्रगट करना आदि कुछ भी न रहे। इसलिए एक नय जाननेयोग्य और एक नय आदरणीय है। इस प्रकार दो पहलुओं से वस्तु देखी जाती है। निश्चयदृष्टि व्यवहार के भंग को स्वीकार नहीं करती, किन्तु विपरीत का निषेध करती है। प्रमाणज्ञान दोनों पहलुओं को जानता है। व्यवहारनय, व्यवहारनय से आदरणीय है, निश्चयदृष्टि से नहीं। निश्चयदृष्टि अंगीकार करनेयोग्य है, और व्यवहार जाननेयोग्य है। व्यवहारनय से लाभ होता है, और सहायता मिलती है, यह मान्यता मिथ्या है, और यदि निश्चयदृष्टि को आदरणीय न माने तो भी मिथ्या है।

प्रश्नः—जो राग-द्वेष होता है वह स्वभाव में कोई हानि करता है या नहीं ?

उत्तरः—यदि राग-द्वेष को अपना माने तो वर्तमान पर्याय में स्वभाव को हानि पहुँचाता है। आत्मा को निर्मल न मानने और उसे राग-द्वेषरूप मानने से अवस्था में हानि होती है, और जो अवस्था में हानि है सो आत्मा की ही हानि है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों एक ही हैं। अवस्था में राग-द्वेष होता है, इसलिए आनन्दगुण की पर्याय का घात है, अतः यदि राग-द्वेषरूप होनेवाली मलिन पर्याय को न माने तो परमार्थ का ही लोप हो जाए।

जो आत्मा है सो अपने रूप से है, और विकाररूप से नहीं है, ऐसा दृष्टि का विषय है। श्रद्धा में आत्मा को परिपूर्ण माना और ज्ञान में परिपूर्णता तथा अपूर्णता दोनों ज्ञात हुई। तथा परिपूर्ण को जानना निश्चय और अपूर्ण को जानना व्यवहार है। यद्यपि वस्तुदृष्टि से परिपूर्ण है, किन्तु यदि वर्तमान अवस्था में अपूर्ण न हो तो राग-द्वेषरूप अवस्था कहाँ से आयी? इसलिए विकार अवस्था अवश्य है। यदि विकार अवस्था को न माने तो इस परमार्थदृष्टि का लोप हो जाएगा कि जो यह विकार है सो में नहीं हूँ, और जो स्वभाव है, सो वही मैं हूँ। यदि पुण्य-पाप की वृत्ति पर्याय में न होती हो तो परमार्थ को समझने की ही क्या आवश्यकता है? आत्मा ज्ञायक है, सत् है, सो अस्ति है, और यदि अवस्था में राग-द्वेष न हो तो राग-द्वेष मुझमें नहीं हैं—ऐसा नास्तिभाव कहाँ से आयेगा? और यदि अवस्था में राग-द्वेष न हो तो परमार्थ को प्रगट करना कहाँ रहा? इसलिए भगवान का उपदेश-स्याद्वाद समझने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है।

सर्वथा एकान्त को मानना मिथ्यात्व है। जैसे आत्मा द्रव्य से भी पवित्र है और उसकी पर्याय भी पवित्र है, और आत्मा द्रव्य से भी मलिन है, तथा उसकी पर्याय भी मलिन है। ऐसा मानने में एकान्त हो जाता है। यदि मलिनता न हो तो अभी तक भवभ्रमण कैसे हुआ? और यदि आत्मा मलिनस्वरूप ही हो तो शुद्ध अवस्था कहाँ से प्रगट हो? इसलिए आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, और उसकी पर्याय में मलिनता है। उस मलिनता को दूर करके शुद्ध अवस्था प्रगट की जा सकती है।

अब एकान्त-अनेकान्त की व्याख्या करते हैं—

चैतन्य में एक वर्तमान अवस्था प्रगट है, शेष सब सामर्थ्य सम्पूर्ण ध्रुवरूप से विद्यमान है। अखण्ड परिपूर्ण ध्रुव को दृष्टि में लेना सो सम्यग्दर्शन है, और अवस्था को पूर्ण और अपूर्ण या मलिन जानना सो व्यवहार है। द्रव्य और पर्याय दोनों का यथार्थ ज्ञान प्रमाणज्ञान है। यदि द्रव्य और पर्याय में से एक को न जाने तो एकान्त कहलाता है।

पहली बात यह है कि मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, किन्तु मेरी पुरुषार्थ की असक्ति से पर्याय में राग-द्वेष होता है। यदि पर्याय में भी राग-द्वेष न हो तो वीतरागता प्रगट दिखायी देनी चाहिए। यदि कोई कहे कि राग-द्वेष के विकारी भावों से मुझे लाभ होता है, तो वह एकान्त है, क्योंकि इसमें स्वभाव और राग-द्वेष दोनों एक हो गये। स्वभाव पवित्र

नहीं है, और आत्मा को विकारी अवस्था के समान मान लिया, सो यह एकान्तदृष्टि है।

एकान्तदृष्टि होने के बाद स्वभाव की श्रद्धा होने पर अभी अपूर्ण है इसलिए विकल्प आये बिना नहीं रहेगा; देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना आदि का विकल्प आये बिना नहीं रहेगा। विकल्प आने पर भी धर्मात्मा जीव यह नहीं मानता कि उस विकल्प से या शुभभाव से मुझे लाभ होता है। विकल्प आये यह बात अलग है, किन्तु देखना यह है कि उसकी श्रद्धा रुचि बल किस ओर है।

आत्मा स्वयं त्रिकाल ज्ञायक पवित्र शुद्धस्वरूप है। ऐसे निर्दोष स्वभाव की श्रद्धा करने पर आत्मा सदोषरूप नहीं है, ऐसा मानना सो अनेकान्त है। जो दो विरोधी शक्तियों का प्रकाश करता है सो अनेकान्त है। मैं निर्दोषरूप हूँ, विकाररूप नहीं हूँ; इस प्रकार दो स्वभावों की प्रतीति करना सो अनेकान्त है। समयसार के अन्त में अनेकान्त की बहुत सुन्दर व्यख्या की गयी है, जो इस प्रकार है—एक वस्तु वस्तुत्व को उत्पन्न करनेवाली परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना सो अनेकान्त है।

वस्तु, वस्तु की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। वस्तु, वस्तु की अपेक्षा से नित्य और वस्तु की ही अपेक्षा से अनित्य हो ऐसा अनेकान्त नहीं हो सकता। वस्तु अपनी अपेक्षा से सत् और पर की अपेक्षा से असत् है, यह अनेकान्त है, किन्तु अपनी अपेक्षा से सत् और अपनी ही अपेक्षा से असत् हो ऐसा अनेकान्त नहीं होता। स्वभाव से शुद्ध और स्वभाव से ही अशुद्ध हो ऐसा नहीं हो सकता। त्रिकाली स्वभाव से शुद्ध और पर्याय से अशुद्ध मानना सो अनेकान्त है। द्रव्यदृष्टि से मैं नित्य स्वभाव से हूँ और अनित्य सदोषरूप नहीं हूँ, यह अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त है। आत्मा को अपने स्वभाव का अवलम्बन है और पर का अवलम्बन नहीं है, यह अनेकान्त है, एक समय मात्र की अवस्था विकारी है, त्रिकाल द्रव्य विकारी नहीं है, यह अनेकान्त है। यह एकान्त-अनेकान्त का भेद बहुत सूक्ष्म है।

किसी अपेक्षा से सम्यक् एकान्त भी कहलाता है। समयसार की चौदहवीं गाथा की टीका में कहा है कि जो एकान्त बोधबीजरूप स्वभाव है, उसकी निकट जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ-असत्यार्थ है। स्वरूप में उन्मुख होने के लिये विकारी पर्याय का निषेध किया जाता है, वह सम्यक् एकान्त स्वयं अपने में उन्मुख होने

के लिये है। यदि स्वोन्मुख होने के लिये भी सम्यक् एकान्त न हो तो फिर कहाँ उन्मुख हुआ जाए? द्रव्यदृष्टि पर्याय का निषेध करती है। द्रव्यदृष्टि स्वरूपोन्मुख होने के लिये है, यह सम्यक् एकान्त है, किन्तु पर्याय है ही नहीं ऐसा नहीं है। पर्याय को लक्ष्य में न रखे और अपूर्णता में पूर्णता मान बैठे सो भी यथार्थ नहीं है, किन्तु वस्तुस्वरूप को यथावत् समझना सो यथार्थ अनेकान्त है।

अपने आत्मा की बात चल रही हो वह ग्राह्य न हो ऐसा कैसे हो सकता है? समझने की जिज्ञासा हो और केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि खिरे तब पात्र जीव ऐसा समझ लेता है। भगवान की वाणी में स्वतन्त्र स्वरूप आया वहाँ जीव समझ गया कि अहो! मेरा शान्तिस्थल मुझमें ही है! मेरे तरने का उपाय-तीर्थ मुझमें ही भरा है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है—वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य-लक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि:—

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसार-पमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई।।६१।।

अर्थः—संसार में स्थित जीवों के उस संसार में वर्णादिक होते हैं, और संसार से मुक्त हुए जीवों के निश्चय से वर्णादिक कोई भी (भाव) नहीं होते। (इसलिए उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।)

परमाणु का वर्ण, गन्ध आदि के साथ सम्बन्ध है, आत्मा के साथ नहीं। संसारदशा में वर्णादि भाव जीव के होते हैं, किन्तु मोक्षदशा में किंचित् मात्र भी नहीं होते। इसलिए जो उसका हो वह कैसे हो सकता है? अर्थात् यदि वर्णादिक जीव के हों तो वे कभी अलग नहीं हो सकते किन्तु मोक्ष होने के साथ ही वे अलग हो जाते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि जीव के साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

जो निश्चय से सम्पूर्ण अवस्थाओं में यद्-आत्मकपने से अर्थात् स्वरूपरूप से व्याप्त हो और जो आत्मभाव से, अर्थात् उस स्वरूप-रूप की व्यापित से रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्था में उस भावस्वरूपता को न छोड़े उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है।)

वस्तु अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओं में व्याप्त होती है, किसी अवस्था में व्याप्त न हो ऐसा नहीं होता, इसे तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं। यद्यपि जीव संसार-अवस्था में किसी अपेक्षा से वर्णादि स्वरूप से व्याप्त होता है, तथापि वह मोक्ष अवस्था में सर्वथा वर्णादि स्वरूप से व्याप्त नहीं होता। ऐसे जीव का वर्णादि के साथ किसी भी प्रकार का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के भावों का पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध कहा है।

प्रश्नः—क्या केवलज्ञान भी इसमें आ जाता है? तब क्या केवलज्ञान का भी पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध कहा जाएगा? वह तो जीव की स्वाभाविक पर्याय है?

उत्तरः—केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्रगट होता है, जिसे सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं, क्योंकि वहाँ योग का कम्पन होता है, और वह योग का कम्पन पर की ओर का भाव है, इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। किन्तु केवलज्ञान की पर्याय द्रव्य की निर्मल पर्यायरूप हो गयी है, इससे उसे पुद्गल का परिणाम नहीं कहा। इस प्रकार चौदहवें गुणस्थान में भी अकल्पनता प्रगट होती है, जो कि द्रव्यरूप अवस्था है, किन्तु वहाँ चार कर्म और शरीर इत्यादि विद्यमान है, इसलिए चौदहवें गुणस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है। चौदहवें गुणस्थान में जीव शरीर और कर्मों के कारण नहीं रुका है, क्योंकि वे परद्रव्य हैं, इसलिए कोई भी जीव परद्रव्य के कारण स्वयं नहीं रुकता। यदि वह परद्रव्य के कारण रुकता हो तो स्वयं पराधीन हुआ कहलायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। वह प्रतिजीवी आदि गुणों के विकार के कारण-असिद्धत्व औदयिकभाव के कारण चौदहवें गुणस्थान में रुका हुआ है। योग और मोह के कारण चौदह गुणस्थान कहे गये हैं, वे दोनों परोन्मुखी भाव हैं, इसलिए गुणस्थान पुद्गल के परिणाम कहे गये हैं। जो केवलज्ञानपर्याय प्रगट हुई है, वह अपने द्रव्य के साथ तादात्म्यसम्बन्धवाली है, किन्तु वहाँ जो कम्पन है सो पर का भाव है, इसलिए उसका पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है।

क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञानपर्याय और सिद्धपर्याय आदि का चैतन्य के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष्य देने से राग होता है, और राग पर की ओर का भाव है, इस अपेक्षा से उन सब पर्यायों को भी पुद्गल का परिणाम कहा है। सम्यग्दर्शन के भेद, केवलज्ञान की पर्याय, और सिद्ध की पर्याय इत्यादि भेद सिद्ध या केवली नहीं

किन्तु निम्न अवस्था के साधक जीव करते हैं, और उन भेदों पर दृष्टि डालने से उन्हें राग होता है। जब साधक जीव यहाँ कहे गये २९ कथनों पर लक्ष्य देते हैं तब उन्हें राग होता है, और राग तो परोन्मुख भाव है, इसलिए इस अपेक्षा से उन २९ कथनों को पुद्गल का परिणाम कहा है, और इस प्रकार उन समस्त कथनों का पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध कहा है।

साधक जीव के राग होता है और मुक्त जीव के नहीं होता इसलिए यह कहा है कि—संसारी जीवों के वर्णादिभाव हैं, और मुक्त जीवों के नहीं हैं। तथा मुक्त अवस्था प्राप्त होने के बाद किसी भंग-भेद पर दृष्टि नहीं करनी है, इसलिए वहाँ वर्णादिभाव नहीं हैं। संसार में भी जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। संसार में वर्णादि भाव नहीं हैं इसलिए सिद्ध होने पर वे अलग हो जाते हैं। साधक जीव को भंग-भेद पर दृष्टि डालने से राग होता है, और राग परोन्मुखी भाव है, इसलिए क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान इत्यादि को भेद की दृष्टि से पुद्गल का परिणाम कहा है; वैसे केवलज्ञानी या सिद्ध के तो केवली और सिद्ध की पर्याय अपने द्रव्य में अभेदरूप हो गयी है, उसे भंग और भेद पर लक्ष्य देने की बात ही नहीं रही। वहाँ क्षायिकसम्यक्त्व और केवलज्ञानादि जो पर्यायें प्रगट हुई हैं, उनका आत्मा के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, तेरा जो अविनाशी स्वभाव है उसकी ओर देख, उसके अतिरिक्त कोई शरण नहीं है। द्रव्य पर दृष्टि देने से राग छूटता है और निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस निर्मल पर्याय का चैतन्य के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है।

आत्मा में अजीव का कोई भी गुण या पर्याय नहीं है। जिसे आत्मा का हित करना हो उसे यह भलीभाँति जानना होगा कि हित कैसे होता है। शरीरादिक पर से आत्मा को हानि-लाभ नहीं होता। शरीर का वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, संहनन और आकार इत्यादि जड़ की अवस्था में प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की मान्यता है, कि मुझे रखना नहीं आया इसलिए शरीर, वाणी इत्यादि एक से नहीं रहे, अथवा शरीर का अच्छा बना रहना मेरी जानकारी पर अवलम्बित है। संसार में उपचार से वर्णादि भावों को आत्मा का कहा है, किन्तु सिद्धों में किसी भी प्रकार से वर्णादि भाव नहीं हैं।

प्रश्नः—सिद्ध वर्णादि भावों से अलग हो गये हैं, किन्तु यहाँ तो भाव इकट्ठे ही हैं?

उत्तरः—जबकि यहाँ संसार-अवस्था में वे भाव अलग हैं तब वे सिद्धों में अलग

हो सकते हैं। जो भाव अपने होते हैं, वे त्रिकाल अपने ही साथ रहते हैं, वे कभी अलग नहीं होते। इसलिए जो अलग हो जाते हैं वे अलग हैं, इसलिए अलग होते हैं। खाना-पीना, हिलना-चलना इत्यादि प्रवृत्ति संसार में भी आत्मा के अधीन नहीं है, किन्तु पुद्गल के अधीन है। आत्मा जो भाव करता है सो अपने अधीन है, किन्तु जो शारीरिक क्रिया होती है, वह पुद्गल के अधीन है। संसार-अवस्था में शरीरादिक जीव के साथ एक ही स्थान पर रहते हैं, इसलिए व्यवहार से यह कहा जाता है कि यह शरीर, यह वर्ण या यह संहनन इत्यादि उस जीव के हैं। यद्यपि यह सब निमित्त से-उपचार से कहा जाता है, किन्तु जो यह मानता है कि शरीरादि से मुझे लाभ होता है, उसने शरीर और आत्मा को एक ही मान रखा है, और जो जिससे हानि-लाभ मानता है, उसे वह निजरूप मानता है।

प्रश्नः—खाने-पीने इत्यादि में आत्मा को स्वाद आता है या नहीं ?

उत्तरः—जो स्वाद आता है, वह जड़ का है, आत्मा का नहीं। आत्मा उस स्वाद को जानता है। वह यह जानता है, कि यह स्वाद आम का है और यह मिठाई का। अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से आम और मिठाई आदि के राग का स्वाद लेता है; वैसे जड़ का स्वाद तो कोई ले ही नहीं सकता। एक द्रव्य का स्वाद दूसरा द्रव्य नहीं ले सकता। आत्मा अपनी पर्याय का स्वाद लेता है। ज्ञानी ज्ञानभाव से स्वभावपर्याय का स्वाद लेता है, और अज्ञानी अज्ञानभाव से रागपर्याय का स्वाद लेता है।

प्रश्नः—जब कि जड़ नहीं खाता और आत्मा नहीं खाता, तब फिर कौन खाता है ?

उत्तरः—जब आत्मा राग में युक्त होता है, तब उसे खाने की इच्छा होती है, यदि उस समय शरीर का इच्छानुकूल उदय हो तो शरीर की क्रिया खाने की होती है, और आहार इत्यादि वस्तु के मिलने का अनुकूल उदय हो, तो उस वस्तु का संयोग हो जाता है; इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होने पर आहार की क्रिया होती है। जड़ की क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा की पर्याय में राग होता है, किन्तु उस जड़ की क्रिया आत्मा त्रिकाल में नहीं कर सकता।

प्रश्नः—खायेंगे तभी तो शरीर टिकेगा ?

उत्तरः—खाने से शरीर नहीं टिकेगा, किन्तु शरीर की अवस्था शरीर के कारण टिकी हुई है। यदि खाने-पीने से शरीर टिकता होता तो कभी-कभी लोग खाते-खाते ही

मर जाते हैं, हाथ की रोटी हाथ में ही रह जाती है, और हृदयगति बन्द हो जाती है, ऐसा क्यों होता ? किसी की खुराग बहुत कम होती है, और फिर भी शरीर टिका रहता है। देवों की खुराक अत्यन्त अल्प होती है, हजारों वर्ष में उन्हें आहार लेने की इच्छा होती है, कण्ठ में से अमृत झरता है और तत्काल ही अमृत की डकार आ जाती है, फिर भी असंख्यात वर्ष तक उनका शरीर टिका रहता है। नारकी जीवों को अन्न का एक दाना भी नहीं मिलता फिर भी उनका शरीर असंख्य वर्ष तक बना रहता है। जुगलिया मनुष्यों के तीन दिन में आहार की इच्छा होती है, और वे तीन दिन के बाद बेर के बराबर आहार लेते हैं फिर भी उनका शरीर असंख्यात वर्ष तक बना रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि खाने-पीने से शरीर नहीं टिकता किन्तु शरीर के कारण ही शरीर टिकता है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि यदि शरीर अच्छा बना रहे तो धर्म हो; यथा 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं', किन्तु यह भी सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि आत्मा का धर्म आत्मा में और शरीर का धर्म शरीर में होता है, इन दोनों का कहीं भी मेल नहीं खाता। तथापि अज्ञानी को यह भ्रम हो गया है कि शरीर का हम कुछ कर सकते हैं, इसलिए उसके मन में देव-गुरु-शास्त्र की बात नहीं जमती। चलने के भाव और शरीर की चलने की क्रिया का लगभग निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध से मेल हो जाता है, इसलिए अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि मेरे द्वारा चला जा रहा है, मेरे द्वारा बोला जा रहा है, और जड़ की क्रिया मैं कर सकता हूँ, किन्तु यदि शरीर में वायु हो गयी हो, किसी हड्डी में दर्द हो गया हो, अशक्ति आ गयी हो या लकवा मार गया हो तो शरीर की क्रिया रुक जाती है, और तब बहुत इच्छा होने पर भी चला-फिरा नहीं जा सकता। इसी प्रकार आँख की पलकें चलाना भी आत्मा के वश की बात नहीं है। मरते समय बोलने की अत्यन्त इच्छा होने पर भी जीभ तक नहीं हिला सकता और अपने हाथ की उंगली भी नहीं हिला सकता। तात्पर्य यह है कि शरीर की कोई भी अवस्था आत्मा के वश की नहीं है। मैं शरीर को टिकाये हुए हूँ, और शरीर अच्छा हो तो धर्म किया जा सकता है, यह मान्यता निरा पाखण्ड और मूढ़ता है।

दया, पूजा इत्यादि शुभ भावों से पुण्यबन्ध होता है, और हिंसा, झूठ इत्यादि अशुभ भावों से पापबन्ध होता है, वे दोनों ही भाव मेरा स्वरूप नहीं हैं, किन्तु मैं निर्मल ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ—ऐसी श्रद्धा के आश्रय से धर्म प्रगट होता है।

आत्मा शरीर का कुछ भी नहीं कर सकता तब फिर वह सर्वथा दूर रहनेवाले स्त्री, कुटुम्ब आदि का तो कहाँ से कुछ कर सकेगा ? तात्पर्य यह है कि आत्मा परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता।

सिद्धों में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि कुछ भी नहीं हैं, इसलिए यहाँ भी वे भिन्न हैं, इसलिए छूट सकते हैं। यदि शरीर और आत्मा का अग्नि और उष्णता जैसा सम्बन्ध हो तो वे कभी भी अलग नहीं हो सकेंगे। तात्पर्य यह है कि शरीर और आत्मा का किसी भी प्रकार तीन काल में एकरूप सम्बन्ध नहीं है।

अब यहाँ यह बतलाते हैं कि यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय बनाये कि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, तो उसमें दोष आता है। यथा—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।

अर्थः—यदि तू यह माने कि यह वर्णादिक सर्व भाव जीव ही है, तो तेरे मत में जीव और अजीव का कोई भेद ही नहीं रहता।

आचार्यदेव कहते हैं कि वर्णादिक भावों को जीव माननेवाले सब मिथ्या अभिप्रायवाले हैं। जो वर्ण, गन्धादिक और शरीरादि को जीव मानता है वह दो द्रव्यों को एक मानता है, अर्थात् वह दो द्रव्यों के बीच कोई भेद नहीं मानता। जो यह मानते हैं कि शरीर को जैसा रखना हो वैसा रखा जा सकता है, तो वह मिथ्या अभिप्राय है, शरीर परद्रव्य है, उसकी रक्षा तू नहीं कर सकता। तू अपनी रक्षा कर सकता है, इसलिए अपनी रक्षा कर।

वर्णादिक २९ बातों का जड़ के साथ तादात्म्यसम्बन्ध बताया है, उनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, गुणस्थान इत्यादि सब आ जाते हैं। उन भदों पर लक्ष्य देने से राग होता है। वह राग परोन्मुखी भाव है, इसलिए उसका पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, किन्तु जो ज्ञान-दर्शन की निर्मल पर्याय होती है, वह चैतन्य में मिल जाती है; यह बात पहले कही जा चुकी है। उन ज्ञान, दर्शनमार्गणा इत्यादि में कर्मों के निमित्त की अपेक्षा होती है, इसलिए उन्हें पर का कहा है। जो उस निमित्त को, राग को अपना मानते हैं, वे मिथ्या अभिप्रायवाले हैं।

वर्णादिभाव, अनुक्रम से पुद्गल में ही आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होते हुए

उन-उन व्यक्तियों के द्वारा पुद्गल द्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध प्रगट करते हैं।

कर्मों की और शरीर की अवस्था का आविर्भाव अर्थात् प्रगट होना, अवस्थारूप से उत्पन्न होना और तिरोभाव अर्थात् अवस्था का अप्रगट रहना, अवस्था का व्यय हो जाना सो यह सब पुद्गल की अवस्था है, इसलिए पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है; पुद्गल को प्रगट करता है, उसे विस्तरित करता है। कर्मों की और शरीर की एक अवस्था प्रगट होना और दूसरी अवस्था अप्रगट रहना सो सब पुद्गल के कारण है। उसका पुद्गल के साथ एकत्व है आत्मा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा अपने ज्ञान और स्थिरता में आगे बढ़ता है, तथा कर्मों की शक्ति कम होती जाती है, इसलिए आत्मा और कर्मों का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। आत्मा की निर्मल अवस्था बढ़ती हो अर्थात् आविर्भाव होती हो, और शरीर की अवस्था हीन होती हो—पतली होती हो—तिरोभाव होती हो, और चैतन्य की अवस्था अज्ञान राग-द्वेष में युक्त होने से हीन होती हो—तिरोभावरूप होती हो, और शरीर की अवस्था पुष्ट होती हो, कर्मों की अवस्था पुष्ट होती हो; इसलिए आत्मा का शरीर तथा कर्मों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। यह वर्णादिक २९ बातें कर्मों के कारण हैं, इसलिए वह पुद्गल द्रव्य की अनुक्रम से होती हुई आविर्भाव और तिरोभावरूप अवस्था पुद्गल के ही तादात्म्यसम्बन्ध को प्रगट करती है, विस्तरित करती है।

आँख की पलकों का ऊँचा-नीचा होना, जिह्वा का चलना या न चलना, कण्ठ में से शब्दों का निकलना या न निकलना इत्यादि सब पुद्गल की अवस्था पुद्गल के ही कारण आविर्भाव, तिरोभावरूप हुआ करती है। शरीर की बाल्यावस्था का व्यय, युवावस्था का प्रगट होना और युवावस्था का व्यय तथा वृद्धावस्था का प्रगट होना इत्यादि सब पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है, पुद्गल को ही विस्तरित करता है।

ज्ञान का बढ़ना—आविर्भाव होना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है, आत्मा को विस्तरित करता है। ज्ञान का ढँकना और अज्ञान पर्याय का आविर्भाव होना-प्रगट होना विकारी पर्याय के साथ सम्बन्ध रखता है।

वर्णादिक भाव अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होनेवाले उन-उन व्यक्तियों के द्वारा जीव के साथ ही साथ रहते हुए जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रगट

करते हैं-विस्तरित करते हैं; ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मत में शेष द्रव्य में जो असाधारण वर्णादिस्वरूपता है, जो कि पुद्गल द्रव्य का लक्षण है, उसका जीव के द्वारा अंगीकार किया जाता है, इसलिए जीव-पुद्गल के अविशेष का प्रसंग आता है।

शरीर की किसी भी अवस्था के हलन-चलन का सम्बन्ध शरीर के साथ दिखायी देता है, तथा उसके साथ आत्मा एक ही स्थान पर रहता है, इसलिए वह आत्मा के साथ वर्णादि का तादात्म्यसम्बन्ध प्रगट करता है, विस्तरित करता है। इस प्रकार जो मानता है सो मिथ्यात्वी है; क्योंकि आत्मा के साथ वर्णादि का तादात्म्यसम्बन्ध हो तो वह आत्मा का लक्षण कहलाये और इसलिए जीव और पुद्गल दोनों अलग नहीं रहते, शरीर की अवस्था के द्वारा जीव को अंगीकार किया इसलिए जीव और पुद्गल दोनों अलग नहीं रहते, और ऐसा होने पर जीव का अवश्य अभाव होता है।

शरीर में वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं उनका सम्बन्ध परमाणु के साथ है, और यदि तू परमाणु का सम्बन्ध आत्मा के साथ माने तो जीव और जड़ दोनों के एक होने से दोनों के भिन्न लक्षण न रहने से दोनों का अभाव हो जाएगा। शरीर अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है, और वाणी भी अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। आत्मा में से वह वाणी की अवस्था नहीं आती किन्तु जड़ में से आती है। यदि आत्मा में से भाषा की अवस्था आती तो आत्मा और जड़ दोनों एक द्रव्य हो जायें; क्योंकि भाषा रूपी है और चैतन्य अरूपी है, इसलिए दोनों द्रव्य अलग हैं, उन दोनों को एक मानने पर दोनों द्रव्यों का अभाव हो जाता है।

यदि कोई कहे कि शरीर और जिह्वा आदि का आत्मा के साथ सम्बन्ध है, तो यह बात सर्वथा मिथ्या है। यदि आत्मा के साथ वाणी का सम्बन्ध हो तो जीभ में जब कुछ हो जाता है, तब क्यों नहीं बोल सकता? वाणी का प्रगट होना या ढँक जाना आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। भाषा की पर्याय का आविर्भाव परमाणु में से होता है, आत्मा में से नहीं। शरीर और वाणी की अवस्था का होना जड़ के आश्रित है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र का होना आत्मा के आश्रित है। यदि शरीर की अवस्था आत्मा के आश्रित और आत्मा की शरीर के आश्रित हो तो दोनों एक हो जायें और आत्मा जड़ हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं है। दोनों द्रव्य भिन्न हैं। आत्मा के साथ वाणी और शरीर की अवस्था का मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, दोनों द्रव्य एक नहीं हैं, किन्तु अलग-अलग हैं। किसी की अवस्था

का कोई कर्ता नहीं होता। भाषा की पर्याय का आविर्भाव जड़ में से होता है, आत्मा में से नहीं। अज्ञानी अहंकार करता है कि वाणी मुझमें से होती है और मुझमें से आती है। अज्ञानी अपने को भूलकर पर को देखता है इसलिए उसकी शक्ति अपने को देखने की नहीं रही।

जो-जो अवस्था होती हैं, उन्हें ज्ञानी देखता है और जानता है। ज्ञानी जानता है कि किसी द्रव्य की अवस्था का कोई संचालक या प्रेरक नहीं है, सबकी अवस्था अपने आधीन होती है। ज्ञानी के वाणी, राग और उसे जाननेरूप ज्ञान की अवस्था एक ही क्षण में होती है, किन्तु ज्ञानी समझता है कि वह अवस्था होती है, मैं उसका मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ, कर्ता नहीं।

शरीर, मन, वाणी मेरा स्वरूप नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु भीतर जो शुभाशुभ विकल्प उठते हैं, वे भी मेरा स्वरूप नहीं हैं। उन सब पर-पर्यायों को ज्ञातारूप रहकर जानना और स्वरूप में स्थिर रहना सो निश्चय आलोचना है। पहले सम्यग्दर्शन की सामायिक और फिर स्थिरता की सामायिक होती है। परभाव से हटकर स्वरूप में स्थिर होना निश्चय प्रतिक्रमण है।

मेरा सुख मुझमें है, उसे भूल गया इसलिए यह मान लिया कि सुख पर में से आता है। शरीर को अपना मान लेने से शरीर के अनुकूल स्त्री-पुत्रादि हों तो उन पर राग हुए बिना नहीं रहता, और यदि प्रतिकूल हों तो द्वेष हुए बिना नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि शरीर के रागी पर राग और द्वेषी पर द्वेष हुए बिना नहीं रहता। क्योंकि उसने यह मान रखा है कि शरीर मेरा है, और शरीर में से सुख प्राप्त होता है, इसलिए राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहता। कई लोग शारीरिक अनुकूलता में और दो-चार पुत्रों में तथा लाख-दो लाख की सम्पत्ति में सुख मान रहे हैं। किन्तु इन सबमें सुख कहाँ है ? क्या वह कहीं देखा है या मात्र कल्पना ही कर ली है ? और यदि कल्पना ही की है, तो यह भी देखा है कि वह कल्पना कहाँ है ? वह मान्यता किस प्रकार की है ? वह आँखों में है, हाथों में है या पैरों में है ? उस मान्यतारूप भाव कहाँ टिका हुआ है ? वह सरूपी है, या अरूपी है ? क्या यह सब कुछ देखा है ? या मात्र कल्पना ही कर रखी है ? पर में सुख न देखकर भी, सुख की मान्यता कहाँ है यह खबर न होने पर भी, अनादि काल से निःशंक होकर यही मान रहा है कि पर में सुख है। जिसकी जिसमें रुचि है, वहाँ वह यह तर्क नहीं उठाता कि यदि मुझे आँखों से दिखायी दे तो मानूँ! आत्मा

में एक नि:सन्देह स्वभाव ऐसा है कि उसकी विपरीत पर्याय में भी वस्तु में सुख नहीं देखा, कल्पना नहीं की, तथापि ऐसा नि:शंक हो जाता है कि किसी प्रकार के विचार का अवकाश नहीं रखता। जब कि विपरीत पर्याय में भी ऐसा नि:शंक हो जाता है, तब फिर जो आत्मा का परिचय करके सम्यक् प्रतीति करता है, उसमें तो नि:शंक होगा ही। मुझे पर से सुख प्राप्त नहीं होता, मेरा सुख मुझमें ही है, इस प्रकार यथार्थतया मानने के बाद पर का आश्रय नहीं रहता। मेरी शांति, सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान इत्यादि सब मुझमें हैं, किन्तु पर में नहीं हैं, ऐसी यथार्थ प्रतीति स्वसन्मुखता सहित करने से नि:शंक हो जाता है। यह सारी बात अन्तरंग में जम जाए तभी ठीक है।

प्रश्न:—आप कहते हैं कि शरीर और वाणी का सम्बन्ध पुद्गल के साथ है, किन्तु जब आप ही वाणी बोलते हैं तो इसे क्या समझना चाहिए?

उत्तर:—आत्मा वाणी नहीं बोल सकता, वह तो मात्र ज्ञान करनेवाला ज्ञायक है। वाणी का कर्तव्य वाणी में है, वह मेरे चैतन्य का कर्तव्य नहीं है। चैतन्य का कर्तव्य चैतन्य में है, और वाणी पुद्गल की अवस्था है।

प्रश्न:—यदि ज्ञान और वाणी भिन्न हों तो जैसा बोलना होता है, वैसा ही कैसे बोला जाता है? अन्यथा क्यों नहीं बोला जाता?

उत्तर:—ज्ञान और वाणी का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, इसलिए ज्ञान जैसा परिणमित होता है, वैसी ही वाणी भी परिणमित होती है; सर्वज्ञ भगवान को सम्पूर्ण ज्ञान है, इसलिए उनकी वाणी भी सम्पूर्ण रहस्य को लिये हुए निकलती है। जड़ कुछ नहीं जानता, एकमात्र आत्मा ही ज्ञाता है। श्री समयसार नाटक में कहा है:—

तनता, मनता, वचनता, जड़ता जड़ सम्मेल।
लघुता, गुरुता, गमनता ये अजीव के खेल॥

अर्थात् शरीर, मन और वचन तथा हलका-भारीपना और चलना-फिरना इत्यादि सब अजीव के खेल हैं। उस अजीव को अपनेपन की बुद्धि से मानकर यदि राग-द्वेष करे तो पर का कर्ता होता है, इसलिए वह मिथ्यात्वी है। राग-द्वेष के जो परिणाम होते हैं, उनका ज्ञाता रहे तो वह जाननेवाला है-कर्ता नहीं। सम्यग्दृष्टि पर से भिन्न होकर अपने में समा जाता है, यही धर्म है। धर्म कहीं शरीर-मन-वाणी में नहीं है।

अजीव की जितनी अवस्था होती है, वह सब मेरी-चैतन्य की अवस्था है। जो यह मानता है कि शरीर की अवस्था के बदलने से मैं बदल जाता हूँ, वह मिथ्यात्वी है। जो शरीर की अवस्था की घटा-बढ़ी से अपनी घटा-बढ़ी मानता है, और जो शरीर की स्थिति पूर्ण होने को अपनी स्थिति पूर्ण होना मानता है, श्वास के रुँधने से मैं रुँध गया ऐसा मानता है—वह शरीर और आत्मा को एक मानता है। वह असाध्य होकर परभव में परिभ्रमण करता रहेगा। जिसे जागृतज्योति चैतन्य की खबर है, वह स्वरूपस्थ होकर, समाधिमरण करके एक-दो भव में मुक्ति प्राप्त करेगा।

आत्मा जड़स्वरूप नहीं, किन्तु ज्ञानादि गुणस्वरूप है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्डस्वरूप वस्तु है, और परमाणु भी अनन्त गुणों का पिण्डस्वरूप है। दोनों निराली वस्तु हैं। शरीर और आत्मा दोनों एक आकाशक्षेत्र में रहते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं।

यहाँ कोई यह प्रश्न करता है कि मुक्ति में वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श का सम्बन्ध भले ही न हो, किन्तु संसार में तो है ? उसका उत्तर देते हुए कहते हैं:—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्त-मावण्णा।।६३।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाण-मुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो।।६४।।

अर्थः—अथवा यदि तुम्हारा मत यह हो कि—संसार में स्थित जीवों के ही वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूप से) हैं, तो इस कारण से संसार में स्थित जीव रूपित्व को प्राप्त हुए; ऐसा होने से वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्य का होने से, हे मूढ़बुद्धि! पुद्गलद्रव्य ही जीव कहलाया और (मात्र संसारावस्था में ही नहीं किन्तु) निर्वाण प्राप्त होने पर भी पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ!

जो यह मानता है कि शरीर की क्रियाओं को आत्मा करता है, वह प्रकारान्तर से शरीर और आत्मा को एक ही मानता है, क्योंकि जड़ और आत्मा के एक होने पर ही आत्मा जड़ की प्रवृत्ति कर सकता है, जड़ से अलग रहकर जड़ की प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इसलिए शरीर और आत्मा दोनों एक हैं—यही अज्ञानी का अभिप्राय है।

जो यह मानता है कि यदि शरीर अच्छा रहे तो वह ज्ञान-ध्यान में सहायक होता है, वह शरीर और आत्मा दोनों को एक मानता है। जैसे अग्नि और उष्णता अलग नहीं की जा सकती उसी प्रकार शरीर और आत्मा अलग नहीं किये जा सकते—यह अज्ञानी की मान्यता है।

जो यह मानता है कि चलना-फिरना, खाना-पीना इत्यादि मुझसे होता है, वह रूपी अवस्था को चैतन्य की अवस्था मानता है, अर्थात् वह दोनों को एक मानता है। आत्मा की अरूपी अवस्था और जड़ की रूपी अवस्था दोनों एक ही समय में होने से अज्ञानी उन दो अवस्थाओं को अलग न मानकर एक ही मान लेता है।

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श का लक्षण जड़ है, इसलिए हे मूढ़मति! तेरी मान्यता के अनुसार तो जड़ पदार्थ ही जीव सिद्ध हुआ, और ऐसा होने से मुक्त होनेवाला आत्मा रूपित्व को लिये हुए मुक्त हुआ, अरूपित्व को लेकर नहीं, अर्थात् पुद्गल द्रव्य ही मुक्ति को प्राप्त हुआ कहलायेगा।

जिसका यह मत है कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, उसके मत में जीव संसार-अवस्था के समय अवश्य ही रूपित्व को प्राप्त होता है। और जबकि तूने अपनी अवस्था को रूपी के अधीनस्थ मान लिया तो तेरी अवस्था अलग नहीं रही। यदि आत्मा जड़ को करे तो आत्मा उसकी अवस्था में प्रवष्टि हो गया, और तादात्म्यसम्बन्ध हुआ; इसलिए आत्मा की अवस्था अलग नहीं रही, तथा आत्मा रूपी हो गया—जड़ हो गया।

जो यह मानता है कि शरीर को सुन्दर या पुष्ट बनाना आत्मा के वश की बात है, वह सर्वथा मिथ्या है। रजकण सदा बने रहते हैं, इसलिए उनमें विविध प्रकार की अवस्था होती है। शरीर की गति देखकर अज्ञानी को भ्रम होता है कि मैं गति कर रहा हूँ, किन्तु गति करना रजकण का स्वभाव हैै, आत्मा की अरूपी अवस्था तो उस समय भी अलग ही है। आत्मा में जो अवस्था होती है, उसका ज्ञान करता है, अथवा अभिमान करता है कि मैं पर की अवस्था को कर सकता हूँ, किन्तु आत्मा जड़ की अवस्था को तीन काल और तीन लोक में नहीं कर सकता।

देव-शास्त्र-गुरु शरीर और आत्मा को भिन्न बताते हैं। जो ऐसे स्वरूप को नहीं

जानता वह देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थतया नहीं जानता। देव-गुरु आत्मा है, देव-गुरु का शरीर और वाणी उनका आत्मा नहीं है, इसलिए जिसने देव-गुरु के आत्मा को शरीर और वाणी से भिन्न नहीं माना उसने देव-गुरु को ही यथार्थतया नहीं जाना। जो यह मानता है कि शरीर की अवस्था को आत्मा करता है, वह प्रकारान्तर से यह मानता है कि अनन्त रजकणों को मैं करता हूँ, और अनन्त रजकण मेरे हैं। न तो देव-गुरु किसी रजकण के कर्ता हैं और न अज्ञानी आत्मा ही-ऐसा देव-गुरु-शास्त्रों का कथन है। जो इसे नहीं मानता वह देव-शास्त्र-गुरु को ही नहीं मानता। देव-शास्त्र-गुरु ने बताया है कि शरीर और आत्मा की अवस्था अलग-अलग है, यदि इसे माने तो देव-शास्त्र-गुरु को माना कहलायेगा।

जिसका अभिप्राय यह है कि संसार अवस्था में जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, उसके मत में संसार अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपीपने को प्राप्त होता है, और रूपीपना तो किसी द्रव्य का, शेष द्रव्यों से असाधारण लक्षण है; इसलिए रूपीपने (लक्षण) से लक्षित जो भी हो सो जीव है! किन्तु रूपीपने से लक्षित तो पुद्गल द्रव्य ही है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा जीव नहीं है, यह सिद्ध हुआ। और ऐसा होने से यह कहलायेगा कि मोक्ष अवस्था में भी पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। इसलिए यह भाव सत्य नहीं है।

संसार अवस्था में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि जीव के हों तो जीव रूपी कहलायेगा; क्योंकि वर्णादिक रूपी हैं, और रूपीपना पुद्गल द्रव्य का असाधारण लक्षण है, इसलिए जीव भी पुद्गल सिद्ध हुआ क्योंकि दोनों का लक्षण एक ही है, और दोनों का लक्षण एक होने से लक्ष्य भी एक ही सिद्ध होगा। इस प्रकार पुद्गल ही जीव सिद्ध हुआ इसलिए जीव पदार्थ ही नहीं रहा। और वर्णादियुक्त जीव ही मुक्त हुआ क्योंकि जीव और पुद्गल दोनों में लक्षणभेद न होने से पुद्गल ही मुक्ति को प्राप्त होता है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव पदार्थ के अस्तित्व का अभाव सिद्ध होता है।

शरीर, मन, वाणी और आत्मा त्रिकाल में प्रतिक्षण भिन्न हैं। शरीर और आत्मा में मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह जाननेयोग्य है। गुरुदेव कहते हैं कि रूपित्व तो जड़ का

लक्षण है, इसलिए वह तेरे आत्मा का लक्षण नहीं है। अजीव में जीव और जीव में अजीव नहीं है, यह नास्ति स्वभाव की अपेक्षा से कथन है, और अस्ति की अपेक्षा से सबके स्वचतुष्टय सबमें हैं। परमाणु और आत्मा के स्वचतुष्टय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सब सबके अपने-अपने कारण से हैं; आत्मा की अवस्था जड़ के आधीन नहीं है, और जड़ की आत्मा के आधीन नहीं है। यदि शरीर, वाणी और मन आत्मा के रखे रहते हों तो जड़ की अवस्था तेरे अधीन हुई कहलायी, तब फिर पृथक्त्व की अवस्था कहाँ से होगी ? और मुक्तदशा कहाँ से होगी ? मुक्त का अर्थ आत्मा से अलग होना नहीं किन्तु पर से अलग होना है, विकारादि से अलग होना है। पृथक्त्व की श्रद्धा और ज्ञान के बिना मुक्तावस्था प्रगट नहीं होगी। जो यहाँ संसार में जड़ की अवस्था को अपनी मानता है, उसके हिसाब से तो मोक्ष में भी वह अवस्था साथ ही जाएगी; क्योंकि जो अपना होता है वह त्रिकाल अपने साथ ही रहता है। इसलिए यदि यहाँ संसार में भी शरीर, मन और वाणी की अवस्था को अपने कारण से होना माने तो मोक्ष में भी पुद्गल द्रव्य स्वयं जीव सिद्ध होता है, किन्तु ऐसा नहीं है। संसार में हो या मोक्ष में, किन्तु मेरी अवस्था मेरे आधीन और जड़ की अवस्था जड़ के आधीन है—ऐसा माने बिना मोक्षदशा का सच्चा उपाय है ही नहीं।

यदि तुझमें और जड़ में एकमेकता हो तो तू रूपी हुआ; और इस हिसाब से मोक्ष में रहनेवाला जीव भी जड़ हुआ, क्योंकि सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित द्रव्य समस्त अवस्थाओं में हानि अथवा ह्रास को प्राप्त नहीं होता इसलिए अनादि-अनन्त है। ऐसा होने से उसके मत में भी पुद्गलों से भिन्न कोई जीवद्रव्य न होने से जीव का अभाव अवश्यम्भावी है।

स्वलक्षण से लक्षित द्रव्य सम्पूर्ण अवस्थाओं से स्वयं अनादि-अनन्त होता है। अवस्था में भी हानि या ह्रास को न प्राप्त होता हुआ पर्यायों से भी अखण्ड है, इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्पष्ट बात लिखी है। इस प्रकार द्रव्य समस्त अवस्थाओं में अनादि-अनन्त-अखण्ड होने से अज्ञानी के मत में पुद्गल द्रव्य ही जीव सिद्ध होता है।

जो वस्तु तुझसे भिन्न हो जाती है वह त्रिकाल में भी तेरे साथ एकमेक नहीं है। कोई यह कहता है कि कानों से सुनने और आँखों से देखने से भी तो ज्ञान होता है ? यदि कान न हों तो कैसे सुनेंगे ? यदि आँखें न हों तो भगवान के दर्शन कहाँ से होंगे, और शरीर अच्छा

न हो तो तीर्थयात्रा कैसे होगी ? आचार्यदेव कहते हैं कि हे मूढ़मति ! तेरा चैतन्यस्वरूप तेरे आधीन है या जड़ के ? जब तेरी तैयारी होती है, तब कान, आँख और शरीर निमित्त कहलाता है। किन्तु तेरी तैयारी न होने से अनन्त बार सैनीपना, मनुष्यभव प्राप्त करके और साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवसरण में जाकर भी चैतन्य की प्रतीति के बिना कोई लाभ नहीं हुआ, इन शरीर, आँख, कान इत्यादि के साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु तूने मान रखा है कि यह तेरे हैं, इसलिए चौरासी के भवों में भ्रमण करना पड़ रहा है। शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप से भिन्न निर्विकल्प-निर्विकारस्वरूप आत्मा भिन्न है। आत्मा का किसी भी अवस्था का कोई भाग आत्मा के अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी इत्यादि में किसी भी प्रकार से प्रविष्ट नहीं होता और जड़ की कोई भी अवस्था आत्मा में प्रविष्ट नहीं होती। इसलिए जो आत्मा में प्रविष्ट नहीं होता वह आत्मा को लाभ कैसे पहुँचा सकता है ?

कोई कहता है कि मोक्ष में भले ही जड़ और आत्मा भिन्न हों, किन्तु यहाँ संसार में तो दोनों एक ही दिखायी देते हैं ! उससे आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! जो यहाँ एक है वह कभी भी अलग नहीं हो सकता। अजीव द्रव्य, उसके गुण और उसकी पर्याय तीनों आत्मा के अधीन नहीं है, यदि वे अधीन हों तो कभी भी अलग नहीं हो सकते। मूर्तित्व तो जड़ का लक्षण है, जड़ का स्वरूप है, वह भगवान आत्मा का स्वरूप नहीं है।

वर्णादिक २९ कथनों में जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पर्याय है, वह आत्मा के साथ वर्तमान पर्याय पर्यन्त व्याप्त सम्बन्ध है, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष्य देने से राग होता है, इसलिए इस अपेक्षा से वह पुद्गल का लक्षण है। आत्मा का त्रिकाल शुद्ध लक्षण है, जो कि उस पर्याय जितना नहीं है। आत्मा का त्रिकाल उसमें व्याप्त नहीं है, इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादि भाव जीव नहीं हैं ॥६४॥

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादर-पज्जत्तिदरा पयडीओ णाम-कम्मस्स ।।६५।।
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करण-भूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गल-मइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ।।६६।।

अर्थः—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव तथा

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त—यह सब नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। इन प्रकृतियों से जो कि पुद्गलमय प्रसिद्ध हैं—इनके द्वारा करणस्वरूप होकर रचित जो जीवस्थान अर्थात् जीवसमास हैं, वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं ?

अब यहाँ यह कहते हैं कि शरीर में जो एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और पर्याप्त-अपर्याप्त की जो रचना होती है, वह नामकर्म की प्रकृति की रचना है—आत्मा की नहीं। जो यह कहता है कि यह सब रचना मेरे द्वारा होती है, यह उसका अज्ञान है। अज्ञानी मानता है कि इन्द्रियों से मुझे लाभ होता है, किन्तु भगवान ने तो इन्द्रियों को नामकर्म की प्रकृतियों का फल कहा है, और वे पुद्गलमय हैं क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अनन्त रजकणों का पिण्ड है, इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय पुद्गलमय है। पुद्गल से त्रिकाल में भी आत्मा को लाभ नहीं हो सकता। भीतर जो ज्ञाता आत्मा है, वह अपने ही द्वारा जानता है, किन्तु विकास कम होने से (अल्प क्षयोपशम के कारण) बीच में इन्द्रियों का निमित्त आ जाता है। वैसे शरीर और इन्द्रियाँ आत्मा को अथवा आत्मा शरीर, इन्द्रियों को कोई हानि-लाभ नहीं कर सकता ऐसा वस्तु का स्वभाव है, और वस्तुस्वभावानुसार श्रद्धा करना सर्व प्रथम धर्म है।

यदि कोई कहे कि हम तो अभी मात्र सुनते ही जाते हैं, और फिर बाद में समझ लेंगे। तो उससे आचार्य कहते हैं कि भाई! सुनने का सुयोग पूर्वकृत पुण्य के कारण मिलता है, किन्तु श्रवण करते हुए वस्तुस्वभाव का निर्णय करे तो उससे धर्म होता है। केवल सुननेमात्र से धर्म नहीं होता, किन्तु उस ओर ध्यान रखने से संसार के अशुभ राग दूर हो जाते हैं और शुभ राग उत्पन्न होता है। इन्द्रियों और सुनने की ओर के राग से रहित निर्दोष, निरागस्वभाव ज्ञायकमूर्ति आत्मा हूँ, इस प्रकार स्वभाव के सन्मुख लक्ष्य रखकर निर्णय करे तो धर्म हो। इसके अतिरिक्त जो यह मानता है कि कान मिले और श्रवण किया इसलिए धर्म हो गया तो वह मूढ़ है, अज्ञानी है; उसे स्वाश्रयतत्त्व की खबर नहीं है तब तक धर्म नहीं होता।

निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिसके द्वारा किया जाता है (होता है) वह वही है। वास्तविक दृष्टि से तो कारण और कार्य एकरूप ही होता है। कर्म अर्थात् कार्य, कार्य अर्थात् अवस्था और करण अर्थात् कारण, साधन या उपाय, जो कि

एकरूप ही होता है, यह समझकर (निश्चय करके) जैसे सोने का पत्र सोने से ही बनता है, इसलिए वह सोना ही है, अन्य कुछ नहीं, इसी प्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, ऐकन्द्रियादिक, पर्याप्त और अपर्याप्त नामक पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा होने से पुद्गल ही हैं—जीव नहीं।

इन्द्रियों के मिलने का कारण जड़ है, इसलिए इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। नामकर्म के कारण इन्द्रियाँ होती हैं, इसलिए कारण के जड़ होने से कार्य भी जड़ है। और वैसे भी इन्द्रियाँ रजकणों का पिण्ड हैं इसलिए जड़ हैं और वे जड़ ही दिखायी देती हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि आँखें फोड़ डाली जाएँ तो न रूप दिखायी दे और न तत्सम्बन्धी राग हो, तथा यदि कानों में खीले ठोक दिये जाएँ तो न शब्द सुनाई दें और न तत्सम्बन्धी राग-द्वेष हो। किन्तु भाई! राग-द्वेष तो तेरे अपने विपरीत पुरुषार्थ से होता है, जड़ के कारण नहीं; जड़ कोई हानि-लाभ नहीं करता। जड़ के फोड़ने से क्या होनेवाला है? वास्तव में तो सम्यक्रूप से आन्तरिक चैतन्य की पर्याय बदलनी चाहिए।

इन्द्रियाँ कर्म के कारण बनी हैं, इसलिए जड़ हैं। नामकर्म की प्रकृति का फल द्रव्येन्द्रिय है और ज्ञान का विकास सो भावेन्द्रिय हैं। ज्ञान का विकास चैतन्य की पर्याय है, किन्तु उसके अल्प विकास में कर्मों के ओर की अपेक्षा होती है, इसलिए उन सबको जड़ कहा है। एक ओर जड़ का भाग और दूसरी ओर चैतन्य का भाग करके दोनों भाग अलग कर दिये हैं।

देव और गुरु अतीन्द्रिय हैं। उनका जो स्वरूप है, उन्हें जो वैसा नहीं मानता उसे धर्म की खबर ही नहीं है।

वस्तु का स्वरूप जैसा है उसी प्रकार प्रतीति किये बिना देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करना कैसे कहा जा सकता है? इसे समझने का मार्ग ही न्यारा है। आत्मा क्या है इसे जाने बिना धर्म नहीं होता।

जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है, इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियादिक जड़ हैं। और नामकर्म की प्रकृतियों की पौद्गलिकता तो आगमसिद्ध है, तथा अनुमान से भी जाना जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले शरीरादि के आकार जो मूर्तिकभाव हैं वे कर्मप्रकृतियों के कार्य हैं, इसलिए कर्म-प्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं, ऐसा अनुमान किया जा

सकता है। इन्द्रियाँ जड़ हैं यह आगम, युक्ति और अनुमान से सिद्ध किया गया है।

पर्याप्ति भी जड़ है। पर्याप्ति में आहार, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास इत्यादि का समावेश है। वे सब कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुई वस्तुएँ हैं। कर्मों के निमित्त से उत्पन्न वस्तुओं से तीन काल और तीन लोक में धर्म नहीं हो सकता। यदि शरीर और इन्द्रियाँ तेरी सहायता करें तो वे तुझरूप हो गयीं, तुझसे अलग नहीं रहीं। सभी को धर्म करना है, किन्तु वह कैसे होता है इसकी खबर नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा शरीर और इन्द्रियवाला है, इस विपरीत मान्यता को बदलकर मैं इन्द्रियरहित स्वत: स्वभावी तत्त्व हूँ, ऐसी स्वाश्रयी-सीधी मान्यता कर तो धर्मलाभ होगा।

जैसे सोने का पत्र सुवर्णमय ही है, इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, मन और वाणी इत्यादि नामकर्म की प्रकृति का फल है, इसलिए जड़स्वरूप ही है। और नामकर्म की प्रकृति जड़ है, यह आगम सिद्ध है। अनुमान से भी यह जाना जा सकता है कि यह इन्द्रियाँ जड़ हैं, इसलिए जड़ का कारण जड़ ही होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि इन्द्रियाँ इत्यादि जड़ ही हैं, इसलिए मैं चैतन्य आत्मा जड़ इन्द्रियों से भिन्न हूँ—ऐसा मान और श्रद्धा कर।

कोई कहता है कि शास्त्रों में यह बात लिखी हुई है कि यदि प्रथम संहनन हो तो केवलज्ञान होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि शास्त्रों में यह नहीं कहा कि हड्डियों की क्रिया तेरे द्वारा होती है, अथवा हड्डियों की अवस्था तेरे द्वारा उत्पन्न की गयी वस्तु है। हाँ; जब केवलज्ञान होता है, तब प्रथम संहनन विद्यमान होता है, ऐसा सम्बन्ध है किन्तु उन हड्डियों के कारण केवलज्ञान होता है ऐसा कहीं-किसी शास्त्र में नहीं कहा। शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। भिन्न द्रव्यों की भिन्न श्रद्धा करके स्वपदार्थ में स्थिर होने से धर्म होता है।

आत्मा ज्ञानादिक अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह अजीवस्वरूप नहीं है। अजीव-पुद्गल में वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श होता है; संहनन, शरीर, इन्द्रिय इत्यादि जड़ की अवस्था है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। परवस्तु आत्मा में और आत्मा परवस्तु में नहीं है, इस प्रकार अनादि-अनन्त दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं—निराली हैं।

शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय और शुभाशुभभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानादिक अनन्त गुणों की मूर्ति हूँ। अन्तर्मुख-दृष्टि और अन्तर्मुख ज्ञान आत्मा की निर्मल पर्याय के विकास होने

का कारण है। शरीर इन्द्रियादि जो जड़ वस्तु हैं, उस पर दृष्टि रखने से वे विकास का कारण कैसे हो सकती हैं।

लाखों बार गुरु का उपदेश सुने किन्तु वह मात्र इन्द्रियों से सुने तथा अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा निर्णय न करे तो श्रवण से जो धर्म लाभ उत्पन्न करना चाहिए, वह नहीं होता। समवसरण में जाकर भी इन्द्रियों से उपदेश सुना किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा स्वरूप का निर्णय नहीं किया इसलिए भवभ्रमण ज्यों का त्यों बना रहा। आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय आत्मा का निर्णय अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा हो सकता है। इन्द्रियाँ कोई लाभ या हानि नहीं कर सकतीं; क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं, आगम भी इन्द्रियों को जड़ कहता है, अनुमान से भी इन्द्रियाँ जड़ प्रतीत होती हैं। मैं न तो इन्द्रियरूप हूँ, और न इन्द्रियों की ओर का राग भी मैं हूँ, मैं तो अतीन्द्रिय-स्वरूप आत्मा हूँ। यह निर्णय मुक्ति का मार्ग है। देव-शास्त्र-गुरु के दर्शन तथा सत्-श्रवण में इन्द्रियाँ बीच में होती हैं, किन्तु यदि अतीन्द्रिय स्वरूप का निर्णय करे तो उसे निमित्त कहते हैं।

इसी प्रकार वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों से रचित हैं, इसलिए पुद्गल से अभिन्न हैं। वे जड़ के साथ एकमेक हैं, आत्मा के साथ नहीं। यहाँ जीवस्थान के कहने से वर्णादिक सभी कथन ले लेना चाहिए।

यहाँ इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित् तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिम्।।३८।।

अर्थः—जिस वस्तु से जो भाव बने वह भाव वह वस्तु ही है, किसी भी प्रकार से अन्य वस्तु नहीं है। जैसे लोग जगत में सोने से बनी हुई म्यान को सोना ही देखते हैं, किसी प्रकार से उसे तलवार नहीं देखते

शरीर, संहनन इन्द्रिय आदि जड़ से बने हैं, इसलिए जड़ ही हैं, वे किसी भी प्रकार से आत्मा नहीं हो सकते। शरीर, इन्द्रिय इत्यादि म्यान हैं तलवार नहीं। भगवान आत्मा शरीर और इन्द्रियादि से रहित है, उसका इन्द्रियादि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्नः—शरीर और इन्द्रियादिक साधन तो हैं, न ?

उत्तरः—आत्मा का साधन आत्मा से होता है—शरीर इन्द्रियादि से तीन लोक और तीन काल में भी नहीं हो सकता।

पीतल के घड़े को पानी का घड़ा कहना, उपचार से-व्यवहार से कथन है, उसमें पानी है इसलिए वह पानी का घड़ा कहलाता है, वैसे वास्तव में तो वह पीतल का ही है पानी का नहीं। इसी प्रकार आत्मा को शरीरवाला या इन्द्रियवाला कहना सो उपचार से-व्यवहार से कथन है। शरीर और इन्द्रियाँ एकक्षेत्रावगाह रूप से साथ में रहती हैं, इसलिए आत्मा शरीरवाला और इन्द्रियवाला कह दिया जाता है, वास्तव में तो आत्मा इन्द्रियादि से रहित ज्ञानादि अनन्त गुणों से युक्त हैं।

जिसने आत्मा को शरीर और इन्द्रियादिवाला ही देखा और जाना है, तथा जिसने अभी तक आत्मा को शरीर इन्द्रियादि से रहित नहीं जान पाया उसे श्रीगुरु समझाते हैं कि यह जो शरीरादि दिखायी देता है, सो आत्मा नहीं, किन्तु वह तो शरीरादि से भिन्न ज्ञानादिगुण स्वरूप है। पुद्गल, पुद्गल स्वरूप से है, वह त्रिकाल में भी आत्मारूप से नहीं हो सकता, तथा आत्मा, आत्मा स्वरूप से है, वह कभी भी पुद्गल स्वरूप नहीं हो सकता। पुद्गल के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मास्वरूप और आत्मा के पुद्गलस्वरूप नहीं हैं, किन्तु दोनों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग ही हैं।

जैसे लोग सोने से बनी म्यान को सोना ही देखते हैं, किसी भी प्रकार से तलवार नहीं देखते, उसी प्रकार शरीर इन्द्रियादिक पुद्गलरचित हैं, इसलिए ज्ञानीजन उन्हें पुद्गलमय ही देखते हैं, किसी भी प्रकार उन्हें आत्मा नहीं देखते। मात्र शरीर और आत्मा एक क्षेत्र में साथ में रहते हैं, यह व्यवहार से कहा है। किन्तु अज्ञानी जीवों ने व्यवहार को ही परमार्थ मान लिया।

यह शरीर इन्द्रियादि की रचना जड़ की है—आत्मा की नहीं। यह आत्मा की जाति नहीं है, जो आत्मा की जाति की नहीं है वह त्रिकाल में भी आत्मा की सहायता नहीं कर सकती। कभी भी जड़ चेतन और चेतन जड़ नहीं हो सकता। स्वयं निजरूप है, वह पररूप त्रिकाल में भी नहीं है। और पर पररूप है, वह अपनेरूप त्रिकाल में भी नहीं है। जो जड़ से बना है, वह जड़ ही है, वह त्रिकाल में भी आत्मारूप नहीं हो सकता। जो जीवस्वरूप

है, वह जीवस्वरूप से ही है, और जो जीवस्वरूप नहीं है, वह त्रिकाल में भी जीवस्वरूप नहीं हो सकता। जैसे म्यान और तलवार अलग-अलग हैं उसी प्रकार म्यानरूपी शरीर और तलवाररूपी आत्मा दोनों ही भिन्न हैं। शरीर की प्रवृत्ति त्रिकाल में भी तेरे हाथ में नहीं है, इसलिए तू अन्तर्मुख होकर देख।

अब, यहाँ दूसरा कलश कहते हैं:—

(उपजाति)

वर्णादि-सामग्र्य-मिदं विदन्तु निर्माण-मेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।।३९।।

अर्थः—हे ज्ञानीजनो! यह जो वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव हैं, उन सबको एक पुद्गल की रचना जानो। इसलिए यह भाव पुद्गल ही हैं, आत्मा नहीं; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है, इसलिए वह वर्णादिक भावों से अन्य ही है।

हे ज्ञानीजनों! इस शरीर के वर्णादि भावों को तथा गुणस्थानादि भावों को पुद्गल की रचना जानो। चिदानन्द भगवान आत्मा त्रिकाल में भी उसरूप नहीं है। वे सब भाव पुद्गल ही हैं, आत्मा तो विज्ञानघन-निविड़ पिण्ड है। विज्ञानघन आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि त्रिकाल में भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। क्या आत्मा में जड़ का गुण या जड़ की पर्याय प्रवेश पा सकती है? क्या घन वस्तु में कील घुस सकती है? नहीं, कदापि नहीं।

यहाँ सभी २९ प्रकार ले लिये गये हैं। मैं क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी हूँ, ऐसे विचार तथा पाँचों ज्ञान की पर्याय के भेद के विचार सब रागमिश्रित विचार हैं, वह राग जड़कर्म के निमित्त से होनेवाला विकार है, आत्मा उससे भिन्न है। जड़ वस्तु या उसके निमित्त से होनेवाला विकार अथवा जड़ का संयोग इत्यादि सब जड़ है। यह सबसे पहली इकाई है। आत्मा पर से भिन्न है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान कर, और उसमें स्थिर हो; तथा अन्तर्मुख होकर बहिर्मुखता को छोड़! अन्तर्मुख की प्रतीति कर!

संयोगी का अवलम्बन लूँ तो गुण प्रगट हो, या शरीर, वाणी, मन इत्यादि का अवलम्बन लूँ तो गुण प्रगट हो—ऐसी मान्यता सर्वथा अज्ञान है। क्या आत्मा ऐसी निर्माल्य वस्तु है, कि उसमें दूसरे से गुण आते हैं? आत्मा में अनन्त गुण भरे हुए हैं, यह प्रतीति कर। जबकि आत्मा में अनन्त गुण हैं तभी तो उसमें से प्रगट होंगे। गुण प्रगट नहीं होते किन्तु

पर्याय प्रगट होती है। मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों गुण की पर्याय हैं, संसार भी पर्याय है गुण नहीं। आत्मा की विकारी अवस्था संसार है, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिक नहीं। राग-द्वेष और परवस्तु मेरी है, इस प्रकार विपरीत मान्यतारूप संसार आत्मा की अवस्था में होता है संसार चौदहवें गुणस्थान तक होता है। पहले गुणस्थान में मिथ्यात्वभाव का, चौथे से दसवें तक कषायभाव का और ग्यारहवें से तेरहवें तक योग के कम्पन का संसार है, तथा चौदहवें गुणस्थान में जो रहते हैं वह संसार है। इस प्रकार चौदहवें गुणस्थान तक आत्मा के चार प्रतिजीवी गुणों की और ऊर्ध्वगमनादि स्वभावों की अशुद्ध अवस्था होने के कारण संसार है।

द्रव्य और गुण अनादि-अनन्त हैं। पर्याय के दो पहलू होते हैं, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, संसार और मोक्ष इत्यादि। आत्मा की निर्मल पर्यायें—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा के गुणों से प्रगट होती हैं; वे हाथ, कान, मन या विकार से प्रगट नहीं होता; जब तक ऐसी स्वरूप की प्रतीति नहीं होती तब तक सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र नहीं होता। स्वरूप की प्रतीति के बिना मोक्ष प्रगट नहीं हो सकता। एक समय में अनन्त गुणों के रसकन्द अभेद आत्मा में भंग-भेद नहीं होते; ऐसे अखण्ड द्रव्य की यथार्थ प्रतीति है जो अनन्त काल में कभी भी प्रगट नहीं की थी; यह कल्याण का अपूर्व मार्ग है। जैसे म्यान और तलवार दोनों भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और शुभाशुभ विकार दोनों भिन्न हैं। आत्मा का धर्म आत्मा से प्रगट होता है। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। धर्म कहीं बाहर से नहीं आता। जो जिसमें नहीं है, वह हो नहीं सकता, और जो है वह जा नहीं सकता, इसलिए आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसमें से उसकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है, पर में से नहीं।

कोई कहता है कि ऐसे वस्तुस्वभाव की खबर न हो, किन्तु भगवान का स्मरण किया करें या 'णमो अरिहंताणं' की जाप जपा करें तो लाभ होगा या नहीं?

उत्तरः—विभावपर्याय क्या है, और उसका नाश किस स्वभाव से होता है, यह जाने बिना अरिहन्त को नमस्कार होता है या नहीं? यह समझ लेना चाहिए। जहाँ से गुणों का विकास करना है, वे गुण कैसे हैं और कहाँ हैं? यह खबर नहीं है, उसके आश्रय की खबर नहीं है, और कहता है कि हम भगवान का स्मरण करें तो लाभ होगा? किन्तु णमो अरिहन्ताणं में किसको कौन हननेवाला है? वह स्वयं हननेवाला किस स्वभाव का है?

इत्यादि को जाने बिना किसे नमस्कार करेगा? और किसका स्मरण करेगा? राग-द्वेष पर्याय में होता है, स्वभाव में राग-द्वेष की नास्ति है, और अपना स्वभाव जो ज्ञान-दर्शन और चारित्र है, उसकी अपने में अस्ति है। वह अस्ति-नास्तिभाव अरिहन्त भगवान के आत्मा में है, और तुझमें भी है। अरिहन्त भगवान ने राग-द्वेष का नाश किया है, और अपने में जो ज्ञानादि गुण थे उन्हें प्रगट किया है। तुझमें भी वैसा स्वभाव विद्यमान है। ऐसे अस्ति-नास्ति स्वभाव की तुझे खबर नहीं है, इसलिए यथार्थतया भगवान का स्मरण नहीं हो सकता। अशुभ परिणाम को दूर करने के लिये शुभ परिणाम से भगवान की स्तुति भले हो, किन्तु यथार्थ स्वरूप की प्रतीति के बिना भव का अभाव नहीं होता। स्वभाव की प्रतीति होने पर राग-द्वेष का अभाव सहज ही हो जाता है।

शरीर या विकारभाव तेरी वस्तु नहीं है, इसलिए अब अपने चैतन्य के आँगन में आ खड़ा हो। यह शरीरादिक जो निकट है, वे तुझे हानि-लाभ नहीं कर सकते, तो फिर जो दूर हैं वे कैसे कर सकते हैं? जो तुझमें नहीं है, वह तुझे हानि-लाभ कैसे कर सकता है? जो हानि या लाभ होता है, वह तुझसे ही होता है। इसलिए अब तुझे अपने ही आँगन में खड़े रहकर जो जैसा अच्छा या बुरा करना हो वह सब तेरे ही हाथ की बात है।

अब यहाँ कहते हैं कि—इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन इत्यादि हैं उन्हें जीव का कहना सो सब व्यवहारमात्र है॥६६॥

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीव-सण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता॥६७॥

अर्थः—पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर आदि जितनी देह को जीव संज्ञा कही है, वह सब सूत्र में व्यवहार से कही है।

जीव पर्याप्तिवाला है, अपर्याप्तिवाला है, सूक्ष्म है, बादर है, मनवाला है, शरीरवाला है—इत्यादि कहना सो व्यवहार है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अज्ञानी ने मन, वाणी और इन्द्रियादि से रहित आत्मा को नहीं जाना अतः ऐसा कहा जाता है कि जो इन्द्रियवान है सो तू है, जो पर्याप्तिवान है सो तू है इत्यादि। क्योंकि निमित्त साथ में है, इसलिए निमित्त से समझाते हैं, कि वह इन्द्रियाँ और पर्याप्ति तू नहीं है, और यह कहकर यथार्थ स्वरूप का ग्रहण कराते हैं। सूक्ष्म, बादर,

एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय इत्यादि शरीर की संज्ञा को जीव की संज्ञा का नाम दिया गया है, वह पर की प्रसिद्धि के लिये घी के घड़े की भाँति व्यवहार है, जो कि अप्रयोजनभूत है, क्योंकि निमित्त के निकट से कहते हैं कि—तू शरीरवाला है, तू इन्द्रियवाला है, इत्यादि और ऐसा कहकर कहीं शरीरवाला नहीं समझना है, इसलिए व्यवहार अप्रयोजनभूत है। शरीर है इतना बतानेमात्र के लिये व्यवहार का प्रयोजन है, किन्तु शरीर है यह कहकर आत्मा को शरीरवाला नहीं बतलाना है, इसलिए व्यवहार अप्रयोजनभूत है।

जैसे किसी पुरुष ने जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही देखा हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो, उसे समझाने के लिये जो यह घी का घड़ा है सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं। इस प्रकार समझानेवाले के द्वारा घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुष को घी का घड़ा ही ज्ञात है।

घी का घड़ा ही ज्ञात है, यह कहकर आचार्यदेव ने यह बताया है कि—इसकी दृष्टि घी के घड़े पर ही है; इसी प्रकार अनादि संसार से लेकर अज्ञानी अशुद्ध जीव को ही जानता है। तात्पर्य यह है कि उसकी दृष्टि अशुद्ध पर ही है, उसका लक्ष्य बाह्य पर ही है, इसलिए अनादिकाल से अज्ञानी अशुद्ध जीव को ही जानता है।

जो घी से खाली अन्य घड़े को नहीं जानता उसे समझाने के लिये यह घी का घड़ा है, सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं—ऐसा कहा जाता है। मात्र व्यवहार का इतना प्रयोजन है। समझानेवाला घी के घड़े का आरोप करके घी का कहता है, क्योंकि अज्ञानी को तो घी का घड़ा ही ज्ञात है, इसी प्रकार अज्ञानीजन को अनादि संसार से लेकर अशुद्ध जीव ही ज्ञात है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता। उसे समझाने के लिये (शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिये) कि जो यह वर्णादिमान जीव है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं; इस प्रकार (सूत्र में) जीव में वर्णादिमानपने को व्यवहार किया गया है, क्योंकि अज्ञानीजन वर्णादिमान जीव को ही जानते हैं।

यह व्यवहार अनादिकालीन अज्ञानी लोगों को समझाने के लिये कहा गया है। जिसने यह नहीं जाना कि स्वतन्त्र वस्तु क्या है, उसे निमित्त से समझाते हैं।

अनादि काल से लेकर अभी तक पर पदार्थ पर ही दृष्टि रही है, इसलिए तुझे यह कहकर समझाते हैं कि तू देव है, तू मनुष्य है इत्यादि; तब कहीं जैसे-तैसे समझ पाता है, किन्तु वास्तव में भीतर जागृत चैतन्य विद्यमान है, जो कि पर से भिन्न है, शरीर और

इन्द्रियादि से पर है। उसे शरीर इन्द्रियादि से पहिचानना सो व्यवहार है।

अज्ञानी को पर से पृथक्त्व की प्रतीति नहीं है, इसलिए वह यही मान रहा है कि जो राग-द्वेष है सो वही मैं हूँ, या अवस्था जितना ही मैं हूँ, उससे ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा अखण्ड शुद्ध स्वभाव से परिपूर्ण है। मुझे राग-द्वेष का त्याग करना है—ऐसा जो भाव तेरे भीतर से उत्पन्न होता है, उससे सिद्ध है कि भीतर अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड नित्य आत्मा विद्यमान है, जिसके बल से यह विचार होता है कि अब राग-द्वेष मुझे नहीं चाहिए, किन्तु तुझे खबर नहीं है, इसलिए तू अशुद्ध पर्याय को ही जीव मान रहा है। इस प्रकार अज्ञानी को खबर नहीं है, इसलिए उसे व्यवहार से समझाते हैं।

आत्मा में जो अवगुण होते हैं, वे एक समयमात्र के होते हैं। और वे आत्मा की पर्याय में होते हैं। आत्मा कहीं अलग रह जाता हो और पर्याय कहीं अलग रह जाती हो सो बात नहीं है। अशुद्ध पर्याय आत्मा से अभिन्न है, परन्तु शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखा जाए तो वह भिन्न है। जो वस्तुस्वभाव को नहीं समझता उससे कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेषवाला है, शरीर, रूप, रंग, संस्थानवाला है, इस प्रकार तू मान रहा है, किन्तु ऐसा नहीं है, वह तो ज्ञानमय है; इस प्रकार उसमें अस्ति-नास्ति दोनों स्वरूप आ जाते हैं। आत्मा ज्ञानमय है, ऐसा कहने में अभेददृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों एक साथ आ जाते हैं।

वास्तविक दृष्टि से त्रैकालिक जीव वस्तु में अज्ञान और राग-द्वेष हैं ही नहीं। अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड आत्मा पर से भिन्न है, ऐसी प्रतीति मोक्ष का सर्व प्रथम उपाय है। जब ऐसी प्रतीति होती है, तब जीव अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व से छूट जाता है। और जहाँ अगृहीत मिथ्यात्व छूटा कि वहाँ गृहीत मिथ्यात्व तो छूट ही जाता है। मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति छूट जाने पर गृहीत मिथ्यात्व छूट जाता है। जहाँ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति होती है, वहीं यथार्थ सम्यग्दर्शन होता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति हो किन्तु यदि स्वयं यथार्थ निर्णय न करे तो आत्मा की पहिचान नहीं होती परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति होती ही है।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि शरीर और इन्द्रियादि की सहायता के बिना मैं टिक नहीं सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं पर के आधार बिना नहीं रह सकता। ऐसी मान्यता ही संसार है। आत्मा तो पर से निराला ज्ञानमय है, अज्ञानी को इसकी खबर नहीं

है। वह विपरीत मान्यता में लगा हुआ है, उसी में विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण भी समाविष्ट है, और यथार्थ मान्यता के होने पर उसी में सच्चा ज्ञान और सच्ची स्वरूपस्थिरता भी आ जाती है।

आत्मा रागवाला, शरीरवाला है, इत्यादि व्यवहार-कथन है, और आत्मा रागरूप तथा शरीररूप नहीं है, किन्तु ज्ञानरूप है, यह निश्चय-कथन है। यदि ऐसे निश्चय-कथन को समझ ले तो व्यवहार, व्यवहाररूप से सच है, और यदि निश्चय के कथन को न समझे तो व्यवहार स्वयं ही निश्चयरूप हो गया। क्योंकि उसने व्यवहार से भिन्न निश्चय के स्वरूप को नहीं जाना। व्यवहार का कथन निमित्तमात्र है, क्योंकि वस्तुस्वरूप व्यवहारमय नहीं है, इतना समझ ले तो निमित्त कथन भी यथार्थ है अर्थात् व्यवहार व्यवहार से सच है, और यदि न समझे तो निश्चय तथा व्यवहार दोनों मिथ्या हैं।

यहाँ इस गाथा में व्यवहार को अप्रयोजनभूत कहा है, और बारहवीं गाथा में यह कहा था कि व्यवहार को जानना प्रयोजनवान है। इन दोनों की अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं। व्यवहार से मुझे लाभ नहीं है, इसलिए वह प्रयोजनभूत है और बारहवीं गाथा के अनुसार उस व्यवहार की अपेक्षा ऐसी है कि व्यवहार को जानना प्रयोजनवान है, क्योंकि जो होता है उसे न जाने तो ज्ञान मिथ्या कहलायेगा। इसलिए व्यवहारनय को जानना प्रयोजनवान है। इस प्रकार दोनों अपेक्षाएँ भिन्न हैं—

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं।

(अनुष्टुप्)

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ।।४०।।

अर्थः—'घी का घड़ा' कहने पर भी जो घड़ा है, वह घीमय नहीं है (मिट्टीमय ही है), इसी प्रकार 'वर्णादिवाला जीव' कहने पर भी जो जीव है, वह वर्णादिमय नहीं है, (ज्ञानमय ही है)।

जैसे घड़ा घीमय नहीं किन्तु मिट्टीमय ही है, इसी प्रकार आत्मा वर्णादिमय नहीं किन्तु ज्ञानमय है। जितना व्यवहार का कथन है, वह निश्चयस्वरूप नहीं किन्तु निमित्तमात्र के सम्बन्ध जितना है, जो इतना जानता है, उसने व्यवहार को जान लिया है। व्यवहार

निश्चय को लाभ करता है—ऐसा मानने से व्यवहार ही निश्चय हो गया, अर्थात् दोनों एक ही हो गये; इसलिए ऐसा मानना मिथ्या है। घी का घड़ा घीमय नहीं किन्तु माटीमय है, जैसे यह निश्चित हुआ उसी प्रकार यह भी निश्चय हो गया कि शरीरवान आत्मा शरीरमय नहीं किन्तु ज्ञानमय है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ निमित्त का कथन आये वहाँ यह समझना चाहिए कि उसमय नहीं है। इस प्रकार उसका अर्थ सच्चा है, और ऐसा न समझकर यदि वस्तु को निमित्तमय ही माने तो उसका अर्थ सच्चा नहीं है।

व्यवहार से जितनी बात कही है, वह व्यवहार आत्मा के अखण्डस्वरूप में नहीं है। निमित्त से समझाया जाता है किन्तु आत्मा निमित्तमय नहीं है। इस प्रकार समझनेवाला जीव यथार्थ समझ जाए तो वह निमित्त, निमित्तरूप कहलाता है। जहाँ ऐसा कथन है कि—पुस्तक से आत्मा को लाभ होता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि वास्तव में पुस्तक से लाभ नहीं होता, किन्तु जब स्वयं यथार्थ स्वरूप को समझता है तब पुस्तक को निमित्त का आरोप होता है। यदि समझे बिना मात्र व्यवहार को पकड़ेगा तो लाभ नहीं होगा। जीवों की बहिर्मुखदृष्टि हो गयी है, उनकी अन्तर्मुखदृष्टि करने का यही उपाय है।

इस जगत में जीवद्रव्य अनन्त हैं और प्रत्येक आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड ईश्वर है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से परिपूर्ण है। यह आत्मा किसी की प्रार्थना से प्रगट नहीं होता किन्तु स्वयं अपने पुरुषार्थ से अपने स्वरूप की पहिचान करके प्रतीति करे तो प्रगट होता है। कोई आत्मा किसी परपदार्थ से परतन्त्र नहीं है, किन्तु स्वयं अपने गुण-पर्याय से स्वतन्त्र है।

घी का घड़ा, आटे का घड़ा, पानी का घड़ा, और दवा की शीशी इत्यादि बोलने की व्यावहारिक रीति है, वास्तव में घी का घड़ा इत्यादि नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा को मनवाला, श्वासोच्छ्वासवाला, पर्याप्तिवाला, शरीरवाला कहना सो मात्र एकक्षेत्र में इकट्ठे रहने के कारण उस प्रकार से व्यवहार का कथन है, किन्तु वास्तव में वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, क्योंकि उन सबसे आत्मा का स्वरूप भिन्न है। जो भिन्न है वह त्रिकाल में भिन्न ही रहता है, कभी एक नहीं होता। मात्र एक ही क्षेत्र में एकत्रित रहने के सम्बन्ध से आत्मा शरीरादिवाला कहलाता है, वैसे शरीरादि पुद्गलमय और आत्मा ज्ञानमय ही है।

प्रश्नः—मतिज्ञान शुद्धता का अंश है, किन्तु जब शुद्धता का अंशरूप मतिज्ञान

प्रगट होता है तो उसमें मन का निमित्त है या नहीं ?

उत्तरः—यह सच है कि मतिज्ञान शुद्धता का अंश है, किन्तु वह शुद्ध अंश मन रहित प्रगट होता है। जब मतिज्ञान प्रगट होता है, तब मन विद्यमान होता है, किन्तु मन से मतिज्ञान प्रगट नहीं होता। पाँच इन्द्रियों और मन से मतिज्ञान होता है—ऐसा कहना मात्र निमित्त से बोलने की रीति है। शास्त्रों में व्यवहार से जो स्वरूप कहा है, वहाँ यह समझना चाहिए कि स्वभाव में वैसा नहीं है। इस प्रकार यथार्थ वस्तुस्वभाव जैसा हो, वैसा ही समझना चाहिए, व्यवहार को निश्चय मानकर मिथ्या मान्यता नहीं करनी चाहिए। जहाँ व्यवहार की अपेक्षा से कथन होता है, वहाँ यह कहा जाता है कि मतिज्ञान मन और इन्द्रियों से प्रगट होता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। मतिज्ञान ज्ञान से ही प्रगट होता है—ऐसा जानना सो उसका वास्तविक अर्थ है; क्योंकि मन और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, तब क्या जड़ और परवस्तु से अपनी ज्ञानपर्याय प्रगट हो सकती है ? कदापि नहीं। अपनी पर्याय अपने से ही प्रगट होती है।

प्रश्नः—यदि ज्ञान से ही ज्ञान होता हो, तो जब आँख फूट जाती है, तब स्वयं क्यों नहीं देख सकता ?

उत्तरः—जब भीतर क्षयोपशम का विकास कम होता है, तब बाहर उतने निमित्त भी कम होते हैं। जितना विकास का भाव स्वतः तैयार होता है। उतना निमित्त भी बाहर तैयार होता है। निमित्त, निमित्त के कारण से और विकास अपने कारण से होता है। निमित्त विकास को नहीं रोकता और विकास निमित्त को नहीं लाता, किन्तु जितना क्षयोपशम प्रगट होता है, उतना बाह्य में निमित्त का योग अपने-अपने कारण से तैयार होता है। इस प्रकार एक-दूसरे का निमित्त-नैमित्तिक स्वतन्त्र सम्बन्ध है। क्षयोपशम विकास कम होने से आँख फूटने का निमित्त आता है।

प्रश्नः—अपनी शक्ति कैसे कम हो गयी ? और विकार कैसे हुआ ?

उत्तरः—अपनी शक्ति अपने विपरीत पुरुषार्थ से कम हुई है, कर्म तो मात्र उसमें निमित्त हैं। कर्म आत्मा की शक्ति को कम नहीं कर देते, क्योंकि वे तो जड़-पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल और आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपने-अपने में अलग हैं।

विकार होने की योग्यता आत्मा में निज में है। विकार के होने में उपादानकारण

स्वयं है, और निमित्तकारण पर-कर्म है। जब स्वयं उल्टा चलता है, तब पर को निमित्त कहा जाता है। अपनी ज्ञान-दर्शनादि अनन्त शक्ति को स्वयं भूल गया इसलिए अपनी शक्ति को स्वयं हीन कर लिया तब पर को निमित्त कहा जाता है। आत्मा के गुणों को कर्मों ने आवृत कर रखा है, यह निमित्त कथन है, वास्तव में कर्मों ने गुणों को आवरण नहीं किया है। कोई द्रव्य किसी द्रव्य को नहीं रोक सकता। शास्त्रों के पृष्ठ के पृष्ठ भरे हुए हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञानगुण को रोक रखा है, किन्तु यह सब निमित्त से कथन है ऐसा समझना चाहिए। केवलज्ञानी के तेरहवें गुणस्थान में योग का विकार है, सो क्या वह कर्म के कारण है ? नहीं, ऐसा नहीं है। किन्तु अपना पारिणामिकभाव अपूर्ण है, इसलिए योग का विकार है, वह निमित्त से नहीं है; इस प्रकार यथार्थ निश्चय करना चाहिए। जड़ मिट्टी अजीव परमाणु हैं, उन्हें यह खबर नहीं है कि हम क्या हैं ? कहाँ पड़े हुए हैं ? हम जगत के तत्त्व हैं या नहीं ? और हम कैसे परिणमित होते हैं ? इत्यादि। एक-एक परमाणु में अस्तित्व-नास्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्त गुण भरे हुए हैं, तथापि उन्हें उन गुणों की कोई खबर नहीं है। मुझमें इतने गुण भरे हैं, यह जाननेवाला तो चैतन्य का ज्ञान है। तब फिर यह मानना सर्वथा भ्रान्ति है कि ऐसे अजान जड़द्रव्य आत्मा के गुणों को रोकते हैं। कोई भी परजीव, अजीवद्रव्य आत्मा में या आत्मा पर में त्रिकाल में भी नहीं है। इसमें सब सिद्धान्त आ जाते हैं, कि जो जिसमें नहीं है, वह उसे हानि या लाभ नहीं कर सकता। आत्मा, आत्मारूप से है और पररूप से नहीं है। बस, यही एकमात्र कुंजी समस्त तालों को खोल देगी।

निश्चय अर्थात् वस्तु का स्वभाव जैसा है वैसा जानना और व्यवहार अर्थात् पर में पर का आरोप करना। इसमें से निश्चय स्वाश्रित है, और व्यवहार पराश्रित है। आत्मा परिपूर्ण अखण्ड वस्तु है, वह पराश्रय से प्रगट होती है ऐसा कहना आत्मा की हत्या करने के समान है। निश्चय आत्मा का स्वभाव है, उस पर आरूढ़ होना ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार कहो या पर कहो, निश्चय कहो या स्व कहो। परभाव से स्वभाव प्रगट नहीं होता। जितना पराश्रयभाव है, उसका फल संसार है, बन्धन है, और जितना स्वाश्रयभाव है उसका फल मुक्ति है, अबन्धन है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है—ऐसे स्वभाव में आरूढ़ होना चाहिए। उसी मार्ग से सुख मिलता है, अन्य किसी मार्ग से सुख प्राप्त नहीं

होता। ऐसी श्रद्धा करने से पुण्य-पाप के भाव उसी क्षण दूर नहीं हो जाते, किन्तु पुण्य-पाप के परिणाम उच्च भूमिका में दूर होते हैं। किन्तु मात्र चैतन्यभाव ही श्रद्धा में रखना चाहिए और पुण्य-पाप के भाव का आश्रय श्रद्धा में से दूर कर देना चाहिए। सम्यग्दृष्टि होने के बाद बीच में देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, पूजा, प्रभावना इत्यादि शुभभाव होते हैं। छट्ठे गुणस्थान में मुख्यतया आत्मरमणता में प्रवर्तमान मुनि के भी जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती तब तक पंच महाव्रत आदि के शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु वे उन शुभ परिणामों से स्वयं लाभ नहीं मानते, इसलिए पुण्य के परिणाम का आश्रय छोड़ देना चाहिए। क्योंकि पर से पर मिलता है और स्व से स्व मिलता है, यह महान सूत्र है।

जीव बाह्य क्रियाओं के पीछे पड़े हुए हैं और कहते हैं कि धर्म करो, धर्म करो! किन्तु समझे बिना वे क्या धर्म करेंगे? आत्मा जब विपरीत चलता है तब राग-द्वेष और अभिमान करता है, तथा जब सीधा होता है तब विपरीत भाव को दूर करके स्वाश्रयधर्म करता है, इसके अतिरिक्त यह पर का कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रश्नः—देव-शास्त्र-गुरु से तो आत्मा समझा जाता है?

उत्तरः—आत्मा अपने को अपने से ही समझ में आता है। यदि देव-शास्त्र-गुरु समझा सकते हों तो सबको एक समान ही समझ में आना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। जिसकी जितनी तैयारी होती है तदनुसार वह समझता है। अपने को समझने में देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त होता है। स्वयं अपूर्ण है इसलिए देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता, विनय हुए बिना नहीं रहती, इसलिए देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमानपूर्वक कहता है कि प्रभो! आपने मुझे आत्मज्ञान दिया है, आपने मुझ पर अपार उपकार किया है, आपने मुझे पार लगा दिया है, इत्यादि।

आचार्यदेव ने घी के घड़े का उदाहरण देकर यह बताया है—कि यदि घी के घड़े को वास्तव में घी का घड़ा न समझकर मिट्टी का घड़ा समझे तो घी के घड़े का व्यवहार सच्चा कहलाता है। इसी प्रकार वर्णवाला, पर्याप्तिवाला जीव वास्तव में ज्ञानस्वरूप है, वर्णादिवान नहीं, यह समझ ले तो वर्णादिवान या शरीरादिवान का व्यवहार भी सच्चा कहलाता है और यदि ऐसा न समझे तो उसका व्यवहार भी सच्चा नहीं कहलाता, क्योंकि उसने पर्याप्ति से भिन्न जीव नहीं माना, किन्तु पर्याप्तिस्वरूप ही माना है, इसलिए उसकी

मान्यता में व्यवहार स्वयं निश्चय हो गया है। इसलिए निश्चय-व्यवहार के स्वरूप को जैसा का तैसा यथार्थ समझे तो वह सम्यग्ज्ञान है।

लोगों ने कभी ऐसी बात प्रीतिपूर्वक नहीं सुनी, इसलिए वे निश्चय की बात सुनकर विचक उठते हैं और कहते हैं कि निश्चय तो केवली के या सिद्धों के होता है, निश्चय की बात बहुत ऊँची है, हम तो शुभभाव करते हैं, व्यवहार करते हैं (अर्थात् आरोप या झूठी मान्यता करते हैं), और पराश्रयभाव करते हैं उसी से निश्चय आ जाएगा। अभी तो पहले प्रथम सीढ़ी ही चढ़ना चाहिए? ऐसा करते-करते आगे पहुँच जाएँगे, किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि पहली सीढ़ी कौन-सी है।—सम्यग्दर्शन होने के बाद क्रमशः स्वरूप की स्थिरता बढ़ती जाए और राग-द्वेष कम होता जाए तो वह मुक्ति की नसैनी है, यही चढ़ने का क्रम है। यहाँ तो पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन है, जिसकी बात चल रही है, यह केवली या सिद्धों की बात नहीं है, किन्तु केवली सिद्ध कैसे हुआ जाता है उसके मार्ग की यह बात है। यहाँ बात तो पहली सीढ़ी के रूप में सम्यग्दर्शन की चल रही है, और तू उसे सिद्धों की मान रहा है तो तेरी इस विपरीत मान्यता को कौन बदल सकता है? यदि तू उसे स्वयं समझे तो बदल सकता है, अन्यथा तीर्थंकर भी उसे बदलने के लिये समर्थ नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन होने के बाद देव, शास्त्र, गुरु की विनय हो तो करेगा? क्या अविनय, लम्पटता या अनीति कर सकता है? नहीं, ऐसा आचरण तो लौकिक नीतिवाले भी नहीं करते, तब फिर सम्यक्त्वी जीव तो वीतराग का भक्त, वीतराग का दास और वीतराग का उत्तराधिकारी-लघुनन्दन है, ऐसे लोकोत्तरमार्ग को प्राप्त पुरुष के ऐसा आचरण कैसे हो सकता है? तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का अभाव हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन होने के बाद भी अल्प कषाय रह जाती है, और सम्यग्दृष्टि जीव राजपाट का संचालन करता हुआ तथा विषय-कषाय में लगा हुआ भी उसे मात्र उपसर्ग समझता है, और सोचता है कि अरे! यह तो मेरे अतीन्द्रिय आनन्द की लूट हो रही है, खेद है कि पुरुषार्थ की मन्दता से ऐसे भाव होते हैं, यदि इसी क्षण पुरुषार्थ जागृत करके वीतराग हुआ जाता हो तो मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिए। विषयों का सेवन करते हुए ज्ञानी को ऐसा लगता है कि मानों कोई मस्तक पर तलवार के प्रहार कर रहा है! मुँह में विष्टा जा रहा है! और वह खेदपूर्वक सोचता है कि इस उदय में पुरुषार्थ की मन्दता के कारण लग जाता हूँ।

जब वीर्य को जागृत करके वीतरागता प्रगट होगी तो वह घड़ी—वह पल धन्य होगा। सम्यग्ज्ञानी का ऐसा हार्दिक भाव होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं हो पाता तब उसके अशुभ परिणाम से बचने के लिये दान, पूजा, भक्ति, व्रत, स्वाध्याय इत्यादि के शुभ-परिणाम भी होते हैं, किन्तु उन्हें भी ज्ञानी बाधक समझता है, उसे शुभ परिणाम की किंचित्मात्र भी रुचि नहीं होती, शुभ परिणाम में बने रहने की उसकी थोड़ी-सी भी इच्छा नहीं होती, शुभ परिणाम के आने पर भी वह शुद्धोपयोग का ही उद्यम करता है; किन्तु शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं हो पाता, इसलिए अशुभ से बचने के लिये शुभ में जा खड़ा होता है।

अब यह कहते हैं कि जैसे यह सिद्ध हो गया कि वर्णादि भाव जीव नहीं हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध हो गया कि यह रागादि भाव जीव नहीं हैं।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्च-मचेदणा उत्ता।।६८।।

अर्थः—यह गुणस्थान मोहकर्म के उदय से होते हैं, ऐसा (सर्वज्ञ के आगम में) कहा गया है; वे जीव कैसे हो सकते हैं जो सदा अचेतन कहे जाते हैं?

६६ और ६७वीं गाथा में यह कहा गया है कि आत्मा में जीवस्थान नहीं हैं, और अब यहाँ ६८वीं गाथा में यह कहते हैं कि गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं। गुणस्थान चौदह हैं, उनमें से पहला गुणस्थान मिथ्यात्व का है, शरीर-वाणी और चैतन्य की अवस्था में होनेवाले राग-द्वेष के परिणाम मेरे हैं यह मान्यता मिथ्यात्व है। सब आत्मा मिलकर एक आत्मा होता है, यह मिथ्या मान्यता है। आत्मा को किसी ने बनाया है और आत्मा जगत का करता है, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानघनज्योति है। यदि मिथ्यात्व आत्मा का स्वभाव हो तो वह दूर कैसे हो सकता है, इसलिए मिथ्यात्व आत्मा का स्वरूप नहीं है।

दूसरा गुणस्थान सासादन है। आत्मप्रतीति होने के बाद यदि कोई जीव वहाँ से गिरे और मिथ्यात्व को प्राप्त हो तो उससे पूर्व के परिणाम को सासादन गुणस्थान कहते हैं। उसकी स्थिति अत्यल्प होती है। तीसरा मिश्र गुणस्थान है, उसकी स्थिति भी अत्यल्प होती है।

चौथा गुणस्थान सम्यग्दर्शन का है, इसे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। वहाँ आत्मा की अपूर्व प्रतीति होती है, जो अखण्डानन्दस्वरूप चैतन्य है, उसका आंशिक अनुभव होता है। चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। यहीं से मोक्ष का मार्ग प्रारम्भ होता है। यहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी दूर हो जाती है, और तीन कषाय शेष रह जाते हैं। वहाँ अभी अव्रत दूर नहीं होता इसलिए उसे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान कहते हैं।

सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वरूप की आंशिक स्थिरता बढ़ने पर अव्रत के परिणाम दूर होने पर पाँचवीं भूमिका प्राप्त होती है। वहाँ कषाय की दूसरी चौकड़ी का अभाव हो जाता है। यहाँ सर्वथा अव्रत दूर नहीं होता किन्तु अमुक अंश में दूर होता है, इसलिए इसे संयमासंयम या देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

छट्ठी भूमिका परिपूर्ण स्वभाव को सिद्ध करने की उत्कृष्ट साधकदशा है। उस भूमिका में स्वरूपरमणता बहुत अधिक बढ़ जाती है। मुनिजन छट्ठी और सातवीं भूमिका में हजारों बार गमनागमन करते हैं। वहाँ वीतरागता प्रगट कर ली है, अथवा प्राप्त करनेवाले ही हैं, ऐसी दशा में मुनिराज झूलते हैं। मुनियों के अन्तरंग से और बाहर से निर्ग्रन्थता-नग्नता होती है। वहाँ कषाय की तीन चौकड़ियों का अभाव हो जाता है, और मात्र एक संज्वलन कषाय का ही उदय रहता है। वहाँ अव्रत का सर्वथा अभाव होता है इसलिए छट्ठे गुणस्थान को प्रमत्तसंयत कहते हैं, और सातवें को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। छट्ठे गुणस्थान में शुभ में उपयोग होता है इसलिए उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं और सातवें गुणस्थान से उपयोग स्वरूपध्यान में लीन होता है, इसलिए उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

आठवें से दसवें गुणस्थान तक स्वरूपध्यान में विशेष-विशेष चढ़ते जाते हैं। वहाँ उपशम और क्षपक ऐसी दो श्रेणियाँ होती हैं। उनमें से कोई उपशमश्रेणी से और कोई क्षपकश्रेणी से चढ़ता है। क्षपकश्रेणी वाला उसी धारा से केवलज्ञान प्राप्त करता है। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशमचारित्र होता है, वहाँ सर्वथा उपशम हो जाता है। बारहवें गुणस्थान में क्षायिकचारित्र प्रगट होता है, वहाँ मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। वहाँ मात्र एक योग का कम्पन रह जाता है, इसलिए चार

अघातिया कर्म टिके हुए हैं, इसे सयोगी गुणस्थान कहते हैं। चौदहवें गुणस्थान में चार प्रतिजीवीगुण, वैभाविक-ऊर्ध्वगमनादि स्वभावों की अशुद्धता है, जिनके कारण कुछ समय चौदहवें गुणस्थान में रहना होता है। चौदह गुणस्थान जीव की अवस्था में होता हैं, किन्तु उस भंग पर लक्ष्य जाने से राग होता है। गुणस्थान के जो भेद होते हैं, उनमें कर्मों के निमित्त की अपेक्षा होती है, इस अपेक्षा से गुणस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है। गोम्मटसार में भी गुणस्थानों को मोह और योग निमित्तक कहा है। यह बात अखण्ड दृष्टि कराने या अखण्ड पर भार देने को कही है। जो भंग-भेद हैं सो गौण हैं, इसके भार को यह बात दूर कर देती है। अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि डालने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। खण्ड पर दृष्टि देने से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। अवस्था के लक्ष्य से परिपूर्णता का लक्ष्य कैसे हो सकता है ? इसलिए यहाँ परिपूर्णता पर दृष्टि देने की बात है। **आत्मा में निमित्त की अपेक्षा लक्ष्य में ली जाए तो बन्ध और मोक्ष दो भेद हो जाते हैं। यदि निमित्त की अपेक्षा को लक्ष्य में न लें और अकेला निरपेक्षतत्त्व ही लक्ष्य में लें तो स्वभावपर्याय ही प्रगट होती है।** आचार्यदेव अखण्डदृष्टि कराने के लिये और अखण्डद्रव्य की ओर उन्मुख होने के लिये यथार्थ वस्तुदृष्टि की बात करते हैं, उसे वैसा समझे और साधक दशा को सिद्ध करते हुए बीच में कौन-कौन सी पर्याय आती है, उसका ज्ञान कराने के लिये और अशुद्ध पर्याय को दूर करके शुद्ध पर्याय प्रगट कराने के लिये पर्यायदृष्टि से बात करते हैं सो वैसा समझे; द्रव्यदृष्टि को पर्यायदृष्टि में न डाले, और पर्यायदृष्टि को द्रव्यदृष्टि में न डाले, वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही समझे सो मोक्ष का उपाय है।

आत्मा परमाणु से, शरीरादि से और रागादि से पृथक् तत्त्व है, ऐसा विश्वास हुए बिना पूर्ण होने का प्रयास कैसे हो सकता है ? सुखी कैसे हुआ जा सकता है ? स्त्री-कुटुम्बादि से सुख होगा ऐसा विश्वास जब तक रहेगा, तब तक परिपूर्ण आत्मतत्त्व का विश्वास नहीं जमेगा।

जीवों को अपने स्वभाव की महिमा ज्ञात नहीं हुई, इसलिए वे परवस्तु को एकत्रित करना चाहते हैं, सम्पूर्ण लोकालोक को एकत्रित करने का प्रयत्न करते हैं; इतना ही नहीं किन्तु यदि अनन्तानन्त लोकालोक हों तो भी उन्हें एकत्रित करना चाहते हैं, ऐसी भारी तृष्णा विद्यमान है। मुझे कुछ नहीं चाहिए; लोकालोक तो क्या किन्तु क्षणिक पुण्य-पाप की

पर्याय भी मुझे नहीं चाहिए, ऐसी श्रद्धा हुई और स्वोन्मुख हुआ कि वहाँ मर्यादा आ जाती है, और जिस वस्तु को एकत्रित करना चाहता है, उसकी मर्यादा नहीं होती। जीव परोन्मुख होता है और पर को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और अनन्त पुण्य-पाप के भाव इस प्रकार अनन्तानन्त वस्तुओं को प्राप्त करने और उन्हें भोगने का भाव हुआ करता है, उसमें से सुख और शान्ति प्राप्त करूँ ऐसे भाव की मर्यादा नहीं होती। यदि संयोगी वस्तु मिल जाती है तो उसके राग के दाह में और यदि चली जाती है तो उसके द्वेष के दाह में जलता रहता है। जितने समय स्वयं रहता है, उतने समय तक संयोगी वस्तु नहीं रहती, इसलिए दु:ख का वेदन किया करता है। यदि वह वस्तु रहती है तो राग की पीड़ा और नहीं रहती तो द्वेष की पीड़ा होती रहती है। अनन्त वस्तुओं को प्राप्त करने के भाव में एक वर्ष, दो वर्ष, दस वर्ष और सारा जीवन यों ही व्यतीत करके दूसरे भव में जाता है, और वहाँ भी वही भाव बना रहता है। इस प्रकार जीव यों ही अनन्त भवों में अनन्त काल इस दाह में व्यतीत कर देता है।

यदि संयोगी वस्तु रहती है तो राग का दु:ख और न रहे तो द्वेष का दु:ख हुआ करता है। उस वस्तु में कहीं शान्ति नहीं मिलती। जैसे-जैसे उसे प्राप्त करने और संग्रह करने का भाव किया त्यों-त्यों दाह बढ़ती गयी और किंचित्मात्र भी शान्ति नहीं हुई। यह तो बाह्य वस्तुओं की बात है, किन्तु आन्तरिक परिणामों का भी यही हाल है। जीव आन्तरिक शुभाशुभ विकारी परिणामी को बनाये रखने का प्रयत्न करता है, तथापि वे नहीं रह सकते। आत्मा नित्य शाश्वत है और पुण्य-पाप की वृत्ति अशाश्वत है। राग के छोटे से छोटे भाग को बनाये रखना चाहे तो वह नहीं रह सकता, वह दूसरे ही क्षण बदल जाता है, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, इसलिए आन्तरिक परिणाम भी सदा नहीं टिकते। इस प्रकार कोई भी वस्तु उतने समय तक नहीं रहती, जितने समय आत्मा रहता है। इसलिए दाह ज्यों की त्यों बनी रहती है। अनन्त काल से ऐसा ही करता आया है, तथापि तृष्णा पूरी नहीं हुई, इसलिए पर में किसी ने सुख का अनुभव नहीं किया। इसलिए विचार कर कि पर की तृष्णा में दाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए अपने विचार बदल। बाहर तो कहीं भी सुख नहीं है, किन्तु जो एकमात्र आत्मा है, उसमें एक साथ अनन्त गुणों का संग्रह विद्यमान है, उस ओर उन्मुख हो। उसमें से शान्ति प्राप्त होगी।

अज्ञानी की दृष्टि बाह्य पदार्थों पर जाती है, इसलिए वह अनन्त परपदार्थों को प्राप्त करना चाहता है परन्तु एक समय में सम्पूर्ण—अनन्त पदार्थ उसके पास नहीं आ सकते। एक आत्मा ने शरीर, मन, वाणी, श्वासोच्छ्वास और इन्द्रियों के रूप में अनन्त परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण किया है, तथापि उसके द्वारा अगृहीत अनन्तानन्त परमाणु इस लोक में ठसाठस भरे हुए हैं, और जिन्हें अनन्त काल में भी ग्रहण नहीं किया जा सकेगा ऐसे अनन्त परमाणुओं का समूह संग्रहात्मक रूप से इस जगत में विद्यमान है। मिथ्याश्रद्धा के विषय में बाहर लक्ष्य करता है, तथापि अनन्त एकत्रित नहीं हुआ और वह एकत्रित हो भी कहाँ से ? वह परवस्तु तेरे आधीन नहीं है, परवस्तु में अच्छे-बुरे की कल्पना करनेवाला तू स्वयं ही है। परवस्तु में कुछ अच्छा-बुरा है ही नहीं। वह परवस्तुएँ तो यों ही पड़ी हुई हैं, उनमें से अच्छा-बुरा किन्हें कहा जाए ? और की तो बात क्या किन्तु नरक बुरा और स्वर्ग अच्छा है, इस प्रकार अपनी अज्ञानता से पर में भेद कर रहा है।

अब यदि तुझे अपनी आत्मा की शक्ति प्रगट करनी हो, आत्मा का सुख चाहिए हो, और अपना कल्याण करना हो तो बाहर से हटकर अपनी ओर उन्मुख हो, और फिर देख तो तुझे ज्ञान होगा कि—परवस्तु की चाह से मेरे स्वभाव की हत्या हो रही है। अरे ! मुझे परवस्तु की आवश्यकता ही कहाँ है ? मेरे आत्मा में एक समय में अनन्तानन्त गुणों का समूह विद्यमान है, उन गुणों की पर्याय को मैं अपने ही पुरुषार्थ द्वारा प्रगट कर सकता हूँ। ऐसा विश्वास होने पर स्वभावपर्याय का अनुभव होता है, आत्मशान्ति प्रगट होती है, जो फिर कभी दूर नहीं होती। पहले बाह्यदृष्टि थी इसलिए बाहर अनन्ती कल्पनाएँ करता था, और अब अन्तर्दृष्टि होने पर अन्तरंग में अनन्त ज्ञान हुआ है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सामर्थ्य अनन्त है। वह एक-एक समय में बढ़ता हुआ अनन्त नहीं होता किन्तु वर्तमान एक समय में अनन्त है। सम्यग्दृष्टि अपने भीतर देखता है कि मुझमें अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्थिरता, अनन्त स्वच्छत्वशक्ति, अनन्त विभुत्वशक्ति, अनन्त प्रभुत्वशक्ति इत्यादि शक्तियों का अनन्तानन्त संग्रह विद्यमान है। जो सम्यग्ज्ञानी उन अनन्त गुणों की पर्यायों का अनुभव करता है, उसकी शान्ति को कोई पर-पदार्थ दूर नहीं कर सकता।

जिसकी दृष्टि संयोग या पुण्य-पाप पर है, उसे कभी सुख-शान्ति नहीं होती। लोग कहते हैं कि ऐसे तो आप सभी को छोड़ देना चाहते हैं ? उनसे कहते हैं कि हाँ, चिदानन्द

आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ छोड़ देने की श्रद्धा किये बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं हो सकता। हे भाई! यह तो तेरी प्रभुता के गीत गाये जा रहे हैं। जो वस्तु तेरी नहीं है वह तुझमें नहीं रह सकती, तू उसे नहीं भोग सकता, भला उससे तुझे सुख कैसे होगा? इसलिए जो तुझमें है, तेरे भीतर संग्रहात्मक रूप से विद्यमान है, जिससे भेंट हो सकती है और जिसका अनुभव हो सकता है, उसका अनुभव कर। शान्ति की यह सबसे पहली बात है, सम्यग्दर्शन की बात है, यह कहीं छट्ठे गुणस्थान की बात नहीं है, छट्ठा गुणस्थान तो सम्यग्दर्शन का फल है। सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप ही चारित्र और केवलज्ञान है। मैं अनन्त गुणों की शक्तिवाला तत्त्व हूँ, इस प्रकार स्व के अनन्त विश्वास में पर का विश्वास टूट जाता है, और पर का अनन्त विश्वास टूटने से स्व का विश्वास हो जाता है, और उस विश्वास में से आन्तरिक चारित्र प्रगट होता है, जिसका नाम मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। कहा भी है कि—'एक होय त्रयकाल में परमारथ का पंथ।' मोक्षमार्ग दो-चार नहीं होते किन्तु एक ही होता है। आचार्यदेव ने ऐसी अपूर्व बात कही है, यदि उसका रंग चढ़ जाए तो स्वोन्मुख होते देर न लगे।

यह मिथ्यात्व आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते हैं इसलिए सदा अचेतन हैं। अपने लक्षण से विलक्षणभाव भिन्न लक्षणवाला भाव, मोहकर्म के निमित्त से होनेवाला भाव तेरा नहीं है, किन्तु वह पुद्गल के निमित्त से होता है, इसलिए वह पुद्गल है। चौदह गुणस्थानों में भंग हो जाता है, क्रमशः एक के बाद एक अवस्था होती है, सभी गुणस्थानों की अवस्था एक साथ नहीं होती। अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा एक साथ है, उस पर लक्ष्य देने से अखण्ड स्वभाव की प्रतीति होती है। शरीरादि बाह्य वस्तु का लक्ष्य छोड़ देना चाहिए इतना ही नहीं किन्तु कर्मों के विपाक के कारण आत्मा की पर्याय में जो भेद होता है उसका भी लक्ष्य छोड़कर अनन्तानन्त गुणों के पिण्डरूप आत्मा का लक्ष्य करे तो उसमें सुख और शान्ति है।

सम्यग्दर्शन का विषय सम्पूर्ण आत्मा है, वह स्व-विषय है। मोह के निमित्त से जो भेद होता है, वह पुद्गल है। जो गुणस्थानों की निर्मल पर्याय होती है, वह जड़ नहीं है, किन्तु मोह और योग के उदय के कारण गुणस्थान के जो भेद होते हैं, उस अपेक्षा से गुणस्थान को जड़ कहा है। यह तो श्रद्धा की बात है। पर पदार्थों पर और अवस्था पर जो

लक्ष्य जाता है, उसे छोड़। खण्ड पर लक्ष्य देने से अखण्ड स्वभाव प्रगट नहीं होगा, किन्तु अखण्ड पर लक्ष्य देने से उसमें से पर्याय प्रगट होगी। यह अपूर्व सूत्र है, इसका मनन करना चाहिए तभी यह बात समझ में आयेगी। 'यह बात मेरी समझ में नहीं आ सकती' ऐसी धारणा बना लेने से और जिज्ञासा के बिना कैसे समझ में आ सकता है ? न समझने की शल्य ही आड़े आती है। इसी शल्य को लेकर केवली भगवान के पास भी गया, किन्तु वहाँ से यों ही कोरा चला आया। केवली भगवान का जो उपदेश होता है वह इसलिए होता है कि जगत के जीव समझ सकें। यदि वह तुझसे ग्रहण न हो सके तो वह उपदेश भी व्यर्थ सिद्ध होगा। इसलिए इस शल्य को निकाल दे कि—मेरी समझ में नहीं आयेगा। जबकि दूसरे जीवों को समझ में आ सकता है तब तेरी समझ में क्यों नहीं आयेगा ?

यह विषय अन्तरंग में सम्बन्ध रखता है। आत्मा पर लक्ष्य देना कि मैं आत्मा अखण्ड हूँ, परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, सो यह आत्मा का विषय है। विषय का अर्थ है ध्येय।

गुणस्थान के भेदों का लक्ष्य छोड़ दे, क्योंकि वे कर्म के निमित्त से होनेवाले भेद हैं। वह पर निमित्तक आरोप है, इसलिए उसकी दृष्टि को दूर करके अखण्ड चैतन्य में अनारोपित दृष्टि कराने के लिये चौदह गुणस्थानों की अवस्था को जड़ कहा है।

'कारणानुविधायीनि कार्याणि' अर्थात् जैसा कारण होता है, तद्नुसार—वैसा ही कार्य होता है। जैसे जौ पूर्वक जौ ही होते हैं, चने नहीं होते, तद्नुसार पुद्गल के निमित्त से जितने भंग होते हैं, उन्हें भी पुद्गल ही कहते हैं। इस प्रकार व्रताव्रत के परिणाम और शुभाशुभ के परिणाम भी पुद्गल के कारण होते हैं, इसलिए वे द्रव्यदृष्टि से पुद्गल ही हैं। अपेक्षा के भंग होते हैं, और भंग पर लक्ष्य जाने से विकल्प उठते हैं। पुद्गल की उपस्थिति से भंग होते हैं इसलिए वे जड़ हैं। वे भंग व्यवहार से आत्मा के कहलाते हैं, किन्तु वे निश्चय से आत्मा में नहीं हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए कि जहाँ व्यवहार से बात होती है, वहाँ वास्तव में वैसी नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अनन्त शक्ति का पिण्ड है, वह तुझे बतला रहे हैं कि आत्मा ऐसा है, तेरी सुगन्ध तुझमें ही विद्यमान है, उसका अनुभवपूर्वक उपभोग करना तेरे हाथ की बात है।

चौदह गुणस्थान सर्वथा जड़ नहीं हैं, वे चैतन्य की अवस्था हैं, किन्तु उसमें जड़

का निमित्त है इसलिए जड़ कहा है। वह चौदह गुणस्थानों का भेद तेरा स्वरूप नहीं है, यदि वह तेरा स्वरूप हो तो सिद्धों में भी चौदहों अथवा कोई सयोगी-अयोगी इत्यादि गुणस्थान रहना चाहिए, किन्तु वहाँ कोई भी भंग नहीं रहता, वहाँ कर्म के निमित्त से भंग होते हैं, इसलिए वे जड़ हैं। किन्तु गुणस्थानों की अवस्था चैतन्य में होती है।

मिथ्यात्वी जीव को अभी तक आन्तरिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई; उसे समझाते हैं कि आत्मा का स्वरूप समझ और उसमें स्थिर हो तभी शान्ति मिलेगी, दूसरे किसी उपाय से शान्ति प्राप्त नहीं होगी। मिथ्यात्वादि को नष्ट करने का यह एक ही प्रकार है और परिभ्रमण करने के अनेक प्रकार हैं। विपरीत श्रद्धा एक प्रकार की है किन्तु उसके परिभ्रमण करने के फलस्वरूप नरकगति, देवगति, तिर्यंचगति इत्यादि अनेक प्रकार हैं। आत्मा में अनन्त गुण विद्यमान हैं, उनके अतिरिक्त तुझे और किसकी चाह है ? यह कुटुम्बादि संयोग कभी साथ में रहनेवाले नहीं हैं।

अनन्त गुणों का पिण्ड सम्पूर्ण आत्मा वर्तमान में प्रति समय परिपूर्ण भरा हुआ है। वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट करने का कारण है। सम्यग्दर्शन की पर्याय भी चारित्र की पर्याय को प्रगट करने में परमार्थत: कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन अवस्था है; किन्तु श्रद्धा का विषय जो समस्त परिपूर्ण द्रव्य, उसके विषय के बल से पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान की चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। पर्याय के लक्ष्य से पर्याय प्रगट नहीं होती, अपूर्ण पर्याय पूर्ण पर्याय का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि जो कम निर्मल पर्याय है वह अधिक निर्मल पर्याय को कैसे प्रगट कर सकती है ? किन्तु अखण्ड परिपूर्ण के लक्ष्य से ही अधिक निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तूने कर्म को, कर्मनिमित्तक भाव को और परवस्तु को अपना मानकर अपनी गोद भर रखी है, अब उसे एक बार खाली कर, पर का आग्रह छोड़, भार का त्याग करके हलका हो, एक बार सम्पूर्ण आग्रह छोड़कर सब ओर से उठ खड़ा हो—ऐसा करने से यह बात तेरे मन में जम जाएगी, यदि कहीं भी चिपका रहा तो फिर हिल-डुल नहीं सकेगा, इसलिए एक बार तो राग से मुक्त होकर यह अनुभव कर कि मैं रागरहित हूँ, फिर चाहे भले ही राग आये, किन्तु एक बार तो पल्ला झाड़कर खड़ा हो जा जिससे समझ में आ सके कि सत्य क्या है। कर्मों के निमित्त से होनेवाले गुणस्थान इत्यादि

के भंग-भेदों से उठकर तेरी दृष्टि अखण्ड स्वभाव में लगानी है, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि एक बार सब ओर से पल्ला झाड़कर खड़ा हो जा और कहीं भी अंशमात्र भी चिपका मत रह!

गुणों का विकास हुए बिना यह माने कि तेरे गुण विकसित हुए हैं, तो गुणों के खिलने से जो शान्ति मिलनी चाहिए वह नहीं मिलेगी। अखण्ड आत्मा की श्रद्धा किये बिना गुण नहीं खिलते। जौ पूर्वक जौ ही होते हैं, इस न्याय से गुणस्थान भी पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। गुणस्थानों की अचेतनता आगमसिद्ध है। जौ पूर्वक की युक्ति देकर गुणस्थानों को जड़ और आगम की साक्षी देकर उनका अचेतनत्व सिद्ध किया है। गोम्मटसार जैसे व्यवहार-शास्त्रों में भी चौदह गुणस्थानों का मोह और योग-निमित्तक कहा है, फिर इस अध्यात्मशास्त्र में तो वैसा कहेंगे ही।

भगवान की दिव्यध्वनि आगम है। आगम में भी यही आदेश है कि तू चैतन्यघन सम्पूर्ण निर्मल है, यदि उस पर दृष्टि डाले तो वही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है। उस मार्ग को प्राप्त करने के बाद उसमें बीच में पाँचवाँ, छट्ठा गुणस्थान इत्यादि क्या-क्या आता है, इसे साधक अवश्य समझ लेगा। जो व्यक्ति जिस मार्ग पर चला ही नहीं उसे क्या मालूम हो सकता है कि मार्ग में क्या-क्या आता है? इसी प्रकार जिसे मोक्षमार्ग की प्रतीति हुई है, उसे सब कुछ ज्ञात हो जाएगा। पहले आत्मा को अन्तरंग से स्वीकार कर, फिर उसके अभ्यास से यथार्थ निर्णय होने पर निर्विकल्प अनुभव होगा।

चैतन्यस्वभाव से व्याप्त, आत्मा से भिन्नरूप गुणस्थान-भेद ज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान होने से भी सदा उनकी अचेतनता सिद्ध होती है।

युक्ति, आगम और अनुभव से सिद्ध है कि गुणस्थान जड़ हैं। युक्ति में जौ पूर्वक जौ होने की बात कही है, आगम में कर्म-निमित्तक गुणस्थान बताये हैं, और अनुभव में भंग-भेद नहीं होते। इस प्रकार तीनों तरह से गुणस्थान अचेतन सिद्ध किये गये हैं। अवस्था के लक्ष्य छूटे और स्व में एकाग्र हो तब आत्मा का अनुभव होता है, और पर का पक्ष नहीं रहता, भंग-भेद का लक्ष्य नहीं रहता। भंग-भेद सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। इस प्रकार भेदज्ञानियों के द्वारा गुणस्थान की अचेतनता सिद्ध होती है। गुणस्थान की पर्याय आत्मा में होती है, जड़ में नहीं; किन्तु भंग-भेद सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, इसलिए

गुणस्थान अचेतन हैं। इस बात को ज्यों की त्यों यथार्थतया माने तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहे। यह स्वरूप जैसा है, वैसा ही समझकर उसकी प्रतीति करके स्थिर हो तो उसमें ज्ञान की और पुरुषार्थ की अनन्त क्रिया आ जाती है।

देव-शास्त्र-गुरु का प्रेम किये बिना स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि का राग नहीं छूटता। शरीर और कुटुम्बादि की अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अनन्त गुना प्रेम बढ़ जाना चाहिए। यदि देव-शास्त्र-गुरु की अपेक्षा शरीर और कुटुम्बादि के प्रति प्रेम बढ़ गया तो वह अनन्तानुबन्धी राग है। सम्यग्दर्शन होने के बाद तो देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अपार भक्ति हो ही जाती है, किन्तु उससे पूर्व भी सत् की जिज्ञासा में देव-शास्त्र-गुरु की ओर का राग बढ़ जाना चाहिए। इस प्रकार सत् की जिज्ञासा में भी देव-शास्त्र-गुरु की ओर की भक्ति पहले आती है। 'ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे तहाँ समजवुं तेह'। यद्यपि राग बन्धन है, किन्तु वह बीच में आता अवश्य है। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बन्ध होता है, वह भी बन्धन है। वह तीर्थंकर प्रकृति आत्मा को लाभ नहीं पहुँचाती। तीर्थंकरदेव भी राग को दूर करके वीतरागता प्रगट करते हैं—वही उन्हें लाभ करती है।

जैसे गुणस्थान को अचेतन कहा है, उसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान इत्यादि समस्त भंग भी पुद्गल के निमित्त से होने के कारण अचेतन हैं। चैतन्य के अखण्ड स्वभाव में भंग-भेद नहीं हैं। चैतन्य आत्मा अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड है। उसकी श्रद्धा किये बिना धर्म का वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। इसलिए पहले यथार्थ श्रद्धा करने का जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

पहले देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ लक्षणों के द्वारा परीक्षा करे, और फिर उनके द्वारा जो वस्तुस्वरूप समझाया गया है, उसे स्वयं बहुमान और अर्पणता पूर्वक समझने का प्रयास करे। देव और गुरु के आन्तरिक हृदय की मूल प्रयोजनभूत परीक्षा करे, और फिर वे जैसा कहें तदनुसार बहुमान और अर्पणता पूर्वक समझने का प्रयास करे। जिसे सत् की जिज्ञासा जागृत हुई है, वह सत् को यथार्थ लक्षणों से पहिचान सकता है। किन्तु यदि कोई यह कहे कि पहले मुझे सबका सब समझा दो उसके बाद तुम्हें मानूँगा तो इसमें मानने की

बात ही कहाँ रही ? अमुक प्रकार से समझाने पर जिसे उसमें से सत् की जिज्ञासा जागृत हुई हो वह निर्णय कर सकता है कि यह सत् है, और फिर जैसा वह समझाये उस प्रकार स्वयं यथार्थ समझकर वस्तुस्वरूप का निर्णय करके उसमें स्थिर हो तो सुख को प्राप्त होता है।

आत्मा में कर्मसंयोग से जो विकार विद्यमान है, वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। जो हित का इच्छुक है, उसे कर्मों के भेद का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव पर दृष्टि करनी चाहिए—यही हित का उपाय है। आत्मा वस्तु है, वह परिणामी है, बदलती है और अवस्था बदलते-बदलते अनन्त काल तक रहती है, किन्तु एक समय में एक ही अवस्था प्रगट होती है। अनन्त गुणों की मिलकर अनन्त अवस्थाएँ प्रगट होती हैं। भूत और भविष्यकाल की अन्य अवस्थाएँ आत्मा में द्रव्यरूप होती हैं। ऐसे आत्मस्वरूप को लक्ष्य में, प्रतीति में बैठाये तो धर्म हो।

अनन्तानन्त पर्यायों का पिण्ड गुण, और अनन्तानन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड द्रव्य परिपूर्ण है। किन्तु उस परिपूर्ण स्वभाव को समझानेवाले देव-शास्त्र-गुरु कौन हैं; यह जाने बिना परिपूर्ण स्वभाव नहीं जाना जाता। स्वभाव को समझानेवाला सच्चा निमित्त क्या और कौन है, इतना विवेक करना न आये तो आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव का परिचय नहीं हो सकता। सच्चा या झूठा निमित्त कौन है, इस प्रकार जिसे निमित्त के अन्तर की जानकारी नहीं है, वह अपने उपादान को ही नहीं पहिचान सकता। जिसे सच्चे और झूठे देव-शास्त्र-गुरु का विवेक अथवा उनका अन्तर या भेद करना नहीं आता, उसके अन्तरंग में अपना सम्पूर्ण स्वभाव नहीं जम सकता; क्योंकि सच्चे और झूठे देव-शास्त्र-गुरु की सत् जिज्ञासापूर्वक परीक्षा करना सो प्रथम पात्रता है। उस पात्रता को पहले प्रगट किये बिना आन्तरिक वास्तविक स्वभाव कहाँ से जम सकता है ? सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप को बताते हैं, तथा कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आत्मा का विपरीत स्वरूप समझाते हैं, इनमें से जिन्हें सच्चे-झूठे का विवेक करना नहीं आता उसका सच्चा पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। जिसे एक समय में परिपूर्ण स्वभाव पर लक्ष्य करना है, उसे प्रशस्त और अप्रशस्त राग के निमित्त का विवेक करना होगा। यदि स्व-पर का वर्तमान अवस्था का विवेक

करना न आया तो अन्तरंग में भरे हुए परिपूर्ण अखण्ड निर्मल स्वभाव का विवेक करके पुरुषार्थ कहाँ से उदित होगा ?

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु राग में लगाने के लिये नहीं किन्तु परिपूर्ण स्वभाव को पहिचानने के लिये, स्वलक्ष्य करने के लिये हैं। किन्तु ऐसा न समझकर स्वयं राग के चक्कर में पड़ जाता है, सो वह पुण्यबन्ध करेगा, किन्तु स्वोन्मुख नहीं होगा और इसलिए वह परिपूर्ण स्वभाव को नहीं पहिचान सकेगा। देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि तू यथार्थ निमित्त तक पहुँच चुका है, शुभराग के निकट आ गया है, अब तू कुलाँट खा और अन्तरंग में अपने परिपूर्ण स्वभाव को पहिचान।

गुणस्थान इत्यादि के भंगों को आगम और युक्ति से जड़ कहा है, उसे शिष्य ने लक्ष्य में ले लिया, सच्चे निमित्तों से सत्य को स्वीकार कर लिया है और मिथ्या आगम तथा युक्ति को मिथ्यारूप में स्वीकार कर लिया है। यह सब परिपूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख होने को किया है। आत्मा के लक्ष्य का अभ्यास करते-करते आत्मानुभव हो गया और अन्य राग इत्यादि का लक्ष्य छूट गया है।

चौदह गुणस्थान मोह और योग के निमित्त से होते हैं इसलिए वे पुद्गल हैं, इस प्रकार आगम और युक्ति से सिद्ध की गयी बात जिसके मन में नहीं बैठती उसे आत्मानुभव नहीं हो सकता।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और सच्ची युक्ति की ओर जिसका लक्ष्य है, वह शुभराग है, जो कि कुगुरु, कुशास्त्र, कुदेव और अशुभभावों में नीचे नहीं गिरने देता। वह जीव आत्मा के लक्ष्यपूर्वक जिज्ञासाभाव से सुनता है, उसका भाव अपनी ओर लक्ष्य करने का होता है। इस प्रकार परिपूर्ण स्वभाव का लक्ष्य होने से लक्ष्य से लक्ष्य को बढ़ाते हुए आत्मानुभव होता है, स्वसंवेदन होता है, और निमित्त का लक्ष्य छूट जाता है।

यदि ऐसा लक्ष्य हो जाए कि अविकारी आत्मा निराला है, मुक्त है, तब देव, गुरु इत्यादि निमित्त को निमित्त के रूप में कहा गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तुझे युक्ति, आगम की बात जम गयी तभी तो तूने निमित्त का स्वीकार किया है। तूने देव-शास्त्र-गुरु के कथित आशय को पकड़ लिया अर्थात् तूने अपने परिपूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में ले लिया और अपनी ओर उन्मुख हुआ तब सच्चा निमित्त निमित्तरूप कहलाया।

आचार्यदेव ने पाँचवीं गाथा में कहा था कि मैंने जैसा गुरु परम्परा से सुना है, वैसा ही युक्ति, आगम और अनुभव में कहूँगा, उसी प्रकार यहाँ ६८वीं गाथा में जीवाजीवाधिकार को पूर्ण करते हुए युक्ति, आगम और अनुभव से वही बात कही है। इस प्रकार आचार्यदेव ने पाँचवीं गाथा से जैसा प्रारम्भ किया था उसी प्रकार यहाँ समाप्त किया है।

भव का अन्त करनेवाले पुरुष का आश्रय लिये बिना भव का अन्त नहीं होता। भव का अन्त करनेवाले निमित्तरूप आलम्बन में देव-शास्त्र-गुरु और भीतर भव का अन्त करनेवाले आत्मा का अपनी ओर उन्मुखता का पुरुषार्थ है; इस प्रकार अन्तरंग में स्वयं और बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय लिये बिना भव का अन्त नहीं होता।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेद है, और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। द्रव्यार्थिकनय अर्थात् जिसे द्रव्य का प्रयोजन है, किन्तु राग-द्वेष तथा भंग-भेद का प्रयोजन नहीं है। ढाल की दो बाजू होती हैं, अर्थात् ढाल को देखने के दो पहलू होते हैं। उनमें से जो एक पहलू को देखता है, वह दूसरे को नहीं देखता—इसी प्रकार जिसे आत्मा के अभेद स्वभाव की ओर देखने का प्रयोजन है, उसे राग-द्वेष, भंग-भेद का मूल्य नहीं है, उसे उस ओर देखने का कोई प्रयोजन नहीं है।

वस्तु, उसके गुण और उसकी पर्याय भी निर्मल है, किन्तु कर्म के निमित्त से जो भंग-भेद होते हैं, वह उसका स्वभाव नहीं है। जो निमित्ताधीन भेद होते हैं, वे आत्मा के नहीं हैं, किन्तु स्वभावोन्मुख होता हुआ भाव उसका है। पहले जो २९ बातें कही गई हैं, उनमें केवलज्ञान की पर्याय को अलग नहीं कर दिया है, किन्तु केवलज्ञान की भूमिका में जो कम्पन का विकार है, उसे अलग कर दिया है, इसी प्रकार चौदह गुणस्थान में निर्मल चैतन्य की प्रगट होनेवाली पर्याय को अलग नहीं कर दिया है, किन्तु निर्मल पर्याय के बढ़ने पर उस-उस भूमिका में साथ ही साथ जो मोह के भेद रहते हैं, उन्हें अलग कर दिया है। वैसे जो निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है, वह तो चैतन्य का ही भाव है। यहाँ यह कहा है कि तू सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहिचान और स्वसन्मुख हो। राग जितने-जितने अंश में दूर होता है, उतने-उतने अंश निर्मल पर्याय का अनुभव होता है। सिद्ध होने पर सम्पूर्ण निर्मल पर्याय का अनुभव रह जाता है। सिद्ध होने के बाद उसमें प्रति समय निर्मल-निर्मल अवस्था होती रहती है। एक समय के बाद दूसरे समय में दूसरी अवस्था का और तीसरे

समय में तीसरी अवस्था का अनुभव होता है, इस प्रकार प्रति समय परिणमन होता ही रहता है। यदि कोई कहे कि सिद्धों में परिणमन नहीं होता हो उसका यह कथन मिथ्या है। समस्त पर्यायों का अनुभव 'जानै एकै काल प्रगट केवलि भगवंता' का मेल कैसे बैठेगा? एक ही समय में नहीं होता, क्योंकि यदि एक समय में ही सबका उपभोग हो जाए तो दूसरे समय में उपभोग के लिये क्या रहेगा? इसलिए ऐसा नहीं है, किन्तु सिद्धों को प्रति समय पूर्ण आनन्द का नया-नया अनुभव होता ही रहता है, वे समस्त पर्यायें स्वभाव में भरी पड़ी हैं, उसमें से प्रगट होती हैं, इसलिए जो समस्त अवस्थाएँ वर्तमान में जिसमें भरी हुई हैं— ऐसे अखण्ड आत्मस्वभाव का विश्वास करना चाहिए, उसी की प्रतीति करना चाहिए। अनन्त सामर्थ्य से परिपूर्ण द्रव्य ही लक्ष्य देनेयोग्य है, वही द्रव्यार्थिकनय का विषय है और वही सर्व प्रथम धर्म है।

परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार—दया, दान, हिंसा, झूठ इत्यादि के भाव चैतन्य जैसे दिखायी देते हैं; वे चैतन्य की अवस्था में होते हैं, कहीं जड़ में वे भाव नहीं होते, किन्तु वे पर निमित्त से होते हैं और वे चैतन्य की सर्व अवस्था में व्याप्त नहीं हैं, वे भाव सर्व अवस्थाओं में नहीं रहते इसलिए वे चैतन्यशून्य हैं, और वे चैतन्यस्वभाव से शून्य हैं इसलिए जड़ हैं। यदि वे पुण्य-पाप के भाव सिद्धों में या परमात्मदशा में रहते हों, तो वे आत्मा के भाव कहे जा सकते हैं, परन्तु सिद्धों में या परमात्मा में वे भाव नहीं होते, इसलिए वे जड़ हैं।

आगम में भी उन भावों को अचेतन कहा है। यह कहकर यह सिद्ध किया है कि जो आगम आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव और उसके विकारीभाव का वर्णन करता है, तथा जो यह बतलाता है कि विकार अचेतन है, परनिमित्त से होनेवाला भाव है, वह सच्चा आगम है। जिस आगम में निमित्ताधीन होनेवाले भावों को एकान्त से आत्मा का भाव कहा हो, पराश्रित या परावलम्बी भावों को आत्मा का भाव कहा हो और जो आत्मा के सच्चे स्वभाव का वर्णन न करे वह आगम सच्चा नहीं है। निमित्ताधीन होनेवाले चैतन्य के भावों से पृथक् मात्र पूर्ण निर्मल स्वरूप चैतन्य को बताये वही सच्चा आगम है। इसलिए सच्चे आगम को जाने बिना अपने सच्चे उपादान को नहीं जाना जा सकता।

और फिर भेदज्ञानी भी उन पुण्य-पाप के भावों को चैतन्य से भिन्नरूप में अनुभव

करते हैं, इसलिए वे भी अचेतन हैं। भेदज्ञानी अपने स्वभाव में उपयोग को लगाते हैं, तब विकार अवस्था टूटती जाती है, और फिर वह नहीं रहती, इसलिए वह अचेतन है।

प्रश्नः—यदि वे भाव चेतन नहीं हैं, तो क्या हैं ? पुद्गल हैं या कुछ और ?

उत्तरः—पौद्गलिक कर्म पूर्वक होने से वे निश्चय से पुद्गल ही हैं; क्योंकि जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। और कर्म के निमित्त से वे भेद होते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं। आत्मा ज्ञायक स्वभाववाला तत्त्व है। जिसका जो स्वभाव होता है, वह अपूर्ण या अधूरा नहीं होता। उस स्वभाव पर लक्ष्य देने से अपूर्णता या अधूरापन दिखायी ही नहीं देगा। ऐसे चैतन्यस्वभाव को देखें तो जिसमें राग-द्वेष या विकारी भाव हैं ही नहीं, वह चैतन्यस्वभाव परिपूर्ण है, उसकी प्रतीति करना ही वास्तविक प्रतीति है, वही धर्म का प्रारम्भ है।

जगत में जब किसी के अच्छे पुण्य के परिणाम होते हैं अथवा उसके द्वारा पुण्य के कोई कार्य होते हैं तो वह अपने को धन्य मानने लगता है। किन्तु वह यह नहीं समझता कि पुण्य तो आत्मस्वभाव की हत्या करके प्रगट होनेवाला विकार है, वह विकारभाव नाशवान है, फिर भी उसका विश्वास करता है, और आत्मा अखण्ड परिपूर्ण है उसका विश्वास नहीं करता। जहाँ थोड़ा सा पुण्य करता है वहाँ गद्गद् हो जाता है, किन्तु उसे यह पता नहीं है कि उस क्षणिक पुण्य से शान्ति प्राप्त नहीं होगी। एक ओर तो कहता है कि मैंने अच्छे पुण्यकार्य किये हैं, और दूसरी ओर यह कहता है कि न जाने अभी कितने भव धारण करना होंगे, अथवा न जाने मेरा क्या होनेवाला है। इस प्रकार उसे अपने अन्तरंग में विश्वास नहीं है, और मन में सन्देह भरा हुआ है, तथा अनन्त भवों का भाव बना हुआ है, तब फिर यह कैसे माना जाए कि उसके मन में उन देव-गुरु आदि की बात जम गयी है, जिनका अनन्त भव का भाव टूट गया है। जिसके अन्तरंग में भवों के नाश करने की बात जम जाती है, उसके अनन्त भव हो ही नहीं सकते, और उसके ऐसा सन्देह भी नहीं हो सकता। इसलिए यह निश्चय हुआ कि पुण्य इत्यादि के विकारी भाव चाहे जितने हों तथापि वह आत्मा के निःसन्देह होने में कारण नहीं है। पुण्य के भंग भव का सन्देह दूर नहीं कर सकते और शान्ति नहीं दे सकते, इसलिए निःसन्देह होने के कारणभूत त्रैकालिक अविकारी पूर्ण आत्मस्वभाव पर लक्ष्य देना चाहिए। पराश्रय से निःसन्देहता प्रगट नहीं होती और आन्तरिक

शान्ति प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार पराश्रय से श्रद्धा और चारित्र का दोष आता है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है ? उसके उत्तरस्वरूप श्लोक कहते हैं:—

अनाद्यनन्त-मचलं स्वसम्वेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्य-मुच्चैश्चक-चकायते।।४१।।

अर्थः—जो अनादि है अर्थात् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, जो अनन्त है, अर्थात् जिसका कभी विनाश नहीं होगा, जो अचल है, अर्थात् जो कभी चैतन्यभाव से अन्य रूप चलाचल नहीं होता, जो स्वसंवेद्य है, अर्थात् जो स्वयं स्वतः ज्ञात होता है, और जो स्फुट अर्थात् प्रगट है—छुपा हुआ नहीं है—ऐसा अत्यन्त चकचकित होने वाला चैतन्य स्वयं ही जीव है।

यहाँ शिष्य ने अस्तिरूप चैतन्य भगवान को जानने के लिये प्रश्न किया है कि जिसका आश्रय लेने से हित हो, कल्याण हो। उसे गुरु ने उत्तर दिया है।

जो अनादि से है। जैसे किसी गोल चक्कर का कोई प्रारम्भ ज्ञात नहीं होता, उसी प्रकार जो वस्तु अनादि है उसका प्रारम्भ कैसे हो सकता है ? जिसका प्रारम्भ नहीं है, वह वस्तु ही न हो ऐसी बात नहीं है। किन्तु यदि आदि हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि उससे पूर्व वस्तु नहीं थी और जब वस्तु ही नहीं थी तो उसका प्रारम्भ कैसे हो सकता है ? इसलिए जो वस्तु वर्तमान में है, वह त्रिकाल है, स्वतःसिद्ध है। जो वस्तु है, उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता, इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु अनादि-अनन्त है।

जबकि वस्तु कहीं संयोग से उत्पन्न नहीं होती तो उसका नाश भी नहीं होता। एक-एक गुण एकत्रित होकर वस्तु उत्पन्न हो, और फिर गुण बिखर जाएँ तथा वस्तु का नाश हो जाए—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। वस्तु का आदि नहीं है, तो उसका अन्त भी नहीं है, किन्तु वह स्वतःसिद्ध है, इसलिए वस्तु किसी से न तो उत्पन्न होती है और न किसी से उसका नाश ही होता है—ऐसा वस्तुस्वभाव है।

इस श्लोक में 'अनादि' कहकर भूतकाल की बात कही है, और 'अनन्त' कहकर भविष्य काल की बात कही है, और 'अचल' कहकर वर्तमान की बात कही है, अर्थात्

आत्मा वर्तमान में चलाचलता से रहित है—अवस्था में भी विकार नहीं है। जानना इत्यादि स्वभाव जैसा है वैसा ही है, कुछ चल हो और कुछ अचल हो—ऐसा नहीं है। अवस्था में भी कुछ चल हुआ है, सो वह भी परमार्थ से नहीं है। वस्तु, वस्तु का गुण और उसकी पर्याय अचल है, जिसे निमित्त का और राग का आश्रय नहीं है, ऐसी पराश्रयरहित निर्मल पर्याय है।

आत्मा स्वसंवेद्य है, अर्थात् स्वयं स्वतः जाना जा सकता है। भगवान आत्मा तो प्रगट ही है वस्तु और वस्तुस्वभाव का सामर्थ्य प्रगट ही है, वह कर्माच्छादित नहीं है। वस्तु आदि-अन्त से रहित, वर्तमान में चलाचलता से रहित प्रगट स्फुट है। यदि स्वतः जाने तो प्रगट ही है, वह तेरे द्वारा ज्ञातव्य और अनुभव करने योग्य है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा चकचकित करता हुआ प्रकाशमान है। जैसे अमूल्यरत्न चकचकित करता हुआ प्रकाशमान होता है, और वह चाहे जितने वायुवेग से बुझ नहीं सकता, उसी प्रकार स्वतः प्रकाशमान आत्मा की चकचकाहट को कोई कर्म नहीं ढँक सकता। यहाँ चैतन्य के अरूपी स्वभाव को हीरे की तरह चकचकित कहा है, किन्तु वास्तव में आत्मा का कोई रंग नहीं होता। ऐसा आत्मतत्त्व किसी से छुपा हुआ नहीं है। वह अरूपी चैतन्य, अत्यन्त चकचकित और प्रकाशमान स्वयं जीव है, दूसरा कोई जीव नहीं है। यदि उस चैतन्य की शरण ले तो तुझे शान्ति प्रगट हो।

सिद्धत्व आत्मा की निर्मल अवस्था है, और संसार विकारी अवस्था है। आत्मा परिपूर्ण वस्तु है। वस्तु पर्याय के द्वारा देखी जाती है, वस्तु से वस्तु नहीं देखी जाती। पर्याय के द्वारा वस्तु पर दृष्टि डाले तो वह ज्ञात होती है। यदि आत्मा को देखना हो, किन्तु आत्मा की ओर पीठ देकर उससे विरुद्ध शरीर वाणी और मन पर दृष्टि डाले तो आत्मा दिखायी नहीं दे सकता परन्तु कर्मफलरूप संयोगी पदार्थ दिखायी देंगे और यदि अन्तरंगदृष्टि के द्वारा अपनी ओर दृष्टि करके देखे तो भीतर ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द आदि अनन्त गुणस्वरूप वस्तु दिखायी देगी।

आचार्यदेव कहते हैं कि चेतनता ही जीव का लक्षण है। जो लक्ष्य को बतलाता है उसे लक्षण कहते हैं। जानने योग्य आत्मा लक्ष्य और उसे बतानेवाला उसका लक्षण है। आत्मा वस्तु है और उसकी चेतना उसका लक्षण है। चेतनता लक्षण द्वारा आत्मा जाना जा

सकता है। पुण्य-पाप या राग-द्वेष के परिणाम आत्मा का लक्षण नहीं हैं, किन्तु चेतनता ही आत्मा का लक्षण है। आत्मा को जानने के लिये आत्मा का लक्ष्य है, और चेतनता उसका लक्षण है। उस लक्षण से आत्मा जाना जा सकता है, आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि चेतनता ही जीव का लक्षण है:—

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो,
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा,
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्व-मचलं चैतन्य-मालम्ब्यताम् ।।४२।।

अर्थः—अजीव के दो प्रकार हैं—एक वर्णादि युक्त और दूसरा रहित। इसलिए अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) जगत जीव के यथार्थ स्वरूप को नहीं देख सकते—इस प्रकार परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषों ने अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित चेतनता को जीव का लक्षण कहा है, जो कि योग्य है। यह चैतन्य लक्षण प्रगट है, उसने जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है, और वह अचल है—चलाचलता रहित सदा विद्यमान है, उसी का अवलम्बन करो।

यहाँ आचार्यदेव ने चैतन्य को पहिचानने का अबाधित लक्षण कहा है। जैसे बाजार में बहुत से लोग चले जा रहे हों, उसमें से यदि दूध बेचनेवाले ग्वाले को पहिचानना हो तो कहा जाता है कि जिसके सिर पर दूध का घड़ा रखा हो वह ग्वाला है; इसी प्रकार यह शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप के भाव इत्यादि का चक्कर एक साथ चलता है। उसमें से यदि कोई कहे कि ऐसा कौन सा मूल लक्षण है कि—जिसके द्वारा आत्मा को पहिचाना जा सके ? और उसमें अन्य किसी का ग्रहण न हो ? तो वह लक्षण चेतना अर्थात् जानना-देखना है। उस जानने-देखने के लक्षण से आत्मा का ही लक्षण होता है, अन्य का नहीं।

अजीव के दो प्रकार हैं—एक वर्णादि सहित और दूसरा वर्णादि रहित। उनमें से पुद्गल द्रव्य वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शयुक्त है, और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और कालद्रव्य अरूपी हैं, वर्णादि रहित हैं। इसलिए अरूपीपन आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता, अर्थात् अरूपीपन से आत्मा को नहीं पहिचाना जा सकता; क्योंकि अरूपीपन को आत्मा का लक्षण मानने से धर्मास्तिकाय इत्यादि को आत्मा मानने

का प्रसंग आ जाएगा, और इस प्रकार अरूपित्व को आत्मा लक्षण मानने से **अतिव्याप्ति** नामक दोष आ जाएगा, क्योंकि वह अरूपित्व लक्षण लक्ष्यभूत आत्मा के अतिरिक्त अन्य धर्माधर्मादिक द्रव्यों में भी व्याप्त है, वह मात्र आत्मा में ही व्याप्त नहीं है, इसलिए अरूपित्व लक्षण से आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता।

यदि आत्मा का लक्षण केवलज्ञान माना जाये तो उसमें **अव्याप्ति** नामक दोष आ जाएगा; क्योंकि केवलज्ञान तो अरहन्त और सिद्ध जीवों में ही होता है, समस्त जीवों के नहीं होता इसलिए वे जीव नहीं कहलायेंगे, इसलिए केवलज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता। समस्त जीवों को पहिचानने का निर्दोष लक्षण चेतना अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है। यह लक्षण निगोद से लेकर सिद्धों तक सभी जीवों के होता है, इसलिए अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से रहित चेतना ही जीव का योग्य लक्षण है, उस लक्षण से आत्मा को पहिचानकर भेदज्ञान किया जा सकता है।

जिसे आत्मकल्याण करना हो अर्थात् आत्मसुख का मार्ग ग्रहण करना हो उसे आत्मा का निर्दोष लक्षण जान लेना चाहिए, जो कि लक्ष्य से अलग न हो सके। जो जिससे अलग हो सकता है, वह उसका लक्षण नहीं हो सकता। जो लक्षण अपने से अलग हो जाए अथवा जो अपने में सम्पूर्णतया व्याप्त न हो और जो नाशवान हो ऐसे लक्षण से आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभ परिणाम अपने से अलग हो जाते हैं। और नाशवान हैं, इसलिए उस लक्षण से आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता अथवा वह आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता।

धर्म करनेवाले को एक चेतना लक्षण का आधार लेना चाहिए। उसमें कोई संकल्प-विकल्प, आकुलता, हर्ष-शोक के भाव और शरीर, मन, वाणी इत्यादि कुछ नहीं आते। जानना-देखना आत्मा का प्रगट लक्षण है। जानना-देखना, गुणी चैतन्य का गुण है। यदि उसका अवलम्बन ले तो शुभाशुभभाव और शरीर, वाणी इत्यादि का अवलम्बन सहज ही छूट जाता है।

इस प्रकार आत्मा लक्ष्य है, और जानना-देखना उसका लक्षण है। स्वयं जानने के आधार में रुचि-प्रतीति करके उसमें जितना रत हो सो धर्म है, और पुण्य-पाप के अवलम्बन में जितना रत हो उतना अधर्म है।

जैसे वस्तु के बिना गुण, अग्नि के बिना उष्णता और गुड़ के बिना मिठास अलग—अकेली नहीं रह सकती, उसी प्रकार आत्मा के बिना ज्ञानगुण अलग—अकेला नहीं रह सकता। इससे सिद्ध है कि आत्मा और उसके गुण दोनों अभेद हैं—एकरूप हैं। आत्मा के गुण आत्मा में ही व्याप्त हैं; वे पर में कदापित नहीं होते।

यहाँ कोई कह सकता है कि इसमें करने की कौन सी बात है। किन्तु यदि विचार किया जाए तो इसमें अपने करने की अनन्त बातें निहित हैं। आत्मा के स्वलक्षण के द्वारा आत्मा को पहिचानने और फिर उसमें स्थिर होने में अनन्त पुरुषार्थ करने की बात है। आत्मा के लक्षण के द्वारा आत्मा को पहिचाना-पकड़ा, और उस अनन्त गुणस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त मुझमें कोई भी शुभाशुभ भाव या शरीर, वाणी, मन, इत्यादि नहीं हैं, इस प्रकार स्वरूप की सत्ताभूमि में से निश्चय होने से अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है और वहाँ से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। प्राय: जीव कोई प्रयत्न नहीं करना चाहते और वे अनन्त काल से परपदार्थों की रुचि और उसके चक्कर में पड़े हुए हैं। यदि वे अपनी ओर रुचि करें तो आत्मा की अचिन्त्यता का कुछ ध्यान आये। अज्ञानी जीव इसी चक्कर में पड़े हुए हैं कि राग-द्वेष, शरीरादि की क्रिया, कुटुम्ब-परिवार और मकान इत्यादि मैं ही हूँ, या वे मेरे हैं; और वे यह भूल गये हैं कि जो ज्ञाता है सो मैं हूँ। हे भाई! जो-जो जानना-देखना है सो ही तू है, वह स्वभाव त्रिकाल में भी नहीं छूट सकता, वह सदा विद्यमान है; जगत उसी का अवलम्बन करे! आचार्यदेव कहते हैं कि हे हिताभिलाषियो, हे स्वतन्त्रता के इच्छुको! जानने-देखने के भाव का ही अवलम्बन ग्रहण करो। यदि आत्मस्वभाव को पहिचानना हो—उसे ग्रहण करना हो, कल्याण करना हो तो चैतन्य की ओर उन्मुख होओ, और उसी का अवलम्ब लेकर उसी में स्थिर हो जाओ।

स्वावलम्बन के बिना मात्र देव, गुरु, शास्त्र का अवलम्बन ग्रहण करना परावलम्बन ही है। स्वावलम्बन ग्रहण करने पर आत्मप्रतीति जानना-देखना और उसमें स्थिर होना होता है; इस प्रकार उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है।

निश्चय से वर्णादि भावों में रागादि भाव आ जाते हैं। वे भाव जीव में कभी व्याप्त नहीं होते, इसलिए उन भावों के द्वारा आत्मा को नहीं पहिचाना जाता। वह उसका लक्षण नहीं है। निश्चय से तो वे आत्मा का लक्षण हैं ही नहीं, किन्तु व्यवहार से भी उन्हें जीव

का लक्षण मानने में अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योंकि सतत् रूप से वे भाव सिद्ध भगवान में व्यवहार से भी व्याप्त नहीं होते, इसलिए अव्याप्ति नामक दोष आता है। यहाँ अव्याप्ति दोष में असम्भव दोष का भी समावेश हो गया है।

यह वस्तु का लक्षण कहा जा रहा है, पर्याय का नहीं। पर्याय-दृष्टि से विकारी-अवस्था या संसार-अवस्था को व्यवहार में आत्मा की अवस्था कहते हैं किन्तु वह कहीं वस्तु का लक्षण नहीं है। यदि वह वस्तु का लक्षण माना जाए तो वस्तु से वस्तु का लक्षण कभी और कहीं भी अलग नहीं हो सकता, इसलिए वह लक्षण सिद्धों में भी रहना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञान-दर्शनरूप चेतना लक्षण कभी भी जीव से अलग नहीं होता, और वह सिद्ध जीवों में भी होता है।

राग-द्वेष के भाव व्यवहार से भी यदि चैतन्य 'द्रव्य' रूप हो गये हों, वस्तु में प्रविष्ट हो गये हों, तो राग-द्वेष के भाव सिद्ध जीवों में भी रहना चाहिए, परन्तु वे सतत आत्मस्वभाव में नहीं रहते, इसलिए व्यवहार से भी वे भाव द्रव्यरूप नहीं हैं, परन्तु अवस्था में अवश्य होते हैं। उपादान से ही नहीं किन्तु व्यवहार से भी राग-द्वेष तेरे नहीं हैं। यदि व्यवहार से राग-द्वेष द्रव्यरूप हों तो वे आत्मा का स्वभाव हो जाएँ, और जो आत्मा का स्वभाव होता है वह कभी दूर नहीं होता, इसलिए निमित्ताधीन भाव पर्याय का लक्षण है। जो चैतन्य की विकारी पर्यायरूप भाव होते हैं, वे पर्याय का लक्षण हैं, वस्तु का नहीं। वे भाव वस्तुरूप हुए ही नहीं इसलिए व्यवहार से भी वस्तु का (जीव का) लक्षण राग-द्वेष नहीं है।

इसलिए निश्चय कर कि इस समय भी मैं निश्चय या व्यवहार से वर्ण, गन्ध, शरीर या राग-द्वेष विकारी भावरूप नहीं हूँ। मुझमें जानने-देखने का अस्तित्व है, और उन भावों का नास्तित्व है। यह निश्चय करके जानने-देखने की और स्थिर होने की परिणति कर!

लोग कहते हैं कि आत्मा अरूपी है, किन्तु अरूपित्व भी आत्मा का मुख्य लक्षण नहीं है, क्योंकि वह सर्व जीवों में व्याप्त होकर भी धर्माधर्मादिक अजीव द्रव्यों में भी पाया जाता है, इसलिए उस लक्षण में अतिव्याप्ति नामक दोष आता है। इसलिए अरूपी लक्षण द्वारा आत्मा को पहिचानने से आत्मा का यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता। और चेतनालक्षण अन्य किसी द्रव्य में व्याप्त नहीं होता, इसलिए चेतना ही आत्मा का मुख्य और प्रगट लक्षण है। उसके द्वारा आत्मा को पर से भिन्न जाना जा सकता है। (उस चेतना-स्वभाव को

जानकर) उसमें स्थिर होना ही अनन्त ज्ञानियों ने धर्म कहा है। ऐसा उत्तम मनुष्यभव प्राप्त करके यदि आत्मस्वरूप को नहीं समझा तो फिर तेरा कहाँ ठिकाना लगेगा।

आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है, इस बात को आज तक न तो स्वयं सुना और समझा है, और न कुटुम्बीजन ही जान पाये हैं, इसलिए मरण समय दुःख आ खड़ा होता है, इसका कारण यही है कि एक ओर तो आत्मस्वभाव को नहीं पहिचाना और दूसरे शरीर को अपना मान रखा है। लोग इस चक्कर में पड़े हुए हैं कि जड़ की यह अव्यवस्था क्यों कर हो रही है ? किन्तु वह परमाणुओं की अवस्था है, उनकी व्यवस्था है; परमाणु परमाणु की व्यवस्था रूप में परिणमित हुए हैं, इससे तुझे क्या ? किन्तु अज्ञानी जीव व्यर्थ की पीड़ा लिये फिरता है, और दूसरे भव में जाकर भी वहाँ भी उसे साथ ले जाता है। आत्मा अनन्त गुणों का संग्रह-पिण्ड है, उसके सामने दृष्टि नहीं रखता और शरीर की ओर दृष्टि रखकर यह मानता है कि जो शरीर है सो मैं हूँ। और इसलिए शरीर पर कोई दबाव आने से बेचैन हो उठता है। यदि आत्मा की ओर दृष्टि हो तो पर से अपने को पृथक् समझे, और इसलिए शरीर पर दबाव आने से आकुलित नहीं होता किन्तु मात्र उसका ज्ञाता रहता है। प्रभो! तेरा लक्षण जानने-देखने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसा माने बिना तू व्यर्थ ही हैरान हो रहा है, तू व्यर्थ ही प्रतिक्षण भयंकर भाव-मरणों में मर रहा है। जानने-देखने के भावों के अतिरिक्त दूसरे कोई भाव हों तो वे आत्मा के जानने-देखने के जीवन का नाश करनेवाले भाव-मरण के भाव हैं। जो आत्मा के ज्ञान-दर्शनरूप जीवन का नाश करता है, उसे मरण समय शान्ति कहाँ से हो सकती है ? आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेने से ही हित होता है, कल्याण होता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी हितार्थी या आधार नहीं है।

पुण्य भी परमाणुओं की एक अवस्था है, पुण्य प्रकृति का उदय होने से बाह्य अनुकूलता प्राप्त हो जाती है, किन्तु अन्तरंग का निर्णय किये बिना, चैतन्य लक्षण के अवलम्बन के बिना शान्ति कहाँ से आयेगी ? पुण्य के भाव करने पर भी उनमें शान्ति का कारण कौन है ? पुण्य का फल प्राप्त होने से उसी पर लक्ष्य देने लगता है, और यह प्रतीति नहीं करता कि मैं ही ज्ञानज्योति हूँ, तब फिर तुझे कौन शरण होगा ? पुण्य से भविष्य में जड़ का संयोग प्राप्त हो जाएगा किन्तु मरण-समय जब आकुलित होगा तब संयोग क्या करेंगे ? ज्ञानानन्द लक्षण को जाने बिना यों ही कुचल-मरने का नाम बालमरण है, अज्ञान-मरण है,

जब मरण की चक्की में पिसता है, तब पुण्य का संयोग कुछ नहीं कर पाता! इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि जानने-देखने के लक्षण द्वारा आत्मा को ग्रहण कर तो उसकी शरण से हित-कल्याण होगा, उसकी शरण के बिना अन्यत्र कहीं भी हित नहीं है। शरीर और पुण्य इत्यादि सब अशरण हैं। आत्मा के लक्षण से आत्मा को पहिचाने बिना अन्य कोई शरण नहीं है।

ऐसे चेतनालक्षण द्वारा जीव प्रगट है, तथापि अज्ञानी लोगों को उसका अज्ञान क्यों रहता है? इस प्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि:—

(वसन्ततिलका)

जीवा-दजीव-मिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।
अज्ञानिनो निरवधि-प्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथ-महो बत नानटीति।।४३।।

अर्थः—इस प्रकार पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण जीव से अजीव भिन्न है, उसे (अजीव को) उसके द्वारा ही (स्वतन्त्रतया, जीव से भिन्नरूप से) विलसित-परिणमित होता हुआ ज्ञानी पुरुष अनुभव करता है, तथापि अज्ञानी जीव को अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्व-पर से एकत्व की भ्रान्ति) कैसे नचा रही है?—हमें यह बड़ा आश्चर्य और खेद है!

आचार्यदेव कहते हैं कि यह जानना-देखना लक्षण प्रगट है, वह लक्षण राग-द्वेष में व्याप्त नहीं है, किन्तु वह तो आत्मा के आधार पर अवलम्बित है, आत्मा में ही व्याप्त हो रहा है। ऐसे आत्मस्वभाव को न पहिचानकर अज्ञानी का अज्ञान कैसे नाच रहा है? चाहे जैसा प्रसंग हो तथापि क्या जानने-देखने का नाश हो सकता है? यदि जानने-देखनेरूप गुण का नाश हो तो गुणी का नाश हो जाए, किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। गुणी के आधार पर गुण प्रगटरूप से व्याप्त है और राग-द्वेष का व्याप्त होना पुद्गल पर आश्रित है। इस प्रकार भिन्न लक्षणों के होने पर भी अज्ञानी के ऐसा क्यों होता है? उसका मोह कैसे नाचता है? हमें इससे महा आश्चर्य होता है।

आत्मा के ज्ञान से जड़ भिन्न परिणमन करता है—ऐसा ज्ञानी जीव अनुभव करते हैं। शरीर, वाणी, मन, राग, द्वेष, आकुलता इत्यादि परभावों का मेरे जानने-देखने में आधार

नहीं है, वह अजीव अपने आप स्वतन्त्रतया विलसित हो रहा है-परिणमन कर रहा है। उन राग-द्वेष इत्यादि के भावों को द्रव्यदृष्टि से अजीव में गिना है। उस अजीव का अपने आप परिवर्तन-परिणमन होता है, उसमें मेरे चैतन्य का हाथ नहीं है। शरीर, वाणी, मन इत्यादि सब अपने आप स्वतन्त्रतया विलसित हो रहे हैं। शरीर का कार्य शरीर और आत्मा का आत्मा करता है। कोई कहता है कि हम दूसरे के काम को सुधार देते हैं! किन्तु जहाँ आत्मा शरीर का ही कुछ नहीं कर सकता तो फिर दूसरे का तो कैसे करेगा? शरीर शरीर का, वाणी वाणी का और मन मन का कार्य करता है, इस प्रकार जड़ पुद्गल द्रव्य भी सब भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्रतया विलसित हो रहे हैं। उनमें से कोई भी जड़ द्रव्य किसी दूसरे जड़ द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, तब फिर आत्मा जड़ का कुछ करे, यह तो हो ही कहाँ से सकता है? ज्ञानी को पुरुषार्थ की मन्दता से पर्याय में राग-द्वेष होता है, परन्तु वह निमित्ताधीनभाव है, इसलिए द्रव्यदृष्टि से उसे अजीव में गिना गया है।

एक आत्मा अपना काम करे और शरीर का भी काम करे, इस प्रकार एक द्रव्य दो द्रव्यों की अवस्था को करे यह तीन काल और तीन लोक में नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानियों को वैसा भ्रम हो गया है। आत्मा ज्ञानभाव से ज्ञान का कर्ता और अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्ता होता है। वैसे परद्रव्य का कर्ता ज्ञानी तो क्या किन्तु अज्ञानी भी नहीं है। अज्ञानी मात्र मानता है कि मैं पर का कार्य कर देता हूँ, इसमें वह मात्र विपरीत मान्यता ही करता है, वैसे पररूप शरीर, वाणी और मन इत्यादि का काम अज्ञानी भी नहीं कर सकता।

प्रश्नः—रोग के समय भले ही न बोल-चाल सके किन्तु निरोग समय में तो आत्मा बोलने-चालने का काम करता है?

उत्तरः—समयसार की ९६वीं गाथा में आचार्यदेव ने मृतक कलेवर कहा है—जीव सहित शरीर को मुर्दा कहा है, जिस प्रकार पानी के संयोग से पीतल के लोटे को पानी का लोटा कहा जाता है, उसी प्रकार शरीर में जीव है—ऐसा उसे उपचार से संचेतन कहा है। उस मृतक कलेवर में अमृतरूप विज्ञानघन आत्मा व्याकुल हो रहा है, और चक्कर में पड़ा हुआ है, इसलिए वह वैसे भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। शरीर के साथ आत्मा है, इसलिए उसे सचेतन कहा है, वैसे तो वह शरीर, ज्ञान, दर्शन रहित मुर्दा ही है। अज्ञान के कारण मैं शरीर का यह कार्य कर सकता हूँ और वह कर सकता हूँ ऐसा मानने लगता

है, किन्तु रोग या निरोग अवस्था के समय भी आत्मा शरीरादि का कुछ भी नहीं कर सकता। जड़ और चेतन दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं, और जो भिन्न हैं, वे भिन्न का कभी कुछ नहीं कर सकते।

धर्मी जीव जड़ की स्वतन्त्र अवस्था को जड़ से होती हुई देखकर विकारी अवस्था को भी आत्मा से भिन्न जानता है। अस्थिरता के कारण अल्प विकारी अवस्था चैतन्य की अवस्था में होती है, किन्तु वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है, इसलिए उसे अपने से भिन्न जानता है।

आत्मा का स्वभाव जैसा अमर्याद है वैसा ही उल्टा पड़ा हुआ विपरीत मान्यता में अमर्यादारूप से मोह व्याप्त हो रहा है, घोर अज्ञान हो गया है। अज्ञान ही संसार का बीज है, और सम्यग्ज्ञान मोक्ष का बीज है।

आत्मा के ज्ञान-लक्षण में दर्शन-ज्ञान-चारित्र—इन तीनों का समावेश रहता है; आत्मा जानने-देखने आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है, इसके अतिरिक्त वह पर का कुछ भी नहीं कर सकता, तीन लोक और तीन काल में भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, तब फिर अज्ञानी का मोह क्यों नाचता रहता है? आचार्यदेव को धर्म न समझनेवाले के प्रति प्रशस्त खेद हो जाता है।

लोग समझते हैं कि यदि चतुर डॉक्टर मिल जाए तो रोग मिट जाए, किन्तु यह अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। यदि डॉक्टर अच्छा कर सकते होते तो डॉक्टर स्वयं क्यों मर जाते हैं? चाहे जितने उपाय करो तथापि जो जैसा संयोग मिलना है, वह बदल नहीं सकता और जो बदलनेवाला है वह फिर मिल नहीं सकता। लाख बात की एक बात यही है कि कोई किसी का कुछ कर नहीं सकता। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा होने पर भी अज्ञानी का मोह क्यों नाचता रहता है।

अज्ञानी का अभिमान पर में और दूसरों के कार्यों में फैला हुआ है। कई लोग कहा करते हैं कि पहले दूसरे का कल्याण कर दें, फिर अपना कर लेंगे, किन्तु जो स्वयं ही नहीं समझा वह दूसरे को क्या समझायेगा? दूसरे का कल्याण होना उसी पर अवलम्बित है, तुझ पर नहीं। दूसरे का पुरुषार्थ जागृत हुए बिना वह कदापि नहीं तर सकता। इसलिए तू अपने सत् को ढूँढ़ने का पुरुषार्थ कर। इसमें अपना ही पुरुषार्थ काम आयेगा। यदि सत् की सच्ची

जिज्ञासा होगी तो अवश्यमेव सत् की प्राप्ति होगी। सद्गुरु का योग मिलना पुण्याधीन है, उसका कर्ता स्वयं नहीं है; किन्तु जिसे सत् को समझने की वास्तविक जिज्ञासा जागृत होती है, उसे या तो सत्स्वरूप अपने ही अन्तरंग में समझ में आ जाता है, अथवा सद्गुरु का योग मिल ही जाता है, ऐसा निमित्त-नैमित्ति सम्बन्ध है। आचार्यदेव कहते हैं कि अज्ञानी के शरीर, वाणी, राग, द्वेष और कुटुम्बादि के अपनेपन का मोह क्यों नाच रहा है ? और फिर कहते हैं कि यदि मोह नाचता है तो भले नाचे ! तथापि वस्तुस्वभाव नहीं बदल सकता।

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेक-नाट्ये,
वर्णादि-मान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्धशुद्ध-
चैतन्य-धातु-मय-मूर्ति-रयं च जीवः ।।४४।।

अर्थः—इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं। अभेदज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखायी देता है जीव अनेक प्रकार का नहीं है। यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस अविवेक के नाटक में पुद्गल ही नाच रहा है। राग-द्वेष विकार इत्यादि परभाव हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार जिसे पृथक् प्रतीति करने की शक्ति नहीं है, उसकी श्रद्धारूपी जड़ ही ठीक नहीं है। जिसने परभाव से भिन्न विवेक करके पर के साथ एकत्वबुद्धिरूपी जड़ों को उखाड़ फेंका है, उसके अल्प अस्थिरता रूपी टहनियाँ और पत्ते रहने पर भी वे विकसित नहीं हो सकते, किन्तु वे सूख जाएँगे और नष्ट हो जाएँगे।

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, और जो यह जड़ पदार्थ नाच रहे हैं, सो मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, इस प्रकार आन्तरिक प्रतीति का होना ही धर्म है और वही मुक्ति का उपाय है। यहाँ अज्ञानरूप से नाचने को जड़ कहा है, और चैतन्य के अज्ञान एवं विकारी परिणामों को भी जड़ कहा है। चेतन प्रगट लक्षण है, वह सदा विद्यमान है।

अभेदज्ञान में अर्थात् सम्यग्ज्ञान में यह सब पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखायी दे रहा है, जीव अनेक प्रकार का दिखायी नहीं देता। इसलिए जो यह दिखायी दे रहा है, सो सब पुद्गल का ही नाच है।

कलम द्वारा शब्द का लिखा जाना वह जड़ की स्वतन्त्र क्रिया है; आत्मा के द्वारा वह क्रिया नहीं हो सकती। अज्ञानी मानता है कि यह मुझसे लिखा जा रहा है और ज्ञानी मानता है कि मैं इस लिखे जाने की क्रिया का ज्ञाता ही हूँ—कर्ता नहीं।

भगवान आत्मा में जो अल्प विकारी अवस्था होती है, वह क्षणिक है। चैतन्य का लक्षण विकार से विलक्षण है। विकार जड़ का और निर्विकार आत्मा का लक्षण है। आत्मस्वरूप को पहिचानकर उसमें स्थिर होना ही धर्म है। उसके अतिरिक्त जो रागादिक विकार है वह सब आत्मा से विलक्षण है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातु से सुशोभित है।

जैसे राख, कालिख और धुएँ से रहित अंगार लाल-लाल जाज्वल्यमान दिखायी देता है, उसी प्रकार आत्मा में इस शरीररूपी राख का आवरण, कर्मों की कालिख और राग-द्वेष का धुआँ नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसका बारम्बार परिचय कर यही धर्म है। जो धारण कर रखे सो धातु है, आत्मा स्वयं अनन्त गुणों से टिका हुआ है, शरीरादिक से नहीं; उसे पहिचान, उसकी रुचि कर! यही हित का मार्ग है, अन्य नहीं।

आत्मा पदार्थ है, तत्त्व है। कोई भी पदार्थ गुणरहित नहीं होता और कोई भी गुण गुणीरहित नहीं होता। द्रव्य और गुण दोनों वस्तु से अभिन्न हैं। वस्तुस्वरूप को यथावत् जानकर उसमें स्थिर होने से धर्म होता है। परद्रव्य के परिणमन को मैं बदल सकता हूँ यह मान्यता मिथ्या है, जो कि चौरासी के भ्रमण का मूल है। आत्मस्वरूप को यथावत् जानकर उसमें स्थिर होना भव-भ्रमण को मिटाने का उपाय है।

शरीर, मन, वाणी इत्यादि चैतन्य में नहीं, किन्तु जो चैतन्य की अवस्था में होते हैं—ऐसे चिद्विकारों को देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि यह मेरा स्वभाव है, आत्मा तो ज्ञायकमूर्ति है, ज्ञायकस्वभाववाला तत्त्व है, उसकी पर्याय में जो कुछ विकार की वृत्ति होती है, उसे ज्ञाताभाव से जान लेना चाहिए, किन्तु ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि यह भी मेरा स्वभाव है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव कहते हैं कि पुण्य-पाप के जो-जो परिणाम

होते हैं, वे सब आत्मा के—निज के नहीं हैं, आत्मस्वभाव नहीं हैं, इसलिए वे अधर्म हैं। यदि यह कठिन भी मालूम हो तथापि यदि आत्महित करना हो तो यह सब समझना ही होगा। आत्मा के ज्ञायकधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा का धर्म नहीं हैं। पुण्य-पाप के परिणामों का होना अलग बात है, और उसमें धर्म मानना अलग बात है। पुण्य-पाप के परिणामों को होता हुआ देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि यह मेरा धर्म है; पर के प्रति अपनेपन की मान्यता अनन्त संसार का मूल है।

चिद्विकारों को देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि यह चैतन्य ही हैं, क्योंकि यह युक्तिपूर्वक कहा जा चुका है कि चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हो वही चैतन्य का कहलाता है। रागादिक विकार चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं रहते क्योंकि मोक्ष-अवस्था में उनका अभाव हो जाता है, इसलिए वे चैतन्य के नहीं हैं। रागादि विकारों का अनुभव भी आकुलतामय दु:खरूप है, इसलिए वह चेतन नहीं हैं, चैतन्य का स्वभाव नहीं हैं किन्तु जड़ के निमित्त से होने के कारण जड़ ही है। चैतन्य का स्वभाव तो निराकुल है।

पाप और पुण्य विकार दोनों आकुलतामय हैं, किन्तु अज्ञानीजन पुण्य के फल को मीठा और पाप के फल को कडुवा मानते हैं; किन्तु यह निरा भ्रम है, क्योंकि पुण्य-पाप के वर्तमान में जो परिणाम होते हैं, वे भी दु:खरूप हैं, आकुलतामय हैं, तब फिर उनके फल मीठे कहाँ से हो सकते हैं ? जो वर्तमान में ही दु:खरूप हैं, उनके फल भी दु:खरूप ही होंगे। अज्ञानी को भ्रमवश सुख मालूम होता है। जिसे विष चढ़ा होता है, उसे नीम के पत्ते कड़वे मालूम नहीं होते; इसका अर्थ यह नहीं कि—नीम के पत्तों की कड़वाहट मिट जाती है, किन्तु विष के प्रभाव से कड़वे नहीं मालूम होते; इसी प्रकार अज्ञान की विपरीतता के प्रभाव से अज्ञानी को पुण्य के फल मीठे मालूम होते हैं, जब कि वास्तव में वे विष फल हैं तथापि विपरीत मान्यता के विषप्रभाव से वे मिठे मालूम होते हैं। वास्तव में पुण्य के भाव और पुण्य के फल—दोनों दु:खरूप ही हैं, किन्तु अज्ञानी ने उनमें सुख की कल्पना कर रखी है।

आत्मा में पुण्य-पाप का अनुभव दु:खरूप है। दोनों चाण्डाली के पुत्र हैं। आत्मा अमृतपिण्ड है, उसका आश्रय लिये बिना न तो कभी किसी का हित हुआ है, न होता है,

और न होगा। आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसकी पर्याय में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह विष हैं, आत्मस्वभाव की हत्या करनेवाले हैं। पुण्य-पाप के भाव ही दु:खरूप हैं, तब फिर उनके फलों का तो कहना ही क्या है! भला वे सुखरूप कहाँ से हो सकते हैं? आत्मस्वभाव का वेदन शान्त-निराकुल है, उसे जाने बिना आत्मानुभव नहीं हो सकता। पुण्य-पाप के भाव आत्मा को शान्ति नहीं देते, किन्तु आत्मस्वभाव ही शान्ति देता है। पुण्य-पाप के भाव आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, और जो जिसका स्वभाव नहीं है, उसका आश्रय लेने से स्वभाव कैसे प्रगट हो सकता है? सत्-सत् से प्रगट होता है, असत् से नहीं। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसकी वर्तमान अवस्था में मात्र राग-द्वेष होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु आकुलतामय है, इसलिए जड़ है इस प्रकार दोनों का पृथक् ज्ञान करने से ज्ञातातत्त्व प्रगट होता है।

अब भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह ज्ञाताद्रव्य स्वयं प्रगट होता है, इस प्रकार कलश में महिमा प्रगट करते हुए इस अधिकार को पूर्ण करते हैं:—

(मन्द्राकान्ता)

इत्थं ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं नाटयित्वा,
जीवाजीवौ स्फुट-विघटनं नैव यावत्प्रयात:।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृ-द्रव्यं स्वय-मति-रसात्ताव-दुच्चैश्चकाशे।।४५।।

अर्थ:—इस प्रकार ज्ञानरूपी आरे को बारम्बार अभ्यासपूर्वक चलाकर भी जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रगट रूप से पृथक् न हुए, वहाँ तो ज्ञाताद्रव्य अत्यन्त विकासरूप होनेवाली अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति के द्वारा विश्व को व्याप्त करके अपने-आप ही अतिवेग से उग्ररूप से प्रकाशित हो गया।

जैसे लकड़ी का सांधा देकर बीच में आरा चलाने से उसके दो टुकड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी आरे से यह भेद कर लेना चाहिए कि मैं तो ज्ञान, शान्ति, अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ और इसके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी तथा भीतर होनेवाले पुण्य-पाप के परिणाम इत्यादि सब पर हैं। और इस प्रकार स्वभाव तथा विभाव की सन्धि देखकर ज्ञानरूपी आरे द्वारा दो टुकड़े कर लेना चाहिए।

राग-द्वेष के भाव बदलनेवाले हैं और मैं सदा स्थायी शाश्वत् वस्तु हूँ; इस प्रकार आत्मा के स्वभाव और विभाव के बीच आरा चलाकर दोनों को अलग-अलग कर देना चाहिए, और ज्ञातास्वभाव में एकाग्र हो जाना चाहिए। उसी का नाम आरा चलाया कहा जाता है।

मुझमें परमाणु का एक अंश भी नहीं है, और मैं राग का एक अंश भी नहीं हूँ, किन्तु मैं अनन्त गुणों का पिण्ड शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, इस प्रकार श्रद्धा करके उसमें स्थिर होना सो चारित्र है। ज्ञायक आत्मा में ज्ञायक की प्रतीति, ज्ञान और उसका चारित्र तीनों समाविष्ट हो जाते हैं। जैसे लकड़ी के दो टुकड़े करने के लिये आरे को बारम्बार चलाना पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी आरे को बारम्बार अभ्यास पूर्वक चलाकर ज्ञायकद्रव्य में एकाग्र होने में अत्यन्त प्रवीण होकर जीव और अजीव दोनों को भिन्न-भिन्न कर देना चाहिए। ज्ञानरूपी आरा चलाते-चलाते जीव और अजीव दोनों प्रगटरूप से अलग न हो पाये कि इतने में तो वहाँ ज्ञाताद्रव्य में लीन हो गया, इसलिए ज्ञाता-द्रव्य स्पष्टरूप से प्रकाशित हो गया और ज्ञाताद्रव्य में लीन होने पर जीव-अजीव दोनों अलग हो गये।

ज्ञायक का ज्ञान करना उसकी—आत्मा की प्रतीत करना और उसमें एकाग्र होना ऐसा ज्ञानकाण्ड स्वभाव है, जड़ की क्रिया करने रूप क्रियाकाण्ड आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा की अरूपी क्रिया आत्मा में होती है, पर का क्रियाकाण्ड आत्मा में नहीं होता। कोई कहता है कि निष्कामभाव से पर की क्रिया करने में क्या हानि है ? उससे कहते हैं कि मैं पर की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता में और पर की क्रिया करने की इच्छा में अनन्त सकामता है, निष्कामता नहीं। निष्कामता तो वह है कि जहाँ यह दृष्टि हो कि मैं पर की क्रिया कर ही नहीं सकता। वहाँ पर की क्रिया करने की इच्छा ही नहीं रहती, उसके बाद जो क्रिया होती है, वह स्वामित्वबुद्धि पूर्वक नहीं होती। राग की या शरीर की क्रिया होती है, अथवा हो जाती है, किन्तु उसमें स्वामित्वबुद्धि नहीं है, राग पर राग नहीं है, किन्तु वह राग का ज्ञाता रहता है। पर की क्रिया निष्कामभाव से करनी चाहिए, इस प्रकार जहाँ करने की बुद्धि है, वहाँ निष्कामदृष्टि नहीं, किन्त सकामदृष्टि है। इस बात को आज माने, कल माने या दो-चार भवों के बाद माने, किन्तु यह मार्ग ग्रहण किये बिना कहीं भी कभी हित नहीं हो सकता।

पहले कलश में कहा था कि पुद्गल द्रव्य नाचता है और इस कलश में ज्ञानरूपी आरे से 'यह इस प्रकार भिन्न है, यह इस प्रकार भिन्न है' यों कहकर आरे को नचाकर अर्थात् परिणमित करके एकाग्र हुआ कि वहाँ ज्ञाताद्रव्य प्रकाशित हो उठा। इस प्रकार कलश में नास्ति को और इसमें अस्ति को प्रधान बनाकर कथन किया है।

यथार्थ चारित्र होने का कारण यथार्थ दर्शन है। यथार्थ प्रतीति या यथार्थ विश्वास के बिना एकाग्रता नहीं हो सकती, इसलिए एकाग्र होने का कारण पहले आत्मा को पहिचानकर यथार्थ प्रतीति करना है। विपरीत श्रद्धा में विपरीत और यथार्थ श्रद्धा में एकाग्रता होती है।

यह शरीर, वाणी और मन ही नहीं किन्तु विकार भी मुझसे भिन्न हैं। मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र शरीर में नहीं किन्तु मुझमें ही हैं। मैं अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा हूँ, इस प्रकार पर से पृथक्त्व का बोध और उसकी प्रतीति करना तथा उसमें स्थिर होना चारित्र है। इस प्रकार ऐसा अभ्यास करते-करते ज्ञाताद्रव्य भलीभाँति प्रकाशित हो जाता है। जीव और अजीव दोनों प्रगटरूप से पृथक् नहीं हो पाते कि वहाँ ज्ञाताद्रव्य अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति द्वारा विश्व को व्याप्त करके अपने आप ही अति वेग से उग्रतया प्रकाशित हो उठता है। यह जड़ और यह आत्मा है, ऐसा अभ्यास करते हुए जड़ और चैतन्य प्रगटरूप से अलग न हुए कि वहाँ तो आत्मा अपने स्वभाव में लीन हो जाता है, अथवा वह फूल की कली की भाँति विकसित हो उठता है और इस प्रकार जड़ तथा चैतन्य दोनों अलग हो जाते हैं। फूल की कली की भाँति आत्मा के गुण शक्तिरूप से विद्यमान थे वे विकसित हो जाते थे।

चिन्मात्रशक्ति अर्थात् ज्ञानमात्र शक्ति के द्वारा विश्व को व्याप्त कर लेता है; अर्थात् विश्व को जानने का आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार मेरा स्वभाव जगत के समस्त पदार्थों को जानने का है। मेरा और पर का व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, परमार्थतः कोई सम्बन्ध नहीं है। परमार्थ से मैं अपने ज्ञान की पर्याय को ही जानता हूँ। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं पर को जानता ही नहीं हूँ; क्योंकि ज्ञान पर को भी जानता है, आत्मा का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। वह निश्चय से अपने ज्ञान की पर्याय को जानता है, किन्तु व्यवहार से पर को भी जानता है। इस प्रकार समस्त पदार्थों को जानने का मेरा स्वभाव है, यह जानता

हुआ वह अपने आप ही पराश्रय के बिना, स्वतन्त्रतया अतिवेग से ज्ञाताद्रव्य विकसित हो उठता है। बारम्बार अभ्यास करने पर और स्वोन्मुखता की प्रतीति होने पर एकाग्रता होती है, वहाँ अति वेग से उग्रतया ज्ञाताद्रव्य प्रकाशित हो जाता है, उसमें किंचित्मात्र विलम्ब नहीं होता।

जहाँ जीव और जड़ दोनों स्पष्टतया भिन्न प्रतीति हुए कि वहाँ तत्काल निर्विकल्प अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, सर्व प्रथम बोध-बीज प्राप्त हुआ, श्रद्धारूपी बीज प्रगट हुआ और सर्व प्रथम धर्म उदित हो गया। वहाँ मैं आत्मा शान्तस्वरूप हूँ—ऐसे बुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार भी छूट जाते हैं, और निर्विकल्प आनन्दमय अनुभव हुआ, अहो! अनन्त समृद्धि प्रगट हो गयी।

भेदज्ञान से अलग करते-करते, एकाग्र होते-होते अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आन्तरिक शुद्धि बढ़ी और मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ, इत्यादि बुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार भी छूट गये। यह सबसे पहली इकाई की बात है, एल.एल.बी. जैसी बड़ी भूमिका की बात नहीं है; यह तो प्रथम सम्यग्दर्शन की बात है। जैसे अज्ञानी जीव सासांरिक विवाहादि कार्यों में ऐसा लीन हो जाता है कि उनके अतिरिक्त सब कुछ भूल जाता है, उसी प्रकार जीव निरुपाधिकतत्त्व के स्वाद में लीन हो जाता है और वह स्वभावभाव की ओर बढ़ता हुआ बाहर के समस्त तत्त्वों को दुःखरूप देखता है, तथा वह जानता है कि आत्मस्वभाव को पहिचान कर उसमें स्थिर होने से अनन्त जन्म-मरण का दुःख दूर करके स्वभाव की अनन्त समृद्धि और अनन्त सुख प्रगट होगा। मेरे स्वभाव में बाह्य अवलम्बन नहीं है, मैं शरीर, मन, वाणी और विकल्पों से रहित हूँ, इस प्रकार विचार करते-करते जहाँ स्वभाव में जम गया कि वहाँ निर्विकल्प अनुभव हो जाता है। इसी का नाम धर्म है। पुण्य-पाप के परिणामों से धर्म नहीं होता। त्रिकाल में भी असत् के मार्ग से सत् नहीं आता। वस्तुस्वरूप किस प्रकार का है यह समझने के लिये पहले यथार्थ श्रवण करना चाहिए। राग-द्वेष और भ्रान्तिरूप विकार के हिंडोले पर झूल रहा है; एक-दो घण्टे श्रवण किया और मान लिया कि अब हम कर लेंगे। किन्तु भाई! अनन्त काल से विविध प्रकार की विपरीत मान्यताएँ बना रखी हैं, उन्हें दूर करने के लिये सत्समागम द्वारा बारम्बार अभ्यास करना चाहिए, उसके बिना समझ में नहीं हो सकता। एक-दो घण्टे सुनने से धर्म हो जाएगा ऐसी समझ

से पुरुषार्थ उदित नहीं होगा, जिसे आत्महित करने की रुचि हो गयी हो उसे अपूर्णता स्वीकार नहीं होती।

इस कलश में कहा है कि विश्व को व्याप्त करके, अर्थात् विश्व को जानकर ज्ञातद्रव्य प्रगट होता है। इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञान द्वारा विश्व के समस्त भावों को संक्षेप से अथवा विस्तार से जानता है, और निश्चय से विश्व को प्रत्यक्ष जानने का उसका स्वभाव है। इसलिए यह कहा है कि वह विश्व को जानता है। सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञान के द्वारा अर्थात् आत्मा के निर्मल ज्ञान के द्वारा समस्त विश्व के भावों को जानता है। जैसे एक से लेकर दस तक के अंक सीख लेने पर उनमें लाखों-करोड़ों की संख्या और सारे पहाड़े आ जाते हैं, उसी प्रकार जहाँ ऐसी सर्वतोमुखी प्रतीति हो गयी कि मेरा चैतन्य-भगवान पर से निराला है, वहाँ तत्सम्बन्धी सारी गिनती और पहाड़े ज्ञात हो जाते हैं। उसके हाथ में विश्व की सर्व व्यवस्था को जानने की रीति आ जाती है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सबको जान लिया। जहाँ आत्मप्रतीति हो गयी वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव समस्त लोक के भावों को संक्षेप या विस्तार से जान लेता है। इस प्रकार सबको प्रत्यक्ष जानने का उसका स्वभाव है। यद्यपि केवलज्ञान नहीं हुआ है, तथापि सम्यग्दृष्टि जीव विश्व को जानता है ऐसा कहा है। इस प्रकार इस कलश का एक आशय सम्यग्दर्शन का और दूसरा केवलज्ञान का है।

जीव और अजीव का अनादिकालीन संयोग है, अर्थात् वे मात्र एकसाथ रह रहे हैं, एकमेक नहीं हुए हैं। उस संयोग के अलग होने से पूर्व अर्थात् जीव के मुक्त होने से पूर्व आत्मा और जड़ के भेदज्ञान को बारम्बार भाते हुए अमुक दशा होने पर निर्विकल्पधारा बन जाती है, जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रह जाता है। जहाँ गुणी आत्मा के लक्ष्य से एकाग्र हुआ और श्रेणी जम गयी वहाँ मात्र आत्मा का अनुभव रह जाता है; लीनता के सुदृढ़ होने पर बुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार छूट जाते हैं और उससे भी अधिक श्रेणी के स्थिर होने पर अबुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार भी छूट जाते हैं, और फिर अत्यन्त वेगपूर्वक आगे बढ़ने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस प्रकार जो स्वभाव पहले शक्ति में था वह साक्षात् प्रगट हो जाता है। पहले सम्यग्दर्शन का अभ्यास किया, फिर स्थिरता का प्रयत्न किया, और फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ, तत्पश्चात् मोक्ष हुआ। और मोक्ष होने के साथ ही अघातिया

कर्मों का भी नाश हो जाता है। पर से भिन्न होने की यह रीति है, और यही स्वतन्त्र सुख का उपाय है।

पहले सत्समागम के द्वारा यह समझना चाहिए कि स्वाश्रय क्या है और पराश्रय क्या है। इसका यथावत् परिचय करके अभ्यास करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन होने पर जगत के समस्त भावों को जानता है। सम्यग्दृष्टि जीव के स्थिर होने की शक्ति प्रगट होती है, और उससे केवलज्ञान प्रगट होता है। उस केवलज्ञान में सर्व साक्षात् पूर्णतया ज्ञात होता है।

इस प्रकार जीव और अजीव अलग-अलग होकर रंगभूमि से बाहर हो जाते हैं। इस समयसार को नाटक की उपमा दी गयी है। जड़ और चेतन दोनों एकत्रित होकर रंगभूमि में नाच रहे थे, वे दोनों अलग हो जाते हैं।

इस समयसार को नाटक कहने का कारण यह है कि जैसे नाटक में कोई भर्तृहरि राजा का वेश धारण करके उसके समस्त जीवन चरित्र को तीन चार घण्टे में ही बता देता है, इसी प्रकार अनादि काल से एक ही साथ चले आनेवाले आत्मा और कर्मों को जिन्होंने एक मान रखा है, उन जीवों को आत्मस्वरूप बताकर मोक्ष में पहुँचाने के लिये आचार्यदेव ने ४१५ गाथाओं में सब कुछ बता दिया है।

जीवाजीवाधिकार में पहले ३८ गाथाओं में रंगभूमि-स्थल बताया है, तत्पश्चात् नृत्यमंच पर जीव और अजीव दोनों मिलकर प्रवेश करते हैं, और दोनों ने एकत्व का स्वाँग रचा है; तथापि दोनों की प्रवृत्ति प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न है। जड़ की अवस्था का आत्मा और आत्मा की अवस्था का जड़ आधार नहीं है, किन्तु अज्ञानावस्था में दोनों मिलकर नाच रहे थे कि वहाँ सम्यग्ज्ञानी ने लक्षणभेद से परीक्षा करके दोनों को अलग-अलग जान लिया इसलिए स्वाँग पूरा हो गया। जैसे कोई बहुरूपिया वेश बनाकर नाच रहा हो, और उसे लोग पहिचान लें कि यह तो अमुक व्यक्ति है, तो वह गाल फुलाकर चला जाता है, इसी प्रकार जड़ और चैतन्य नाच रहे थे उन्हें सम्यग्ज्ञानी ने मूलरूप में अलग-अलग जान लिया इसलिए वे अलग हो गये, अर्थात् रंगभूमि में से निकल भागे। पुद्गल परमाणु जगत में रह गये और आत्मा मोक्ष चला गया।

जीव-अजीव ज्ञानादि संयोग मिल लखि मूढ़ न आतम पावै,
सम्यक् भेदविज्ञान भये पुन भिन्न गहे निज भाव सुदावैं;
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जगमाहिं महन्त कहाय बसैं शिव जाय सुखी नित थावैं॥

जीव और अजीव अनादि संयोग से मिले हुए हैं। शरीर, वाणी और मन सब जड़ हैं—परमाणुओं का समूह हैं और वे जगत के अनादि तत्त्व हैं और चैतन्य भगवान भी अनादि तत्त्व है। जीव-अजीव अनादि संयोग से एक ही स्थान पर रहे हैं, इसे मूढ़ जीव नहीं समझता। जड़ और चैतन्य दोनों को भिन्नरूप से जाने बिना आत्मप्राप्ति नहीं होती। जड़ और चैतन्य दोनों एक ही स्थान पर रहते हैं इसलिए क्या वे एक हो गये हैं? क्या एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप हो सकता है?—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु मूढ़ जीव समझता नहीं है, इसलिए आत्मपने को प्राप्त नहीं होता।

सम्यक् भेदविज्ञान होने पर तत्काल ही वीतरागता नहीं होती, किन्तु निज और पर के एकत्व की विपरीत मान्यता को बदलकर दोनों को भिन्न मानने लगा, पुण्य-पाप और अपने स्वरूप में भेद करके निज-पर को भिन्न-भिन्न मानने लगा। इस प्रकार अपने भाव के दाव-पेंच या कला से आत्मा को पकड़ा जा सकता है। यहाँ 'सुदावैं' का अर्थ यह है कि अपनी प्रगट करने योग्य कला आत्मा के निजभाव से प्रगट होती है—पर से नहीं।

सत् के प्रति प्रीति हो तभी तो सत्य को समझने की भावना होती है? और तभी गुरु का उपदेश सुनने के लिये तत्पर होता है। जिसे आत्मा को जानने की उत्कृष्ट इच्छा होती है, वह कहता है कि अहा! मैंने ऐसा उपदेश कभी नहीं सुना था, जो कुछ गुरु कह रहे हैं, इस प्रकार मैंने कभी नहीं समझा था, यह तो कोई अपूर्व ही बात है। इस प्रकार उल्लासपूर्वक पुरुषार्थ करता हुआ अज्ञान दूर करता है। जिस समय पुरुषार्थ किया वही समय भला है और वही दिन भला है। पुरुषार्थ करने में चारों समवाय आ जाते हैं। वस्तु पर यथार्थ दृष्टि की और उसमें स्थिर हुआ सो वह पुरुषार्थ, और पुरुषार्थ द्वारा जो स्वभावपर्याय प्रगट हुई सो स्वभाव, जिस समय स्वभावपर्याय प्रगट हुई सो सुकाल, पुरुषार्थ के द्वारा जो पर्याय होनी थी वह हुई सो नियत और स्वभावपर्याय प्रगट होते समय जो कर्म का अभाव हुआ सो कर्म है। चार समवाय अस्तिरूप हैं, और कर्म नास्तिरूप हैं—इस प्रकार पुरुषार्थ में चारों समवाय आ जाते हैं।

अज्ञान के दूर होने पर आत्ममहत्ता की प्रतीति हुई कि जगत में महन्त हो गया है। आत्मा, महात्मा और परमात्मा, इस प्रकार आत्मा के तीन प्रकार हैं। आत्मा अनादि काल से है, किन्तु जब उस आत्मा की प्रतीति होती है, तब वह महात्मा हो जाता है, और पूर्ण केवलज्ञानदशा प्रगट होने पर परमात्मा हो जाता है। रुपया-पैसा और बाह्य वैभववाले सच्चे महन्त नहीं हैं, किन्तु जिनने आत्मस्वरूप को जान लिया है, वे ही सच्चे महन्त हैं। महन्त धर्मात्मा होता है, और वह निरुपद्रव निर्विघ्न शिवपद में पूर्णदशा प्रगट करके निवास करता है। आत्मा स्वयं कल्याणमूर्ति है, उसमें स्थिर होना ही शिवपद है, शिवपद आत्मा में है, अन्यत्र-बाहर नहीं। सिद्धक्षेत्र भी बाह्य क्षेत्र है, आत्मा का शिवपद आत्मा में ही है। शिवपद प्राप्त होने पर आत्मा में सदा सुखावस्था बनी रहती है। एक बार मोक्षपर्याय प्रगट हो जाने पर फिर संसार में अवतार नहीं लेना पड़ता।

कुछ लोग यह मानते हैं कि दूसरों को तारने के लिये पुनः अवतार ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है। जैसे जला हुआ बीज फिर कभी नहीं उग सकता, उसी प्रकार जिनके संसार का बीज जल चुका है, और मोक्षपर्याय प्रगट हो गयी है वे फिर कभी संसार में अवतार नहीं लेते। जो जीव आत्मविकास करके आगे बढ़ते हैं, वे दूसरों को तारने के लिये नहीं, किन्तु स्वयं मोक्षप्राप्ति के लिये ऐसा करते हैं। आत्मा की यथार्थ प्रतीति और ज्ञान करके उसमें स्थिर होने से शिवपद प्राप्त होता है, जहाँ आत्मा शाश्वत् सुख भोगता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इन ६८ गाथाओं में और अमृतचन्द्राचार्य ने इनकी टीका में अनेकानेक अद्‌भुत बातें कही हैं। यदि उन्हें ज्यों का त्यों समझ लें तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

[—इस प्रकार इस समयसार शास्त्र पर आध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी द्वारा किये गये प्रवचनों का यह प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ।]